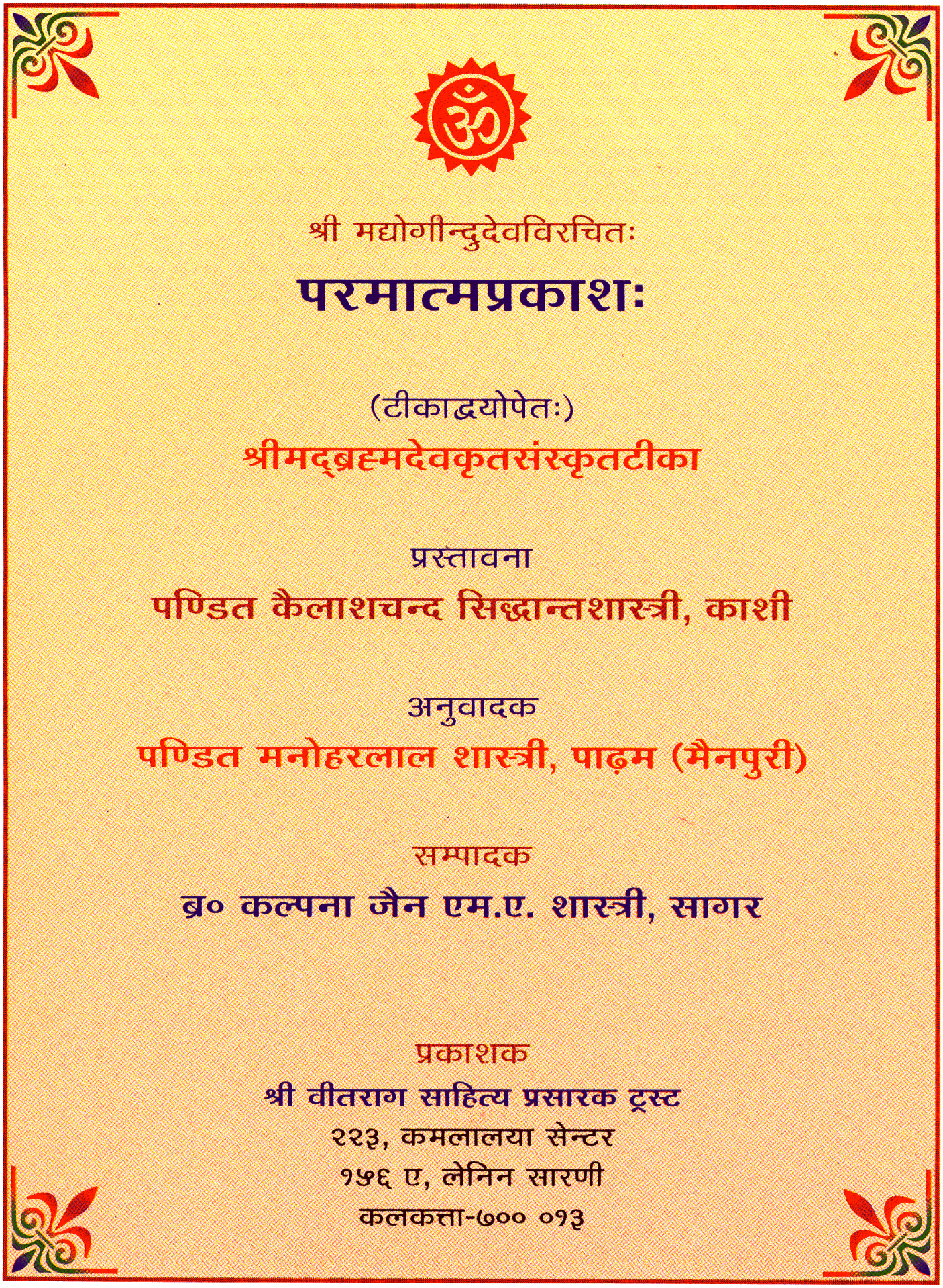


श्री मद्योगीन्दुदेवविरचितः

परमात्मप्रकाशः

(टीकाद्वयोपेतः)

श्रीमद्ब्रह्मदेवकृतसंस्कृतटीका

प्रस्तावना

पण्डित कैलाशचन्द सिद्धान्तशास्त्री, काशी

अनुवादक

पण्डित मनोहरलाल शास्त्री, पाढ़म (मैनपुरी)

सम्पादक

ब्र० कल्पना जैन एम.ए. शास्त्री, सागर

प्रकाशक

श्री वीतराग साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

२२३, कमलालया सेन्टर

१५६ ए, लेनिन सारणी

कलकत्ता-७०० ०१३

प्रथम संस्करण : ३०००
(१६ जून, २०००)

प्रकाशक :
श्री वीतराग साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
२२३, कमलालया सेन्टर
१७६ ए, लेनिन सारणी
कलकत्ता-७०० ०१३

मूल्य : ३५/- (पैंतीस रुपये)

प्राप्ति स्थान :
१. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५ (राज०)
✆ : ५१५५८१/५१५४५८
२. **श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट**
४३/२ए, पद्मपुकुर रोड, कलकत्ता-७०० ०२०
✆ : ४७६-६९२०

लेजर टाईप :
जैन कम्प्यूटर्स
मंगलधाम, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५
✆ : ०१४१-७००७५१ फैक्स : ०१४१-५१९२६५

मुद्रक:
नेशनल आर्ट प्रेस
३५-३७ कस्बा इन्डस्ट्रियल इस्टेट, फेज III,
कलकत्ता-७०० ०७८
✆ : ४४२ ११८६/८७

Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by Dakshaben Sanghvi, Geneva, Switzerland who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of ParmatmaPrakash is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	15 February 2008	First electronic version

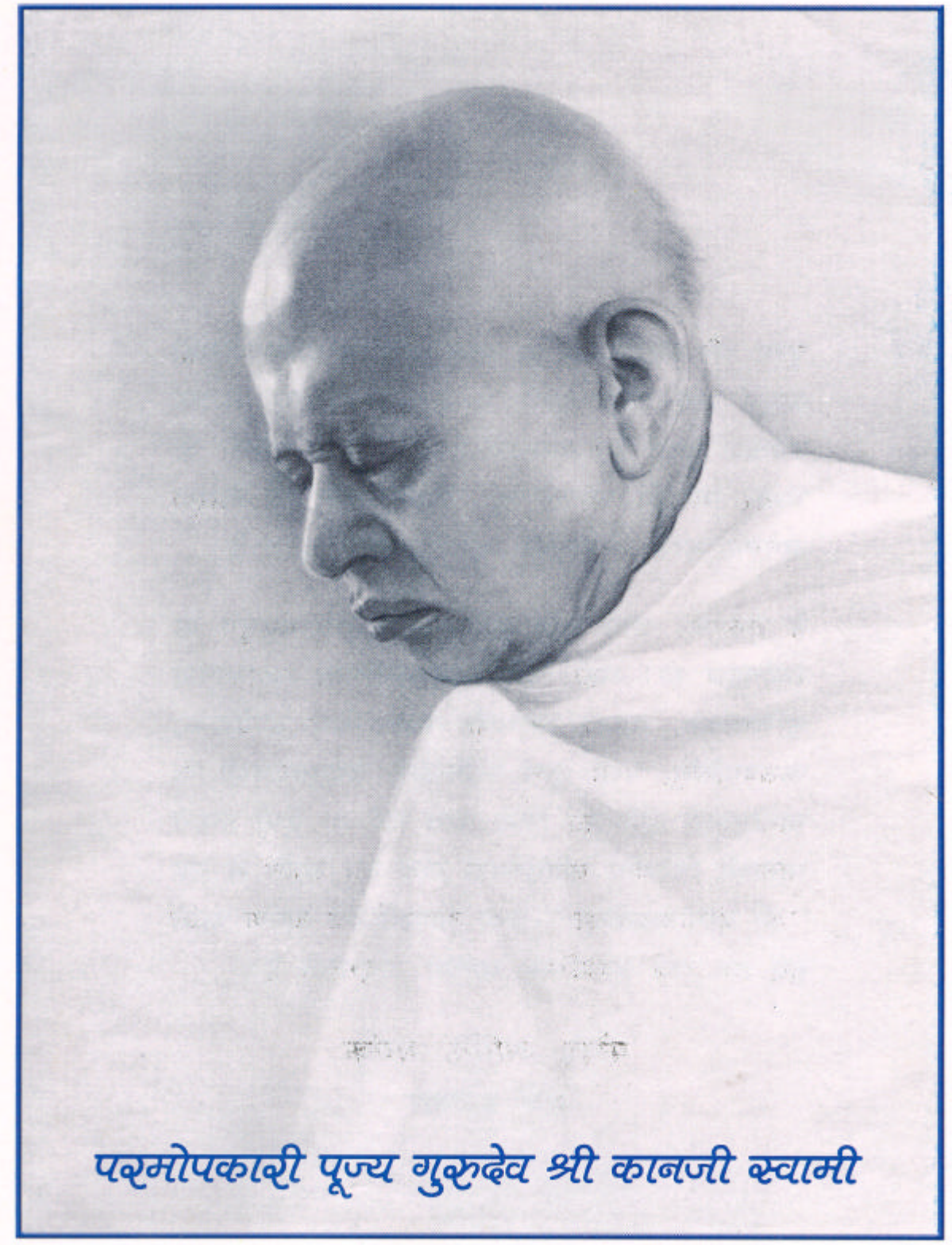
Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की विषयानुक्रमणिका

विषय	दो. सं.	पृ. संख्या
प्रकाशकीय - श्री वीतराग साहित्य प्रसारक ट्रस्ट		१
सम्पादकीय - ब्र० कल्पना जैन एम.ए. शास्त्री, सागर		३
प्रस्तावना - पण्डित कैलाशचन्द सिद्धान्तशास्त्री, काशी		५
अनुवादकीय - पण्डित मनोहरलाल शास्त्री, पाढ़म (मैनपुरी)		४५
१. त्रिविधात्माधिकार		
मंगलाचरण	१	५
श्री योगीन्दुगुरु से भट्ट प्रभाकर का प्रश्न	८	२०
श्री गुरु का तीन प्रकार आत्मा के कथन का उपदेशरूप उत्तर	११	२४
बहिरात्मा का लक्षण	१३	२८
अंतरात्मा का स्वरूप	१४	३०
परमात्मा का लक्षण	१५	३१
परमात्मा का स्वरूप	१७	३३
शक्तिरूप से सब जीवों के शरीर में परमात्मा विराजमान है	२६	४३
जीव और अजीव में लक्षण-भेद से भेद	३०	४७
शुद्धात्मा का मुख्य लक्षण	३१	४९
शुद्धात्मा के ध्यान से संसारभ्रमण का रुकना	३२	५०
परमात्मा का केवलज्ञान स्वरूप	४१	५९
द्रव्य, गुण, पर्याय की मुख्यता से आत्मा का कथन	५६	७९
द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप	५७	८१
जीव-कर्म के सम्बन्ध का विचार	५९	८६
आत्मा का परवस्तु से भिन्नपने का कथन	६७	९८
निश्चयसम्यग्दृष्टि का स्वरूप	७६	१०९
मिथ्यादृष्टि के लक्षण	७७	११०
सम्यग्दृष्टि की भावना	८५	११९
भेद विज्ञान की मुख्यता से आत्मा का कथन	९३-१२३	१२८-१७०
२. मोक्षाधिकार		
मोक्ष के विषय में प्रश्न	१२४/१	१७१
मोक्ष के विषय में उत्तर	१२५/२	१७२
मोक्ष का फल	१३४/११	१८६
मोक्षमार्ग का व्याख्यान	१३५/१२	१८७
अभेदरत्नत्रय का व्याख्यान	१५४/३१	२२४
परम उपशमभाव की मुख्यता	१६२/३९	२३८
निश्चय से पुण्य-पाप का एकपना	१७६/५३	२६०
शुद्धोपयोग की मुख्यता	१९०/६७	२७९

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

विषय	दो. सं.	पृ. संख्या
३. चूलिका व्याख्यान		
परद्रव्य के सम्बन्ध का त्याग	२३१/१०८	३३६
पर संसर्ग दोष का दृष्टान्त	२३३/११०	३३८
मोह का त्याग	२३४/१११	३३९
इन्द्रियों में लंपटी जीवों का विनाश	२३५/११२	३४४
लोभकषाय में दोष	२३६/११३	३४६
लोभ कषाय दोष का दृष्टांत	२३७/११४	३४७
जीव हिंसा का दोष	२४८/१२५	३५८
जीव हिंसा व जीव रक्षा का फल	२५०/१२७	३६१
अध्रुवभावना	२५२/१२९	३६५
जीव को शिक्षा, धर्म तथा तपश्चरण रहित मनुष्य जन्म वृथा है	२५६/१३३	३७१
पंचेन्द्रिय को जीतना	२५९/१३६	३७५
इन्द्रियसुख का अनित्यपना	२६१/१३८	३७८
मन को जीतने से इन्द्रियों का जीतना	२६३/१४०	३८०
सम्यक्त्व की दुर्लभता	२६६/१४३	३८४
गृहवास व ममत्व में दोष	२६७/१४४	३८६
देह से ममत्व-त्याग	२६८/१४५	३८७
देह की मलिनता का कथन	२७१/१४८	३९०
आत्माधीन सुख में प्रीति	२७७/१५४	३९७
चित्त स्थिर करने से आत्मस्वरूप की प्राप्ति	२७९/१५६	४००
निर्विकल्प समाधि का कथन	२८४/१६१	४०५
दानपूजादि श्रावक-धर्म परंपरा मोक्ष का कारण है	२९१/१६८	४१६
चिंतारहित ध्यान मुक्ति का कारण	२९२/१६९	४१७
यह आत्मा ही परमात्मा है	२९७/१७४	४२३
देह और आत्मा की भेदभावना	३००/१७७	४२६
सब चिंताओं का निषेध	३१०/१८७	४३६
परम समाधि का व्याख्यान	३१२/१८९	४३८
अर्हंतपद का कथन	३१८/१९५	४४५
परमात्मप्रकाश शब्द का अर्थ	३२१/१९८	४४९
सिद्धस्वरूप का कथन	३२४/२०१	४५२
परमात्म प्रकाश की भावना का फल	३२७/२०४	४५६
शुद्ध परमात्मा के आराधक पुरुष का लक्षण	३३०/२०७	४५९
परमात्मप्रकाश शास्त्र के पढ़ने का फल	३३६/२१३	४६५
अंतिम मंगल	३३७/२१४	४६७
४. परिशिष्ट		
परमात्मप्रकाश-दोहों की वर्णानुक्रमणिका		४७१
टीकागत उद्धरणों की वर्णानुक्रमणिका		४७७



परमोपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

प्रकाशकीय

अनादिकाल से यह जीव अपने ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को अपने रूप से ग्रहण न करने के कारण, व्यर्थ में ही अनन्त दुःख भोगता आ रहा है। यद्यपि समग्र जिनवाणी इसके दुःख को नष्ट करने के लिए उस शुद्धात्मा की ही प्रतिपादक है, तथापि उसके एक अंगरूप द्रव्यानुयोग में यह प्रतिपादन प्रमुख है। 'आचार्य कुन्दकुन्ददेव' द्वारा रचित 'समयसार' परमागम का तो मूल प्रतिपाद्य-विषय ही यही है।

इस कलिकाल में जब 'आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्रीकानजीस्वामी' के सत्प्रयासों से प्रस्तुत परमागम आत्मार्थी बन्धुओं के पठन-पाठन, स्वाध्याय आदि का विषय बनता जा रहा था, तब कुछ तथाकथित मनीषियों द्वारा 'गृहस्थ इस ग्रन्थ को पढ़ने के अधिकारी नहीं'- इस रूप में आवाज बुलन्द की गई। यद्यपि समयसार की ही विषय-वस्तु 'परमात्म-प्रकाश' आदि ग्रन्थों की भी है, परन्तु सौभाग्यवश उनके सम्बन्ध में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

'आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्रीकानजीस्वामी' के सदुपदेश से प्रेरणा पाकर, तीर्थंकरों द्वारा निर्बाध प्रवाहित, अनेकान्तात्मक वस्तु-व्यवस्था का स्याद्वाद शैली में निरूपण करने वाली, चार अनुयोगों में विभक्त वाणी का/जिनवाणी का, जब हमने यथाशक्ति गम्भीरता से स्वाध्याय किया, तब इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा को अपने रूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही लीनतारूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय हमारे दुःख को नष्ट करने में सक्षम नहीं हैं।

शास्त्र प्रकाशन का भाव स्व० निरंजना कीर्तिकान्त शेठ के हृदय में लम्बे समय से था जो कि उनके जीवन काल में सम्भव नहीं हो पाया और शिरसावंदनीय मुनिश्री 'योगीन्दुदेव' विरचित 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थ का स्वाध्याय आदि में सहायक समझकर हमें इसे प्रकाशित करने का भाव जागृत हुआ, जिसका प्रतिफल इस शास्त्र का प्रकाशन आपके समक्ष प्रस्तुत है।

बा० ब्र० कल्पना बैन, सागर के हम हृदय से आभारी हैं, जिनने इस ग्रन्थ का सम्पादन कार्य स्वीकार किया व उसे बखूबी सम्पन्न किया। साथ ही लेजर टाइप सैटिंग द्वारा सुन्दर व शुद्ध तैयार करने हेतु जैन कम्प्यूटर्स, जयपुर और सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दुष्यन्त पारेख, मेसर्स नेशनल आर्ट प्रेस, कलकत्ता के भी हम आभारी हैं। इनके अतिरिक्त इस मंगलकार्य में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से सहयोग देने वाले सभी सज्जनों के प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

सभी दुखी प्राणी इसके अध्ययन आदि से अपने शुद्धात्मा को समझकर, उसमें ही स्थिरता द्वारा पूर्ण सुखी हो, आनन्दमय जीवन जियें- एकमात्र यही भावना प्रस्तुत प्रकाशन का मूल आधार है।

विनीतः

महामंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
जयपुर

ट्रस्टीगण
श्री वीतराग साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
कलकत्ता

सम्पादकीय

'पण्डित टोडरमल स्मारक भवन जयपुर' में सम्पन्न हुए अगस्त-१९९७ के शिक्षण शिविर में सद्धर्म स्नेही समादरणीय 'बालचंदजी पाटनी कलकत्ता' द्वारा 'श्रीमद्राजचंद्र ग्रन्थमाला अगास' से प्रकाशित 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थ को यथावत् पुनर्प्रकाशित करने की घोषणा की गई। समय पाकर जब मैंने अत्यन्त सहजभाव से उसमें समागत कुछ मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया, तब आपने मुझे ही इसका पुनः सम्पादन करने के लिए कहा । परिणामों की निर्मलता का एक माध्यम होने से मैंने भी इसे तत्क्षण सहर्ष स्वीकार कर लिया ।

समादरणीय 'पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल' कृत 'भाषा टीका' 'श्रीयुत ब्रह्मदेव' कृत 'संस्कृत टीका' का अनुवाद होने पर भी, शब्दशः अनुवाद न होने के कारण, तथा कहीं-कहीं संस्कृत-टीका के कुछ अंशों का भाषानुवाद नहीं होने के कारण और जयपुर में आ० पण्डितजी की मूल प्रति प्राप्त कर पाने की आशा समाप्तप्राय हो जाने के कारण, यद्यपि यह सम्पादन कार्य कुछ कठिन सा प्रतीत हो रहा था; परन्तु कुछ समय बाद ही प्रवचनार्थ बीना-प्रवास के समय समादरणीय 'ब्रह्मचारी संदीपकुमारजी सागर' द्वारा संचालित, प्राचीन ग्रन्थों-पाण्डुलिपियों के संग्रहण-संरक्षण में समर्पित 'अनेकान्त ज्ञानमन्दिर बीना' से खुले पृष्ठों वाली एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हो जाने के कारण यह कार्य सरल हो गया।

प्रस्तुत प्रकाशन में प्रस्तावना तथा मूलग्रन्थ पूर्ववत् ही है, मात्र कुछ परिवर्तन तथा परिवर्धन किया है । वह इसप्रकार है—

१. अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से पैराग्राफ विच्छेद किए हैं ।

२. आ० पं० दौलतरामजी कृत भाषा-टीका तत्कालीन ढूँढारी मिश्रित व्रजभाषा में है। जिसका खड़ी बोली हिन्दी में परिवर्तन आ० पं० मनोहरलालजी शास्त्री ने किया है, परन्तु उसमें भी कहीं-कहीं बोली भाषा के शब्द रह गए हैं । नवीन स्वाध्यायियों की दृष्टि से उनमें परिवर्तन किया है । यथा— तृतीया, पंचमी या सामान्यार्थ में प्रयुक्त 'कर' शब्द को प्रसंगानुसार 'से', 'पूर्वक' आदि रूप में परिवर्तित किया है—इत्यादि ।

३. हिंदी-टीका में छूट गए संस्कृत के महत्त्वपूर्ण वाक्यों की हिन्दी कर, उसे हिन्दी-टीका में जोड़ दिया है, परन्तु आ० पण्डितजी की मूलटीका को सुरक्षित रखने की दृष्टि से उन्हें कोष्ठक में रखा है ।

४. आवश्यकतानुसार यथास्थान अल्पविराम, अर्द्धविराम का भी प्रयोग किया है ।

५. अगासप्रकाशनप्रति की हिन्दी-टीका में मूल अपभ्रंश शब्दों के स्थान पर उनकी संस्कृत-छाया का प्रयोग किया गया है । प्रस्तुत प्रकाशन में उसके स्थान पर मूल अपभ्रंश शब्द ही दे दिए हैं ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

६. मूल अपभ्रंश दोहागत शब्दों को संस्कृत-टीकागत शब्दों से पृथक् दिखाने के लिए, उन्हें टीका में तिरछाकार में रखा है ।

७. अपभ्रंश दोहों का स्वयंकृत हिन्दी पद्यानुवाद भी इसमें दिया है ।

८. अपभ्रंश दोहों का सीधा अर्थ समझने की दृष्टि से टीकार्थ के पूर्व दोहार्थ भी दिया है ।

९. टीका में उद्धृत वाक्यांशों की अनुक्रमणिका पृथक् से परिशिष्ट में दी है ।

१०. 'अध्याय दो' में अपभ्रंश दोहों का अध्याय-क्रमांक के साथ-साथ पूर्ण ग्रन्थ-क्रमांक भी दे दिया है ।

११. परिशिष्ट में समाहित दोहानुक्रमणिका में दोहों का अध्याय-क्रमांक ही दिया है।

इसप्रकार कुछ परिवर्तन-परिवर्धन के साथ पुन: प्रकाशित प्रस्तुत ग्रन्थ आपको समर्पित है। इस सन्दर्भ में सम्पूर्ण सुविधाएं प्रदान कर आत्मकल्याण के साथ-साथ वीतरागता की पोषक जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में सतत तत्पर रहने हेतु प्रोत्साहित करने वाले धर्म-पिताश्री समादरणीय शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज के प्रति कृतज्ञता-व्यक्त करने में तो मैं असमर्थ हूँ। इसके साथ ही समग्र पद्यानुवाद का सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन कर समुचित मार्गदर्शक धर्मबन्धु श्री समादरणीय पण्डित अभयकुमारजी जैन, शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य के प्रति भी मैं कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। इसके अतिरिक्त अन्यान्य प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में सहयोगदाता सभी सज्जनों प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से सभी सुखार्थी जीव दु:ख नष्ट करने का उपाय समझकर तदनुसार परिणमन से परम सुखी हों—यही मंगल भावना है ।

दि० : २०-१०-१९९८
भगवान महावीर निर्वाण दिवस
वीर निर्वाण संवत् २५२५

ब्र० कल्पना जैन एम.ए. शास्त्री, सागर
श्री टोडरमल स्मारक भवन
मंगलधाम ७,
ए-४, बापूनगर जयपुर

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो ।
संसारतरणहेदू धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।

— भावपाहुड़, गाथा ८५

रागादि सब दोषों रहित निज आत्मा में लीनता ।
मयधर्म ही भवतरणहेतु जीव का जिनवर कहा ।।

रागादि सम्पूर्ण दोषों से रहित आत्मा में आत्मा की/स्वयं में स्वयं की लीनता रूप धर्म ही संसार से पार होने का कारण है। —ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

परमात्मप्रकाश

अंग्रेजी-प्रस्तावना का हिन्दी-सार[१]

परमात्मप्रकाश की प्रसिद्धि— परमप्पयासु या परमात्मप्रकाश जैनगृहस्थों तथा मुनियों में बहुत प्रसिद्ध है। विशेषकर साधुओं को लक्ष्य करके इसकी रचना की गई है । विषय साम्प्रदायिक न होने से यद्यपि समस्त जैनसाधु इसका अध्ययन करते हैं, फिर भी दिगम्बर जैनसाधुओं में इसकी विशेष ख्याति है । इसकी लोकप्रियता के अनेक कारण हैं । प्रथम, इसका नाम ही आकर्षक है; दूसरे, पारिभाषिक शब्दों की भरमार न होने के कारण इसकी वर्णनशैली कठिन नहीं है; तीसरे, लेखनशैली सरल है, और भाषा सुगम अपभ्रंश है । संसार के कष्टों से दु:खी भट्ट प्रभाकर में धार्मिक रुचि पैदा करने के लिये इसकी रचना की गई थी । संसार के दु:खों की समस्या भट्ट प्रभाकर के समान सभी भव्यजीवों के सामने रहती है, अत: परमात्मप्रकाश सभी आस्तिकों को प्रिय है । कन्नड़ और संस्कृत में इस पर अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं, वे भी इसकी लोकप्रियता प्रदर्शित करती हैं ।

मेरा योगीन्दु के साहित्य का अध्ययन— अपभ्रंश भाषा का नवीन ग्रन्थ 'दोहापाहुड' जब मुझे प्राप्त हुआ, तब मैंने उसके सम्बन्ध में[२] 'अनेकान्त' में एक लेख लिखा। उपलब्ध प्रति में उसके कर्ता का नाम 'योगेन्द्र' लिखा था । उस पर टिप्पणी करते हुए पं. जुगलकिशोरजी ने लिखा कि दोहापाहुड की देहलीवाली प्रति में उसके कर्ता का नाम रामसिंह लिखा है । इसके बाद भाण्डारकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूना से प्रकाशित होने वाली [३]पत्रिका में 'जोइन्दु और उनका अपभ्रंश साहित्य' शीर्षक से मैंने एक लेख लिखा, उसमें मैंने जोइन्दु या योगीन्दु के साहित्य पर कुछ प्रकाश डाला था, और उनके समय के बारे में कुछ प्रमाण भी संकलित किये थे । इस लेख के प्रकाशन से काफी लाभ हुआ, दो ग्रन्थ— दोहापाहुड़ और सावयधम्मदोहा—जिनसे अपने लेख में मैंने अनेक उद्धरण दिये थे, प्रो. हीरालालजी द्वारा हिन्दी अनुवाद के साथ सम्पादित होकर प्रकाशित हो गये । तथा मेरे लेख में उद्धृत कुछ पद्यों का[४] मराठी में भी अनुवाद किया गया ।

---

१. परमात्मप्रकाश की अंग्रेजी प्रस्तावना का यह अविकल अनुवाद नहीं है । किन्तु अंग्रेजी न जाननेवाले हिन्दी-पाठकों के लिये उसके मुख्य-मुख्य आवश्यक अंशों का सार दे दिया गया है । दर्शन तथा भाषाविषयक मन्तव्य विशेषत: संक्षिप्त कर दिये गये हैं। विशेष जानने के इच्छुक अंग्रेजी प्रस्तावना से जान सकते हैं । — *अनुवादकर्ता*

२. पृष्ठ ५४४-४८ और ६७२ । ३. जिल्द १२, पृ. १३२-६३ ।

४. मराठी-साहित्य-पत्रिका, प. १४

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्राच्य-साहित्य में परमात्मप्रकाश का स्थान— उत्तर भारत की भाषाओं की, जिनमें मराठी भी सम्मिलित है, समृद्धि तथा उनके इतिहास पर अपभ्रंश भाषा का अध्ययन बहुत प्रकाश डालता है । अब तक प्रकाश में आये हुए अपभ्रंश-साहित्य में परमात्मप्रकाश सबसे प्राचीन है और सबसे पहले प्रकाशन भी इसी का हुआ था, किन्तु इसके प्रारम्भिक संस्करण प्राच्य विद्वानों के हाथों में नहीं पहुँचे । जहाँ तक मैं जानता हूँ सबसे पहले पी.डी. गुणे ने ही 'भविसयत्तकहा' की प्रस्तावना में इसे अपभ्रंश-ग्रन्थ बतलाया था । आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में परमात्मप्रकाश से अनेक उदाहरण दिये हैं, अतः इसे हम हेमचन्द्र के पहले की अपभ्रंश भाषा का नमूना कह सकते हैं । भाषा की विशेषता के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में एक और भी विशेषता है । जैन-साहित्य का पूरा ज्ञान न रहने के कारण कुछ विद्वान जैनधर्म को केवल साधु-जीवन के नियमों का शिक्षक कहते हैं, कुछ इसे मनोविज्ञान से शून्य बतलाते हैं । किन्तु परमात्मप्रकाश स्पष्ट बतलाता है कि आध्यात्मिक गूढ़वाद का जैनधर्म में क्या स्थान है और वह कैसे मनोविज्ञान का आधार होता है । यदि हम यह याद रक्खें कि जैनधर्म अनेक देवतावादी है और ईश्वर को जगत का कर्ता नहीं मानता, तो यह निश्चित है कि जैन गूढ़वाद सभी को विशेष रोचक मालूम होगा ।

परमात्मप्रकाश के पहले संस्करण— सन् १९०९ ई. में देवबन्द के बाबू सूरजभानुजी वकील ने हिन्दी अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया था, और उसका नाम रक्खा था 'श्रीपरमात्मप्रकाश प्राकृत ग्रन्थ, हिन्दी-भाषा अर्थसहित' । इस संस्करण में मूल सावधानी से नहीं छपाया गया था । प्रस्तावना में प्रकाशक ने लिखा भी था कि जैनमन्दिरों से प्राप्त अनेक प्रतियों की सहायता लेने पर भी उसका शुद्ध करना कठिन था । सन् १९१५ ई. में इसका बाबू ऋषभदासजी बी.ए. वकील का अंग्रेजी अनुवाद आरा से प्रकाशित हुआ। किन्तु यह अनुवाद सन्तोषजनक न था । सन् १९१६ ई. में रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला बम्बई ने ब्रह्मदेव की संस्कृतटीका और पं. मनोहरलालजी के द्वारा आधुनिक हिन्दी में परिवर्तित पं. दौलतरामजी की भाषाटीका के साथ इसे प्रकाशित किया । यद्यपि इसके मूल में भी सुधार की आवश्यकता थी, फिर भी यह एक अच्छा संस्करण था ।

वर्तमान संस्करण— यद्यपि रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला के पूर्वोक्त संस्करण की ही यह दूसरी आवृत्ति है, फिर भी यह संस्करण पहले से परिष्कृत और बड़ा है, और इसकी यह भूमिका तो एक नई वस्तु है । प्रकाशक की इच्छानुसार मूल, ब्रह्मदेव की टीकावाला ही दिया गया है, किन्तु हस्तलिखित प्रतियों के आधार से मूल तथा संस्कृतटीका का संशोधन कर लिया गया है । इसके सिवा समस्त पदों के मध्य में संयोजक चिन्ह लगाये गये हैं, तथा अनुनासिक और अनुस्वार के अन्तर का ध्यान रक्खा गया है । संस्कृतछाया में भी कई जगह परिवर्तन किया गया है । हिन्दी टीका में भी जहाँ-तहाँ सुधार किया गया है ।

मूल और भाषा सम्बन्धी निर्णय— इस संस्करण में मूल ब्रह्मदेव का ही दिया गया है अर्थात् संस्कृतटीका बनाते समय ब्रह्मदेव के सामने परमात्मप्रकाश के दोहों की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो रूपरेखा उपस्थित थी, या जिस रूपरेखा के आधार पर उन्होंने अपनी टीका रची थी, इस संस्करण में उसी का अनुसरण किया गया है । किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि ब्रह्मदेव के मूलवाली प्रतियों में भी पाठ-भेद पाए जाते थे । परमात्मप्रकाश के परम्परागत पाठ को जानने के लिये भारत के विभिन्न प्रान्तों से मँगाईं गईं कोई दस प्रतियों को मैंने देखा है, और उनमें से चुनी हुई छह प्रतियों के पाठान्तर अन्त में दे दिये हैं । अत: भाषासम्बन्धी चर्चा अनेक हस्तलिखित प्रतियों के पाठान्तरों के आधार पर की गई है ।

परमात्मप्रकाश का मूल

ब्रह्मदेव का मूल— ब्रह्मदेव ने परमात्मप्रकाश के दो भाग किये हैं । प्रथम अधिकार में १२६, और द्वितीय में २१९ दोहे हैं । इनमें क्षेपक भी सम्मिलित हैं । ब्रह्मदेव ने क्षेपक के भी दो भाग कर दिये हैं, एक 'प्रक्षेपक' (जो मूल में सम्मिलित कर लिया गया है) और दूसरा 'स्थलसंख्या-बाह्य-प्रक्षेपक' (जो मूल में सम्मिलित नहीं किया गया है); उनका मूल इसप्रकार है—

प्रथम अधिकार	मूल दोहे	११८	द्वितीय अधिकार	मूल दोहे	२१४
	प्रक्षेपक-	५			
	स्थ.बा.प्र.	३		स्थ. बा. प्र.	५
प्रथम अधिकार	**कुल**	**१२६**	द्वितीय अधिकार	**कुल**	**२१९**

सम्पूर्ण ग्रंथ के कुल दोहे-३४५

इससे पता चलता है कि परमात्मप्रकाश की जो प्रति ब्रह्मदेव को मिली थी, वह काफी विस्तृत थी । जिन पाँच दोहों के (१, २८-३२) योगीन्दुरचित होने में उन्हें सन्देह था, उनको उन्होंने अपने क्षेपक माना है । किन्तु जिन आठ दोहों को उन्होंने मूल में सम्मिलित नहीं किया, संभवत: पाठकों के लिये उपयोगी जानकर ही उन्होंने उनकी टीका की है । ब्रह्मदेव को प्राप्त प्रति कितनी बड़ी थी, यह निश्चित रीति से नहीं बतलाया जा सकता। किन्तु यह कल्पना करना संभव है कि उसमें और भी अधिक दोहे थे,जिन्हें ब्रह्मदेव अपने दोनों प्रकार के प्रक्षेपकों में न मिला सके ।

बालचन्द्र का मूल— मलधारी बालचन्द्र ने परमात्मप्रकाश कन्नड़ में एक टीका लिखी है । आरम्भ में वे कहते हैं कि मैंने ब्रह्मदेव की संस्कृतटीका से सहायता ली है । बालचन्द्र के मूल में ६ पद्य अधिक हैं । ब्रह्मदेव का अनुसरण करने पर भी बालचन्द्र की प्रति में ६ अधिक पद्य क्यों पाये जाते हैं ? इस प्रश्न के दो ही समाधान हो सकते हैं— या तो बालचन्द्र के बाद ब्रह्मदेव की प्रति में से टीकासहित कुछ पद्य कम कर दिये गये, या बालचन्द्र के सामने कोई अधिक पद्यवाली प्रति उपस्थित थी, जिससे उन्होंने अपनी कन्नड़टीका में ब्रह्मदेव की संस्कृतवृत्ति का अनुसरण करने पर भी कुछ अधिक पद्य सम्मिलित कर लिये।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रथम समाधान तो स्वीकार करने योग्य नहीं मालूम होता, क्योंकि टीकासहित कुछ पद्यों का निकाल देना संभव प्रतीत नहीं होता । किन्तु दूसरा समाधान उचित जँचता है । वे ६ पद्य इसप्रकार हैं—

१-२— पहले और दूसरे अधिक पद्य २, ३६ के बाद आते हैं —

कायकिलेसें पर तणु झिज्जइ विणु उवसमेण कसाउ ण खिज्जइ ।
ण करहिं इंदियमणह णिवारणु उग्गतवो वि ण कोक्खह कारणु ॥

अप्पसहावे जासु रइ णिच्चुववासउ तासु ।
बाहिरदव्वे जासु रइ भुक्खुमारि तासु ॥

३— यह पद्य २, १३४ के बाद 'उक्तं च' करके लिखा है—

अरे जिउ सोक्खे मग्गसि धम्मे अलसिय ।
पक्खेँ विणु केँव उड्डण मग्गेसि मेंडय दंडसिय? ॥

४— २, १४० के बाद यह दोहा आता है—

पण्ण ण मारिय सोयरा पुणु छट्ठउ चंडालु ।
माण ण मारिय अप्पणउ केँव छिज्जइ संसारु ॥

५— २, १५६ के बाद यह दोहा 'प्रक्षेपकम्' करके लिखा है—

अप्पह परह परंपरह परमप्पउह समाणु ।
परु करि परु करि परु जि करि जइ इच्छइ णिव्वाणु ॥

६— २, २०३ के बाद, संभवतः असावधानी के कारण इस पर नम्बर नहीं डाला गया है, किन्तु टीका की है—

अन्तु वि गंतुवि तिहुवणहँ सासयसोक्खसहाउ ।
तेत्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्धसहाउ ॥

'त' 'क' और 'म' प्रति अन्य प्रतियों की अपेक्षा बहुत संक्षिप्त हैं । ब्रह्मदेव के मूल के साथ उनकी तुलना करने पर उनमें निम्नलिखित दोहे नहीं पाये जाते—

प्रथम अधिकार में— २-११, १६, २०,२२, २८-३२, ३८, ४१, ४३, ४४, ४७, ६५, ६५✡१, ६६, ७३, ८०, ८१, ९१, ९२, ९९, १००, १०४, १०६, १०८, ११०, ११८, ११९, १२१, १२३✡२-३ ।

द्वितीय अधिकार में— १, ५-६, १४-१६, ४४, ४६✡१, ४९-५२, ७०, ७४, ७६, ८४, ८६-८७, ९९, १०२, १११✡२-४, ११४-११६, १२८-१२९, १३४-१३७, १३७✡५, १३८-१४०, १४२, १४४-१४७, १५२-१५५, १५७-१६५, १६८, १७८-१८१, १८५, १९७, २००, २०५-२१२ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किन्तु इन प्रतियों में दो दोहे अधिक हैं, जो न तो ब्रह्मदेव की प्रति में पाये जाते हैं, और न बालचन्द्र की ही प्रति में; कुछ संशोधन के साथ दोनों दोहे नीचे दिये जाते हैं—

१— १, ४६ के बाद—

जो जाणइ सो जाणि जिय जो पेक्खइ सो पेक्खु ।
अंतुबहुंतु वि जंपु चइ होउण तुंहुँ णिरवेक्खु ॥

२— २, २१४ के बाद—

भव्वाभव्वह जो चरणु सरिसु ण तेण हि मोक्खु ।
लद्धि ज भव्वह रयणतय होइ अभिण्णे मोक्खु ॥

'त' 'क', और 'म' प्रतियाँ— इन प्रतियों में ब्रह्मदेव के मूल से (प्रक्षेपकसहित) ११२ और बालचन्द्र के मूल से ११८ पद्य कम हैं । मुझे ऐसा मालूम होता है कि इन प्रतियों के पीछे कोई मौलिक आधार अवश्य है, क्योंकि एक तो 'क' प्रति की कन्नड़टीका ब्रह्मदेव की टीका से स्वतन्त्र है, और संभवत: उससे प्राचीन भी है । दूसरे इसमें ब्रह्मदेव का एक भी क्षेपक नहीं पाया जाता । तीसरे इसमें ब्रह्मदेव और बालचन्द्र से दो गाथायें अधिक हैं । चौथे, ब्रह्मदेव ने २, १४३ में 'जिणु सामिउ सम्मत्तु' पाठ रक्खा है तथा टीका में दूसरे पाठान्तर 'सिवसंगमु सम्मत्तु' का उल्लेख किया है । उनका दूसरा पाठान्तर 'सिवसंगमु सम्मत्तु' इन प्रतियों के 'सिउ संगमु सम्मत्तु' पाठ से मिलता है । किन्तु इन प्रतियों में अविद्यमान दोहों का विचार करने से यही नतीजा निकला है कि ये प्रतियाँ परमात्मप्रकाश का संक्षिप्त रूप हैं । यह भी कहा जा सकता है कि इन प्रतियों का मूल ही परमात्मप्रकाश का वास्तविक मूल है, जिसे योगीन्दु के किसी शिष्य, संभवत: स्वयं भट्ट प्रभाकर ने ही यह बताने के लिए कि गुरु ने उसे यह उपदेश दिया था, वह बढ़ा दिया है । यद्यपि यह कल्पना आकर्षक है किन्तु इसका समर्थन करने के लिए प्रमाण नहीं है । इन प्रतियों का आधार दक्षिण कर्नाटक की एक प्राचीन प्रति है, अत: इस कल्पना का यह मतलब हो सकता है कि योगीन्दु दक्षिणी थे, और मूलग्रन्थ उत्तर भारत में विस्तृत किया गया, क्योंकि ब्रह्मदेव उत्तर प्रान्त के वासी थे । किन्तु योगीन्दु को दक्षिणी सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है । पर इतना निश्चित है कि परमात्मप्रकाश को 'त' 'क' और 'म' प्रति के रूप में संक्षिप्त करने के लिए कोई कारण अवश्य रहा होगा । संभवत: दक्षिण भारत में, जहाँ शंकराचार्य, रामानुज आदि के समय में जैनों को वेदान्त और शैवों के विरुद्ध वाद-विवाद करना पड़ता था, किसी कन्नड़टीकाकार के द्वारा यह संक्षिप्त रूप किया गया है ।

जोइन्दु के मूल पर मेरा मत— उपलब्ध प्रतियों के आधार पर यह निर्णय कर सकना असंभव है कि जोइन्दुकृत परमात्मप्रकाश का शुद्ध मूल कितना है ? किन्तु दोहों की संख्या पर दृष्टि डालने से यह जान पड़ता है कि ब्रह्मदेव का मूल ही जोइन्दु के मूल के अधिक निकट है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संक्षेप में परमात्मप्रकाश का विषय-परिचय

सारांश— प्रारम्भ के सात दोहों में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। फिर तीन दोहों में ग्रन्थ की उत्थानिका है । पाँच में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप बताया गया है । इसके बाद दस दोहों में विकलपरमात्मा का स्वरूप आता है । पाँच क्षेपकों सहित चौबीस दोहों में सकलपरमात्मा का वर्णन है । छह दोहों में जीव के स्वशरीर-प्रमाण की चर्चा है । फिर द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म, निश्चयसम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व आदि की चर्चा है ।

दूसरे अधिकार में, प्रारम्भ के दस दोहों में मोक्ष का स्वरूप, एक में मोक्ष का फल, उन्नीस में निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग, तथा आठ में अभेदरत्नत्रय का वर्णन है । इसके बाद चौदह में समभाव की, चौदह में पुण्य-पाप की समानता की, और इकतालीस दोहों में शुद्धोपयोगी के स्वरूप की चर्चा है । अन्त में परमसमाधि का कथन है ।

परमात्मप्रकाश पर समालोचनात्मक विचार

रचनाकाल तथा कुछ ऐतिहासिक पुरुषों का उल्लेख— ब्रह्मदेव के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि प्रभाकर भट्ट के कुछ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए योगीन्दु ने परमात्मप्रकाश की रचना की थी[१] । एक[२] स्थल पर प्रभाकर भट्ट को उसके नाम से सम्बोधित किया गया है और 'वढ' जिसका अर्थ ब्रह्मदेव 'वत्स' करते हैं, तथा 'ओइय' (योगिन्) शब्द के द्वारा तो अनेकबार उनका उल्लेख आता है । प्रभाकर भट्ट योगीन्दु के शिष्य थे, इसके सिवा उनके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते । भट्ट और प्रभाकर ये दो पृथक् नाम नहीं हैं, किन्तु एक नाम है । संभवत: भट्ट एक उपाधि रही होगी, जैसे कि कन्नड़व्याकरण 'शब्दानुशासन' (१६०४ ई.) के रचयिता अकलंक भट्टाकलंक कहे जाते हैं। भट्ट प्रभाकर के प्रश्न और योगीन्दु का उन्हें सम्बोधित करना बतलाते हैं कि वे योगीन्दु के एक शिष्य थे, और साधु थे, उनका प्रसिद्ध पूर्वमीमांसक प्रभाकर भट्ट (लगभग ६०० ई.) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । योगीन्दु और प्रभाकर के नाम के सिवा ग्रन्थ में किन्हीं आर्य शान्ति के [३]मत का भी उल्लेख है । नि:सन्देह इनसे पहले कोई शान्ति नाम के ग्रन्थकार हुए होंगे, किन्तु विशेष प्रमाणों के अभाव में हम उन ज्ञात ग्रन्थकारों के साथ इनकी एकता नहीं ठहरा सकते, जिनके नाम के प्रारम्भ में 'शान्ति' शब्द आता है ।

ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य और उसमें सफलता— जैसा कि ग्रन्थ में उल्लेख है, प्रभाकर शिकायत करता है कि उसने संसार में बहुत दु:ख भोगे हैं, अत: वह उस प्रकाश की खोज में है, जो उसे अज्ञानान्धकार से मुक्त कर सके । इसलिये सबसे पहले योगीन्दु आत्मा का वर्णन करते हैं, आत्म-साक्षात्कार की आवश्यकता बतलाते हैं, और कुछ गूढ़ आत्मिक अनुभवों की चर्चा करते हैं । इसके बाद वे मुक्ति का स्वरूप, उसका फल, और

१- देखो १ अ. ८ दो. और २ अ. २११ दो. । २- देखो १,११ । ३- देखो २, ६१ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसके उपाय समझाते हैं । मुक्ति के उपायों का वर्णन करते हुए वे नीति और अनुशासन सम्बन्धी बहुत-सी शिक्षाएँ देते हैं । भट्ट प्रभाकर को जिस प्रकाश की आवश्यकता थी, बहुतसी आत्माएँ उस प्रकाश की प्राप्ति के लिये उत्सुक हैं, और जैसा कि ग्रन्थ का नाम तथा विषय बतलाते हैं, सचमुच यह ग्रन्थ परमात्मा की समस्या पर बहुत सरल तरीके से प्रकाश डालता है ।

विषय-वर्णन की शैली— जैसा कि ब्रह्मदेव के मूल से मालूम होता है, स्वयं ग्रन्थकार ने ही प्रभाकर भट्ट के दो प्रश्नों के आधार पर ग्रन्थ को दो अधिकार में विभक्त किया था । दूसरे भाग की अपेक्षा पहला भाग अधिक क्रमबद्ध है । कहीं-कहीं ग्रन्थकार ने स्वयं प्रश्न उठाकर उनका भिन्न-भिन्न दृष्टियों से समाधान किया है । इस ग्रन्थ में शाब्दिक पुनरावृत्ति की कमी नहीं है, किन्तु इस पुनरावृत्ति से ग्रन्थकार अनजान न था, क्यों कि वह स्वयं कहता है* कि भट्ट प्रभाकर को समझाने के लिये अनेक बातें बार-बार कही गई हैं। आध्यात्मिक ग्रन्थों में किसी बात को बार-बार कहने का विशेष प्रयोजन होता है, वहाँ न्यायशास्त्र के समान युक्तियों का कोटिक्रम और उसके द्वारा सिद्धान्त-निर्णय अपेक्षित नहीं रहता । वहाँ ग्रन्थकार के पास नैतिक और आध्यात्मिक विचारों की पूँजी होती है, और उसके प्रति पाठकों में रुचि उत्पन्न करना उसका मुख्य उद्देश्य होता है, अतः अपने कथन को प्रभावक बनाने के लिये वह एक बात को कुछ हेर-फेर के साथ दोहराता और उपमाओं से स्पष्ट करता है । ब्रह्मदेव ने भी ''अत्र भावनाग्रन्थे समाधिशतकवत् पुनरुक्तदूषणं नास्ति'' आदि लिखकर पुनरुक्ति का समर्थन किया है ।

उपमाएं और उनका उपयोग— अपने उपदेश को रोचक बनाने के लिये एक धर्मोपदेष्टा उपमा, रूपक आदि का उपयोग करता है । यदि वे (उपमा, रूपक आदि) दैनिक व्यवहार की वस्तुओं से लिये गये हों तो पाठकों और श्रोताओं को प्रकृत विषय के समझने में बहुत सुगमता रहती है । यही कारण है कि भारतीय न्यायशास्त्र में दृष्टान्त को इतना महत्त्व दिया गया है । विषय की गूढ़ता के कारण एक धर्मोपदेष्टा या तार्किक की अपेक्षा एक गूढ़वादी को इन सब चीजों का उपयोग करना विशेष आवश्यक होता है । दृष्टान्त आदि की सहायता से वह अपने अनुभवों को पाठकों तथा श्रोताओं तक पहुँचाने में समर्थ होता है । गूढ़वादी की वर्णनशैली में अन्य शैलियों से अन्तर होने का यह अभिप्राय नहीं है कि उसके अनुभव अप्रामाणिक हैं, किन्तु इससे यही प्रमाणित होता है कि वे अनुभव शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते । अतः गूढ़वाद के ग्रन्थ उपमा, रूपक आदि से भरे होते हैं । 'योगीन्दु' भी इसके अपवाद नहीं है, उनके परमात्मप्रकाश में दृष्टान्तों की कमी नहीं है । उनमें से कुछ तो बड़े ही प्रभावक हैं ।

परमात्मप्रकाश के छन्द— ब्रह्मदेव के मूल के अनुसार परमात्मप्रकाश में कुल ३४५

---

* देखो २, २११ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पद्य हैं; उनमें ५ गाथाएँ, एक स्रग्धरा और एक मालिनी है; किन्तु इनकी भाषा अपभ्रंश नहीं है; तथा एक चतुष्पादिका और शेष ३३७ अपभ्रंश दोहे हैं । परमात्मप्रकाश में कहीं भी 'दोहा' शब्द नहीं आया, किन्तु योगीन्दु के दूसरे ग्रन्थ योगसार में दो बार आया है। दोहे की दोनों पंक्तियाँ बराबर होती हैं, प्रत्येक पंक्ति में दो चरण होते हैं । प्रथम चरण में १३ और दूसरे में ११ मात्राएँ होती हैं । किन्तु जब हम दोहे को पढ़ते हैं या उसे गाने की कोशिश करते हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि हमें १४ मात्राओं की आवश्यकता है—प्रत्येक चरण की अन्तिम मात्रा कुछ जोर से बोली जाती है । अत: यह कहना उपयुक्त होगा कि दोहे की प्रत्येक पंक्ति में चौदह और बारह मात्राएँ होती हैं किन्तु परमात्मप्रकाश के इकतीस दोहों में प्रत्येक पंक्ति के चरण में अन्तिम वर्ण का गुरु उच्चारण करने पर भी तेरह मात्राएँ ही होती हैं । दोहे की प्रत्येक पंक्ति में चौदह और बारह मात्राएँ होती हैं, यह बात विरहाङ्क* की निम्नलिखित परिभाषा से भी स्पष्ट है ।

"तिण्णि तुरंगा णेउरओ वि-प्पाइक्का कण्णु ।
दुवहअ-पच्छद्धे वि तह वद लक्खणउ ण अण्णु ।।४,२७।।"

तुरंग= ४ मात्राएँ, णेउर = १ गुरु, पाइक्क = ४ मात्रा और कण्ण = २ गुरु, इसप्रकार एक पंक्ति में १४ और १२ मात्राएँ होती हैं । अपभ्रंश में 'ए' और 'ओ' प्राय: ह्रस्व भी होते हैं, अत: उक्त दोहे के अक्षरश: विभाजन करने से प्रगट होता है कि १३ और ११ मात्राएँ होती हैं । कविदर्पण, प्राकृतपिंगल, छन्दकोश आदि छन्दशास्त्र बतलाते हैं कि दोहे की प्रत्येक पंक्ति में १३ और ११ मात्राएँ होती हैं, किन्तु हेमचन्द्र १४ और १२ ही बताते हैं । सारांश यह है कि विरहांक और हेमचन्द्र दोहा के श्रुतिमाधुर्य का विशेष ध्यान रखते हैं, जब कि अन्य छन्दशास्त्रज्ञ अक्षर गणना के नियम का पालन आवश्यक समझते हैं । विरहांक ने दोहे का लक्षण अपभ्रंश-भाषा में रचा है, और रुद्रट कवि संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा के श्लेषों को दोहाछन्द में लिखते हैं, इससे प्रमाणित होता है कि दोहा अपभ्रंश भाषा का छन्द है ।

यहाँ 'दोहा' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करना अनुपयुक्त न होगा। जोइन्दु इसे दोहा कहते हैं किन्तु विरहांक इसका नाम 'दुवहा' लिखते हैं । यदि दोहा का मूल संस्कृत है तो यह 'द्विधा' शब्द से बना है, जो बतलाता है कि दोहा की प्रत्येक पंक्ति दो भागों में बँटी होती है, या दोहाछन्द में एक ही पंक्ति दो बार आती है । विरहांक का 'दो पाआ भण्णइ दुवहउ' लिखना बतलाता है कि उसे दूसरा अर्थ अभीष्ट है । जहाँ तक हम जानते हैं विरहांक, जिसे प्रो. एच.डी. वेलणकर ईसा की नवमी शताब्दी से पहले का बतलाते हैं— दोहे की परिभाषा करनेवालों में सबसे प्राचीन छन्दकार हैं । बाद के छन्दकारों ने दोहे के भेद भी किये हैं ।

---

* **एच.डी. वेलनकर– विरहांक का वृत्तजाति समुच्चय ।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आध्यात्मिक सहिष्णुता— अध्यात्मवादियों में एक दूसरे के प्रति काफी सहिष्णुता होती है, और इसलिये— जैसा कि प्रो. *रानडे का कहना है— सब युगों और सब देशों के अध्यात्मवादी एक अनन्त और स्वर्गीय समाज की सृष्टि करते हैं । वे किसी भी दार्शनिक आधार पर अपने गूढ़वाद का निर्माण कर सकते हैं, किन्तु शब्दों के अन्तस्तल में घुसकर वे सत्य की एकता का अनुभव करते हैं । योगीन्दु एक जैन गूढ़वादी हैं, किन्तु उनकी विशालदृष्टि ने उनके ग्रन्थ में एक विशालता ला दी है, और इसलिये उनके अधिकांश वर्णन साम्प्रदायिकता से अलिप्त हैं । उनमें बौद्धिक सहनशीलता भी कम नहीं है । वेदान्तियों का मत है कि आत्मा सर्वगत है, मीमांसकों का कहना है कि मुक्तावस्था में ज्ञान नहीं रहता, जैन उसे शरीरप्रमाण बतलाते हैं, और बौद्ध कहते हैं कि वह शून्य के सिवा कुछ भी नहीं। किन्तु योगीन्दु इस मतभेद से बिल्कुल नहीं घबराते, वे जैन अध्यात्म के प्रकाश में नयों की सहायता से शाब्दिक-जाल का भेदन करके सब मतों के वास्तविक अभिप्राय को समझाते हैं । यद्यपि अन्य दर्शनकार उनकी इस व्याख्या को स्वीकार न कर सकेंगे फिर भी यह शैली एक शान्त अध्यात्मवादी के रूप में उन्हें हमारे सामने खड़ा कर देती है। योगीन्दु परमात्मा की एक निश्चित रूपरेखा स्वीकार करते हैं किन्तु उसे एक निश्चित नाम से पुकारने पर जोर नहीं देते । वे अपने परमात्मा को जिन, ब्रह्म, शान्त, शिव, बुद्ध आदि संज्ञाएँ देते हैं । इसके सिवा अपना काम चलाने के लिये वे अजैन शब्दावली का भी प्रयोग करते हैं । १ अ., २२ दो. में वे धारणा, यन्त्र, मन्त्र, मण्डल, मुद्रा आदि शब्दों का उपयोग करते हैं और कहते हैं कि परमात्मा इन सबसे अगोचर है । १, ४१ तथा २, १०७ में उनकी शैली वेदान्त से अधिकतर मिलती है । २, ४६✡१ जिसे ब्रह्मदेव तथा अन्य प्रतियाँ प्रक्षेपक बतलाते हैं, गीता के दूसरे अध्याय के ६९ वें श्लोक का स्मरण कराते हैं । २, १७० वें दोहे में 'हंसाचार' शब्द आता है और ब्रह्मदेव 'हंस' शब्द का अर्थ परमात्मा करते हैं । यह हमें उपनिषदों के उन अंशों का स्मरण कराता है, जिनमें परमात्मा के अर्थ में हंस शब्द का प्रयोग किया है । सारांश यह है कि ग्रंथ के कुछ भाग को छोड़कर— जिसमें जैन अध्यात्म का पारिभाषिक वर्णन किया है— शेष भाग को अध्यात्म-शास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी प्रेमपूर्वक पढ़ सकता है ।

जैन-साहित्य में योगीन्दु का स्थान— एक गूढ़वादी के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत बड़ा विद्वान हो, और न वर्षों तक व्याकरण और न्याय में सिर खपाकर वह सुयोग्य लेखक बनने का ही प्रयत्न करता है, किन्तु मानव-समाज को दु:खी देख, आत्मसाक्षात्कार का अनुभव ही उसे उपदेश देने के लिये प्रेरित करता है, और व्याकरण आदि के नियमों का विशेष विचार किये बिना जनता के सामने वह अपने अनुभव रखता

*** वेलणकर और रानडे, भारतीय दर्शन का इतिहास जिल्द ७, महाराष्ट्र का आध्यात्मिक गूढ़वाद, भूमिका पृष्ठ २ ।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है । अत: उच्चकोटि की रचनाओं में प्रयुक्त की जानेवाली संस्कृत तथा प्राकृत भाषा को छोड़कर योगीन्दु का उस समय की प्रचलित भाषा अपभ्रंश को अपनाना महत्त्व से खाली नहीं है । महाराष्ट्र के ज्ञानदेव, नामदेव, [१]एकनाथ, तुकाराम और रामदास ने मराठी में और कर्नाटक के बसवन्न तथा अन्य वीरशैव [२]वचनकारों ने कन्नड़ में बड़े अभिमान के साथ अपने अनुभव लिखे हैं, जिससे अधिक लोग उनके अनुभवों से लाभ उठा सके । प्राचीन ग्रन्थकारों ने जो कुछ संस्कृत और प्राकृत में लिखा था उसे ही योगीन्दु ने बहुत सरल तरीके से अपने समय की प्रचलित भाषा में गूँथ दिया है । प्राचीन जैन-साहित्य के अपने अध्ययन के आधार पर मेरा मत है कि योगीन्दु कुन्दकुन्द और पूज्यपाद के ऋणी हैं । योगीन्दुकृत तीन आत्माओं का वर्णन (१, १२-१४) मोक्खपाहुड़ (४-८) से बिल्कुल मिलता है । सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परिभाषाएँ भी (१, ७६-७७) साधारणतया कुन्दकुन्द के मोक्खपाहुड़ (१४-५) में दत्त परिभाषाओं जैसी ही हैं, और ब्रह्मदेव ने इन दोहों की टीका में उन गाथाओं को उद्धृत भी किया है। इसके सिवा नीचे लिखी समानता भी ध्यान देने योग्य है— मो. पा. २४ और प. प्र. १, ८६; मो. पा. ३७ और प. प्र. २, १३; मो. पा. ५१ और प. प्र. २, १७६-७७; मो.पा. ६६-६९ और प. प्र. २, ८१ आदि । मोक्खपाहुड़ आदि की संस्कृतटीका में श्रुतसागरसूरि का परमात्मप्रकाश से दोहे उद्धृत करना भी निरर्थक नहीं है । इसप्रकार सूक्ष्म छानबीन से यह स्पष्ट हो जाता है कि योगीन्दु ने कुन्दकुन्द से बहुत कुछ लिया है ।

पूज्यपाद के समाधिशतक और परमात्मप्रकाश में घनिष्ठ समानता है । मेरे विचार से योगीन्दु ने पूज्यपाद का अक्षरश: अनुसरण किया है । विस्तार के डर से यहाँ कुछ समानताओं का उल्लेखमात्र करता हूँ । स. श. ४-५ और प.प्र. १, ११-१४; स. श. ३१ और प.प्र. २, १७५, १. १२३✡२; स. श. ६४-६६ और प.प्र. २, १७८-८०; स.श. ७० और प.प्र. १, ८०; स.श. ७८ और प.प्र. २, ४-६✡१; स.श. ८७-८८ और प. प्र. १, ८२ आदि । इन समानताओं के सिवा इन दोनों में विचारसाम्य भी बहुत है किन्तु दोनों की शैली में बड़ा अन्तर है । वैयाकरण होने के कारण 'अर्द्धमात्रालाघवं पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणा:' के अनुसार पूज्यपाद के उद्गार संक्षिप्त, भाषा परिमार्जित और भाव व्यवस्थित हैं, किन्तु योगीन्दु की कृति— जैसा कि पहले कहा जा चुका है— पुनरावृत्ति और इधर-उधर की बातों से भरी है । पूज्यपाद की शैली ने उनकी कृति को गहन बना दिया था, और विद्वान लोग ही उससे लाभ उठा सकते थे, संभवत: इसीलिये योगीन्दु ने समाधिशतक के मन्तव्यों को प्रचलित भाषा और जनसाधारण की शैली में निबद्ध किया था। योगीन्दु की इस रचना ने काफी ख्यातिप्राप्त की है; और जयसेन, श्रुतसागर और रत्नकीर्ति सरीखे टीकाकारों ने उससे पद्य उद्धृत किये हैं ।

---

१. मांझी मराठी भाषा चोखड़ी । परब्रह्मीं फलली गाढ़ी ।।

२ ये वचन कन्नड गद्य के सुन्दर नमूने हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देवसेन के तत्त्वसार और परमात्मप्रकाश में भी काफी समानता है । देवसेन के ग्रन्थों पर अपभ्रंश का प्रभाव है, अपने भावसंग्रह में उन्होंने कुछ अपभ्रंश पद्य भी दिये हैं, और 'बहिरप्पा' ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है । इन कारणों से मेरा मत है कि देवसेन ने योगीन्दु का अनुसरण किया है ।

योगीन्दु, काण्ह और सरह– काण्ह और सरह बौद्ध-गूढ़वादी थे । उनके ग्रन्थ उत्तरकालीन महायान सम्प्रदाय से खासकर तंत्रवाद से सम्बन्ध रखते हैं, और शैव योगियों के साथ उनकी कुछ परम्पराएँ मिलती जुलती हैं । काण्ह का समय डॉ. शाहीदुल्ला ई. ७०० के लगभग और डॉ. एस. के. चटर्जी ईसा की बारहवीं शताब्दी का अन्त बतलाते हैं । सरह ई. १००० के लगभग विद्यमान थे । इन दोनों ग्रन्थकारों के दोहाकोशों का विषय परमात्मप्रकाश के जैसा ही है । यद्यपि उनके ग्रन्थों का नाम 'दोहा-कोश' है, किन्तु परमात्मप्रकाश की तरह उनमें केवल दोहा ही नहीं है, बल्कि अनेक छन्द हैं । प्रान्त-भेद के कारण उत्पन्न कुछ विशेषताओं को छोड़कर उनकी अपभ्रंश भी योगीन्दु के जैसी ही है । गूढ़वादियों के विचार और शब्द प्राय: समान होते हैं, जो विभिन्न धर्मों के गूढ़वाद के ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं । काण्ह और सरह ने अपने पद्यों में प्राय: अपने नाम दिये हैं, पर योगीन्दु ने ऐसा नहीं किया । तुकाराम आदि महाराष्ट्र-सन्तों ने भी अपनी रचनाओं में अपने नाम दिये हैं और कर्नाटक शैव वचनकारों ने अपनी मुद्रिकाओं का उल्लेख किया है । उदाहरण के लिये 'वसवण्ण' की मुद्रिका 'कूडल-संगम-देव' है, और गङ्गम्मा की 'गङ्गेश्वरलिंग' । विशेषकर सरह के दोहा-कोश के बहुत से विचार, वाक्यांश, तथा कहने की शैलियाँ परमात्मप्रकाश के जैसी ही हैं ।

परमात्मप्रकाश के दार्शनिक मन्तव्य और गूढ़वाद

व्यवहार और निश्चय– भारतीय-साहित्य के इतिहास में यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि ग्रन्थ का शुद्ध अर्थ करने में प्राय: टीकाकार प्रमाण माने जाते हैं । ऋग्वेद के व्याख्याकार सायन के सम्बन्ध में जो बात सत्य है, परमात्मप्रकाश के टीकाकार ब्रह्मदेव के सम्बन्ध में वह बात और भी अधिक सत्य है । ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए, ब्रह्मदेव ने बार-बार निश्चयनय और व्यवहारनय का अवलम्बन लिया है । यह बहुत संभव है कि उन्होंने कुछ अत्युक्ति की हो, किन्तु ग्रन्थ के कुछ स्थलों से स्पष्ट है कि ये दोनों दृष्टियाँ जोइन्दु को भी इष्ट थीं । अत: परमात्मप्रकाश का अध्ययन करते समय हम इन दोनों नयों की उपेक्षा नहीं कर सकते ।

इसप्रकार के नयों की आवश्यकता — भारतवर्ष में एक ओर धर्म शब्द का अर्थ होता है— कठोर संयम के धारी महात्माओं के आध्यात्मिक अनुभव, और दूसरी ओर उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुयायी समाज का पथ-प्रदर्शन करने वाले व्यावहारिक नियम। अर्थात् धर्म के दो रूप हैं एक सैद्धान्तिक या आध्यात्मिक और दूसरा व्यावहारिक या सामाजिक । इन दो रूपों के कारण ही इसप्रकार के नयों की आवश्यकता होती है, और जैनधर्म में तो— जहाँ भेदविज्ञान के बिना सत्य की प्राप्ति ही नहीं होती— वे अपना खास

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्थान रखते हैं । व्यवहारनय वाचाल है और उसका विषय है कोरा तर्कवाद, जब कि निश्चयनय मूक है और उसका विषय है अन्तरात्मा से स्वयं उद्‌भूत होने वाले अनुभव । जैनधर्मानुसार गृहस्थधर्म और मुनिधर्म परस्पर में एक दूसरे के आश्रित हैं, और मोक्षप्राप्ति में एक दूसरे की सहायता करते हैं । यही दशा व्यवहार और निश्चय की है; जैसे प्रत्येक गृहस्थ संन्यास लेता है, और अपने आत्मिक-लक्ष्य को पहिचानता है, उसीप्रकार व्यवहारनय निश्चय की प्राप्ति के लिये आत्मसमर्पण कर देता है ।

अन्य शास्त्रों में इसप्रकार की दृष्टियाँ— मुण्डकोपनिषद् (१, ४-५) में विद्या के दो भेद किये हैं— अपरा और परा । पहली का विषय वेदज्ञान है, और दूसरी का शाश्वत ब्रह्मज्ञान । ये भेद सत्य के तार्किक और आनुभविकज्ञान के जैसे ही हैं, अत: इनकी व्यवहार और निश्चय के साथ तुलना की जा सकती है । बौद्धधर्म में भी सत्य के दो भेद किये हैं— संवृतिसत्य या व्यवहारसत्य और परमार्थसत्य। शंकराचार्य भी व्यवहार और परमार्थ दृष्टियों को अपनाते हैं । धर्म की कुछ आधुनिक परिभाषाओं में भी इसप्रकार के भेद की झलक पाई जाती है, जिनमें से विलियम जेम्स 'सामाजिक और व्यक्तिगत' इन दो दृष्टियों को मानते हैं ।

नयों का सापेक्ष महत्त्व– व्यवहारनय तभी तक लाभदायक और आवश्यक है जब तक वह निश्चय की ओर ले जाता है । अकेला व्यवहार अपूर्ण है, और कभी पूर्ण नहीं हो सकता । बिल्ली की उपमा तभी तक काम दे सकती है, जब तक हमने शेर को नहीं देखा । दोनों नयों का सापेक्ष महत्त्व बतलाते हुए अमृतचन्द्र लिखते हैं—* व्यवहार उन्हीं के लिये उपयोगी हो सकता है जो आध्यात्मिक-जीवन की पहली सीढ़ी पर रेंग रहे हैं । किन्तु, जो अपने लक्ष्य को जानते हैं और अपने चैतन्य-स्वरूप का अनुभव करते हैं, उनके लिये व्यवहार बिल्कुल उपयोगी नहीं है।

आत्मा के तीन भेद— आत्मा के तीन भेद हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शरीर को आत्मा समझना अज्ञानता है, अत: एक ज्ञानी मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने को शरीर से भिन्न और ज्ञानमय जाने, और इस तरह आत्म-ध्यान में लीन होकर परमात्मा को पहचाने । समस्त बाहिरी वस्तुओं का त्याग करने पर अन्तरात्मा ही परमात्मा हो जाता है ।

आत्मा के भेद और प्राचीन ग्रन्थकार— सबसे पहले योगीन्दु ने ही इन भेदों का उल्लेख नहीं किया है । किन्तु उससे पहले कुन्दकुन्द ने (ईस्वी सन् का प्रारम्भ) अपने मोक्खपाहुड़ में और पूज्यपाद ने (ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम पाद के लगभग) समाधिशतक में इनकी चर्चा की है । जोइन्दु के बाद अमृतचन्द्र, गुणभद्र, अमितगति आदि अनेक ग्रन्थकारों ने आत्मा की चर्चा करते समय इस भेद को दृष्टि में रक्खा है ।

---

* समयसार कलश-५ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्य दर्शनों में इस भेद की प्रतिध्वनि— यद्यपि प्राथमिक वैदिक साहित्य में आत्मवाद के दर्शन नहीं होते, किन्तु उपनिषदों में इसकी विस्तृत चर्चा पाई जाती है । उस समय यजन-याजन आदि वैदिक कृत्य में संलग्न पुरोहितों के सिवा साधुओं का भी एक सम्प्रदाय था, जो अपने जीवन का बहुभाग इस आत्मविद्या के चिन्तन में ही व्यतीत करता था । उपनिषदों तथा बाद के साहित्य में इस आत्म-विद्या के प्रति बड़ा अनुराग दर्शाया गया । तैत्तिरीयोपनिषद् में पाँच आवरण बतलाये हैं— अन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय । इनमें से प्रत्येक को आत्मा कहा है । कठोपनिषद् में आत्मा के तीन भेद किये हैं— ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा । छान्दोग्य ३०८, ७-१२ को दृष्टि में रखकर डॉयसन ने आत्मा की तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं— शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा । अनेक स्थलों पर उपनिषदों में आत्मा और शरीर को जुदा-जुदा बतलाया है। न्याय-वैशषिक का जीवात्मा और परमात्मा का भेद तो प्रसिद्ध ही है । इसके बाद; रामदास आत्मा के चार भेद करते हैं— १. जीवात्मा, जो शरीर से बद्ध है; २. शिवात्मा, जो विश्वव्यापी है; ३. परमात्मा, जो विश्व में और उससे बाहर भी व्याप्त है, और ४. निर्मलात्मा, जो निष्क्रिय और ज्ञानमय है । किन्तु रामदास का कहना है कि अन्ततोगत्वा ये सब सर्वथा एक ही हैं ।

आत्मिक-विज्ञान— आत्म-ज्ञान से संसार भ्रमण का अन्त होता है । आत्मा उसी समय आत्मा कहा जाता है, जब वह कर्मों से मुक्त हो जाता है । शुद्ध आत्मा का ध्यान करने से मुक्ति शीघ्र मिलती है । आत्म-ज्ञान के बिना शास्त्रों का अध्ययन, आचार का पालन आदि सब कृत्य-कर्म बेकार हैं ।

आत्मा का स्वभाव— यद्यपि आत्मा शरीर में निवास करता है, किन्तु शरीर से बिल्कुल जुदा है । छह द्रव्यों में केवल यही एक चेतन द्रव्य है, शेष जड़ हैं । यह अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का भण्डार है । अनादि और अनन्त है; दर्शन और ज्ञान उसके मुख्य गुण हैं; शरीरप्रमाण है । मुक्तावस्था में उसे शून्य भी कह सकते हैं, क्योंकि उस समय वह कर्मबन्धन से शून्य (रहित) हो जाता है। यद्यपि सब आत्माओं का अस्तित्व जुदा-जुदा है, किन्तु गुणों की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है, सब आत्माएं अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य के भण्डार हैं । अशुद्ध दशा में उनके ये गुण कर्मों से ढँके रहते हैं ।

परमात्मा का स्वभाव— तीनों लोकों के ऊपर मोक्ष-स्थान में परमात्मा निवास करता है । वह शाश्वत ज्ञान और सुख का आगार है, पुण्य और पाप से निर्लिप्त है । केवल निर्मल ध्यान से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है । जिसप्रकार मलिन दर्पण में रूप दिखाई नहीं देता, उसी तरह मलिन चित्त में परमात्मा का ज्ञान नहीं होता। परमात्मा विश्व के मस्तक पर विराजमान है, और विश्व उसके ज्ञान में, क्योंकि वह सबको जानता है । परमात्मा अनेक हैं, और उनमें कोई अन्तर नहीं है । वह न तो इन्द्रियगम्य है, और न केवल शास्त्राभ्यास से ही हम उसे जान सकते हैं, वह केवल एक निर्मल ध्यान का विषय है। ब्रह्म, परब्रह्म, शिव, शान्त आदि उसी के नामान्तर हैं ।....

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर्मों का स्वभाव— राग, द्वेष आदि मानसिक भावों के निमित्त से जो परमाणु आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं । जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है । कर्मों के कारण ही आत्मा की अनेक दशायें होती हैं, कर्मों के कारण ही आत्मा को शरीर में रहना पड़ता है । ये कर्म-कलंक ध्यानरूपी अग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं।

आत्मा और परमात्मा— आत्मा ही परमात्मा है, किन्तु कर्मबन्ध के कारण वह परमात्मा नहीं बन सकता । ज्यों ही वह अपने को जान लेता है, परमात्मा बन जाता है। स्वाभाविक गुणों की अपेक्षा से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है । जब आत्मा-कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है, उसके आनन्द का पारावार नहीं रहता ।

उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म— उपनिषदों में ब्रह्म एक विश्वव्यापी तत्त्व माना गया है, समस्त जीवात्माएं उसी के अंश हैं । बहुत से स्थलों पर आत्मा और ब्रह्म शब्द का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है । जैसे लोहे का एक टुकड़ा पृथ्वी के गर्भ में दब जाने के बाद पृथ्वी में ही मिल जाता है, उसी तरह प्रत्येक जीवात्मा ब्रह्म में समा जाता है । अविद्या के प्रभाव से प्रत्येक आत्मा अपने को स्वतन्त्र समझता है, किन्तु वास्तव में हम सब ब्रह्म के ही अंश हैं । प्रारम्भ में यह ब्रह्म एक शक्तिशाली ऋचा के रूप में माना जाता था, किन्तु बाद में यह उस महान शक्ति का प्रतिनिधि बन गया, जो विश्व को उत्पन्न करती और नष्ट करती है । यद्यपि बार-बार ब्रह्म को निर्गुण कहा है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसे एक स्वतन्त्र अनन्त और सनातन तत्त्व के रूप में माना है, जिससे प्रत्येक वस्तु अपना अस्तित्व प्राप्त करती है । इस तरह उपनिषदों में ब्रह्म ही आत्मा है।

योगीन्दु के परमात्मा की उपनिषदों के ब्रह्म से तुलना— 'ब्रह्म' शब्द वैदिक है, और उपनिषदों में ब्रह्म को एक और अद्वितीय लिखा है । जोईन्दु ने इस शब्द को वैदिक साहित्य से लिया है, और अपने ग्रन्थ में उसका बार-बार प्रयोग किया है **''अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्''** लिखकर स्वामी समन्तभद्र ने भी 'ब्रह्म' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है । उपनिषदों में परमात्मा की अपेक्षा ब्रह्म शब्द अधिक आया है तथापि 'नृसिंहोत्तरतापनी' आदि ग्रन्थों में दोनों को एकार्थवाची बतलाया है । उपनिषदों का ब्रह्म एक है किन्तु जोईन्दु बहुत से ब्रह्म मानते हैं । जैनधर्म के अनुसार परमात्मा कृतकृत्य हो जाता है और उसे कुछ करना शेष नहीं रहता, वह विश्व को केवल जानता और देखता है, क्योंकि जानना और देखना उसका स्वभाव है । किन्तु उपनिषदों का ब्रह्म प्रत्येक वस्तु का उत्पादक और आश्रय है । यद्यपि उपनिषदों के ब्रह्म और जैनों के परमात्मा में बहुत सी समानताएं हैं, किन्तु उनके अर्थ में भेद है । उदाहरण के लिये, उपनिषदों में 'स्वयंभू' शब्द का अर्थ 'स्वयं पैदा होनेवाला' और 'स्वयं रहनेवाला' है, किन्तु जैनधर्म के अनुसार 'स्वयं परमात्मा होनेवाला' है ।

योगीन्दु की एकता— योगीन्दु के परमात्मा और उपनिषदों के ब्रह्म में उपर्युक्त अन्तर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होते हुए भी, योगीन्दु बिल्कुल उपनिषदों के स्वर में परमात्माओं के एकत्व की चर्चा करते हैं, और परमात्मपद के अभिलाषियों से निवेदन करते हैं कि वे परमात्माओं में भेद-कल्पना न करें, क्योंकि उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है । परन्तु उपनिषदों का एकत्व वास्तविक है, और जोईन्दु का केवल आपेक्षिक । किन्तु जब योगीन्दु आत्मा और परमात्मा के एकत्व की चर्चा करते हैं, तो वे उसका पूर्णतया समर्थन करते हैं, क्योंकि जैनधर्म के अनुसार आत्मा परमात्मा है, कर्मबन्ध के कारण उसे परमात्मा न कहकर आत्मा कहते हैं । सम्पूर्ण आत्माओं की यह समानता जैन धर्म के प्राणिमात्र के प्रति मानसिक, वाचनिक और कायिक अहिंसावाद के बिल्कुल अनुरूप है, इस प्रसंग में सांख्यों की तरह जैनों को भी सत्कार्यवादी कहा जा सकता है । उपनिषदों का ब्रह्म सर्वथा एक और अद्वैत है, किन्तु जैनों के परमात्मा में यह बात नहीं है । जैनधर्म संसार को भेददृष्टि से देखता है, और उसका आत्मा तप और ध्यान के मार्ग पर चलकर परमात्मा बन जाता है, किन्तु उपनिषद् संसार को एक ब्रह्म के रूप में ही देखते हैं ।

उपनिषदों के आत्मा से योगीन्दु के आत्मा की तुलना— जैनधर्म में आत्मा और पुद्गल दोनों वास्तविक हैं, आत्माएं अनन्त हैं और मुक्तावस्था में भी प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है । किन्तु उपनिषदों में आत्मा ब्रह्म का ही नामान्तर है, इसके सिवा अन्य कुछ भी सत्य नहीं है । जैनधर्म में, उपनिषदों की तरह आत्मा एक विश्वव्यापी तत्त्व का अंश नहीं है— किन्तु उसके अन्दर परमात्मत्व के बीज वर्तमान रहते हैं और जब वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है, तब वह परमात्मा बन जाता है । उपनिषद् तथा गीता में बुरे और अच्छे कार्यों को कर्म कहा है, किन्तु जैनधर्म में यह एक प्रकार का सूक्ष्म पदार्थ है, जो आत्मा की प्रत्येक मानसिक, वाचिक और कायिक-क्रिया के साथ आत्मा से सम्बद्ध हो जाता है और उसे जन्म-मरण के चक्र में घुमाता है । जैनधर्म के अनुसार आत्मा और परमात्मा एक ही हैं, क्योंकि ये एक ही वस्तु की दो अवस्थाएं हैं, और इस तरह प्रत्येक आत्मा परमात्मा है । तथा संसार अनादि है, और अगणित आत्माओं की रंगभूमि है । किन्तु वेदान्त में आत्मा, परमात्मा और विश्व एक ब्रह्मस्वरूप ही हैं ।

दो विभिन्न सिद्धान्त– आत्मा और ब्रह्म सिद्धान्त को मिलाकर उपनिषद् एक स्वतन्त्र अद्वैतवाद की सृष्टि करते हैं । वास्तव में आत्मवाद और ब्रह्मवाद ये दोनों ही स्वतन्त्र सिद्धान्त हैं और एक से दूसरे का विकास नहीं हो सकता । प्रथम सिद्धान्त के अनुसार अगणित आत्माएं संसार में भ्रमण कर रही हैं, जब कोई आत्मा बन्धन से मुक्त हो जाता है, तब वह परमात्मा बन जाता है । परमात्मा भी अगणित हैं, किन्तु उनके गुणों में कोई अन्तर नहीं है; अतः वे एक प्रकार की एकता का प्रतिनिधित्व करते हैं । ये परमात्मा संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय में कोई भाग नहीं लेते । इसके विपरीत, ब्रह्मवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है, और उसी में लय हो जाती है; विभिन्न आत्माएँ एक परब्रह्म के ही अंश हैं । जैन और सांख्य मुख्यतया आत्मवाद के सिद्धान्त को मानते

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं, जब कि वैदिक-धर्म ब्रह्मवाद को । किन्तु उपनिषद् इन दोनों सिद्धान्तों को मिला देते हैं, और आत्मा तथा ब्रह्म के ऐक्य का समर्थन करते हैं ।

संसार और मोक्ष— संसार और मोक्ष आत्मा की दो अवस्थाएं हैं, और दोनों एक दूसरे से बिल्कुल विरुद्ध हैं । संसार जन्म और मृत्यु का प्रतिनिधि है, तो मोक्ष उनका विरोधी। संसार-दशा में आत्मा कर्मों के चंगुल में फँसा रहता है; और नरक, पशु, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में घूमता फिरता है; किन्तु मोक्ष उससे विपरीत है, उसे पंचमगति भी कहते हैं । जब आत्मा चौदह गुणस्थानों में से होकर समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है, तब उसे पञ्चमगति की प्राप्ति होती है । संसार-दशा में कर्म आत्मा की शक्ति को प्रकट नहीं होने देते । किन्तु मुक्तावस्था में, जहाँ आत्मा परमात्मा बन जाता है, और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य का धारक होता है, वे शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं ।

मोक्षप्राप्ति का उपाय— व्यवहारनय से, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं, इन्हें 'रत्नत्रय' भी कहते हैं; और निश्चयनय से रत्नत्रयात्मक आत्मा ही मोक्ष का कारण है, क्योंकि ये तीनों ही आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं ।

महासमाधि— इस ग्रन्थ में, पारिभाषिक शब्दों की भरमार के बिना महासमाधि का बड़ा ही प्रभावक वर्णन है; जो ज्ञानार्णव, योगसार, तत्त्वानुशासन आदि में भी पाया जाता है । उस ध्यान की प्राप्ति के लिये, कि जिसमें आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार करता है; मन की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है । उस समय न तो इष्ट वस्तुओं के प्रति मन में राग ही होना चाहिए और न अनिष्ट के प्रति द्वेष; तथा मन, वचन और काय एकाग्र होने चाहिए, और आत्मा आत्मा में लीन होना चाहिए। इस सिलसिले में दो अवस्थाएं उल्लेखनीय हैं— एक सिद्ध और दूसरी तीर्थंकरत्व रूप अर्हत । समस्त कर्मों का नाश करके प्रत्येक आत्मा सिद्धपद प्राप्त कर सकता है, किन्तु तीर्थंकरत्व रूप अर्हतपद केवल तीर्थंकर ही प्राप्तकर सकते हैं । तीर्थंकर धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार में अपना कुछ समय देते हैं, किन्तु सिद्ध सदा अपने में ही लीन रहते हैं। अत: समाज के लिये, तीर्थंकर विशेष लाभदायक होते हैं।

गूढ़वाद की कुछ विशेषताएँ— गूढ़वाद या रहस्यवाद की व्याख्या कर सकना सरल नहीं है । यह मन की उस अवस्था को बतलाता है, जो तुरन्त निर्विकार परमात्मा का साक्षात् दर्शन कराती है । यह आत्मा और परमात्मा के बीच में पारस्परिक अनुभूति का साक्षात्कार है, जो आत्मा और अन्तिम सत्य की एकता को बतलाता है । इसमें जीव अपनी पूर्णता और स्वतन्त्रता का अनुभव करता है । दूसरे, इसका अनुभव करने के लिए ऐसे आत्मा की आवश्यकता है, जो अपने को ज्ञान और सुख का भण्डार समझे तथा अपने को परमात्म पद के योग्य जाने । तीसरे, यदि गूढ़वाद आध्यात्मिक और धार्मिक हो,तो धर्म को ध्येय और ध्याता में एकत्व स्थापित करने का उपाय अवश्य बताना चाहिए । चौथे, गूढ़वाद

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साधारणतया संसार के सम्बन्ध में और विशेषतया सांसारिक प्रलोभनों के सम्बन्ध में स्वाभाविक उदासीनता दिखाता है । पाँचवें गूढ़वाद से उस सामग्री की प्राप्ति होती है जो लौकिकज्ञान के साधन मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना ही पूर्ण सत्य को जान लेती है । छट्ठे, धार्मिक गूढ़वाद में कुछ नैतिक नियम रहते हैं, जो एक आस्तिक को अवश्य पालने चाहिए। सातवें, गूढ़वादसम्बन्धी रहस्यों का उपदेश करनेवाले गुरुओं का सम्मान करना भी एक गूढ़वादी का कर्तव्य है ।

जैनधर्म में गूढ़वाद– क्या जैनधर्म सरीखे वेदविरोधी धर्म में गूढ़वाद का होना संभव है ? कुन्दकुन्द और पूज्यपाद के ग्रन्थों के अवलोकन से उक्त शंका निराधार प्रमाणित होती है । यहाँ यह अधिक युक्तिसंगत होगा कि प्राचीन जैनग्रन्थों से कुछ बातें संकलित की जावें, और देखा जावे कि जैनधर्म ने गूढ़वाद को कौन-सी मौलिक वस्तु प्रदान की है, और वेदान्त के गूढ़वाद से उसमें क्या समानता या अन्तर है? ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि जैनतीर्थंकर संसार के गिने चुने गूढ़वादियों में से हैं । जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के सम्बन्ध में प्रो. रानडे ने ठीक ही लिखा है कि वे एक भिन्न ही प्रकार के गूढ़वादी थे, उनकी अपने शरीर के प्रति अत्यन्त उदासीनता उनके आत्मसाक्षात्कार को प्रमाणित करती है । पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि भागवत में प्राप्त ऋषभदेव का वर्णन जैन पौराणिक वर्णनों से बिल्कुल मिलता है ।

जैनधर्म में गूढ़वाद-सम्बन्धी सामग्री– ईश्वरवादियों के अद्वैतवाद से कहीं अधिक अद्वैतवाद और ईश्वरवाद को गूढ़वाद का आधार माना जाता है । अनुभव की श्रेष्ठ दशा में आत्मा किसी दैवी शक्ति के साथ एकता का अनुभव करता है। विलियम जेम्स का कहना है कि मन की गूढ़ वृत्तियाँ प्रत्येक मात्रा में सर्वदा नहीं तो प्राय: अद्वैतवाद का समर्थन करती हैं, जैसा कि इतिहास से प्रदर्शित होता है। अत: गूढ़वाद में अद्वैतवाद के लिए पर्याप्त स्थान है, और जैसा कि ऊपर कह आये हैं । वेदान्त में तो ब्रह्म ही सब कुछ है । किन्तु, ज्ञानदेव का आध्यात्मिक गूढ़वाद अद्वैत और द्वैत को मिला देता है क्योंकि उनमें एकत्व और नानात्व, दोनों को ही स्थान दिया है । जैन गूढ़वाद दो तत्त्वों पर अवलम्बित है । वे दो तत्त्व हैं– आत्मा और परमात्मा । किन्तु परमात्मा से मतलब ईश्वर है, न कि जगन्नियन्ता । जैनदृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, केवल संसार अवस्था में आत्मा कर्मबन्धन के कारण परमात्मा नहीं हो सकता । कर्मों का नाश करके गूढ़वादी इस एकता या समानता का अनुभव करता है । जैनधर्म की परमात्मा सम्बन्धी मान्यता आत्मकैवल्य से कुछ मिलती-जुलती है । जैनधर्म में आत्मा परमात्मा हो जाता है, किन्तु वेदान्तियों की तरह ब्रह्म में लीन नहीं होता । जैनधर्म में आध्यात्मिक अनुभव से मतलब एक विभक्त आत्मा का एकत्व में मिल जाना नहीं है, किन्तु उसका सीमित व्यक्तित्व उसके सम्भावित परमात्मा का अनुभवन करता है । कम्मपयडि, कम्मपाहुड़, कसायपाहुड़, गोम्मटसार आदि प्राचीन जैनशास्त्रों में बतलाया है कि किस तरह आत्मा गुणस्थानों पर आरोहण करता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हुआ उन्नत, उन्नततर होता जाता है और किस तरह प्रत्येक गुणस्थान में उसके कर्म नष्ट होते जाते हैं । यहाँ उन सब बातों का वर्णन करने के लिये स्थान नहीं है ।

वास्तव में जैनधर्म एक तपस्याप्रधान धर्म है । यद्यपि उसमें गृहस्थाश्रम का भी एक दर्जा है, किन्तु मोक्षप्राप्ति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को साधु-जीवन बिताना आवश्यक एवं अनिवार्य होता है । साधुओं के आचार विषयक नियम अति कठोर हैं, वे एकाकी विहार नहीं कर सकते, क्योंकि सांसारिक प्रलोभन सब जगह वर्तमान हैं । वे अपना अधिक समय स्वाध्याय और आत्म-ध्यान में ही बिताते हैं, और प्रतिदिन गुरु के पादमूल में बैठकर अपने दोषों की आलोचना करते हैं, और उनसे आत्म-विद्या या आत्म-ज्ञान का पाठ पढ़ते हैं । इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म में गूढ़वाद के सब आवश्यक अंग पाये जाते हैं ।

पुण्य और पाप– मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रिया से आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलन होता है, उससे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं । यदि क्रिया शुभ होती है, तो पुण्यकर्म को लाती है, और यदि अशुभ हो तो पापकर्म को । किन्तु पुण्य हो या पाप, दोनों की उपस्थिति आत्मा की परतंत्रता का कारण है । केवल इतना अन्तर है कि पुण्य-कर्म सोने की बेड़ी है और पापकर्म लोहे की। अत: स्वतंत्रता के अभिलाषी मुमुक्षु दोनों ही से मुक्त होने की चेष्टा करते हैं ।

परमात्मप्रकाश की अपभ्रंश और आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत-व्याकरण

अपभ्रंश और उसकी विशेषता— अपभ्रंश का आधार प्राकृत भाषा है । यह वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं से अधिक प्राचीन है । उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य के देखने से मालूम होता है कि जनसाधारण में प्रचलित कविता के लिये इस भाषा को अपनाया गया था, इसी से इसमें प्रान्तीय परिवर्तनों के सिवा कुछ सामान्य बातें भी पाई जाती हैं । हेमचन्द्र ने अपनी अपभ्रंश में प्राकृत की कुछ विशेषताओं को भी अपवादरूप से सम्मिलित कर लिया है । उन्होंने उदाहरण के लिये अपभ्रंश-पद्य उद्धृत किये हैं, एक-आध शब्द या रूप को छोड़कर उनके कुछ पद्य बिल्कुल प्राकृत में हैं । कुछ बातों से यह स्पष्ट है कि प्राकृत को सरल करने के लिये अपभ्रंश में अनेक उपाय किये गये हैं । उदाहरण के लिए, १— अपभ्रंश में स्वर विनिमय तथा उनके दीर्घ या ह्रस्व करने की स्वतंत्रता है, जैसे एक ही कारक में 'हँ' या 'हुँ' और 'हे' 'हु' प्रत्यय पाये जाते हैं; और 'ओ' प्रत्यय की जगह 'उ' आता है । २— 'म' का बहुत कम उच्चारण होता है, क्योंकि इसके स्थान में प्राय: 'वँ' हो जाता है । ३— विभक्ति के अन्त में 'स' के स्थान में 'ह' हो जाता है और इससे अनेक विचित्र रूप समझ में आ जाते हैं । यथा, मार्कण्डेय तथा अन्य लेखकों के द्वारा प्रयुक्त 'देवहो' वैदिक 'देवास:' से मिलता-जुलता है । इसी तरह 'देवहँ' प्राकृत के 'देवस्स' से, 'ताहँ' 'तस्स' से, 'तहिँ' 'तंसि' से और 'एहु' 'एसो' से लिया गया है । अवेस्ता तथा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ईरानी भाषाओं में भी संस्कृत 'स' का 'ह' में परिवर्तन हो जाता है । वर्तमान गुजराती में भी कभी-कभी 'स' का 'ह' हो जाता है । ४— उच्चारण को सरल बनाने के लिये प्राकृत की सन्धियाँ प्रायः शिथिल कर दी गई हैं । ५— कभी-कभी कर्ता, कर्म और सम्बन्ध कारक में प्रत्यय नहीं लगाये जाते । ६— शब्दों के रूपों पर स्वरपरिवर्तन का प्रभाव पड़ता है । ७— अव्ययों में इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि उनका पहिचानना भी कठिन है, उनमें से कुछ तो सम्भवतः देशी भाषाओं से आये हैं । ८— अनेक शब्दों में 'क' 'ड' 'ल' आदि जोड़ दिये गये हैं । और ९— देशी शब्दों का भी काफी बाहुल्य है।

अपभ्रंश भाषा की मोहकता– अपभ्रंश पद्य कोमलता और माधुर्य से परिपूर्ण होते हैं । अपभ्रंश में नये-नये छन्दों की कमी नहीं है, किन्तु ये छन्द मात्राछन्द होते हैं, और सरलता से गाये जा सकते हैं । अतः अधिक नहीं तो छठी शताब्दी में, अपभ्रंश का जनसाधारण की कविता का माध्यम होना कोई अचरज की बात नहीं है । यह कहा जाता है कि वलभी के गृहसेन ने, ई. ५५९ से ५६९ तक के जिनके स्मारकलेख पाये जाते हैं; संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में पद्य-रचना की थी । उद्योतनसूरि (७७८ ई.) ने भी अपभ्रंश का बहुत कुछ गुण-गान किया है, और भाषाओं के सम्बन्ध में उनकी आलोचना एक महत्त्व की वस्तु है । उनके विचार से लम्बे समास, अव्यय, उपसर्ग, विभक्ति, वचन और लिंगकाठिन्य से पूर्ण संस्कृतभाषा दुर्जन के हृदय की तरह दुरूह है; किन्तु प्राकृत, सज्जनों के वचन की तरह आनन्ददायक है । यह अनेक कलाओं के विवेचनरूपी तरंगों से पूर्ण सांसारिक अनुभवों का समुद्र है, जो विद्वानों से मंथन किये जाने पर टपकने वाली अमृत की बूँदों से भरा है । यह (अपभ्रंश) शुद्ध और मिश्रित संस्कृत तथा प्राकृत शब्दों का समानुपातिक एवं आनन्ददायक सम्मिश्रण है । यह कोमल हो या कठोर, बरसाती पहाड़ी नदियों की तरह इसका प्रवाह बेरोक है, और प्रणय-कुपितानायिका के वचनों की तरह यह शीघ्र ही मनुष्य के मन को वश में कर लेती है । उद्योतनसूरि स्वयं उच्चकोटि के ग्रन्थकार थे; उन्होंने जटिलाचार्य, रविषेण आदि संस्कृतकवियों की बड़ी प्रशंसा की है, अपभ्रंश भाषा के प्रति उनके ये उद्गार स्पष्ट बतलाते हैं कि ईसा की आठवीं शताब्दी तक वह पद्य-रचना का एक आकर्षक माध्यम समझी जाती थी।

परमात्मप्रकाश के ऋणी हेमचंद्र– उपलब्ध प्राकृत व्याकरणों में से हेमचन्द्र के व्याकरण में अपभ्रंश का पूरा विवेचन मिलता है । उनके विवेचन की विशेषता यह है कि वे अपने नियमों के उदाहरण में अनेक पद्य उद्धृत करते हैं । बहुत समय तक उनके द्वारा उद्धृत पद्यों के स्थलों का पता नहीं लग सका था । डॉ. पिशल का कहना था कि सतसई जैसी पद्यसंग्रह से वे उद्धृत किये गये हैं । किन्तु पद्यों की भाषा और विचारों में अन्तर होने से यह निश्चित है कि वे किसी एक ही स्थान से नहीं लिये गये हैं । मैंने यह बतलाया था कि हेमचन्द्र ने परमात्मप्रकाश से भी कुछ पद्य लिये हैं । वे पद्य निम्न प्रकार हैं—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

१. सूत्र ४-३८१ के उदाहरण में—

संता भोग जु परिहरइ तसु कंतहो बलि कीसु ।
तसु दइवेण वि मुंडियउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु ॥

परमात्मप्रकाश में यह पद्य (२-१३९) इसप्रकार है—

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥

यदि सूत्र और उसकी व्याख्या को देखा जावे तो 'किज्जउँ' के स्थान में 'किसु' का परिवर्तन समझ में ठीक-ठीक आ जाता है । क्योंकि 'किज्जउँ' एक वैकल्पिक रूप है, और उसका उदाहरण दिया गया है—

"बलि किज्जउँ सुअणस्सु ।"

२. सूत्र ४-४२७ में —

जिब्भिदिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइँ अन्नइं ।
मूलि विणट्ठइ तुंबिणिहे अवसें सुक्कहिँ पण्णइं ॥

कुछ भेदों के होते हुए भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह दोहा परमात्मप्रकाश के २-१४० का ही रूपान्तर है, जो इसप्रकार है—

पंचहँ णायकु वसु करहु जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ तरुवरहँ अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण ॥

इस दोहे में कुछ परिवर्तन तो सूत्र के नियमों के उदाहरण देने के लिये किये गये हैं । तथा परमात्मप्रकाश में इन दोनों दोहों की क्रमागत संख्या भी स्खलित नहीं है, और यदि इससे कोई नतीजा निकलना संभव है, तो वह यह है कि हेमचन्द्र ने परमात्मप्रकाश से ही इन पद्यों को उद्धृत किया है ।

३. सूत्र ४-३६५ में—

आयहो दड्ढकलेवरहो जं वाहिउ तं सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥

परमात्मप्रकाश में यह दोहा (२-१४७) इसप्रकार है—

बलि किउ माणुस- जम्मडा देक्खंतहँ पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥

दोनों की दूसरी पंक्ति बिल्कुल एक है, किन्तु सूत्र का उदाहरण देने के लिये पहली में परिवर्तन किया गया है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

४. सूत्र २-८० के उदाहरण में, हेमचन्द्र एक छोटा सा वाक्य उद्धृत करते हैं— **'वोद्रहद्रहम्मि पडिया'** । यह परमात्मप्रकाश के दोहा (२-११७) का अंश है, जो इसप्रकार है—

ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जियलोए ।
वोद्दहदहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ।।

हेमचन्द्र ने रकार का प्रयोग किया है, किन्तु परमात्मप्रकाश की किसी भी प्रति में हेमचन्द्र का पाठ नहीं मिलता । इस पद्य की भाषा अपभ्रंश नहीं है और यह गाथा भी 'उक्तं च' करके है, अत: इसके परमात्मप्रकाश का मूल पद्य होने में सन्देह है । मेरा विचार है कि स्वयं जोइन्दु ने ही इसे अपने ग्रन्थ में सम्मिलित किया होगा, क्योंकि परमात्मप्रकाश की कम से कम पद्यसंख्यावाली प्रतियों में भी यह पद्य पाया जाता है ।

हेमचन्द्र की अपभ्रंश— हेमचन्द्र ने अपभ्रंश की उपभाषाओं का वैसा स्पष्ट निर्देश नहीं किया, जैसा मार्कण्डेय तथा बाद के ग्रन्थकारों ने किया है । उनके नियमों का सावधानी के साथ अध्ययन करने से पता चलेगा कि उनकी अपभ्रंश एक ही प्रकार की नहीं है, किन्तु कई उपभाषाओं का मिश्रण है । हेमचन्द्र के कथन ''प्रायो ग्रहणाद्यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित् प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति।'' (४-३२९) से यह स्पष्ट है कि वे अपनी अपभ्रंश के दो आधार मानते हैं, एक प्राकृत और दूसरा शौरसेनी । चतुर्थपाद के सूत्र ३४१, ३६०, ३७२, ३९१, ३९३, ३९४, ३९८, ३९९, ४१४, ४३८ आदि तथा उनके उदाहरण अपभ्रंश के जिन तत्त्वों को बतलाते हैं, वे उसी के अन्य सूत्रों से मेल नहीं खाते । हेमचन्द्र की प्राकृत भाषाओं के साथ जब हम उनकी कुछ विशेषताओं का अध्ययन करते हैं, तो वे आपस में इतनी विरुद्ध जान पड़ती हैं कि एक भाषा में उनकी उपस्थिति संभव प्रतीत नहीं होती ।

परमात्मप्रकाश की अपभ्रंश के साथ हेमचन्द्र की अपभ्रंश की तुलना– हेमचन्द्र का सूत्र ''स्वराणां स्वरा: प्रायोऽपभ्रंशे'' स्वर-परिवर्तन के लिये कोई आवश्यक नियामक नहीं है । किन्तु इसका केवल इतना ही अभिप्राय है कि हेमचन्द्र की अपभ्रंश में स्वर-परिवर्तन काफी स्वतंत्र है । परन्तु परमात्मप्रकाश में हम इसप्रकार की स्वतंत्रता नहीं देखते । व्यञ्जनों के परिवर्तन के सम्बन्ध में हेमचन्द्र कहते हैं (४-३९६) कि असंयुक्त 'क' 'ख' 'त' 'थ' 'प' और 'फ' के स्थान में क्रमश: 'ग' 'घ' 'द' 'ध' 'ब' और 'भ' होते हैं; किन्तु हेमचन्द्र के उदाहरणों में प्रयुक्त कुछ प्रयोग उनके इस नियम को भंग कर देते हैं । परमात्मप्रकाश में भी इस नियम का अनुसरण नहीं किया गया है, किन्तु हेमचन्द्र ने प्राकृत भाषा के लिये व्यञ्जनों के सम्बन्ध में जो नियम निर्धारित किया है कि असंयुक्त 'क' 'ग' 'च' 'ज' 'त' 'द' 'प' 'य' और 'व' का प्राय: लोप होता है (१-१७७); परमात्मप्रकाश उससे सहमत है । अनुनासिक अक्षरों के सम्बन्ध में, हेमचन्द्र के व्याकरण के अनुसार शब्द के आदि में 'न' हो तो वह कायम रहता है तथापि अपभ्रंश-पद्यों के अपने नवीन संस्करण में पिशेल ने आदिम तथा मध्यम 'न' के स्थानमें 'ण' को ही रखा है । परमात्मप्रकाश में भी सर्वत्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'ण' ही आता है, केवल 'ब' प्रति में कहीं कहीं 'न' पाया जाता है । कन्नड़ प्रतियों में सर्वत्र 'ण' ही है । इसके सिवा भी दोनों ग्रन्थों की अपभ्रंश में कई विशेषताएँ हैं, जो अंग्रेजी प्रस्तावना से जानी जा सकती हैं ।

तुलना का निष्कर्ष— परमात्मप्रकाश की अपभ्रंश सर्वत्र एकसी है, जब कि हेमचन्द्र की अपभ्रंश में कम से कम दो उपभाषाएँ मिश्रित हैं । कुछ हेर-फेर के साथ हेमचन्द्र ने परमात्मप्रकाश से बहुत से दोहे उद्धृत किये हैं, और अपने व्याकरण के लिये उससे काफी सामग्री भी ली है । स्वर और विभक्ति सम्बन्धी छोटे-मोटे भेदों को भुलाकर भी परमात्मप्रकाश और हेमचन्द्र के व्याकरण की अपभ्रंशों में काफी मौलिक अन्तर पाया जाता है । हेमचन्द्र की अपभ्रंश के आधारभूत शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नहीं मिलता । इसके सिवा हेमचन्द्रीय अपभ्रंश की और भी बहुत सी बातें परमात्मप्रकाश में नहीं पाई जातीं ।

परमात्मप्रकाश के रचयिता जोइन्दु
योगीन्द्र नहीं, योगीन्दु

जोइन्दु और उनका संस्कृत नाम— यह बड़े ही दु:ख की बात है कि जोइन्दु जैसे महान अध्यात्मवेत्ता के जीवन के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन नहीं मिलता । श्रुतसागर उन्हें 'भट्टारक' लिखते हैं, किन्तु इसे केवल एक आदरसूचक शब्द समझना चाहिये । उनके ग्रन्थों में भी उनके जीवन तथा स्थान के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता । उनकी रचनाएँ उन्हें आध्यात्मिक राज्य के उन्नत सिंहासन पर विराजमान एक शक्तिशाली आत्मा के रूप में चित्रित करती हैं । वे आध्यात्मिक उत्साह के केन्द्र हैं । परमात्मप्रकाश में उनका नाम जोइन्दु आता है । जयसेन 'तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तम्' करके परमात्मप्रकाश से एक पद्य उद्धृत करते हैं । ब्रह्मदेव ने अनेक स्थलों पर ग्रन्थकार का नाम योगीन्द्र लिखा है । 'योगीन्द्रदेवनाम्ना भट्टारकेण' लिखकर श्रुतसागर एक पद्य उद्धृत करते हैं । कुछ प्रतियों में योगेन्द्र भी पाया जाता है । इसप्रकार उनके नाम का संस्कृतरूप योगीन्द्र बहुत प्रचलित रहा है । शब्दों तथा भावों की समानता होने से योगसार भी जोइन्दु की रचना माना गया है । इसके अंतिम पद्य में ग्रंथकार का नाम जोगिचन्द्र लिखा है, किंतु यह नाम योगीन्द्र से मेल नहीं खाता। अत: मेरी राय में योगीन्द्र के स्थान पर योगीन्दु पाठ है, जो योगिचंद्र का समानार्थक है। ऐसे अनेक दृष्टांत हैं, जहाँ व्यक्तिगत नामों में इंदु और चंद्र आपस में बदल दिये गये हैं, जैसे— भागेंदु और भागचंद्र तथा शुभेंदु और शुभचंद्र । गलती से जोइंदु का संस्कृतरूप योगीन्द्र मान लिया गया और वह प्रचलित हो गया । ऐसे बहुत से प्राकृत शब्द हैं जो विभिन्न लेखकों द्वारा गलतरूप में तथा प्राय: विभिन्न रूपों में संस्कृत में परिवर्तित किये गये हैं । योगसार के सम्पादक ने इस गलती का निर्देश किया था, किंतु उन्होंने दोनों नामों को मिलाकर एक तीसरे 'योगीन्द्रचंद्र' नाम की सृष्टि कर डाली, और इस तरह विद्वानों को हँसने का अवसर दे दिया । किंतु, यदि हम उनका नाम जोइन्दु योगीन्दु रखते हैं, तो सब बातें ठीक-ठीक घटित हो जाती हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

योगीन्दु की रचनाएं

परम्परागत रचनाएं– निम्नलिखित ग्रंथ परम्परा से योगीन्दुविरचित कहे जाते हैं– १ परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), २ नौकारश्रावकाचार (अप.), ३ योगसार (अप.), ४ अध्यात्मसंदोह (सं.), ५ सुभाषिततंत्र (सं.), और ६ तत्त्वार्थटीका (सं.) । इनके सिवा योगीन्द्र के नाम पर तीन और ग्रंथ भी प्रकाश में आ चुके हैं– एक दोहापाहुड़ (अप.), दूसरा अमृताशीति (सं.) और तीसरा निजात्माष्टक (प्रा.), इनमें से नम्बर ४ और ५ के बारे में हम कुछ नहीं जानते और नं. ६ के बारे में योगदेव, जिन्होंने तत्त्वार्थ-सूत्र पर संस्कृत में टीका बनाई है, और योगीन्द्रदेव नामों की समानता संदेह में डाल देती है ।

परमात्मप्रकाश परिचय– इस भूमिका के प्रारंभ में इसके बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है । इसके जोइंदु विरचित होने में कोई संदेह नहीं है । यह कहना कि उनके किसी शिष्य ने इसे संगृहीत किया था, ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है । इस ग्रन्थ में जोइन्दु अपना नाम देते हैं और लिखते हैं कि भट्ट प्रभाकर के लिये इस ग्रन्थ की रचना की गई है । तथा श्रुतसागर, बालचन्द्र, ब्रह्मदेव और जयसेन जोइन्दु को इस ग्रन्थ का कर्ता बतलाते हैं । यथार्थ में यह ग्रन्थ जोइन्दु की रचनाओं में सबसे उत्कृष्ट है, और इसी के कारण अध्यात्मवेत्ता नाम से उनकी ख्याति है ।

योगसार परिचय– योगसार का मुख्य विषय भी वही है जो परमात्मप्रकाश का है । इसमें संसार की प्रत्येक वस्तु से आत्मा को सर्वथा पृथक् अनुभवन करने का उपदेश दिया गया है । ग्रन्थकार कहते हैं कि संसार से भयभीत और मोक्ष के लिये उत्सुक प्राणियों की आत्मा को जगाने के लिये जोगिचन्द साधु ने इन दोहों को रचा है । ग्रन्थकार लिखते हैं कि उनने ग्रन्थ को दोहों में रचा है, किन्तु उपलब्ध प्रति में एक चौपाई और दो सोरठा भी हैं; इससे अनुमान होता है कि संभवत: प्रतियाँ पूर्ण सुरक्षित नहीं रही हैं । अन्तिम पद्य में ग्रन्थकर्ता का नाम जोगिचन्द (जोइन्दु/योगीन्दु) का उल्लेख, आरम्भिक मंगलाचरण की सदृशता, मुख्यविषय की एकता, वर्णन की शैली, और वाक्य तथा पंक्तियों की समानता बतलाती है कि दोनों ग्रन्थ एक ही कर्ता जोइन्दु की रचनाएँ हैं । योगसार माणिकचन्द्रग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हुआ है, किन्तु उसमें अनेक अशुद्धियाँ हैं । यदि उसके अशुद्ध पाठों को दृष्टि में न लाया जाये तो भाषा की दृष्टि से भी दोनों ग्रन्थों में समानता है । केवल कुछ अन्तर, जो पाठक के हृदय को स्पर्श करते हैं, इसप्रकार हैं– योगसार में एक वचन में प्राय: 'हु' और 'ह' आता है किन्तु परमात्मप्रकाश में 'हँ' आता है । योगसार में वर्तमानकाल के द्वितीय पुरुष के एकवचन में 'हु' और 'हि' पाया जाता है, किन्तु परमात्मप्रकाश में केवल 'हि' आता है । पञ्चास्तिकाय की टीका में जयसेन ने योगसार से एक पद्य भी उद्धृत किया है ।

सावयधम्मदोहा परिचय– इस ग्रन्थ में मुख्यतया श्रावकों के आचार साधारण किन्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आकर्षक शैली में बतलाये गये हैं । उपमाओं ने इसके उपदेशों को रोचक बना दिया है और इस श्रेणी के अन्य ग्रन्थों के साथ इसकी तुलना करने पर इसमें पारिभाषिक शब्दों की कमी पाई जाती है । विषय तथा दोहाछंद के आधार पर इसका नाम श्रावकाचारदोहक है । प्रारम्भ के शब्दों के आधार पर इसे नव (नौ) कार श्रावकाचार भी कहते हैं । प्रो. हीरालालजी ने बहुत कुछ ऊहापोह के बाद इसका नाम सावयधम्मदोहा रक्खा है ।

इसका कर्ता— जोइन्दु सम्बन्धी अपने लेख में मैंने बतलाया था कि जोगेन्द्र, देवसेन और लक्ष्मीचन्द्र या लक्ष्मीधर को इसका कर्ता कहा जाता है, उसके बाद इसकी लगभग नौ प्रतियाँ प्रकाश में आई हैं । अपनी प्रस्तावना में इसके कर्ता के सम्बन्ध में प्रो. हीरालालजी ने विस्तार से विचार किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण किसी भी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता । अत: उसपर विचार करना आवश्यक है ।

जोइन्दु— जोइन्दु को इसका कर्ता दो आधार पर माना जाता है, एक तो परम्परागत सूचियों में जोइन्दु को इसका कर्ता लिखा है, दूसरे 'अ' प्रति के अन्त में इसे 'जोगेन्द्रकृत' बतलाया है, और 'भ' प्रति के एक पूरक पद्य में योगीन्द्रदेव के साथ इसका नाता जोड़ा गया है । जोगेन्द्र और योगीन्द्र से परमात्मप्रकाश के कर्ता का ही आशय मालूम होता है। किन्तु परमात्मप्रकाश और योगसार की तरह इस ग्रन्थ में जोइन्दु ने अपना नाम नहीं दिया; दूसरे, जोइन्दु के उन्नत आध्यात्मिक विचारों का दिग्दर्शन भी इसमें नहीं होता, तथा श्रावकाचार के मुख्य विषय की तान रहस्यवादी जोइन्दु के स्वर से मेल नहीं खाती । तीसरे, प्रो. हीरालालजी के मत से जोइन्दु की अन्य रचनाओं की अपेक्षा इसकी कविता अधिक गहन है तथा उनका यह भी कहना है कि यह जोइन्दु की युवावस्था की रचना नहीं है। चौथे, कुछ सामान्य विचारों के सिवा, इसमें और परमात्मप्रकाश में कोई उल्लेखनीय शाब्दिक समानता भी नहीं है । पाँचवें, सावयधम्मदोहा में पंचमी और षष्ठी के एक वचन में 'हु' आता है, जब कि परमात्मप्रकाश में एकवचन और बहुवचन दोनों में 'हँ' आता है । अत: इस ग्रंथ को जोइन्दुकृत मानने में कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है । संभवत: इसकी भाषा तथा कुछ विचारों की साम्यता को देखकर किसी ने जोइन्दु को इसका कर्ता लिख दिया होगा ।

देवसेन— निम्नलिखित आधारों पर प्रो. हीरालालजी का मत है कि इसके कर्ता देवसेन हैं ।

१ 'क' प्रति के अन्तिम पद्य में 'देवसेनै उवदिट्ठं' आता है ।

२ देवसेन के भावसंग्रह और सावयधम्मदोहा में बहुत कुछ समानता है ।

३ देवसेन को 'दोहा' रचने की बहुत चाह थी । और संभवत: उस समय छन्दशास्त्र में यह एक नवीन आविष्कार था ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किन्तु उनके उक्त आधार प्रबल नहीं हैं । प्रथम, 'क' प्रति विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि अन्य प्रतियों की अपेक्षा उसमें पद्यसंख्या सबसे अधिक है, तथा वह सबके बाद की लिखी हुई है । इसके सिवा, जिस दोहे में देवसेन का नाम आता है, वह केवल सदोष ही नहीं है किन्तु उसमें स्पष्ट अशुद्धियाँ हैं । उसका 'देवसेनै' पाठ बड़ा ही विचित्र है, और पुस्तकभर में इस ढँग का दूसरा उदाहरण खोजने पर भी नहीं मिलता । छन्दशास्त्र की दृष्टि से भी उस दोहे की दोनों पंक्तियाँ अशुद्ध हैं, और सबसे मजे की बात तो यह है कि प्रो. हीरालालजी ने स्वसम्पादित सावयधम्मदोहा के मूल में उसे स्थान नहीं दिया । अत: इसप्रकार के अन्तिम दोहे का सम्बन्ध सावयधम्मदोहा के कर्ता के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, और हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि दर्शनसार के रचयिता देवसेन ने इसे रचा है । देवसेन के चार प्राकृत ग्रंथों का निरीक्षण करने पर हम देखते हैं कि भावसंग्रह में वे अपना नाम 'विमलसेन का शिष्य देवसेन' देते हैं, आराधनासार में केवल 'देवसेन' लिखा है । दर्शनसार में 'धारानिवासी देवसेन गणी' आता है, और तत्त्वसार में 'मुनिनाथ देवसेन' लिखा है । किन्तु सावयधम्मदोहा में इनमें से एक का भी उल्लेख नहीं है । अत: पहली युक्ति ठीक नहीं है ।

यह सत्य है कि भावसंग्रह और सावयधम्मदोहा की कुछ चर्चाएँ मिलती-जुलती हैं, किन्तु प्रो. हीरालालजी के द्वारा उद्धृत १८ सदृश वाक्यों में से मुश्किल से दो तीन वाक्य आपस में मेल खाते हैं । परम्परागत शैली के आधार पर रचे गये साहित्य में कुछ शब्दों तथा भावों की समानता कोई मूल्य नहीं रखती । भावसंग्रह में कुछ अपभ्रंश पद्य पाये जाते हैं, और सम्पादक ने लिखा है कि भावसंग्रह की प्रतियों में देवसेन के बाद के ग्रंथकारों के भी पद्य पाये जाते हैं, अत: यह असंभव नहीं है कि किसी लेखक की कृपा से सावयधम्मदोहा के पद्य उसमें जा मिले हों ।

तीसरे आधार से भी कोई बात सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि दोहाछंद कब प्रचलित हुआ यह अभी तक निर्णीत नहीं हो सका है । कालिदास के विक्रमोर्वशीय में हम एक दोहा देखते हैं, रुद्रट के काव्यालंकार में दो दोहे पाये जाते हैं, और आनंदवर्धन (लगभग ८५० ई.) ने भी अपने ध्वन्यालोक में एक दोहा उद्धृत किया है । रुद्रट का समय नवीं शताब्दी का प्रारम्भ समझा जाता है । यदि यह मान भी लिया जावे कि देवसेन को दोहा रचने की बहुत चाह थी, तो भी उनका सावयधम्मदोहा का कर्ता होना इससे प्रमाणित नहीं होता ।

लक्ष्मीचन्द्र— 'प' 'भ' और 'भ ३' प्रतियाँ इसे लक्ष्मीचन्द्रकृत बतलाती हैं । श्रुतसागर ने इस ग्रंथ से नौ पद्य उद्धृत किये हैं, उनमें से एक वह लक्ष्मीचन्द्र का बतलाते हैं, और शेष लक्ष्मीधर के; अत: श्रुतसागर के उल्लेख के अनुसार लक्ष्मीचंद्र उपनाम लक्ष्मीधर सावयधम्मदोहा के कर्ता हैं । किंतु निम्नलिखित कारणों से प्रो. हीरालाल जी ने लक्ष्मीचन्द्र को इसका कर्ता नहीं माना । १· 'भ' प्रति के अन्तिम पद्य में लिखा है कि यह ग्रन्थ योगीन्द्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ने बनाया है, इसकी पञ्जिका लक्ष्मीचन्द्र ने और वृत्ति प्रभाचन्द्र ने । २. मल्लिभूषण के शिष्य लक्ष्मण ही लक्ष्मीधर हैं । ३. 'प' प्रति का लेख 'लक्ष्मीचन्द्रविरचिते' लेखक की भूल का परिणाम है उसके स्थान पर 'लक्ष्मीचन्द्रलिखिते' या 'लक्ष्मीचन्द्रार्थलिखिते' होना चाहिए था। ४. लक्ष्मीचन्द्ररचित किसी दूसरे ग्रन्थ से हम परिचित नहीं हैं । इसका समाधान निम्न प्रकार है— १. 'भ' प्रति का अन्तिम पद्य बाद में जोड़ा गया है, क्योंकि वह अन्तिम सन्धि 'इति श्रावकाचारदोहकं लक्ष्मीचन्द्रविरचितं समाप्तम्' के बाद आता है और उसका अभिप्राय भी सन्धि से विरुद्ध है । २. 'प' प्रति के अन्त में लिखे लक्ष्मण और लक्ष्मीचन्द्र एक ही व्यक्ति के दो नाम नहीं हैं, क्योंकि पहले ''इति उपासकाचारे आचार्य श्रीलक्ष्मीचन्द्रविरचिते दोहकसूत्राणि समाप्तानि'' लिखा है, और फिर लिखा है कि सम्वत् १५५५ में यह दोहाश्रावकाचार मल्लिभूषण के शिष्य पं. लक्ष्मण के लिये लिखा गया । इससे स्पष्ट है कि सन्धि में ग्रन्थकार का नाम आया है और बाद की पंक्ति लेखक ने लिखी है । ३. जब लक्ष्मीचन्द्र और लक्ष्मण की एकता ही सिद्ध नहीं हो सकी तो 'प' प्रति के पाठ में सुधार करने का कारण ही नहीं रहता । ४. अन्तिम आधार भी अन्य तीन आधारों पर ही निर्भर है, अतः उसके बारे में अलग समाधान करने की आवश्यकता नहीं है । इस तरह लक्ष्मीचन्द्र के विरुद्ध प्रो. हीरालालजी की आपत्तियाँ उचित नहीं हैं और उनका दावा कि देवसेन इसके कर्ता हैं, प्रमाणित नहीं हो सका, अतः श्रुतसागर के उल्लेख तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर लक्ष्मीचन्द्र को ही सावयधम्मदोहा का कर्ता मानना चाहिये । यह लक्ष्मीचन्द्र श्रुतसागर के समकालीन लक्ष्मीचन्द्र से जुदे हैं । जहाँ तक हम इनके बारे में जानते हैं, श्रुतसागर और ब्रह्म नेमिदत्त (१५२८ ई.) दोनों से यह अधिक प्राचीन हैं ।

दोहापाहुड़ परिचय— इस ग्रन्थ की उपलब्ध दो प्रतियों में से एक में इसका नाम दोहापाहुड़ लिखा है, और दूसरी में पाहुड़दोहा । प्रो. हीरालालजी ने इसकी प्रस्तावना में इसके नाम का अर्थ समझाया है, और उनके बतलाये अर्थ के अनुसार भी ग्रन्थ का नाम दोहापाहुड़ होना चाहिये । परमात्मप्रकाश की तरह यह भी एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है, इसमें ग्रन्थकार ने आत्मतत्त्व पर विचार किया है । इसकी उपलब्ध प्रति अपनी असली हालत में नहीं है; उसके अन्त में दो पद्य संस्कृत में हैं, और दोहा नं. २११— जिसमें रामसिंह का नाम आता है, जो एक प्रति के अन्तिम वाक्य के अनुसार ग्रन्थ के रचयिता हैं— के बाद दो गाथाएँ महाराष्ट्री में हैं ।

जोइन्दु— 'क' प्रति की अन्तिम सन्धि में इसे योगेन्द्र की रचना बतलाया है, और इसके बहुत से दोहे परमात्मप्रकाश और योगसार से मिलते-जुलते भी हैं । किन्तु निम्नलिखित कारण से इसको योगीन्द्र की रचना मानना साधार प्रतीत नहीं होता— १. परमात्मप्रकाश और योगसार की तरह इसमें उन्होंने अपना नाम नहीं दिया, जबकि पद्य नं. २११ में रामसिंह का नाम आता है । २. दोहापाहुड़ में अकारान्त शब्द के षष्ठी के एक वचन में 'हो' और 'हुँ' प्रत्यय आते हैं, किन्तु परमात्मप्रकाश में केवल 'ह' ही पाया जाता है; तथा तुहारउ,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तुहारी, दोहिं मि, देहहंमि, कहिंमि आदि रूप परमात्मप्रकाश में नहीं पाये जाते । ३. 'द' प्रति के अन्तिम वाक्य में रामसिंह को इसका कर्ता बतलाया है, जिसका नाम पद्य नं. २११ में भी आता है । प्रारम्भ में मुझे सन्देह था कि परमात्मप्रकाश के 'शान्ति' की तरह क्या रामसिंह भी कोई प्राचीन ग्रन्थकार हैं ? किन्तु दोहापाहुड़ की गहरी छानबीन के पश्चात् मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इसके जोइन्दुकृत होने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है । कुछ पद्यों की समानता और अपभ्रंश भाषा को लक्ष में रखकर किसी ने इसकी सन्धि में योगीन्द्र का नाम जोड़ दिया है, जबकि ग्रन्थ में रामसिंह का नाम आता है ।

रामसिंह— दोहापाहुड़ के रामसिंह रचित होने में दो प्रमाण हैं, एक तो इसकी उपलब्ध दोनों प्रतियों में ग्रन्थ के अन्दर उनका नाम आता है; दूसरे, एक प्रति की सन्धि में भी उनका नाम आया है । उनके विरुद्ध केवल एक ही बात है कि अन्तिम पद्य में उनका नाम नहीं आया । किन्तु मैं ऊपर लिख आया हूँ कि उपलब्ध प्रति अपनी असली हालत में नहीं है, और २११ के बाद बहुत से पद्य बाद के मिलाये जान पड़ते हैं । अत: उपलब्ध सामग्री के आधार पर रामसिंह को ही इसका कर्ता मानना चाहिये । रामसिंह योगीन्दु के बहुत ऋणी हैं, क्योंकि उनके ग्रन्थ का एक पञ्चमांश—जैसा कि प्रो. हीरालालजी कहते हैं— परमात्मप्रकाश से लिया गया है । रामसिंह रहस्यवाद के प्रेमी थे, और संभवत: इसी से प्राचीन ग्रन्थकारों के पद्यों का उपयोग उन्होंने अपने ग्रन्थ में किया है । उनके समय के बारे में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जोइन्दु और हेमचन्द्र के मध्य में वे हुए हैं । श्रुतसागर, ब्रह्मदेव, जयसेन और हेमचन्द्र ने उनके दोहापाहुड़ से कुछ पद्य उद्धृत किये हैं । दोहापाहुड़ और सावयधम्मदोहा में दो पद्य बिल्कुल समान हैं । किन्तु एक तो देवसेन सावयधम्मदोहा के कर्ता प्रमाणित नहीं हो सके; दूसरे, प्रक्षेपकों से पूर्ण दोहापाहुड़ की प्रति के आधार पर उसकी आलोचना भी नहीं की जा सकती । अत: नई प्रतियाँ मिलने पर इस समस्या पर विशेष प्रकाश डाला जा सकेगा ।

अमृताशीति और निजात्माष्टक

अमृताशीति— यह एक उपदेशप्रद रचना है, इसमें विभिन्न छन्दों में ८२ पद्य हैं और जैनधर्म के अनेक विषयों की उनमें चर्चा है । हम नहीं जानते कि इसमें सन्धिस्थल सम्पादक ने जोड़ा है, या प्रति में ही था ? अन्तिम पद्य में योगीन्द्र शब्द आया है, जो चन्द्रप्रभ का विशेषण भी किया जा सकता है । परमात्मप्रकाश के कर्ता के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ने के लिये कोई प्रमाण नहीं है । इस रचना में विद्यानंदि, जटासिंहनंदि, और अकलंकदेव के भी कुछ पद्य हैं । कुछ पद्य भर्तृहरि के शतकत्रय से मिलते हैं । पद्मप्रभमलधारिदेव ने अपनी नियमसार की टीका में इससे तीनपद्य (नं. ५७, ५८, और ५९) उद्धृत किये हैं। उसी टीका में निम्नलिखित एक अन्य पद्य भी उद्धृत है—

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवै: । तथाहि—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मुक्त्यगंनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं दुर्भावनातिमिरसंहतिचंद्रकीर्तिम् ।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां या सम्मता भवति संयमिनामजस्रम् ।।

किन्तु यह पद्य अमृताशीति में नहीं है । प्रेमीजी का अनुमान है कि सम्भवत: यह पद्य योगीन्द्ररचित कहे जानेवाले अध्यात्मसंदोह का है ।

निजात्माष्टक— इसकी भाषा प्राकृत है, इसमें स्त्रग्धरा छन्द में आठ पद्य हैं, और उनमें सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप बतलाया है । किसी भी पद्य में रचयिता का नाम नहीं दिया, किन्तु संस्कृत में रचित अंतिम वाक्य में योगीन्द्र का नाम आया है । परन्तु परमात्मप्रकाश के कर्ता के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ने के लिये यह काफी प्रमाण नहीं है ।

निष्कर्ष— इस लम्बी चर्चा के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि जिस परम्परा के आधार पर योगीन्द्र को उक्त ग्रन्थों का रचयिता कहा जाता है, वह प्रामाणिक नहीं है। अत: वर्तमान में परमात्मप्रकाश और योगसार ये दो ही ग्रन्थ जोइंदुरचित सिद्ध होते हैं।

जोइन्दु का समय-विचार— जोइंदु के उक्त दोनों ग्रंथों से उनके समय के बारे में कुछ भी मालूम नहीं होता । अत: अब हमारे सामने एक ही मार्ग शेष रह जाता है, और वह है जोइन्दु के ग्रंथ से उद्धरण देनेवाले ग्रंथों का निरीक्षण । निम्नलिखित प्रमाणों के आधार पर हम जोइन्दु के समय की अंतिम अवधि निर्धारित करने का प्रयत्न करते हैं—

१. श्रुतसागर, जो ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए हैं, षट्प्राभृत की टीका में परमात्मप्रकाश से ६ पद्य उद्धृत करते हैं ।

२. परमात्मप्रकाश पर, मलधारि बालचंद्र ने कनड़ी में और ब्रह्मदेव ने संस्कृत में टीका बनाई है, और उन दोनों का समय क्रमश: ईसा की चौदहवीं और तेरहवीं शताब्दी के लगभग है ।

३. जयसेन, जिन्होंने कुंदकुंद के पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार पर संस्कृत में टीकाएँ रची हैं, जोइन्दु और उनके दोनों ग्रंथों से अच्छी तरह परिचित हैं । समयसार की टीका में वे परमात्मप्रकाश का उल्लेख करते हैं, और उससे एक पद्य भी उद्धृत करते हैं । पञ्चास्तिकाय की टीका में भी वे एक पद्य उद्धृत करते हैं, जो योगसार का ५६ वाँ पद्य है । जयसेन का समय ईसा की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के लगभग है ।

४. ऊपर यह बतलाया है कि हेमचंद्र परमात्मप्रकाश से परिचित हैं, उन्होंने परमात्मप्रकाश से कुछ सामग्री ली है, और अपने अपभ्रंश-व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण में, थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ परमात्मप्रकाश से कुछ दोहे भी उद्धृत किये हैं । हेमचंद्र १०८९ ई. में पैदा हुए और ११७३ ई. में स्वर्गवासी हुए । किसी भाषा के इतिहास में यह कोई अनहोनी घटना नहीं है कि साहित्यिक के रूप में अवतरित होने के बाद ही—चाहे वह साहित्यिकरूप परम्परागत स्मृति रूप में रहा हो या पुस्तकरूप में—उस भाषा के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विशाल व्याकरण की रचना होती है । अत: इस कल्पना के लिये पर्याप्त साधन नहीं हैं कि हेमचंद्र के द्वारा निबद्ध अपभ्रंश ही उस समय की प्रचलित भाषा थी । यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि अपने व्याकरण के द्वारा उन्होंने अपभ्रंश के साहित्यिकरूप को निबद्ध किया है, और यह रूप उनके समय में प्रचलित भाषा के पूर्व का या उससे भी अधिक प्राचीन रहा होगा । क्योंकि व्याकरण का आधार केवल बोलचाल की भाषा नहीं होती । अत: हेमचंद्र से कम से कम दो शताब्दी पूर्व जोइंदु का समय मानना होगा ।

५. प्रो. हीरालालजी ने बतलाया है कि हेमचंद्र ने रामसिंह के दोहापाहुड़ से कुछ पद्य उद्धृत किये हैं और रामसिंह ने जोइंदु के योगसार और परमात्मप्रकाश से बहुत से दोहे लेकर अपनी रचना को समृद्ध किया है । अत: जोइंदु हेमचंद्र के केवल पूर्ववर्ती ही नहीं है किंतु उन दोनों के मध्य में रामसिंह हुए हैं ।

६. ऊपर मैं बतला आया हूँ कि देवसेन के तत्त्वसार के कुछ पद्य परमात्मप्रकाश के दोहों से बहुत मिलते हैं । यह भी संभव हो सकता है कि दोनों के रचयिताओं ने किसी एक स्थान से उन्हें लिया हो । किंतु पद्यों की परिस्थिति और ऊपर बतलाये गये कारणों को दृष्टि में रखते हुए मेरा मत है कि देवसेन ने योगीन्दु का अनुसरण किया है । अपनी रचनाओं में देवसेन ने अपने पूर्ववर्ती ग्रंथों का प्राय: उपयोग किया है । उन्होंने वि.सं. ९९० (९३३ ई.) में अपना दर्शनसार समाप्त किया था।

७. नीचे के दो पद्य तुलना के योग्य हैं—

१. योगसार, ६५—

विरला जाणहिँ तत्तु बुहु विरला णिसुणहिँ तत्तु ।
विरला झायहिँ तत्तु जिय विरला धारहिँ तत्तु ॥

२. कत्तिगेयाणुप्पेक्खा, २७९—

विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं ।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि ॥

कुमार की कत्तिगेयाणुप्पेक्खा अपभ्रंश भाषा में लिखी गई है, अत: वर्तमानकाल तृतीयपुरुष के बहुवचन के रूप 'णिसुणहि' और 'भावहि' उसमें जबरन घुस गये हैं, किन्तु योगसार में वे ही रूप ठीक हैं । दोनों पद्यों का आशय एक ही है, केवल दोहे को गाथा में परिवर्तित कर दिया है, किन्तु यह किसी लेखक की सूझ नहीं है, बल्कि, कुमार ने ही जान या अनजान में, जोइन्दु के दोहे का अनुसरण किया है । कुछ दन्तकथाओं ने कुमार के व्यक्तित्व को अन्धकार में डाल दिया है, और उनका समय अभी तक भी निश्चित नहीं हो सका है । मौखिक परम्पराओं के आधार पर यह कहा जाता है कि विक्रमसंवत् से कोई दो या तीन शताब्दी पहले कुमार हुए हैं, और ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक कुछ विद्वानों पर इस परम्परा का प्रभाव भी है । कुमार की कत्तिगेयाणुप्पेक्खा की केवल

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध है, जो १५५६ ई. में शुभचन्द्र ने बनाई थी । किन्हीं प्राचीन टीकाओं में कुमार का उल्लेख भी नहीं मिलता । कुमार ने बारह अनुप्रेक्षाओं की गणना का क्रम तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार रक्खा है; जो वट्टकेर, शिवार्य और कुन्दकुन्द के क्रम से थोड़ा भिन्न है । ये सब बातें कुमार की परम्परागत प्राचीनता के विरुद्ध जाती हैं। यद्यपि कत्तिगेयाणुप्पेक्खा का कोई शुद्ध संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ है, किन्तु गाथाओं के देखने से पता चलता है कि उनकी भाषा प्रवचनसार के जितनी प्राचीन नहीं है । २५ वीं गाथा के 'क्षेत्रपाल' शब्द से अनुमान होता है कि कुमार दक्षिणप्रान्त के निवासी थे, जहाँ क्षेत्रपाल की पूजा का बहुत प्रचार रहा है । दक्षिण में कुमारसेन नामके कई साधु हुए हैं। मुलगुन्द मंदिर के शिलालेख में, जो ९०३ ई. से पहले का है, एक कुमारसेन का उल्लेख है; तथा ११४५ ई. बोगदी के शिलालेख में एक कुमारस्वामी का नाम आता है । किन्तु एकता के लिये केवल नाम की समता ही पर्याप्त नहीं है । अत: इन बातों को दृष्टि में रखते हुए मैं कुमार का कोई निश्चित समय ठहराना नहीं चाहता, किन्तु केवल इतना ही कहना है कि परम्परा के आधार पर कल्पित कुमार की प्राचीनता प्रमाणित नहीं होती तथा उसके विरुद्ध अनेक जोरदार युक्तियाँ मौजूद हैं । मेरा मत है कि जोइन्दु और कुमार में से जोइन्दु प्राचीन हैं ।

८. प्राकृतलक्षण के कर्ता चण्ड ने अपने सूत्र ''यथा तथा अनयो: स्थाने'' के उदाहरण में निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है —

कालु लहेविणु जोइया जिम जिम मोहु गलेइ ।
तिम तिम दंसणु लहइ जो णियमें अप्पु मुणेइ ॥

यह परमात्मप्रकाश के प्रथम अधिकार का ८५ वाँ दोहा है । दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि परमात्मप्रकाश में 'जिम' के स्थान पर 'जिमु' 'तिम' के स्थान पर 'तिमु' तथा 'जो' के स्थान पर 'जिउ' पाठ है, किन्तु चण्ड का प्राकृत-व्याकरण अपनी असली हालत में नहीं है । यह एक सुव्यवस्थित पुस्तक न होकर एक अर्धव्यवस्थित नोटबुक के जैसा है ।[१] १८८० ई. में जब प्राकृत का अध्ययन अपनी बाल्यावस्था में था, और अपभ्रंश-साहित्य से लोग अपरिचित थे, हॅर्न्ले[२] ने इसका सम्पादन किया था । उनके पास साधनों की कमी थी, और केवल पालीभाषा तथा अशोक के शिलालेखों पर दृष्टि रखकर उसका व्यवस्थित संस्करण सम्पादित कर सकना कठिन था । हॅर्न्ले ने उसके सम्पादन में बड़ी कड़ाई से काम लिया है, और ऐसी कड़ाई के लिये उन्होंने कैफियत भी दी है । किन्तु पिशेल तथा गुणे इसकी शिकायत करते हैं । इसी कड़ाई ने उनसे उक्त सूत्र तथा उसके उदाहरण को मूल से पृथक् कराके परिशिष्ट में डलवा दिया है । हॅर्न्ले का कहना है लेखकों की

---

१. दलाल और गुणे लिखित 'भविसयत्तकहा' की प्रस्तावना, पृ. ६२ ।

२. हर्न्ले की प्रस्तावना, पृ. १, २०, आदि ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कृपा से यह सूत्र मूल में आ मिला है । वे कहते हैं कि व्याकरण के जिस प्रसंग में उक्त सूत्र अपने उदाहरण के साथ आता है, वह व्यवस्थित नहीं है । उनके इस मत से हम भी सहमत हैं । किन्तु इस बात का स्मरण रखते हुए कि सूत्रों के क्रम में परिवर्तन किया गया है; हम उसकी मौलिकता को अस्वीकार नहीं कर सकते । चण्ड एक अपभ्रंश भाषा से परिचित हैं; जिसमें र, जब वह किसी शब्द में द्वितीय व्यञ्जन के रूप में आता है, सुरक्षित रहता है । अपभ्रंश भाषा में यह बात पाई जाती है, हेमचन्द्र के कुछ उदाहरणों में तथा रुद्रट के श्लेष-पद्यों में भी इस बात को चित्रित किया गया है । हमें आशा है कि केवल एक सूत्र द्वारा चण्ड ने अपभ्रंश का पृथक्करण न किया होगा । अत: अन्य सूत्रों को भी चण्डकृत स्वीकार करने पर अपभ्रंश के सम्बन्ध में अधिक जानकारी हो जाती है । यह स्वाभाविक है कि अपने सूत्रों के उदाहरण में वैयाकरण काव्य-ग्रन्थों से पद्य उद्धृत करते हैं । हेमचन्द्र व्याकरण में उक्त पद्य का न पाया जाना निरर्थक नहीं है, यह इस बात का निराकरण करता है कि हेमचन्द्र के व्याकरण से लेकर लेखकों ने उसे यहाँ मिला दिया होगा । गुणे का कहना है कि यह सूत्र मूलग्रन्थ का ही है और हम इससे सहमत हैं ।

चण्ड के समय के बारे में अनेक मत हैं । हॅर्न्ले का कहना है कि ईसा से तीन शताब्दी पूर्व के कुछ बाद और ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पहले चण्ड का व्याकरण रचा गया है । हॅर्न्ले के अनुसार उक्त सूत्र तथा उसके उदाहरण वररुचि से भी बाद में ग्रन्थ में सम्मिलित किये गये हैं किन्तु कितने बाद में सम्मिलित किये गये हैं, यह वे नहीं बताते हैं । वररुचि का समय ५०० ई. के लगभग बतलाया जाता है । गुणे का कहना है कि चण्ड उस समय हुए हैं, जब अपभ्रंश केवल आभीरों के बोलचाल की भाषा न थी बल्कि साहित्यिक भाषा हो चुकी थी, अर्थात् ईसा की छट्ठी शताब्दी के बाद में । इसप्रकार चण्ड के व्याकरण के व्यवस्थित रूप का समय ईसा की सातवीं शताब्दी के लगभग रखा जा सकता है, अत: परमात्मप्रकाश को प्राकृतलक्षण से पुराना मानना चाहिये ।

जोइन्दु के समय की आरम्भिक अवधि– ऊपर यह बताया गया है कि जोइन्दु, कुन्दकुन्द के मोक्खपाहुड़ और पूज्यपाद के समाधिशतक के बहुत ऋणी हैं । वास्तव में परमात्मप्रकाश में समाधिशतक के कुछ तात्त्विक विचारों को बड़े परिश्रम से निबद्ध किया है । कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग है, और पूज्यपाद का पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम पाद से कुछ पूर्व । इस चर्चा के आधार पर मैं परमात्मप्रकाश को समाधिशतक और प्राकृतलक्षण के मध्यकाल की रचना मानता हूँ। इसलिये जोइन्दु ईसा की छट्ठी शताब्दी में हुये हैं ।*

*** अपभ्रंश-पाठावली में श्री. एम. सी. मोदी ने परमात्मप्रकाश से भी कुछ पद्य संकलित किये हैं। उन पर टिप्पण करते हुए उन्होंने मेरे 'जोइन्दु' विषयक लेख का उल्लेख किया है, और लिखा है कि यद्यपि जोइन्दु को हेमचन्द्र का पूर्वज कहा जा सकता है किन्तु उन्हें वि.सं. की दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी से भी पहले का बतलाना ठीक नहीं है । श्री मोदी के निष्कर्ष निकालने के**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परमात्मप्रकाश की टीकाएँ

'क' प्रति की कन्नड़टीका

बालचन्द्र की टीका और 'क' प्रति की कन्नड़टीका– यह लिखा जा चुका है कि अध्यात्मी बालचन्द्र ने जिनने कुन्दकुन्दत्रयी पर कन्नड़टीका बनाई है, परमात्मप्रकाश पर भी एक कन्नड़टीका रची है । परमात्मप्रकाश की 'क' प्रति में एक कन्नड़टीका पाई जाती है । किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह टीका बालचन्द्र की ही है क्योंकि 'क' प्रति से इस सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती और म. आर. नरसिंहाचार्य ने बालचन्द्र की टीका का कुछ अंश नहीं दिया, जिससे 'क' प्रति की टीका मिलाई जा सके ।

कन्नड़टीका का परिचय– 'क' प्रति की कन्नड़टीका में परमात्मप्रकाश के दोहों की व्याख्या बहुत अच्छे रूप में की गई है, जहाँ तक मैंने इसे उलट-पलट कर देखा अपभ्रंश शब्दों का तुल्यार्थक संस्कृत शब्द कहीं भी मेरे देखने में नहीं आया, केवल कन्नड़ में उनके अर्थ दिये हैं । अनुवाद के कुछ अंश टीकाकार के भाषापाण्डित्य का परिचय देते हैं । मुझे कुछ ऐसे शब्द भी मिले, जिनके ठीक-ठीक अर्थ टीकाकार ने नहीं किये हैं । टीका सरल और सादी है, और दोहों का अर्थ करने में काफी सावधानी से काम लिया है । ब्रह्मदेव की संस्कृतटीका के समान न तो इनमें विशेष दार्शनिक विवेचन ही है, और न उद्धरण ही ।

इसकी स्वतन्त्रता– ब्रह्मदेव की संस्कृतटीका के साथ मैंने इसके कई स्थलों का मिलान किया है, और मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि टीकाकार ब्रह्मदेव की टीका से अपरिचित हैं । यदि उनके सामने ब्रह्मदेव की टीका होती तो उनके समान वे भी अपभ्रंश शब्दों के संस्कृत रूप देते और विशेष विवेचन तथा उद्धरणों से अपनी टीका की शोभा बढ़ाते । इसके सिवा दोनों में कुछ मौलिक असमानताएँ भी हैं । ब्रह्मदेव की अपेक्षा 'क' प्रति में ११३ पद्य कम हैं । तथा अनेक ऐसे मौलिक पाठान्तर और अनुवाद हैं, जो ब्रह्मदेव की टीका में नहीं पाये जाते ।

'क' प्रति की टीका का समय– इस टीका के गम्भीर अनुसन्धान के बाद मैंने निष्कर्ष निकाला है कि न केवल ब्रह्मदेव-टीका से, बल्कि परमात्मप्रकाश की करीब-करीब सभी टीकाओं से यह टीका प्राचीन मालूम होती है ।

ढंग को देखकर मुझे मोक्षमूलर के एक वाक्य का स्मरण आता है– ''ऐतिहासिक व्यक्तियों का समय जानने की विद्या केवल रुचि की बात नहीं है, जो केवल स्मरण के प्रभाव से ही निश्चित की जा सके'' । अपभ्रंश स्वरों का विचार करने पर 'अण्णु' और 'अणु' समय निर्णय करने में सहायक नहीं हो सकते । यद्यपि ब्रह्मदेव ने 'जवला' का अर्थ 'समीपे' किया है किन्तु यह अर्थ बिल्कुल अप्रासंगिक है । यह संस्कृत के 'यमल' शब्द से बना है, जिसका अर्थ 'जोड़ा' होता है । 'जवल' शब्द श्वेताम्बर आगमों में भी आता है । अपभ्रंश में 'म' का 'व' हो जाता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ब्रह्मदेव और उनकी वृत्ति

ब्रह्मदेव और उनकी रचनाएँ– अपनी टीकाओं में ब्रह्मदेव ने अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है । द्रव्यसंग्रह की टीका में केवल उनका नाम आता है । बृहद्द्रव्यसंग्रह की भूमिका में पं. जवाहरलालजी ने लिखा है कि ब्रह्म उनकी उपाधि थी, जो बतलाती है कि वे ब्रह्मचारी थे, और देवजी उनका नाम था । यद्यपि आराधनाकथाकोश के कर्ता नेमिदत्त ने और प्राकृत श्रुतस्कंध के रचयिता हेमचन्द्र ने उपाधि के रूप में ब्रह्म शब्द का उपयोग किया है किन्तु ब्रह्मदेव नाम में 'ब्रह्म' शब्द उपाधिसूचक नहीं मालूम देता; कारण, जैनपरम्परा में ब्रह्ममुनि, ब्रह्मसूरि आदि नामों के अनेक ग्रन्थकार हुये हैं तथा देव कोई प्रचलित नाम भी नहीं है किन्तु प्राय: नाम के अन्त में आता है अत: ब्रह्मदेव एक ही नाम है । परम्परा के अनुसार निम्नलिखित रचनाएँ ब्रह्मदेव की मानी जाती हैं–

१- परमात्मप्रकाशटीका, २- बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका, ३- तत्त्वदीपक, ४- ज्ञानदीपक, ५- त्रिवर्णाचारदीपक, ६- प्रतिष्ठातिलक, ७- विवाहपटल और ८-कथाकोश । जब तक ग्रन्थ न मिलें, तब तक नम्बर ३, ४ और ७ के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता । संभवत: नाम के आदि में ब्रह्म शब्द होने के कारण ब्रह्मनेमिदत्त का कथाकोश और ब्रह्मसूरि के त्रिवर्णाचार (-दीपक) और प्रतिष्ठातिलक को गलती से ब्रह्मदेव के नाम के साथ जोड़ दिया है । अत: ब्रह्मदेव की केवल दो ही प्रामाणिक रचनाएँ रह जाती हैं, एक परमात्मप्रकाशवृत्ति और दूसरी द्रव्यसंग्रहवृत्ति ।

परमात्मप्रकाशवृत्ति– परमात्मप्रकाश की वृत्ति में ब्रह्मदेवजी ने अपना नाम नहीं दिया। बालचन्द्र ब्रह्मदेव की एक संस्कृतटीका का उल्लेख करते हैं; दूसरे, दौलतरामजी संस्कृतवृत्ति को ब्रह्मदेवरचित कहते हैं; तीसरे, परमात्मप्रकाश की वृत्ति द्रव्यसंग्रह की वृत्ति से, जिसमें ब्रह्मदेव ने अपना नाम दिया है, बहुत मिलती-जुलती है । अत: इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दोनों वृत्तियाँ एक ही ब्रह्मदेव की हैं । ब्रह्मदेव की व्याख्या शुद्ध साहित्यिक व्याख्या है, वे अर्थ पर अधिक जोर देते हैं, इसलिये व्याकरण की गुत्थियाँ एक दो स्थान पर ही सुलझाई गई हैं । सबसे पहले वे शब्दार्थ देते हैं, फिर नयों का— खासकर निश्चयनय का अवलम्बन लेते हुए विशेष वर्णन करते हैं । किन्तु उनके ये वर्णन द्रव्यसंग्रह की टीका के वर्णनों के समान कठिन नहीं हैं । यदि यह टीका न होती तो परमात्मप्रकाश इतना प्रसिद्ध न होता, उसकी ख्याति का कारण यह टीका ही है ।

जयसेन और ब्रह्मदेव– पदच्छेद, उत्थानिका, प्रकरणसंगत चर्चा तथा ब्रह्मदेव की टीका की कुछ अन्य बातें हमें जयसेन की टीका की याद दिलाती हैं । ब्रह्मदेव ने जयसेन का पूरा-पूरा अनुकरण किया है । परमात्मप्रकाश की टीका की कुछ चर्चाएँ जयसेन के पञ्चास्तिकाय की टीका की चर्चाओं के समान हैं । उदाहरण के लिये परमात्मप्रकाश २-२१ और पञ्चास्तिकाय २३, प. प्र. २-३३ और पंचा. १५२, तथा प्र.प. २-३६ और पंचा. १४६ की टीकाओं को परस्पर में मिलाना चाहिए ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ब्रह्मदेव का समय— ब्रह्मदेव ने अपने ग्रन्थों में उनका रचना-काल नहीं दिया है। पं. दौलतरामजी (ई. १८ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) कहते हैं कि ब्रह्मदेव की संस्कृतटीका के आधार पर उन्होंने अपनी हिन्दी टीका बनाई है । पं. जवाहरलालजी लिखते हैं कि शुभचन्द्र ने कत्तिगेयाणुप्पेक्खा की टीका में ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसंग्रहवृत्ति से बहुत कुछ लिया है । मलधारि बालचन्द्र ब्रह्मदेव की टीका का स्पष्ट उल्लेख करते हैं, किन्तु बालचन्द्र का समय स्वतन्त्र आधारों पर निश्चित नहीं किया जा सकता । जैसलमेर के भण्डार में ब्रह्मदेव की द्रव्यसंग्रहवृत्ति की एक प्रति मौजूद है जो संवत् १४८५ (१४२८ ई.) में माण्डव में लिखी गई थी, उस समय वहाँ राय श्रीचान्दराय राज्य करते थे । इसप्रकार इन बाहिरी प्रमाणों के आधार पर ब्रह्मदेव के समय की अन्तिम अवधि १४२८ ई. से पहले ठहरती है । अब हम देखेंगे कि उनकी रचनाओं से उनके समय के सम्बन्ध में हम क्या जान सकते हैं ? परमात्मप्रकाश की टीका में ब्रह्मदेव ने शिवार्य की आराधना से, कुन्दकुन्द (ई. की प्रथम श.) के भावपाहुड़, मोक्खपाहुड़, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार से; उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र से, समन्तभद्र (दूसरी शताब्दी) के रत्नकरण्ड से, पूज्यपाद (५वीं शताब्दी के लगभग) के संस्कृत सिद्धभक्ति और इष्टोपदेश से, कुमार की कत्तिगेयाणुप्पेक्खा से, अमोघवर्ष (ई. ८१५ से ८७७ के लगभग) की प्रश्नोत्तररत्नमालिका से, गुणभद्र के (जिनने २३ जून ८९७ में महापुराण समाप्त किया) आत्मानुशासन से, संभवतः नेमिचन्द्र (१० वीं श.) के गोम्मटसार जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रह से, अमृतचन्द्र के (लगभग १० वीं श. की समाप्ति) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय से, अमितगति (लगभग १० वीं श. का प्रारम्भ) के योगसार से, सोमदेव के (९५९ ई.) यशस्तिलकचम्पू से, रामसिंह (हेमचन्द्र के पूर्व) के दोहापाहुड से, रामसेन (आशाधर-१३ वी श. का पूर्वार्द्ध से पहले) के तत्त्वानुशासन से और पद्मनन्दि की (पद्मप्रभ-१२ वीं श. का अन्त के पहिले) पञ्चविंशतिका से पद्य उद्धृत किये हैं । उद्धरणों की इस छानबीन से हम निश्चित तौर पर कह सकते हैं कि ब्रह्मदेव सोमदेव से (१० वीं श. का मध्य) बाद में हुए हैं । द्रव्यसंग्रहवृत्ति की आरम्भिक उत्थानिका में ब्रह्मदेव लिखते हैं कि पहले नेमिचन्द्र ने लघुद्रव्यसंग्रह की रचना की थी, जिसमें केवल २६ गाथाएँ थीं । बाद में मालवदेश की धारानगरी के राजा भोज के आधीन मण्डलेश्वर श्रीपाल के कोषाध्यक्ष, आश्रमपुर निवासी सोम के लिये इसे बढ़ाया गया । यतः सामयिक प्रमाणों से इस बात की पुष्टि नहीं होती, अतः हम न तो नेमिचन्द्र को धारा के राजा भोज का समकालीन ही मान सकते हैं, और न लघुद्रव्यसंग्रह का बृहद्द्रव्यसंग्रह के रूप में परिवर्तन ही स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु एक बात सत्य है कि ब्रह्मदेव धारा के राजा भोज से, जिसे वे कलिकाल चक्रवर्ती बतलाते हैं, बहुत बाद में हुए हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्रह्मदेव के भोज मालवा के परमार और संस्कृत-विद्या के आश्रयदाता प्रसिद्ध भोज ही हैं । भोजदेव का समय ई. १०१८-१०६० है । ब्रह्मदेव का यह उल्लेख बतलाता है कि वे ११वीं शताब्दी से भी बहुत बाद में हुए हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऊपर यह बतलाया गया है कि जयसेन की टीकाओं का ब्रह्मदेव पर बहुत प्रभाव है । जयसेन ईसा की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के लगभग हुए हैं । अत: ब्रह्मदेव बारहवीं शताब्दी से बाद के हैं । इन आभ्यन्तर और बाहिरी प्रमाणों के आधार पर ब्रह्मदेव सोमदेव (९५९ ई.), धारा के राजा भोज (ई. १०१८-६०), और जयसेन (१२ वीं शताब्दी के लगभग) से बाद में हुए हैं, अत: ब्रह्मदेव को १३वीं शताब्दी का विद्वान कहा जा सकता है ।

मलधारि बालचन्द्र की कन्नड़टीका

मलधारि बालचन्द्र और उनकी कन्नड़टीका– परमात्मप्रकाश की 'प' प्रति में एक कन्नड़टीका पाई जाती है, उसके प्रारम्भिक उपोद्घात से यह स्पष्ट है कि इस टीका का मुख्य आधार ब्रह्मदेव की वृत्ति है । तथा इस बात के पक्ष में भी काफी प्रमाण हैं कि उसके कर्ता का नाम बालचन्द्र है । संभवत: अपने समकालीन अन्य बालचन्द्र से, अपने को जुदा करने के लिए, उन्होंने अपने नाम के साथ, 'कुक्कुटासन मलधारि' उपाधि लगाई है ।

ब्रह्मदेव की टीका से तुलना– बालचन्द्र लिखते हैं कि ब्रह्मदेव की टीका में जो विषय स्पष्ट नहीं हो सके हैं, उन्हें प्रकाश में लाने के लिये उन्होंने यह टीका रची है । यह स्पष्ट उक्ति बतलाती है कि उन्होंने ब्रह्मदेव का अनुसरण किया है । किन्तु ब्रह्मदेव के मूल की अपेक्षा बालचन्द्र के मूल में ६ दोहे अधिक हैं । कुछ भेदों को छोड़कर, जो अन्य कन्नड़ प्रतियों में भी पाये जाते हैं, दोहों की अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में दोनों एकमत हैं । किन्तु बालचन्द्र ने ब्रह्मदेव के अतिरिक्त वर्णनों को संक्षिप्त कर दिया है । दोहों के प्रत्येक शब्द की व्याख्या करना ही बालचन्द्र का मुख्य लक्ष्य मालूम होता है, उन्होंने ब्रह्मदेव की तरह भावार्थ बहुत ही कम दिये हैं । ब्रह्मदेव के उद्धरणों को भी उन्होंने छोड़ दिया है, किन्तु कुछ स्थलों पर कन्नड़-पद्य उद्धृत किये हैं । ग्रन्थ के अन्त में ब्रह्मदेव के अतिरिक्त वर्णनों की उपेक्षा करके उन्होंने केवल शब्दश: अनुवाद की ओर ही विशेष ध्यान दिया है । 'पंडवरामहि' आदि पद्य के बाद बालचन्द्र एक और पद्य देते हैं, जो इसप्रकार है—

जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं ।
तं भव्यजीवसज्झं णंदउ जिणसासणं सुइरं ॥

बालचन्द्र नाम के अन्य लेखक– कन्नड़-साहित्य में बालचन्द्र नाम के अनेक टीकाकार तथा ग्रन्थकार हुए हैं, और उनके बारे में जो सूचनायें प्राप्त होती हैं, उनके आधार पर एक को दूसरे से पृथक् करना कठिन है । म. आर. नरसिंहाचार्य बालचन्द्र नाम के चार व्यक्तियों को बतलाते हैं । अभिनवपम्प के गुरु बालचन्द्र मुनि के बारे में लिखते हुए श्री एम. गोविंद पै लगभग नौ बालचन्द्रों का उल्लेख करते हैं । किन्तु 'कुक्कुटासन मलधारि' पदवी के कारण यह बालचन्द्र अन्य बालचन्द्रों से जुदे हो जाते हैं । अपने समाननामा अन्य व्यक्तियों से अपने को जुदा करने के लिये कुछ साधुजन अपने नाम के साथ मलधारि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विशेषण लगाते थे । श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में ऐसे मुनियों का उल्लेख मिलता है; जैसे, मलधारि मल्लिषेण, मलधारि रामचन्द्र, मलधारि हेमचन्द्र और दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के मुनिजन इस पदवी का उपयोग करते थे । श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी एक मलधरि हेमचन्द्र हुए हैं, जो प्रसिद्ध हेमचन्द्र से जुदे हैं ।

मलधारि बालचन्द्र का समय– अपने को 'कुक्कुटासन मलधारि' लिखने के सिवा इन बालचन्द्र ने अपने बारे में कुछ भी नहीं लिखा । अत: इनका समय निश्चित करना विशेष कठिन है । श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में व्यक्तिगत नामों के रूप में 'मलधारिदेव' और 'कुक्कुटासन मलधारिदेव' शब्द आते हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह हमारे बालचन्द्र की पदवी है । संभवत: यह किसी प्रसिद्ध आचार्य का नाम था, और उनकी परम्परा के साधुगण इसे पदवी के तौर पर धारण करते थे । शक सं. १२०० (ई. १२७८) के अमरपुरम् समाधि-लेख में, जिसमें एक जैनमन्दिर को कुछ दान देने का उल्लेख है, बालेन्दु मलधारिदेव का नाम आता है । यद्यपि नामों में इन्दु और चन्द्र का परस्पर में परिवर्तन देखा जाता है फिर भी वह बालेन्दु हमारे बालचन्द्र नहीं हो सकते, क्योंकि उनके नाम के साथ कुक्कुटासन उपाधि नहीं है, तथा उनका समय भी हमारे टीकाकार से पहले जाता है । हमारे टीकाकार के बारे में इतनी बात निश्चित है कि वे ब्रह्मदेव के बाद में हुए हैं क्योंकि उन्होंने ब्रह्मदेव की टीका का अनुसरण किया है, और जाँच-पड़ताल करने के बाद हमने ब्रह्मदेव का समय ईसा की तेरहवीं शताब्दी निर्णीत किया है । बालचन्द्र कर्नाटकी थे, सम्भवत: श्रवणबेलगोला के निकट किसी स्थान पर वे रहते थे । किन्तु ब्रह्मदेव उत्तरप्रान्त के वासी थे अत: दोनों टीकाकारों के बीच में कम से कम आधी शताब्दी का अन्तर अवश्य मानना होगा, क्योंकि उस समय की यात्रा आदि की परिस्थितियों को देखते हुए, दक्षिण प्रान्तवासी बालचन्द्र के हाथ में उत्तर प्रान्तवासी ब्रह्मदेव की टीका के पहुँचने में इतना समय लग जाना सम्भव है। अत: बालचन्द्र को ईसा की चौदहवीं शताब्दी के मध्य का विद्वान माना जा सकता है ।

अध्यात्मी बालचन्द्र की टीका– म. आर. नरसिंहाचार्य का कहना है कि अध्यात्मी बालचन्द्र ने भी परमात्मप्रकाश पर कन्नड़ी में एक टीका बनाई थी, किन्तु इन तीनों कन्नड़टीकाओं में से कोई भी उनकी नहीं है । उन्होंने मुझे सूचित किया है कि कविचरित के उल्लेखों को छोड़कर उनके पास इस सम्बन्ध में कोई भी अन्य सामग्री नहीं है । यद्यपि यह कोई अनहोनी बात नहीं है कि अध्यात्मी बालचन्द्र ने कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थों पर अपनी कन्नड़टीकाओं की तरह परमात्मप्रकाश पर भी टीका लिखी होगी किन्तु निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है, क्योंकि एक तो कविचरिते का उल्लेख बहुत कमजोर है, दूसरे यह भी सम्भव है कि गलती से बालचंद्र मलधारि के स्थान में बालचंद्र अध्यात्मी लिखा गया हो ।

और एक कन्नड़टीका

परमात्मप्रकाश पर दूसरी कन्नड़टीका– यहाँ परमात्मप्रकाश की दूसरी कन्नड़टीका का परिचय दिया जाता है । इस टीका के समय तथा कर्ता के बारे में हम कोई बात नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जान सके । प्रति के अंत में लिखा है— ''मुनिभद्रस्वामी के चरण शरण हैं ।'' इससे इतना पता चलता है कि इस कन्नड़टीका का रचयिता या इस प्रति अथवा इस प्रति की मूल प्रति का लेखक मुनिभद्रस्वामी का शिष्य था ।

इस टीका का परिचय— 'क' टीका की तरह इस टीका में भी दोहों का केवल शब्दार्थ दिया है, किन्तु इस टीका की अपेक्षा 'क' टीका में मूल का अनुसरण वगैरह अधिक तत्परता से किया गया है । बिना नाम की इन टीकाओं के देखने से पता चलता है कि धार्मिक जैनसाधुओं और गृहस्थों में परमात्मप्रकाश कितना अधिक प्रसिद्ध था । ऐसा मालूम होता है कि बहुत से नये अभ्यासी अपने अध्यापक से दोहों का अर्थ समझ लेने के बाद अपनी मातृभाषा में उनके शब्दार्थ लिख लेते थे ।

अन्य टीकाओं के साथ इस टीका की तुलना— 'क' प्रति की टीका, ब्रह्मदेव की संस्कृतटीका और मलधारि बालचंद्र की कन्नड़टीका के साथ इसकी तुलना करने पर मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि यद्यपि इसके पाठ 'क' टीका आदि के पाठों से बहुत मिलते-जुलते हैं तथापि यह टीका ब्रह्मदेव की बहुत कुछ ऋणी है । यत: इस टीका में केवल शब्दार्थ दिया है, अत: ब्रह्मदेव के अतिरिक्त वर्णन इसमें नहीं मिलते । 'क' टीका और इस टीका की समानता को देखते हुए यह संभव है कि इस टीका के कर्ता ने 'क' टीका से भी सहायता ली हो । मैंने इस टीका में ऐसी कोई मौलिक अशुद्धियाँ और पाठान्तर नहीं देखे, जिनके आधार पर इसे ब्रह्मदेव की संस्कृतटीका से स्वतंत्र कहा जा सके ।

इस टीका का समय— ऊपर की तुलना से यह स्पष्ट है कि यह टीका ब्रह्मदेव से और संभवत: मलधारि बालचन्द्र से भी बाद की है । यदि इसके कर्ता मुनिभद्र के शिष्य हैं, और यदि यह मुनिभद्र वही हैं जिनकी मृत्यु का उल्लेख ई. सन् १३८८ के लगभग के उद्री शिलालेख में पाया जाता है, तो इस टीका की रचना ईसा की १४ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हो सकती है । ऐसा मालूम होता है कि मुनिभद्र के अनेक प्रसिद्ध शिष्य थे, जिनकी मृत्यु का उल्लेख कुछ शिलालेखों में पाया जाता है ।

पं. दौलतरामजीकृत भाषाटीका

पं. दौलतरामजी और उनकी भाषाटीका— पं. दौलतरामजी की भाषाटीका, जो इस संस्करण में मुद्रित है, उनकी भाषा आधुनिक हिन्दी में परिवर्तित रूप है । दौलतरामजी की भाषा, जो संभवत: उनके समय में उनकी जन्मभूमि में प्रचलित थी, आधुनिक हिन्दी से भिन्न है । इस विचार से की कई जैनगृहस्थों और साधुओं को यह विशेष उपयोगी होगी, पं. मनोहरलालजी ने उसे आधुनिक हिंदी का रूप दे दिया है । मामूली संशोधन के साथ यही रूपान्तर इस दूसरे संस्करण में छपा है । यहाँ मैं दौलतरामजी के अनुवाद का कुछ अंश उद्धृत करता हूँ, इससे पाठक उनकी भाषा का अनुमान कर सकेंगे—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

''बहुरि तिनि सिद्धिनि के समूहिकूं मैं बन्दू हूँ । जे सिद्धिनि के समूहि निश्चयनयकरि अपने स्वरूप विषै तिष्ठे हैं, अरि विवहारिनयकरि सर्व लोकालोककूं निसंदेहपणै प्रत्तक्ष देखे हैं । परन्तु परिपदार्थनि विषै तन्मयी नाहीं, अपने स्वरूपविषै तन्मयी हैं । जो परपदार्थनिविषै तन्मयी होई तो पराए सुख दुखकरि आप सुखी दुखी होई, सो कदापि नाहीं । विवहारिनयकरि स्थूल सूक्ष्म सकलि कूं केवलिज्ञानि करि प्रत्तक्ष निसन्देह जानै हैं । काहू पदार्थसुँ रागि द्वेष नाहीं । रागि के हेतुकरि जो काहुँ को जाने तो राग द्वेषमई होय, सो इह बड़ा दूषण है। तातैं यही निश्चयभया जो निश्चयकरि अपने स्वरूप विषै तिष्ठै हैं, पर विषैं नाहीं । अरि अपनी ज्ञायक शक्ति करि सबिकूं प्रत्तक्ष देखे हैं जानै हैं । जो निश्चयकरि अपने स्वरूप विषै निवास कहा सो अपना स्वरूपही आराधिवे योग्य है यह भावार्थ है ॥५॥''

सोलापुर की एक नई प्रति से मैंने यह अंश उद्धृत किया है, और बम्बई की एक प्राचीन प्रति के सहारे श्री. प्रेमीजी ने इसका संशोधन किया है । पं प्रेमीजी का कहना है कि कुछ अन्य प्राचीन प्रतियों के साथ इसका मिलान करने पर अब भी भाषासम्बन्धी कुछ भेद निकल सकते हैं । क्योंकि इसे प्रचलित भाषा में लाने के लिये नकल करते समय शिक्षित लेखक यहाँ-वहाँ भाषासम्बन्धी सुधार कर सकता है । अपभ्रंशसाहित्य के विद्यार्थियों को इससे एक अच्छी शिक्षा मिलती है और अपभ्रंश ग्रन्थों की विभिन्न प्रतियों में जो स्वरभेद देखा जाता है, उस पर भी प्रकाश पड़ता है ।

टीका का परिचय— इस टीका में कोई मौलिकता नहीं है । ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका का यह अनुवाद मात्र है । ब्रह्मदेव के कुछ कठिन पारिभाषिक शब्दों को हिंदी में सुगमता से समझा दिया है । ब्रह्मदेव के समान दौलतरामजी ने भी पहले शब्दार्थ दिया है, और बाद में ब्रह्मदेव के अनुसार ही संक्षेप में भावार्थ दिया है । इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि इस हिंदी अनुवाद के ही कारण जोइन्दु और उनके परमात्मप्रकाश को इतनी ख्याति मिल सकी है । परमात्मप्रकाश के पठन-पाठन में दौलतरामजी का उतना ही हाथ है, जितना समयसार और प्रवचनसार के पठन-पाठन में राजमल्ल और पाण्डे हेमराज का ।

पं. दौलतरामजी का समय— पं० दौलतरामजी खण्डेलवाल थे, उनका गोत्र काशलीवाल था । उनके पिता आनन्दराम थे, जन्मभूमि बसवा थी किन्तु वे जयपुर में रहते थे, तथा राजा के प्रधान कर्मचारी थे । उनकी रचनाओं को देखने से मालूम होता है कि वे संस्कृत के अच्छे विद्वान थे, और अपनी मातृभाषा से भी बहुत प्रेम करते थे । सम्वत् १७९५ में जब उन्होंने अपना क्रियाकोश समाप्त किया, वे किसी जयसुत राजा के मंत्री थे, और उदयपुर में रहते थे । अपने हरिवंशपुराण में वे लिखते हैं कि जयपुर के दीवान प्राय: जैनसम्प्रदाय के होते हैं । उनके समकालीन दीवान रतनचंद्र थे । उन्होंने सं. १७९५ में क्रियाकोश समाप्त किया, और १८२९ में हरिवंशपुराण, अत: उनका साहित्यिक कार्यकाल ई. की १८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध जानना चाहिये ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उनकी रचनाएँ— उनके क्रियाकोश का उल्लेख पहले कर चुके हैं । जयपुर के एक धार्मिक गृहस्थ रायमल्ल की प्रार्थना पर उन्होंने सम्वत् १८२३ में पद्मपुराण की हिन्दी टीका की थी, इसके बाद १८२४ में आदिपुराण की, १८२९ में हरिवंशपुराण और श्रीपालचरित्र का हिन्दी-गद्य में अनुवाद किया, इसके बाद ब्रह्मदेव की संस्कृतटीका के आधार पर परमात्मप्रकाश की हिंदी टीका की । इसके बाद सं. १८२७ में उन्होंने पं. प्रवर टोडरमल्लजी रचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की अपूर्ण हिन्दीटीका को पूर्ण किया । प्रेमीजी का मत है कि पुराणों के इन हिन्दी-अनुवादों ने जैनपरम्परा का केवल रक्षण और प्रचार ही नहीं किया किन्तु जैनसमाज के लिये ये बहुत लाभदायक सिद्ध हुए ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में उपयुक्त प्रतियों का परिचय—

'ए' प्रति— यह प्रति भाण्डारकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूना से प्राप्त हुई थी । इसमें १२४ पृष्ठ और प्रत्येक पृष्ठ में १३ लाइनें हैं । दोहों के नीचे ब्रह्मदेव की संस्कृतटीका है जो बिल्कुल शुद्ध है । इस संस्करण की सं. टीका का इसी के आधार से संशोधन किया है।

'बी' प्रति— सदलगानिवासी मेरे काका स्वर्गीय बाबाजी उपाध्ये के संग्रह से यह प्रति प्राप्त हुई थी । 'अ' प्रति की तरह यह भी देवनागरी अक्षरों में लिखी है । किन्तु यह अच्छी हालत में नहीं है । यह कम से कम २०० वर्ष प्राचीन है । मध्य में दोहों की क्रम-संख्या में कुछ भूल हो गई है । अन्तिम दोहे पर ३४२ नम्बर पड़ा है ।

'सी' प्रति— यह प्रति भाण्डारकर प्राच्यविद्यामन्दिर पूना की है । इसमें २१ पृष्ठ और हर एक पृष्ठ में ९ लाइनें हैं, सुन्दर देवनागरी अक्षरों में लिखी हुई है । इसमें केवल दोहे ही हैं, जो शुद्ध हैं । किन्तु लेखक की भूल से कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं ।

'पी' प्रति — यह प्रति जैनसिद्धान्त भवन आरा की है । इस पर लिखा है— 'परमात्मप्रकाश कर्नाटक टीकासहित' । यह कन्नड़ अक्षरों में लिखी गई है, इसमें कुक्कुटासन मलधारि बालचन्द्र की कन्नड़टीका है, यह कोई ५० वर्ष पूर्व की लिखी हुई है । ब्रह्मदेव के मूल से इसमें ६ पद्य अधिक हैं ।

'क्यू' प्रति— यह प्रति भी आरा के भवन की है, इसमें भी एक कर्नाटकवृत्ति है, और लिखी भी कन्नड़ अक्षरों में है । यह ताड़पत्र पर है, इसके प्रारम्भ का एक पत्र खो गया है ।

'आर्' प्रति— यह भी ताड़पत्र पर है,और आरा के भवन की है, इसमें केवल मूल परमात्मप्रकाश है । और अक्षर कन्नड़ हैं ।

'एस्' प्रति— जै.सि. भ. आरा की ताड़पत्र की इस प्रति पर 'योगीन्द्र गाथा' लिखा है, यह करीब ७५ वर्ष पुरानी है । इसमें कन्नड़ी अक्षरों में केवल दोहे ही लिखे हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'टी' प्रति— यह प्रति ताड़पत्र पर है । और यह श्रीवीरवाणीविलास-भवन मूड़बिद्री से प्राप्त हुई थी । यह पुराने कन्नड़ी अक्षरों में लिखी हुई है । इसमें केवल दोहे ही हैं।

'के' प्रति— यह भी मूड़बिद्री के वीरवाणीविलास-भवन की प्रति है । हस्ताक्षरों की समानता से यह स्पष्ट है कि 'टी' और 'के' प्रति एक ही लेखक की लिखी हुई है । इसकी लिपि पुरानी कन्नड़ी है ।

'एम्' प्रति— इसमें भी केवल मूल ही है । इसका लेखक ताड़पत्र पर लिखने में प्रवीण नहीं था । इसमें नं. १६ से २३ तक केवल आठ पन्ने हैं । पहले पत्र में 'मोक्षप्राभृत' पर बालचन्द्र की कन्नड़टीका है उसके बाद बिना किसी उत्थानिका के परमात्मप्रकाश का दोहा लिखा है ।

इन प्रतियों का परस्पर में सम्बन्ध— जोइंदु के मूल के दो रूप हैं, एक संक्षिप्त और दूसरा विस्तृत । 'टी', 'के' और 'एम्' प्रति उसके संक्षिप्त रूप के अनुयायी हैं, और 'पी', 'ए', 'बी', 'सी' और 'एस्' उसके विस्तृत रूप के । 'क्यू' प्रति 'ए' प्रति से मिलती है, किन्तु उस पर 'टी', 'के' और 'एम' के भी प्रभाव हैं । 'आर्' प्रति पर 'ए', 'पी', 'टी', 'के' और 'एम्', का प्रभाव है ।

संस्कृतछाया— निम्नलिखित कारणों से अपभ्रंश ग्रन्थ में संस्कृतछाया देने के मैं विरुद्ध हूँ। प्रथम यह एक गलत मार्ग है, जो न तो भाषा और न इतिहास की दृष्टि से ही उचित है। दूसरे, छाया भद्दी संस्कृत का एक नमूना बन जाती है। क्योंकि अपभ्रंश के वाक्य-विन्यास और वर्णन की शैली ने उन्नति कर ली है, जो प्राचीन संस्कृत में नहीं पाई जाती। तीसरे, उसका दुष्परिणाम यह होता है कि बहुत से पाठक केवल छाया पढ़कर ही सन्तोष कर लेते हैं। प्राकृत ग्रन्थों में संस्कृतछाया देने की पद्धति ने भारतीय भाषाओं के अध्ययन को बहुत हानि पहुचाई है। लोगों ने प्राकृत के अध्ययन की ओर से मुख फेर लिया है, मृच्छकटिक और शाकुन्तल सरीखे नाटक केवल संस्कृत के ग्रंथ बन गये हैं, जब कि स्वयं रचयिताओं ने उनके मुख्य भागों को प्राकृत में रचा था; परिणामस्वरूप आधुनिक भारतीय भाषाएँ प्राकृत को भुलाकर केवल संस्कृत शब्दों से अपना कलेवर पुष्ट कर रही हैं। तथापि प्रकाशक के आग्रह के कारण मुझे छाया देनी पड़ी है। अपभ्रंश शब्दों के संस्कृत शब्द देते हुए कहीं-कहीं उनके वैकल्पिक शब्द भी मैंने ब्रैकेट (कोष्टक) में दे दिये हैं। संस्कृत का एक स्वतंत्र वाक्य समझकर छाया का परीक्षण करना चाहिये, किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह अपभ्रंश की केवल छाया मात्र है। पाठकों की सुविधा के लिये सन्धि के नियमों का ध्यान नहीं रखा गया है।

श्रीस्याद्वाद महाविद्यालय, काशी
भाद्रपद शुक्ल ५ दशलक्षण महापर्व,
वीर सं. २४६३

हिन्दी-अनुवादकर्ता
–कैलाशचन्द्र शास्त्री

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अनुवादकीय

आज मैं मोक्ष के इच्छुक पाठकों के सन्मुख इस यथार्थ गुणवाले परमात्मप्रकाश ग्रंथ को दो टीकाओं सहित उपस्थित करता हूँ । यह ग्रन्थ साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रतिपादक है। जिस तरह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की प्रसिद्ध नाटकत्रयी है उसी तरह यह भी अध्यात्मविषय की परम सीमा है क्योंकि ग्रन्थकर्ता ने स्वयं इस ग्रन्थ के पढ़ने का फल लिखा है कि इसके हमेशा अभ्यास करनेवालों को मोह कर्म दूर होकर केवलज्ञानपूर्वक मोक्ष अवश्य ही होता है परन्तु इस ग्रंथ का पात्र बनकर अभ्यास करना चाहिये अन्यथा वगलाभक्ति से इच्छित फल नहीं मिल सकता । इसका आनन्द वे ही भव्यजीव जान सकेंगे जो इसका शुद्ध मन से स्वाध्याय और इसके अनुसार आचरण करेंगे । वचन से इसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। कविवर बनारसीदास जी ने भी अपने नाटकसमयसार में कहा है कि 'हे जीव यदि तू असली आत्मीकसुख का स्वाद चखना चाहता है तो जैसे विषयभोगादि में हमेशा चित्त लगाता है वैसे आत्मा के स्वरूप के विचार में छह महीना कम से कम अभ्यास करके देख ले तो तुझे स्वयं उस परमानंद के रस का अनुभव हो जायगा' इत्यादि । इसलिये इसका पठन-मनन करने से इसका आनन्द व फल उनको अवश्य मिल सकेगा ।

इस आत्मा की अनंत शक्ति है यह बात आजकल के बिजली आदि अचेतन पदार्थों को देखनेवाले व्यवहारी जीवों को झूठी मालूम पड़ती होगी परन्तु जिसका ''आत्मा अनन्त शक्तिवाला है'' ऐसा वचन है उसी ने यह भी कह दिया है ''जगज्जेत्रं जयेत् स्मरं, अर्थात् जगत को जीतनेवाले कामदेव को जिसने जीत लिया है'' इस वचन की तरफ किसी की भी दृष्टि नहीं पड़ती । अतएव ब्रह्मचर्यपालनेवाला ही इसका पात्र हो सकता है ।

इस ग्रन्थ के मूलकर्ता श्री योगीन्दुदेव हैं । उन्होंने अपने 'प्रभाकरभट्ट' के प्रश्न करने पर जगत के सब भव्यजीवों के कल्याण होने का विचार रखकर उत्तररूप उपदेश प्राकृतभाषा में तीनसौ पैंतालीस दोहा छंदों में दिया है । ये आचार्य इनकी कृति देखने से तो बहुत प्राचीन मालूम होते हैं परन्तु इनका जन्मसंवत् तथा जन्मभूमि हमें निश्चित नहीं हुई है । इन प्राकृतदोहा सूत्रों पर श्रीब्रह्मदेवजी ने संस्कृतटीका रची ।

ब्रह्मदेव के समयनिर्णय के लिये बृहद्द्रव्यसंग्रह में मुद्रित हो चुका है कि विक्रम की १३वीं शताब्दि के मध्य में किसी समय श्रीब्रह्मदेवजी ने अपने अवतार से भारतवर्ष को पवित्र किया था । विशेष बृहद्द्रव्यसंग्रह में से देख लेना ।

इस संस्कृत-टीका के अनुसार ही पंडित दौलतरामजी ने व्रजभाषा बनाई । यद्यपि उक्त पंडितजीकृत भाषा प्राचीनपद्धति से बहुत ठीक है परन्तु आजकल के नवीन प्रचलित हिन्दीभाषा के संस्कारकमहाशयों की दृष्टि में वह भाषा सर्वदेशीय नहीं समझी जाती है ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इस कारण मैंने पंडित दौलतरामजीकृत भाषानुवाद के अनुसार ही नवीन सरल हिन्दीभाषा में अविकल अनुवाद किया है ।

इतना फेरफार अवश्य हुआ है कि उस भाषा को अन्वय तथा भावार्थरूप में बाँट दिया है । अन्य कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं की है । कहीं लेखकों की भूल से कुछ छूट गया है उसको भी मैंने संस्कृतटीका के अनुसार सम्भाल दिया है ।

इस ग्रन्थ का उद्धार स्वर्गीय तत्त्वज्ञानी श्रीमान् रायचन्द्रजी द्वारा स्थापित श्रीपरमश्रुत-प्रभावक मंडल की तरफ से हुआ है, इसलिये उक्त मण्डल के उत्साही प्रबन्धकर्ताओं को कोटिशः धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होंने अत्यन्त उत्साहित होकर ग्रन्थ प्रकाशित कराके भव्य जीवों को महान उपकार पहुँचाया है । और श्रीजी से प्रार्थना करता हूँ कि वीतरागप्रणीत उच्च श्रेणी के तत्त्वज्ञान का इच्छित प्रसार करने में उक्तमण्डल कृतकार्य होवे ।

द्वितीय धन्यवाद श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी को दिया जाता है कि जिन्होंने इस ग्रन्थ की संस्कृतटीका की प्राचीन प्रति लाकर प्रकाशित करने की अत्यन्त प्रेरणा की । उन्हीं के उत्साह दिलाने से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है ।

अब मेरी अन्त में यह प्रार्थना है कि जो प्रमादवश दृष्टिदोष से तथा बुद्धि की न्यूनता से कहीं अशुद्धियाँ रह गई हों तो पाठकगण मेरे ऊपर क्षमा करके शुद्ध करते हुए पढ़ें, क्योंकि इस आध्यात्मिक ग्रन्थ में अशुद्धियों का रह जाना सम्भव है । इस तरह धन्यवादपूर्वक प्रार्थना करता हुआ इस प्रस्तावना को समाप्त करता हूँ । अलं विज्ञेषु ।

खत्तरगली हौदावाड़ी, पो. गिरगाँव-बम्बई
वैशाख वदि ३ वी.सं. २४४२

जैनसमाज का सेवक
मनोहरलाल,
पाढम (मैंनपुरी) निवासी

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ।। –सूत्रपाहुड़-१

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि ।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ।। –सूत्रपाहुड़-३

अरहंत भगवान द्वारा कहे गए और गणधरदेवों द्वारा भलेप्रकार से गूँथे गए सूत्रों/जिन-शास्त्रों/जिनवाणी द्वारा श्रमणजन परमार्थ का साधन करते हैं।

जैसे- सूत्र/डोरा सहित सुई खोती नहीं है, सूत्र रहित खो जाती है; उसीप्रकार सूत्र/शास्त्र ज्ञान सहित श्रमण नष्ट नहीं होते, संसार का नाश कर मुक्त हो जाते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com



श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्योगीन्दुदेवविरचितः

परमात्मप्रकाशः

(टीकाद्वयोपेतः)



श्रीमद्ब्रह्मदेवकृतसंस्कृतटीका

चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने ।
परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥

श्रीयोगीन्द्रदेवकृतपरमात्मप्रकाशाभिधाने दोहकछन्दोग्रन्थे प्रक्षेपकान् विहाय व्याख्यानार्थमधिकारशुद्धिः कथ्यते ।

तद्यथा— प्रथमतस्तावत्पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारमुख्यत्वेन *'जे जाया झाणग्गियए'* इत्यादि सप्त दोहकसूत्राणि भवन्ति, तदनन्तरं विज्ञापनमुख्यतया *'भावि पणविवि'* इत्यादिसूत्रत्रयम्, अत ऊर्ध्वं बहिरन्तःपरमभेदेन त्रिधात्मप्रतिपादनमुख्यत्वेन *'पुणु पुणु पणविवि'* इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथानन्तरं मुक्तिगतव्यक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन *'तिहुयणवंदिउ'* इत्यादि सूत्रदशकम्, अत ऊर्ध्वं देहस्थितशक्तिरूपपरमात्मकथनमुख्यत्वेन *'जेहउ णिम्मलु'* इत्यादि अन्तर्भूतप्रक्षेपपञ्चकसहितचतुर्विंशतिसूत्राणि भवन्ति ।

अथ जीवस्य स्वदेहप्रमितिविषये स्वपरमतविचारमुख्यतया *'किंवि भणंति जिउ सव्वगउ'* इत्यादिसूत्रषट्कं, तदनन्तरं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपकथनमुख्यतया *'अप्पा जणियउ'* इत्यादि सूत्रत्रयम्, अथानन्तरं कर्मविचारमुख्यत्वेन *'जीवहँ कम्मु अणाइजिद'* इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनन्तरं सामान्यभेदभावनाकथनेन *'अप्पा अप्पु जि'* इत्यादि सूत्रनवकम्, अत ऊर्ध्वं निश्चयसम्यग्दृष्टिकथनरूपेण *'अप्पे अप्पु'* इत्यादि सूत्रमेकं, तदनन्तरं मिथ्याभावकथनमुख्यत्वेन *'पज्जयरत्तउ'* इत्यादि सूत्राष्टकम्, अत ऊर्ध्वं सम्यग्दृष्टिभावनामुख्यत्वेन *'कालु लहेविणु'* इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनन्तरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन *'अप्पा संजमु'* इत्याद्येकाधिकत्रिंशत्प्रमितानि दोहकसूत्राणि भवन्ति ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इति श्रीयोगीन्द्रदेवविरचितपरमात्मप्रकाशशास्त्रे त्रयोविंशत्यधिकशतदोहकसूत्रैर्बहिरन्तःपरमात्मस्वरूपकथनमुख्यत्वेन प्रथमप्रकरणपातनिका समाप्ता ।

अथानन्तरं द्वितीयमहाधिकारप्रारम्भे मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते । तत्र प्रथमतस्तावत् *'सिरिगुरु'* इत्यादिमोक्षस्वरूपकथनमुख्यत्वेन दोहकसूत्राणि दशकम्, अत ऊर्ध्वं *'दंसणु णाणु'* इत्याद्येकसूत्रेण मोक्षफलं, तदनन्तरं *'जीवहँ मोक्खहँ हेउ वरु'* इत्याद्येकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यतया व्याख्यानम्, अथानन्तरमभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन *'जो भत्तउ'* इत्यादि सूत्राष्टकम्, अत ऊर्ध्वं समभावमुख्यत्वेन *'कम्मु पुरक्किउ'* इत्यादिसूत्राणि चतुर्दश, अथानन्तरं पुण्यपापसमानमुख्यत्वेन *'बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिउ'* इत्यादिसूत्राणि चतुर्दश, अत ऊर्ध्वं एकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं प्रक्षेपकान् विहाय शुद्धोपयोगस्वरूपमुख्यत्वमिति समुदायपातनिका ।

तत्र प्रथमतः एकचत्वारिंशन्मध्ये *'सुद्धहँ संजमु'* इत्यादिसूत्रपञ्चकपर्यन्तं शुद्धोपयोगमुख्यतया व्याख्यानम्, अथानन्तरं *'दाणिँ लब्भइ'* इत्यादिपञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनन्तरं *'लेणहँ इच्छइ मूढु'* इत्यादिसूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागमुख्यतया व्याख्यानम्, अत ऊर्ध्वं *'जो भत्तउ रयणत्तयहँ'* इत्यादि त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं शुद्धनयेन षोडशवर्णिकासुवर्णवत् सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिस्वभावलक्षणेन समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानम्, इत्येकचत्वारिंशत्सूत्राणि गतानि ।

अत ऊर्ध्वं *'परु जाणंतु वि'* इत्यादि समाप्तिपर्यन्तं प्रक्षेपकान् विहाय सप्तोत्तरशतसूत्रैश्चूलिकाव्याख्यानम् । तत्र सप्तोत्तरशतमध्ये अवसाने *'परमसमाहि'* इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रेषु सप्त स्थलानि भवन्ति । तस्मिन् प्रथमस्थले निर्विकल्पसमाधिमुख्यत्वेन *'परमसमाहिमहासरहिँ'* इत्यादि सूत्रषट्कं, तदनन्तरमर्हत्पदमुख्यत्वेन *'सयलवियप्पहँ'* इत्यादि सूत्रत्रयम्, अथानन्तरं परमात्मप्रकाशनाममुख्यत्वेन *'सयलहँ कम्महँ दोसहँ'* इत्यादि सूत्रत्रयम्, अथ सिद्धपदमुख्यत्वेन *'झाणे कम्मक्खउ करिवि'* इत्यादि सूत्रत्रयं, तदनन्तरं परमात्मप्रकाशाराधकपुरुषाणां फलकथनमुख्यत्वेन *'जे परमप्पपयास मुणि'* इत्यादिसूत्रत्रयम्, अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशाराधनायोग्यपुरुषकथनमुख्यत्वेन *'जे भवदुक्खहँ'* इत्यादिसूत्रत्रयम्, अथानन्तरं परमात्मप्रकाशशास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन तथैवौद्धत्यपरिहारमुख्यत्वेन च *'लक्खणछंद'* इत्यादि सूत्रत्रयम् । इति चतुर्विंशतिदोहकसूत्रैकचूलिकावसाने सप्त स्थलानि गतानि । एवं प्रथमपातनिका समाप्ता ।

अथवा प्रकारान्तरेण द्वितीया पातनिका कथ्यते । तद्यथा— प्रथमतस्तावद्बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मकथनरूपेण प्रक्षेपकान् विहाय त्रयोविंशत्यधिकशतसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियत इति समुदायपातनिका । तत्रादौ *'जे जाया'* इत्यादिपञ्चविंशतिसूत्रपर्यन्तं त्रिधात्मपीठिकाव्याख्यानम्, अथानन्तरं *'जेहउ णिम्मलु'* इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं सामान्यविवरणम्, अत ऊर्ध्वं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'अप्पा जोइय सव्वगउ' इत्यादित्रिचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं विशेषविवरणम्, अत ऊर्ध्वं *'अप्पा संजमु'* इत्याद्येकत्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं चूलिकाव्याख्यानमिति प्रथममहाधिकारः समाप्तः ।

अथानन्तरं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गस्वरूपकथनमुख्यत्वेन प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयसूत्रपर्यन्तं द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यत इति समुदायपातनिका । तत्रादौ *'सिरिगुरु'* इत्यादि त्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं पीठिकाव्याख्यानं, तदनन्तरं *'जो भत्तउ'* इत्यादिषट्त्रिंशत्सूत्रपर्यन्तं सामान्यविवरणम्, अथानन्तरं *'सुद्धहँ संजमु'* इत्याद्येकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं विशेषविवरणं, तदनन्तरं प्रक्षेपकान् विहाय सप्तोत्तरशतपर्यन्तमभेदरत्नत्रयमुख्यतयाचूलिकाव्याख्यानं; इति द्वितीयपातनिका ज्ञातव्या ।

पंडित श्री दौलतरामजीकृत भाषाटीका

दोहा

चिदानंद चिद्रूप जो, जिन परमातम देव ।
सिद्धरूप सुविसुद्ध जो, नमों ताहि करि सेव ।।१।।

परमातम निजवस्तु जो, गुण अनंतमय शुद्ध ।
ताहि प्रकाशन के निमित, वंदूँ देव प्रबुद्ध ।।२।।

'चिदानंद' इत्यादि श्लोक का अर्थ—श्रीजिनेश्वरदेव शुद्ध परमात्मा आनंदरूप चिदानंद चिद्रूप हैं, उनके लिये मेरा सदाकाल नमस्कार हो; किसलिये? परमात्मा के स्वरूप के प्रकाशन के लिये । कैसे हैं वे भगवान? शुद्ध परमात्मस्वरूप के प्रकाशक हैं, अर्थात् निज और पर सबके स्वरूप को प्रकाशते हैं । फिर कैसे हैं? *'सिद्धात्मने'* जिनका आत्मा कृतकृत्य है । सारांश यह है कि नमस्कार करने योग्य परमात्मा ही हैं, इसलिये परमात्मा को नमस्कारकर, *'परमात्मप्रकाश'* नामक ग्रंथ का व्याख्यान करता हूँ।

'श्रीयोगीन्दुदेव' कृत *'परमात्मप्रकाश'* नामक दोहक छंद ग्रंथ में प्रक्षेपक दोहों को छोड़कर व्याख्यान के लिये अधिकारों की परिपाटी कहते हैं—प्रथम ही पंच परमेष्ठी के नमस्कार की मुख्यता से *'जे जाया झाणग्गियएँ'* इत्यादि सात दोहे जानना, विज्ञापना की मुख्यता से *'भाविँ पणविवि'* इत्यादि तीन दोहे; बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा—इन भेदों से तीन प्रकार आत्मा के कथन की मुख्यता से *'पुणु पुणु पणविवि'* इत्यादि पाँच दोहे; मुक्ति को प्राप्त हुए जो प्रगटस्वरूप परमात्मा, उनके कथन की मुख्यता से *'तिहुयण वंदिउ'* इत्यादि दस दोहे; देह में विराजमान शक्तिरूप परमात्मा के कथन की मुख्यता से *'जेहउ णिम्मलु'* इत्यादि पाँच क्षेपकों सहित चौबीस दोहे; जीव के निजदेह प्रमाण कथन में स्वमत-परमत के विचार की मुख्यता से *'किंवि भणंति जिउ सव्वगउ'*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इत्यादि छह दोहे; द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप कहने की मुख्यता से *'अप्पा जणियउ'* इत्यादि तीन दोहे; कर्म-विचार की मुख्यता से *'जीवहँ कम्मु अणाइ जिय'* इत्यादि आठ दोहे; सामान्य भेद-भावना के कथनरूप *'अप्पा अप्पु जि'* इत्यादि नौ दोहे; निश्चयसम्यग्दृष्टि के कथनरूप *'अप्पे अप्पु जि'* इत्यादि एक दोहा; मिथ्याभाव के कथन की मुख्यता से *'पज्जयरत्तउ'* इत्यादि आठ दोहे; सम्यग्दृष्टि की मुख्यता से *'कालु लहेविणु'* इत्यादि आठ दोहे और सामान्यभेदभावना की मुख्यता से *'अप्पा संजमु'* इत्यादि इकतीस दोहे कहे हैं ।

इसप्रकार *श्रीयोगीन्दुदेव* विरचित *परमात्मप्रकाश* ग्रंथ में एकसौ तेईस दोहों का **पहला** प्रकरण कहा है । इस प्रकरण में बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा के स्वरूप कथन की मुख्यता है; तथा इसमें तेरह अंतर अधिकार हैं ।

दूसरे अधिकार में मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्ग—इनका स्वरूप कहा है । उसमें प्रथम ही *'सिरिगुरु'* इत्यादि मोक्ष-स्वरूप के कथन की मुख्यता से दस दोहे; *'दंसणु णाणु'* इत्यादि एक दोहे द्वारा मोक्ष का फल; निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग की मुख्यता से *'जीवहँ मोक्खहँ हेउवरु'* इत्यादि उन्नीस दोहे; अभेदरत्नत्रय की मुख्यता से *'जो भत्तउ'* इत्यादि आठ दोहे; समभाव की मुख्यता से *'कम्मु पुरक्किउ'* इत्यादि चौदह दोहे; पुण्य-पाप की समानता की मुख्यता से *'बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिरु'* इत्यादि चौदह दोहे हैं; और शुद्धोपयोग के स्वरूप की मुख्यता से प्रक्षेपकों के बिना इकतालीस दोहे पर्यंत व्याख्यान है ।

उन इकतालीस दोहों में से प्रथम ही *'सुद्धहँ संजमु'* इत्यादि पाँच दोहों तक शुद्धोपयोग के व्याख्यान की मुख्यता है, *'दाणिं लब्भइ'* इत्यादि पंद्रह दोहा पर्यंत वीतराग स्वसंवेदनज्ञान की मुख्यता से व्याख्यान है, परिग्रह-त्याग की मुख्यता से *'लेणहँ इच्छइ'* इत्यादि आठ दोहों पर्यंत व्याख्यान है; *'जो भत्तउ रयणत्तयहँ'* इत्यादि तेरह दोहों पर्यंत शुद्धनय की अपेक्षा सोलहवान के सुवर्ण-समान, सब जीव केवलज्ञानादि स्वभावलक्षण से समान हैं—यह व्याख्यान है । इसप्रकार इकतालीस दोहों के व्याख्यान की विधि कही । उनके चार अधिकार हैं । यहाँ पर एक सौ ग्यारह दोहों का दूसरा महा-अधिकार कहा है, उसमें दस अन्तर अधिकार हैं ।

इसके बाद *'पर जाणंतु वि'* इत्यादि एक सौ सात दोहों में ग्रंथ की समाप्ति पर्यंत चूलिका व्याख्यान है । इनके सिवाय प्रक्षेपक हैं । उन एक सौ सात दोहों में से अन्त के *'परमसमाहि'* इत्यादि चौबीस दोहा पर्यंत परमसमाधि का कथन है, उनमें सात स्थल हैं । उनमें से प्रथम स्थल में निर्विकल्प समाधि की मुख्यता से *'परमसमाहिमहासरहिँ* इत्यादि छह दोहे, अरहंतपद की मुख्यता से *'सयल वियप्पहँ'* इत्यादि तीन दोहे,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सिद्धपद की मुख्यता से *'झाणे कम्मक्खउ करिवि'* इत्यादि तीन दोहे, परमात्मप्रकाश के आराधक पुरुषों को फल के कथन की मुख्यता से *'जे परमप्पपयास मुणि'* इत्यादि तीन दोहे, 'परमात्मप्रकाश' की आराधना के योग्य पुरुषों के कथन की मुख्यता से *'जो भवदुक्खहँ'* इत्यादि तीन दोहे और 'परमात्मप्रकाश' शास्त्र के फल-कथन की मुख्यता से तथा गर्व के त्याग की मुख्यता से *'लक्खण छंद'* इत्यादि तीन दोहे हैं ।

इसप्रकार चूलिका के अंत में चौबीस दोहों में सात स्थल कहे गये हैं । इसप्रकार तीन महा अधिकारों में अंतर स्थल अनेक हैं । एक तो इसप्रकार पातनिका कही ।

अथवा अन्य प्रकार से कथन कर दूसरी पातनिका कहते हैं—पहले अधिकार में बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के कथन की मुख्यता से क्षेपकों को छोड़कर एक सौ तेईस दोहे कहे हैं । उनमें से *'जे जाया'* इत्यादि पच्चीस दोहा पर्यंत तीन प्रकार आत्मा के कथन का पीठिका व्याख्यान, *'जेहउ णिम्मलु'* इत्यादि चौबीस दोहा पर्यंत सामान्य वर्णन, *'अप्पा जोइय सव्वगउ'* इत्यादि तेतालीस दोहा पर्यंत विशेष वर्णन और *'अप्पा संजमु'* इत्यादि इकतीस दोहा पर्यंत चूलिका व्याख्यान है । —इसप्रकार अंतर अधिकारों सहित पहला महाधिकार कहा ।

इसके बाद मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्ग के स्वरूप-कथन की मुख्यता से क्षेपकों के सिवाय दो सौ चौदह दोहा पर्यंत दूसरा महाधिकार है । उसमें *'सिरि गुरु'* इत्यादि तीस दोहों पर्यंत पीठिकाव्याख्यान, *'जो भत्तउ'* इत्यादि छत्तीस दोहों पर्यंत सामान्यवर्णन और *'सुद्धहँ संजमु'* इत्यादि इकतालीस दोहों पर्यंत विशेष वर्णन है, उसके बाद 'उक्तं च' को छोड़कर एक सौ सात दोहों पर्यंत अभेदरत्नत्रय की मुख्यता से चूलिका व्याख्यान है । —इसप्रकार दूसरी पातनिका जानना चाहिये ।

इदानीं प्रथमपातनिकाभिप्रायेण व्याख्याने क्रियमाणे ग्रन्थकारो ग्रन्थस्यादौ मंगलार्थमिष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणः सन् दोहकसूत्रमेकं प्रतिपादयति—

जे जाया झाणग्गियएँ कम्म-कलंक डहेवि ।
णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि ।।१।।

ये जाता ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कान् दग्ध्वा ।
नित्यनिरञ्जनज्ञानमयास्तान् परमात्मनः नत्वा ।।१।।

जे जाया **ये केचन कर्तारो महात्मानो जाता उत्पन्नाः । केन करणभूतेन ?** ***झाणग्गियएँ*** **ध्यानाग्निना । किं कृत्वा पूर्वम् ?** ***कम्मकलंक डहेवि*** **कर्मकलङ्कमलान् दग्ध्वा भस्मीकृत्वा। कथंभूताः जाताः ?** ***णिच्चणिरंजणणाणमय*** **नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः** ***ते परमप्प णवेवि***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तान्परमात्मनः कर्मतापन्नान्नत्वा प्रणम्येति तात्पर्यार्थव्याख्यानं समुदायकथनं संपिण्डितार्थनिरूपणमुपोद्घातः संग्रहवाक्यं वार्तिकमिति यावत् । इतो विशेषः ।

तद्यथा— ये जाता उत्पन्ना मेघपटलविनिर्गतदिनकरकिरणप्रभावात्कर्मपटलविघटनसमये सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपेण लोकालोकप्रकाशनसमर्थेन सर्वप्रकारोपादेयभूतेन कार्यसमयसाररूपपरिणताः । कया ? नयविवक्षया जाताः सिद्धपर्यायपरिणतिव्यक्तिरूपतया धातुपाषाणे सुवर्णपर्यायपरिणतिव्यक्तिवत् । तथा चोक्तं पञ्चास्तिकाये—पर्यायार्थिकनयेन *''अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो''*[१], द्रव्यार्थिकनयेन पुनः शक्त्यपेक्षया पूर्वमेव शुद्धबुद्धैकस्वभावस्तिष्ठति धातुपाषाणे सुवर्णशक्तिवत् । तथा चोक्तं *द्रव्यसंग्रहे*—शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन *सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया''*[२], सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावाः। केन जाताः ? ध्यानाग्निना करणभूतेन ध्यानशब्देन आगमापेक्षया वीतरागनिर्विकल्पशुक्लध्यानम्, अध्यात्मापेक्षया वीतरागनिर्विकल्परूपातीतध्यानम् । तथा चोक्तम्—

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् ।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ॥

तच्च ध्यानं वस्तुवृत्या शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसमरसीभावसुखरसास्वादरूपमिति ज्ञातव्यम् । किं कृत्वा जाताः ? कर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा; कर्ममलशब्देन द्रव्यकर्मभावकर्माणि गृह्यन्ते। पुद्गलपिण्डरूपाणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ द्रव्यकर्माणि, रागादिसंकल्पविकल्परूपाणि पुनर्भावकर्माणि। द्रव्यकर्मदहनमनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन, भावकर्मदहनं पुनरशुद्धनिश्चयेन, शुद्धनिश्चयेन बन्धमोक्षौ न स्तः ।

इत्थंभूतकर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कथंभूता जाताः ? नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः । क्षणिकैकान्तवादिसौगतमतानुसारिशिष्यं प्रति द्रव्यार्थिकनयेन नित्यटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यव्यवस्थापनार्थं नित्यविशेषणं कृतम् । अथ कल्पशते गते जगत् शून्यं भवति, पश्चात्सदाशिवे जगत्करणविषये चिन्ता भवति, तदनन्तरं मुक्तिगतानां जीवानां कर्माञ्जनसंयोगं कृत्वा संसारे पतनं करोतीति *नैयायिका* वदन्ति, तन्मतानुसारिशिष्यं प्रति भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्माञ्जननिषेधार्थं मुक्तजीवानां निरञ्जनविशेषणं कृतम् । मुक्तात्मनां सुप्तावस्थावद्बहिर्ज्ञेयविषये परिज्ञानं नास्तीति *सांख्या* वदन्ति, तन्मतानुसारिशिष्यं प्रति जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसर्वपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिरूपकेवलज्ञानस्थापनार्थं ज्ञानमयविशेषणं कृतमिति। तानित्थंभूतान् परमात्मनो नत्वा प्रणम्य नमस्कृत्येति क्रियाकारकसंबन्धः ।

अत्र नत्वेति शब्दरूपो वाचनिको द्रव्यनमस्कारो ग्राह्योऽसद्भूतव्यवहारनयेन ज्ञातव्यः, केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारः पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति, शुद्धनिश्चयनयेन

---

१. पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा २०, चतुर्थ पाद ।
२. द्रव्यसंग्रह, गाथा १३, चतुर्थ पाद ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वन्द्यवन्दकभावो नास्तीति । एवं पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, नयविभागकथनरूपेण नयार्थोऽपि भणितः, बौद्धादिमतस्वरूपकथनप्रस्तावे मतार्थोऽपि निरूपितः, एवंगुणविशिष्टाः सिद्धा मुक्ताः सन्तीत्यागमार्थः प्रसिद्धः । अत्र नित्यनिरञ्जनज्ञानमयरूपं परमात्मद्रव्यमुपादेयमिति भावार्थः । अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थो व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्य इति ॥१॥

अब प्रथम पातनिका के अभिप्राय से व्याख्यान किया जाता है । उसमें ग्रंथकर्ता *श्रीयोगीन्दुदेव* ग्रंथ के आदि में मंगल के लिये इष्टदेवता श्रीभगवान को नमस्कार करते हुए एक दोहा छंद कहते हैं —

ध्यानाग्नि से कर दहन कर्मकलंक बन परमात्मा ।
जो नित्य ज्ञानमयी निरंजन है नमन उनको सदा ॥१॥

दोहार्थ— ध्यानरूपी अग्नि द्वारा कर्मरूपी कलंक को जलाकर जो नित्य, निरंजन, ज्ञानमय हुए हैं; उन परमात्मा को नमस्कारकर (इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थ का कथन करते हैं ।)

टीकार्थ— ***जे*** जो भगवान ***झाणग्गियएँ*** ध्यानरूपी अग्नि से ***कम्मकलंक*** पहले कर्मरूपी मैलों को ***डहेवि*** भस्म करके ***णिच्च-णिरंजण-णाणमय जाया*** नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं, ***ते*** उन ***परमप्प*** सिद्धों को ***णवेवि*** नमस्कार करके मैं परमात्मप्रकाश का व्याख्यान करता हूँ । यह संक्षेप व्याख्यान किया । इसके बाद विशेष व्याख्यान करते हैं—

जैसे मेघ-पटल से बाहर निकली हुई सूर्य की किरणों की प्रभा प्रबल होती है, उसीप्रकार कर्मरूप मेघसमूह के विलय होने पर अत्यंत निर्मल केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय की प्रगटतास्वरूप परमात्मा परिणत हुए हैं । अनंतचतुष्टय अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य—ये अनंतचतुष्टय सब प्रकार से अंगीकार करने योग्य हैं तथा लोकालोक के प्रकाशन में समर्थ हैं । जब सिद्धपरमेष्ठी अनंतचतुष्टयरूप परिणमे, तब कार्य-समयसार हुए । अंतरात्म-अवस्था में कारण-समयसार थे । जब कार्य-समयसार हुए तब सिद्धपर्याय परिणति की प्रगटतारूप से शुद्ध परमात्मा हुए। जैसे सोना अन्य धातु के मिलाप/संयोग से रहित हुआ, अपने सोलहवानरूप में प्रगट होता है; उसीप्रकार कर्म-कलंकरहित सिद्धपर्यायरूप परिणमे । तथा *पंचास्तिकाय* ग्रंथ में भी कहा है—पर्यायार्थिकनय से *'अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो'* अर्थात् जो पहले सिद्धपर्याय कभी नहीं पाई थी, वह कर्म-कलंक के विनाश से पाई । यह पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से कथन है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रव्यार्थिकनय से शक्ति की अपेक्षा यह जीव सदा ही शुद्ध-बुद्ध (ज्ञान) स्वभाव तिष्ठता है (उसमय विराजमान है) । जैसे धातु-पाषाण के मेल में भी शक्तिरूप सुवर्ण मौजूद ही है, क्योंकि सुवर्ण-शक्ति सुवर्ण में सदा ही रहती है; जब परवस्तु का संयोग दूर हो जाता है, तब वह व्यक्तिरूप होता है । सारांश यह है कि शक्तिरूप तो पहले ही था, लेकिन व्यक्तिरूप सिद्धपर्याय पाने से हुआ । शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सभी जीव सदा शुद्ध ही हैं । ऐसा ही *द्रव्यसंग्रह* में कहा है, *''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया''* अर्थात् शुद्ध नय से सभी जीव शक्तिरूप शुद्ध हैं और पर्यायार्थिकनय से व्यक्तिरूप शुद्ध हुए । किस कारण से (सिद्ध हुए)? ध्यानाग्निना अर्थात् ध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी कलंकों को भस्म किया, तब सिद्ध परमात्मा हुए । वह ध्यान कौनसा है? आगम की अपेक्षा तो वीतराग निर्विकल्प शुक्लध्यान है और अध्यात्म की अपेक्षा वीतराग निर्विकल्प रूपातीत ध्यान है । उसीप्रकार कहा भी है— *''पदस्थं''* इत्यादि—

उसका अर्थ यह है कि ''णमोकारमंत्र आदि का जो ध्यान है, वह *पदस्थ* कहलाता है; पिंड (शरीर) में ठहरा हुआ/स्थित जो निज आत्मा है, उसका चिंतवन, वह *पिंडस्थ* है; सर्व चिद्रूप (सकल परमात्मा) जो अरहंतदेव हैं, उनका ध्यान, वह *रूपस्थ* है; और निरंजन (सिद्धभगवान) का ध्यान, *रूपातीत* कहा जाता है।'' वस्तु के स्वभाव से विचार किया जाये, तो शुद्ध आत्मा की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमयी जो निर्विकल्प समाधि है, उससे उत्पन्न हुआ वीतराग परमानंद समरसीभाव सुखरस का आस्वाद, वही जिसका स्वरूप है, ऐसा ध्यान का लक्षण जानना चाहिये । इसी ध्यान के प्रभाव से कर्मरूपी मैल, वही हुआ कलंक, उनको भस्मकर सिद्ध हुए । कर्म-कलंक अर्थात् द्रव्यकर्म-भावकर्म; इनमें से पुद्गलपिंडरूप ज्ञानावरणादि आठ कर्म, द्रव्यकर्म हैं; और रागादिक संकल्प-विकल्परूप परिणाम भावकर्म कहे जाते हैं । यहाँ भावकर्म का दहन अशुद्ध निश्चयनय से हुआ, तथा द्रव्यकर्म का दहन असद्भूत-अनुपचरित व्यवहारनय से हुआ और शुद्धनिश्चय से तो जीव के बंध-मोक्ष दोनों ही नहीं हैं ।

—इसप्रकार कर्मरूप-मलों को भस्मकर जो भगवान हुए हैं, वे कैसे हैं? वे भगवान सिद्धपरमेष्ठी नित्य-निरंजन-ज्ञानमयी हैं । यहाँ पर नित्य जो विशेषण किया है, वह एकान्तवादी बौद्ध, जो कि आत्मा को नित्य नहीं मानता, क्षणिक मानता है, उसे समझाने के लिये है । द्रव्यार्थिकनय से आत्मा को नित्य कहा है, टंकोत्कीर्ण अर्थात् टाँकी का सा घड्या (टाँकी से उकेरा गया) सुघड़ ज्ञायक एकस्वभाव परम द्रव्य है । ऐसा निश्चय कराने के लिये नित्यपने का निरूपण किया है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसके बाद निरंजनपने का कथन करते हैं । जो नैयायिकमती हैं, वे ऐसा कहते हैं—''सौ कल्पकाल चले जाने पर जगत शून्य हो जाता है और सब जीव उस समय मुक्त हो जाते हैं, तब सदाशिव को जगत के करने की चिंता होती है । उसके बाद वह, जो मुक्त हुए थे, उन सबको कर्मरूप अंजन का संयोग करके संसार में पुन: डाल देता है''; ऐसी नैयायिकों की श्रद्धा है । उनके सम्बोधन के लिये निरंजनपने का वर्णन किया कि भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप अंजन का संसर्ग सिद्धों के कभी नहीं होता । इसीलिये सिद्धों को निरंजन ऐसा विशेषण कहा है।

अब सांख्यमती कहते हैं—''जैसे सोने की अवस्था में,सोते हुए पुरुष को बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता; वैसे ही मुक्तजीवों को बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है ।'' ऐसे जो सिद्धदशा में ज्ञान का अभाव मानते हैं, उनके प्रतिबोध के लिये तीन जगत-तीनकालवर्ती सब पदार्थों का एक समय में ही जानना है, अर्थात् जिसमें समस्त लोकालोक को जानने की शक्ति है, ऐसे ज्ञायकतारूप केवलज्ञान के स्थापन के लिये सिद्धों का ज्ञानमय विशेषण किया । वे भगवान नित्य हैं, निरंजन हैं और ज्ञानमय हैं—ऐसे सिद्धपरमात्माओं को नमस्कार करके ग्रंथ का व्याख्यान करता हूँ ।

यह नमस्कार शब्दरूप वचनमय द्रव्यनमस्कार असद्भूत व्यवहारनय से है और केवलज्ञानादि अनंत गुणस्मरणरूप भावनमस्कार अशुद्ध निश्चयनय से कहा जाता है । यह द्रव्य-भावरूप नमस्कार व्यवहारनय से साधक-दशा में कहा है; शुद्धनिश्चयनय से वंद्य-वंदक भाव नहीं है ।

इसप्रकार पदखंडनारूप शब्दार्थ कहा, और नयविभागरूप कथन कर नयार्थ भी कहा; तथा बौद्ध, नैयायिक, सांख्यादि मत के कथन करने से मतार्थ कहा । इसप्रकार अनंतगुणात्मक सिद्धपरमेष्ठी संसार से मुक्त हुए हैं; यह सिद्धांत का अर्थ प्रसिद्ध ही है; और नित्य-निरंजन ज्ञानमयी, परमात्मद्रव्य आदर योग्य हैं, उपादेय हैं, यह भावार्थ है ।

इसीप्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ व्याख्यान के अवसर पर सब जगह जान लेना ॥१॥

श्रमण एकाग्रता को प्राप्त हैं, एकाग्रता पदार्थों का निश्चय करनेवाले के होती है, पदार्थों का निश्चय आगम से होता है, अत: आगम में चेष्ठा श्रेष्ठ है, जिनवाणी के स्वाध्याय आदि में प्रवृत्ति उत्कृष्ट है । – ***प्रवचनसार, गाथा २३२ का अर्थ***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ संसारसमुद्रोत्तरणोपायभूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपोतं समारुह्य ये शिवमयनिरुपमज्ञानमया भविष्यन्त्यग्रे तानहं नमस्करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा ग्रन्थकारः सूत्रमाह; इत्यनेन क्रमेण पातनिकास्वरूपं सर्वत्र ज्ञातव्यम्—

ते वंदउँ सिरि-सिद्ध-गण होसहिँ जे वि अणंत ।
सिवमय-णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत ॥२॥

तान् वन्दे श्रीसिद्धगणान् भविष्यन्ति येऽपि अनन्ताः ।
शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः परमसमाधि भजन्तः ॥२॥

ते वंदउँ तान् वन्दे । तान् कान् ? *सिरिसिद्धगण* श्रीसिद्धगणान् । ये किं करिष्यन्ति? *होसहिँ जे वि अणंत* भविष्यन्त्यग्रे येऽप्यनन्ताः । कथंभूता भविष्यन्ति ? *सिवमयणिरुवमणाणमय* शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः । किं भजन्तः सन्तः इत्थंभूता भविष्यन्ति ? *परमसमाहि भजंत* रागादिविकल्परहितपरमसमाधिं भजन्तः सेवमानाः । इतो विशेषः ।

तथाहि— तान् सिद्धगणान् कर्मतापन्नान् अहं वन्दे । कथंभूतान् ? केवलज्ञानादिमोक्षलक्ष्मीसहितान् सम्यक्त्वाद्यष्टगुणविभूतिसहितान् अनन्तान् । किं करिष्यन्ति ? ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण दुर्लभबोधिं लब्ध्वा भविष्यन्त्यग्रे श्रेणिकादयः । किंविशिष्टा भविष्यन्ति ? शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः । अत्र शिवशब्देन स्वशुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दसुखं ग्राह्यं, निरुपमशब्देन समस्तोपमानरहितं ग्राह्यं, ज्ञानशब्देन केवलज्ञानं ग्राह्यम् । किं कुर्वाणाः सन्त इत्थंभूताः भविष्यन्ति ? विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपामूल्यरत्नत्रयभारपूर्णं मिथ्यात्वविषयकषायादिरूपसमस्तविभावजलप्रवेशरहितं शुद्धात्मभावनोत्थसहजानन्दैकरूपसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखरूपेण क्षारजलेन पूर्णस्य संसारसमुद्रस्य तरणोपायभूतं समाधिपोतं भजन्तः सेवमानास्तदाधारेण गच्छन्त इत्यर्थः । अत्र शिवमयनिरुपमज्ञानमयशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥२॥

.....

अब संसार-समुद्र से तरने का उपाय जो वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप जहाज है, उस पर चढ़कर जो आगामी काल में कल्याणमय अनुपम ज्ञानमयी होंगे, उनको मैं नमस्कार करता हूँ—

शिवमयी निरुपम ज्ञानमय उत्कट समाधि सेवते ।
जो सिद्धगण होंगे अनन्तों नमन हो उनके लिये ॥२॥

दोहार्थ— परमसमाधि का सेवन करते हुए आगामी काल में जो भी शिवमय, निरुपम, ज्ञानमय होंगे; उन अनन्त श्रीसिद्धसमूह को मैं नमस्कार करता हूँ ।

टीकार्थ— मैं ***ते*** उन ***सिरि-सिद्ध-गण*** श्रीसिद्धसमूहों को ***वंदउँ*** नमस्कार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करता हूँ, ***जे वि*** जो ***अणंत*** आगामी काल में अनंत ***होसहिँ*** होंगे । कैसे होंगे? ***सिवमय-णिरुवम-णाणमय*** परमकल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय होंगे । क्या करते हुए ? ***परम-समाहिँ*** रागादि विकल्प रहित जो परमसमाधि, उसका ***भजंत*** सेवन करते हुए ।

अब विशेष कहते हैं—जो सिद्ध होंगे, उनकी मैं वन्दना करता हूँ । कैसे होंगे आगामी काल में सिद्ध? केवलज्ञानादि मोक्षलक्ष्मी सहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों सहित अनंत होंगे । क्या करके सिद्ध होंगे? वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा प्ररूपित मार्ग से दुर्लभ ज्ञान को पाकर राजा श्रेणिक आदि के जीव सिद्ध होंगे । पुनः कैसे होंगे? शिव अर्थात् निज शुद्धात्मा की भावना, उससे उत्पन्न जो वीतराग परमानंद सुख, उस स्वरूप होंगे; समस्त उपमा रहित अनुपम होंगे, और केवलज्ञानमयी होंगे । क्या करते हुए ऐसे होंगे? निर्मल ज्ञान-दर्शनस्वभाव जो शुद्धात्मा है, उसके यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अमूल्य रत्नत्रय से पूर्ण और मिथ्यात्व-विषय-कषायादिरूप समस्त विभावमय जल के प्रवेश से रहित शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो सहजानंदरूप सुखामृत, उससे विपरीत जो नारकादि दुःख, वे ही हुए क्षारजल, उनसे पूर्ण इस संसाररूपी समुद्र से तरने का उपाय जो परमसमाधिरूप जहाज, उसका सेवन करते हुए, उसके आधार से चलते हुए, अनंत सिद्ध होंगे ।

इस व्याख्या का यह भावार्थ हुआ कि जो शिवमय, अनुपम, ज्ञानमय शुद्धात्मस्वरूप है; वही उपादेय है ॥२॥

अथानन्तरं परमसमाध्यग्निना कर्मेन्धनहोमं कुर्वाणान् वर्तमानान् सिद्धानहं नमस्करोमि–

ते हउँ वंदउँ सिद्ध-गण अच्छहिँ जे वि हवंत ।
परम-समाहि-महग्गिएँ कम्मिंधणइँ हुणंत ॥३॥

तान् अहं वन्दे सिद्धगणान् तिष्ठन्ति येऽपि भवन्तः ।
परमसमाधिमहाग्निना कर्मेन्धनानि जुह्वन्तः ॥३॥

ते हउँ वंदउँ सिद्धगण तानहं सिद्धगणान् वन्दे । ये कथंभूताः ? ***अत्थ (च्छ) हिँ जे वि हवंत*** इदानीं तिष्ठन्ति ये भवन्तः सन्तः । किं कुर्वाणास्तिष्ठन्ति ? ***परमसमाहिम-हग्गियएँ कम्मिंधणइँ हुणंत*** परमसमाधिमहाग्निना कर्मेन्धनानि होमयन्तः । अतो विशेषः।

तद्यथा—तान् सिद्धसमूहानहं वन्दे वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानलक्षणपारमार्थिक-सिद्धभक्त्या नमस्करोमि । ये किंविशिष्टाः ? इदानीं पञ्चमहाविदेहेषु भवन्तस्तिष्ठन्ति श्रीसीमन्धरस्वामिप्रभृतयः । किं कुर्वन्तस्तिष्ठन्ति ? वीतरागपरमसामायिकभावनाविना-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भूतनिर्दोषपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिवैश्वानरे कर्मेन्धनाहुतिभिः कृत्वा होमं कुर्वन्त इति ।

अत्र शुद्धात्मद्रव्यस्योपादेयभूतस्य प्राप्त्युपायभूतत्वान्निर्विकल्पसमाधिरेवोपादेय इति भावार्थः ॥३॥

.....

आगे परमसमाधिरूप अग्नि में कर्मरूप ईंधन का होम करते हुए वर्तमान काल में महाविदेहक्षेत्र में श्रीसीमंधरस्वामी आदि विराजमान हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ—

उत्कट समाधि महानल से कर्म ईंधन को जला।
जो हो रहे हैं सिद्धगण उन सभी को वन्दन सदा॥३॥

दोहार्थ— महासमाधिरूपी तीव्र अग्नि द्वारा कर्मरूपी ईंधन को भस्म करते हुए, जो भी अभी सिद्ध होते हुए विराजमान हो रहे हैं; उन सभी सिद्धसमूहों को मैं नमस्कार करता हूँ।

टीकार्थ— ***हउँ*** मैं ***ते*** उन ***सिद्ध-गण*** सिद्धसमूहों को ***वंदउँ*** नमस्कार करता हूँ ***जे वि*** जो ***हवंत अच्छहिँ*** वर्तमान समय में विराज रहे हैं । क्या करते हुए? ***परम-समाहि-महग्गिएँ*** परमसमाधिरूप महा अग्नि से ***कम्मिंधणइँ*** कर्मरूप ईंधन को ***हुणंत*** भस्म करते हुए ।

अब विशेष व्याख्यान है—उन सिद्धों को मैं वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप परमार्थ सिद्धभक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ । कैसे हैं वे? अभी वर्तमान समय में पंच महाविदेहक्षेत्रों में श्रीसीमंधरस्वामी आदि विराजमान हैं । क्या करते हुए? वीतराग परमसामायिकचारित्र की भावना से संयुक्त जो निर्दोष परमात्मा का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेद रत्नत्रय, उस मयी निर्विकल्प समाधिरूपी अग्नि में कर्मरूपी ईंधन को होम करते हुए विराजमान हैं ।

इस कथन में शुद्धात्मद्रव्य की प्राप्ति की उपायभूत निर्विकल्प समाधि उपादेय है, यह भावार्थ हुआ ॥३॥

दृग ज्ञान चारित जीव के हैं—यह कहा व्यवहार से ।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ॥

—समयसार गाथा ७ का हिन्दी पद्यानुवाद

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ पूर्वकाले शुद्धात्मस्वरूपं प्राप्य स्वसंवेदनज्ञानबलेन कर्मक्षयं कृत्वा ये सिद्धा भूत्वा निर्वाणे वसन्ति तानहं वन्दे—

ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे णिव्वाणि वसंति ।
णाणिं तिहुयणि गरुया वि भव-सायरि ण पडंति ।।४।।

तान् पुनः वन्दे सिद्धगणान् ये निर्वाणे वसन्ति ।
ज्ञानेन त्रिभुवने गुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति ।।४।।

ते पुणु वंदउँ सिद्धगण तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् । किंविशिष्टान् ? ***जे णिव्वाणि वसंति*** ये निर्वाणे मोक्षपदे वसन्ति तिष्ठन्ति । पुनरपि कथंभूता ये ? ***णाणिं तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति*** ज्ञानेन त्रिभुवनगुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति । अत ऊर्ध्वं विशेषः ।

तथाहि—तान् पुनर्वन्देऽहं सिद्धगणान् ये तीर्थकरपरमदेवभरतराघवपाण्डवादयः पूर्वकाले वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेन स्वशुद्धात्मस्वरूपं प्राप्य कर्मक्षयं कृत्वेदानीं निर्वाणे तिष्ठन्ति सदापि न संशयः । तानपि कथंभूतान् ? लोकालोकप्रकाशकेवल-ज्ञानस्वसंवेदनत्रिभुवनगुरून् । त्रैलोक्या लोकनपरमात्मस्वरूपनिश्चयव्यवहारपदार्थव्यवहारनय-केवलज्ञानप्रकाशेन गुरुकान् । लोकालोकनं परमात्मस्वरूपावलोकनं निश्चयेन पुद्गलादिपदा-र्थावलोकनं व्यवहारनयेन केवलज्ञानप्रकाशेन समाहितस्वस्वरूपभूते निर्वाणपदे तिष्ठन्ति यतः ततस्तन्निर्वाणपदमुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ।।४।।

.....

आगे जो महामुनि होकर शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्तकर स्वसंवेदनमय सम्यग्ज्ञान के बल से कर्मों का क्षयकर सिद्ध हो निर्वाण में बस रहे हैं; उनकी मैं वन्दना करता हूँ (ऐसा कहते हैं) —

जो ज्ञान से त्रिभुवन गुरु होते हुये भी न गिरें ।
भव-जलधि में निर्वाणवासी सिद्धगण को नमन है ।।४।।

दोहार्थ— जो ज्ञान द्वारा तीन लोक में गुरु (भारी) होने पर भी संसार-समुद्र में नहीं गिरते हैं, उन मोक्ष में रहने वाले सिद्धसमूहों को मैं नमस्कार करता हूँ।

टीकार्थ— ***पुणु*** फिर मैं ***ते*** उन ***सिद्ध-गण*** सिद्धसमूहों की ***वंदउँ*** वंदना करता हूँ, ***जे*** जो ***णिव्वाणि*** मोक्ष में ***वसंति*** विराजमान हैं । कैसे हैं वे? ***णाणिं*** ज्ञान से ***तिहुयणि गरुया*** तीन लोक में गुरु हैं, ***वि*** तो भी ***भव-सायरि*** संसार समुद्र में ***ण पडंति*** नहीं गिरते हैं ।

जो भारी होता है, वह गुरुतर होता है, और जल में डूब जाता है; वे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भगवान त्रैलोक्य में गुरु हैं, परन्तु भव-सागर में नहीं गिरते हैं । उन सिद्धों की मैं वंदना करता हूँ, जो तीर्थंकर परमदेव तथा भरत, सगर, राघव, पांडवादिक पूर्वकाल में वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के बल से निजशुद्धात्मस्वरूप को प्राप्तकर कर्मों का क्षयकर, परमसमाधानरूप निर्वाण-पद में विराज रहे हैं, उनको मेरा नमस्कार हो—यह सारांश हुआ ।

(और वे कैसे हैं ? लोकालोक को प्रकाशित करने वाले स्वसंवेदनमयी केवलज्ञान के कारण तीनलोक के गुरु हैं । तीनलोक से लोकित परमात्मस्वरूप निश्चय पदार्थ है तथा उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थ व्यवहार पदार्थ हैं । इन सभी को व्यवहार नय की अपेक्षा केवलज्ञान द्वारा प्रकाशित करने के कारण गुरु हैं । निश्चय से लोक को प्रकाशित करने वाले परमात्मस्वरूप का अवलोकन करने वाले और व्यवहार नय से पुद्गल आदि पदार्थों का अवलोकन करने वाले केवलज्ञानमय प्रकाश से समाहित स्व/आत्मस्वरूपभूत निर्वाणपद में क्योंकि वे विराजमान हैं, इसलिए निर्वाणपद उपादेय है—यह तात्पर्यार्थ है ।।४।।)

अतः ऊर्ध्वं यद्यपि व्यवहारनयेन मुक्तिशिलायां तिष्ठन्ति शुद्धात्मनः हि सिद्धास्तथापि निश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपे तिष्ठन्तीति कथयति—

ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे अप्पाणि वसंत ।
लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिँ विमलु णियंत ।।५।।

तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् ये आत्मनि वसन्तः ।
लोकालोकमपि सकलं इह तिष्ठन्ति विमलं पश्यन्तः ।।५।।

ते पुणु वंदउँ सिद्धगण **तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् ।** ***जे अप्पाणि वसंत लोयालोउ वि सयलु इहु अत्थ (च्छ) हिँ विमलु णियंत*** **ये आत्मनि वसन्तो लोकालोकं सततस्वरूपपदार्थं निश्चयन्त* इति । इदानीं विशेषः ।**

तद्यथा—तान् पुनरहं वन्दे सिद्धगणान् सिद्धसमूहान् वन्दे कर्मक्षयनिमित्तम् । पुनरपि कथंभूतं सिद्धस्वरूपम् ? चैतन्यानन्दस्वभावं लोकालोकव्यापिसूक्ष्मपर्यायशुद्धस्वरूपं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणम् । निश्चय एकीभूतव्यवहाराभावे स्वात्मनि अपि च सुखदुःखभावाभावयोरेकीकृत्यस्वसंवेद्यस्वरूपे स्वयत्ले तिष्ठन्ति । उपचरितासद्भूतव्यवहारे लोकालोकावलोकनं स्वसंवेद्यं प्रतिभाति, आत्मस्वरूपकैवल्यज्ञानोपशमं यथा पुरुषार्थपदार्थदृष्टो भवति तेषां बाह्यवृत्तिनिमित्तमुत्पत्तिस्थूलसूक्ष्मपरपदार्थव्यवहारात्मानमेव जानन्ति । यदि निश्चयेन तिष्ठन्ति तर्हि परकीयसुखदुःखपरिज्ञाने सुखदुःखानुभवं प्राप्नोति, परकीयरागद्वेषहेतुपरिज्ञाने च

---

* पाठान्तर — निश्चयन्त/निश्चयन्तस्तिष्ठति ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रागद्वेषमयत्वं च प्राप्नोतीति महद्दूषणम् । अत्र यत् निश्चयेन स्वस्वरूपेऽवस्थानं भणितं तदेवोपादेयमिति भावार्थः ॥५॥

आगे यद्यपि वे सिद्ध परमात्मा व्यवहारनय से लोकालोक को देखते हुए मोक्ष में विराजमान हैं, लोक के शिखर-ऊपर विराजते हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनय से अपने स्वरूप में ही स्थित हैं; उनको मैं नमस्कार करता हूँ —

जो लोक और अलोक को भी सकल निर्मलरूप में ।
हैं देखते तो भी रहें नित आत्म-मग्न नमन उन्हें ॥५॥

दोहार्थ— जो यहाँ सम्पूर्ण लोकालोक को विमलरूप में (संशय रहित) प्रत्यक्ष देखते हुए भी आत्मा में लीन रहते हुए विराजमान हैं, उन सिद्धसमूह को मैं पुनः नमस्कार करता हूँ।

टीकार्थ— ***पुणु*** मैं फिर ***ते*** उन ***सिद्ध-गण*** सिद्धों के समूह की ***वंदउँ*** वंदना करता हूँ, ***जे*** जो निश्चयनय से ***अप्पाणि*** अपने स्वरूप में ***वसंत*** स्थित होते हुए भी व्यवहारनय से ***इहु सयलु*** यहाँ समस्त ***लोयालोउ वि*** लोक-अलोक को ***विमलु*** संशय रहित ***णियंत अच्छहिँ*** प्रत्यक्ष देखते हुए ठहर रहे हैं ।

मैं कर्मों के क्षय के लिये फिर से उन सिद्धों को नमस्कार करता हूँ । (और वह सिद्धस्वरूप कैसा है ? चैतन्य-आनन्द स्वभावमय है; लोक-अलोकव्यापी सूक्ष्मपर्यायात्मक शुद्ध स्वरूपमय ज्ञान-दर्शन उपयोग लक्षणमय है । निश्चय से एकीभूत स्वात्मा में व्यवहार का अभाव होने पर भी सुख-दुख के भाव-अभाव में एकाकार होकर स्वपुरुषार्थमयी स्वसंवेद्य स्वरूप में विराजमान है । उपचरित असद्भूत व्यवहार में लोकालोक के अवलोकनरूप स्वसंवेद्य ज्ञात होता है । जैसे आत्मस्वरूप के कैवल्यज्ञान से उपशान्त हुए पुरुष के अर्थ पदार्थ मात्र दृष्ट होता है, उसीप्रकार उनके भी बाह्य वृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाले स्थूल-सूक्ष्म परपदार्थों के स्वरूप को, वे व्यवहार से ही जानते हैं ।)

जो निश्चयनय से अपने स्वरूप में स्थित हैं, और व्यवहारनय से सब लोकालोक को निःसंदेह रूप में प्रत्यक्ष देखते हैं; परंतु पदार्थों में तन्मय नहीं हैं, अपने स्वरूप में तन्मय हैं । यदि परपदार्थों में तन्मय हों, तो पर के सुख-दुःख से आप सुखी-दुःखी होवें, परन्तु ऐसा उनमें कदाचित् भी नहीं है । व्यवहारनय से स्थूल-सूक्ष्म सभी को केवलज्ञान से प्रत्यक्ष निःसंदेह जानते हैं, किसी पदार्थ से राग-द्वेष नहीं है । यदि राग-द्वेष के कारण किसी को जानें, तो वे राग-द्वेषमयी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होवें, यह बड़ा दूषण है । इसलिये यह निश्चय हुआ कि निश्चयनय से अपने स्वरूप में निवास करते हैं, पर में नहीं; और अपनी ज्ञायक शक्ति से सबको प्रत्यक्ष देखते हैं, जानते हैं ।

यहाँ जो निश्चय से अपने स्वरूप में निवास कहा, वह ही अपना स्वरूप होने से आराधना करने योग्य है; यह भावार्थ हुआ ॥५॥

अथ निष्कलात्मानं सिद्धपरमेष्ठिनं नत्वेदानीं तस्य सिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य च प्रतिपादकं सकलात्मानं नमस्करोमि—

केवल-दंसण-णाणमय केवल-सुक्खसहाव ।
जिणवर वंदउँ भत्तियए जेहिं पयासिय भाव ॥६॥

केवलदर्शनज्ञानमयान् केवलसुखस्वभावान् ।
जिनवरान् वन्दे भक्त्या यैः प्रकाशिता भावाः ॥६॥

केवलदर्शनज्ञानमयाः केवलसुखस्वभावा ये तान् जिनवरानहं वन्दे । कया ? भक्त्या। यैः किं कृतम् ? प्रकाशिता भावा जीवाजीवादिपदार्था इति । इतो विशेषः।

केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकं सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभशत्रुमित्रसमानभावनाविनाभूतवीतरागनिर्विकल्पसमाधिपूर्वं जिनोपदेशं लब्ध्वा पश्चादनन्तचतुष्टयस्वरूपा जाता ये । पुनश्च किं कृतम् ? यैः अनुवादरूपेण जीवादिपदार्थाः प्रकाशिताः । विशेषेण तु कर्माभावे सति केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपलाभात्मको मोक्षः, शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गश्च, तानहं वन्दे ।

अत्रार्हद्गुणस्वरूपस्वशुद्धात्मस्वरूपमेवोपादेयमिति भावार्थः ॥६॥

.....

आगे निरंजन, निराकार, निःशरीर सिद्धपरमेष्ठी को (नमस्कार करके अब उस सिद्धस्वरूप के और उसकी प्राप्ति के उपाय के प्रतिपादक सकल आत्मा को) नमस्कार करता हूँ—

जो ज्ञान दर्शनमयी केवल सुखस्वभावी जिनवरा ।
सब भाव के हैं प्रकाशक है भक्ति से वन्दन सदा ॥६॥

दोहार्थ— सम्पूर्ण भावों (पदार्थों) के प्रकाशक केवलदर्शन, केवलज्ञान, केवलसुखस्वभावी जिनवरों को भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

टीकार्थ— जो ***केवल-दंसण-णाणमय*** केवलदर्शन और केवलज्ञानमयी हैं,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तथा जिनका ***केवल-सुक्खसहाव*** केवलसुख ही स्वभाव है और ***जेहिँ*** जिन्होंने ***भाव पयासिय*** जीवादिक सकल पदार्थ प्रकाशित किये हैं, उन ***जिणवर*** जिनवरों को मैं ***भत्तियए*** भक्ति से ***वंदउँ*** नमस्कार करता हूँ ।

केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयस्वरूप जो परमात्मतत्त्व है, उसके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप अभेदरत्नत्रय, वह जिनका स्वभाव है; और सुख-दु:ख, जीवित-मरण,लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र—सबमें समान भाव होने से उत्पन्न हुई वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि; उसे कहने वाले जिनराज के उपदेश को पाकर जो अनंत चतुष्टयरूप हुए । जिन्होंने (परम्परा कथनरूप से) यथार्थ जीवादि पदार्थों का स्वरूप प्रकाशित किया (है, परन्तु विशेषरूप से) कर्म का अभाव होने पर केवलज्ञानादि अनंतगुणयुक्त (स्वरूप की प्राप्तिमय) मोक्ष और जो शुद्धात्मा का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रय, वही हुआ मोक्षमार्ग—ऐसे मोक्ष और मोक्षमार्ग को भी प्रगट किया; उनको मैं नमस्कार करता हूँ ।

इस व्याख्यान में अरहंतदेव के केवलज्ञानादि गुणमय जो (स्व) शुद्धात्मस्वरूप है, वही आराधना करने योग्य है, यह भावार्थ जानना ।।६।।

अथानन्तरं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानाचार्योपाध्यायसाधून्नमस्करोमि—

जे परमप्पु णियंति मुणि परम-समाहि धरेवि ।
परमाणंदह कारणिण तिण्णि वि ते वि णवेवि ।।७।।

ये परमात्मानं पश्यन्ति मुनयः परमसमाधिं धृत्वा ।
परमानन्दस्य कारणेन त्रीनपि तानपि नत्वा ।।७।।

जे परमप्पु णियंति मुणि ये केचन परमात्मानं निर्गच्छन्ति स्वसंवेदनज्ञानेन जानन्ति मुनयस्तपोधनाः । किं कृत्वा पूर्वम् ? ***परमसमाहि धरेवि*** रागादिविकल्परहितं परमसमाधिं धृत्वा । केन कारणेन ? ***परमाणंदह कारणिण*** निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसदानन्द-परमसमरसीभावसुखरसास्वादनिमित्तेन ***तिण्णि वि ते वि णवेवि*** त्रीनप्याचार्योपाध्यायसाधून् नत्वा नमस्कृत्येत्यर्थः । अतो विशेषः —

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसंबन्धः द्रव्यकर्मनोकर्मरहितं तथैवाशुद्धनिश्चयसंबन्धः मतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायरहितं यच्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वं तदेव भूतार्थं परमार्थरूपसमयसारशब्दवाच्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतं तस्माच्च यदन्यत्तद्धेयमिति। चलमलिनागाढरहितत्वेन निश्चयश्रद्धानबुद्धिः सम्यक्त्वं तत्राचरणं परिणमनं दर्शनाचारस्तत्रैव संशयविपर्यासानध्यवसायरहितत्वेन स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ग्राहकबुद्धिः सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः, तत्रैव शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन नित्यानन्दमयसुखरसास्वाद-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्थिरानुभवनं च सम्यक्चारित्रं तत्राचरणं परिणमनं चारित्राचारः, तत्रैव परद्रव्येच्छानिरोधेन सहजानन्दैकरूपेण प्रतपनं तपश्चरणं तत्राचरणं परिणमनं तपश्चरणाचारः, तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वशक्त्यनवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचार इति निश्चयपञ्चाचाराः ।

निःशङ्काद्यष्टगुणभेदो बाह्यदर्शनाचारः, कालविनयाद्यष्टभेदो बाह्यज्ञानाचारः, पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिनिर्ग्रन्थरूपो बाह्यचारित्राचारः, अनशनादिद्वादशभेदरूपो बाह्यतपश्चरणाचारः, बाह्यस्वशक्त्यनवगूहनरूपो बाह्यवीर्याचार इति । अयं तु व्यवहार-पञ्चाचारः पारंपर्येण साधक इति ।

विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिरूपं तपश्चरणं स्वशक्त्यनवगूहनवीर्यरूपाभेदपञ्चाचाररूपात्मकं शुद्धोपयोगभावनान्तर्भूतं वीतराग-निर्विकल्पसमाधिं स्वयमाचरन्त्यन्यानाचारयन्तीति भवन्त्याचार्यास्तानहं वन्दे ।

पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मध्ये शुद्धजीवास्तिकायशुद्धजीवद्रव्यशुद्ध-जीवतत्त्वशुद्धजीवपदार्थसंज्ञं स्वशुद्धात्मभावमुपादेयं तस्माच्चान्यद्धेयं कथयन्ति,शुद्धात्मस्वभाव-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चयमोक्षमार्गं च ये कथयन्ति ते भवन्त्युपाध्या-यास्तानहं वन्दे ।

शुद्धबुद्धैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणतपश्चरणरूपाभेदचतुर्विधनिश्च-याराधनात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधिं ये साधयन्ति ते भवन्ति साधवस्तानहं वन्दे ।

अत्रायमेव ते समाचरन्ति कथयन्ति साधयन्ति च वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं तमेवोपादेयभूतस्य स्वशुद्धात्मतत्त्वस्य साधकत्वादुपादेयं जानीहीति भावार्थः ॥७॥

इति प्रभाकरभट्टस्य पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारकरणमुख्यत्वेन प्रथममहाधिकारमध्ये दोहकसूत्रसप्तकं गतम् ।

.....

आगे भेदाभेदरत्नत्रय के आराधक जो आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं; उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ । (ऐसा कहते हैं ।) —

जो मुनि परमानन्द पाते धार परम समाधि को ।
परमात्मा को देखते करते नमन उन तीन को ॥७॥

दोहार्थ— जो मुनि परमसमाधि को धारण कर परमानन्द के हेतु से परमात्मा को देखते हैं; उन तीनों (आचार्य, उपाध्याय, साधु) को भी मैं नमस्कार करता हूँ।

टीकार्थ— ***जे मुणि*** जो मुनि ***परम-समाहि*** परमसमाधि को ***धरेवि*** धारण करके सम्यग्ज्ञान से ***परमप्पु*** परमात्मा को ***णियंति*** देखते हैं । किसलिए ? ***परमाणंदह कारणिण*** रागादि विकल्प रहित परमसमाधि से उत्पन्न हुए परम सुख के रस का अनुभव करने के लिये; ***ते वि तिण्णि वि*** उन तीनों आचार्य, उपाध्याय, साधुओं को भी मैं ***णवेवि*** नमस्कार करके परमात्मप्रकाश का व्याख्यान करता हूँ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनुपचरित अर्थात् जो उपचरित नहीं है, इसी कारण अनादि संबंध है, परंतु असद्भूत (स्वसत्ता से पृथक्) है, ऐसे व्यवहारनय से द्रव्यकर्म, नोकर्म का संबंध होता है, उससे रहित; और अशुद्ध निश्चयनय से रागादि का संबंध है, उससे, तथा मतिज्ञानादि विभावगुण के संबंध से रहित; और नर-नारकादि चतुर्गतिरूप विभावपर्यायों से रहित; —ऐसा जो चिदानंद चिद्रूप एक अखंडस्वभाव शुद्धात्मतत्त्व है, वही भूतार्थ है । वही परमार्थरूप समयसार शब्द का वाच्य है । वही सब प्रकार उपादेयभूत, आराधना करने योग्य है । उससे भिन्न जो परवस्तु है, वह सब त्याज्य है । —ऐसी दृढ़ प्रतीति, चंचलता रहित निर्मल अवगाढ़ परम श्रद्धा है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं, उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन वह दर्शनाचार कहा जाता है; और उसी निजस्वरूप में संशय-विमोह-विभ्रमरहित जो स्वसंवेदनज्ञानरूप ग्राहकबुद्धि, वह सम्यग्ज्ञान हुआ, उसका जो आचरण अर्थात् उस रूप परिणमन वह ज्ञानाचार है; उसी शुद्ध स्वरूप में शुभ-अशुभ समस्त संकल्प-विकल्प रहित जो नित्यानंदमय निजरस का आस्वाद, निश्चल अनुभव, वह सम्यक्चारित्र है, उसका जो आचरण, उस रूप परिणमन, वह चारित्राचार है; उसी परमानंद स्वरूप में परद्रव्य की इच्छा का निरोधकर सहज आनंदरूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन, वह तपश्चरणाचार है; और उसी शुद्धात्मस्वरूप में अपनी शक्ति को प्रगटकर आचरण, परिणमन, वह वीर्याचार है । — यह निश्चय पंचाचार का लक्षण कहा ।

अब व्यवहार पंचाचार का लक्षण कहते हैं—नि:शंकित आदि अष्ट गुण-भेदरूप बाह्य दर्शनाचार; शब्द शुद्ध, अर्थ शुद्ध आदि अष्ट प्रकार बाह्य ज्ञानाचार; पंच महाव्रत,पंच समिति, तीन गुप्तिरूप बाह्य चारित्राचार; अनशनादि बारह तपरूप बाह्य तपाचार; और अपनी शक्ति प्रगटकर मुनिव्रत के आचरण रूप बाह्य वीर्याचार है । यह व्यवहार पंचाचार परम्परा से मोक्ष का कारण है, और निर्मल ज्ञान-दर्शनस्वभावमय जो शुद्धात्मतत्त्व, उसका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण तथा परद्रव्य की इच्छा का निरोध और निजशक्ति का प्रगट करना—ऐसा यह निश्चय पंचाचार, साक्षात् मुक्ति का कारण है ।

—ऐसे निश्चय-व्यवहाररूप पंचाचारों का जो स्वयं आचरण करते हैं और दूसरों से आचरण कराते हैं, उन आचार्यों की मैं वंदना करता हूँ ।

पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ हैं; उनमें निज शुद्ध जीवास्तिकाय, निज शुद्ध जीवद्रव्य, निज शुद्ध जीवतत्त्व, निज शुद्ध जीवपदार्थ रूप जो आप शुद्धात्मा है, वही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है, अन्य सब त्यागने योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं; तथा शुद्धात्मस्वभाव का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आचरणरूप अभेद रत्नत्रय है, वही निश्चयमोक्षमार्ग है, ऐसा उपदेश जो शिष्यों को देते हैं,—ऐसे उन उपाध्यायों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

शुद्धज्ञान एक स्वभाव शुद्धात्मतत्त्व के (सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरण-तपश्चरण रूप अभेद चार प्रकार की निश्चय) आराधनात्मक वीतराग निर्विकल्प समाधि को जो साधते हैं, वे साधु हैं; उन साधुओं की मैं वंदना करता हूँ ।

वीतराग निर्विकल्प समाधि का जो आचरण करते हैं, उसे ही कहते हैं, साधते हैं, वे ही साधु हैं । अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु—ये ही पंचपरमेष्ठी वंदना करने योग्य हैं; (उपादेयभूत शुद्धात्मतत्त्व की साधक होने से वह वीतराग निर्विकल्प समाधि ही उपादेय है—ऐसा जानो; यह) भावार्थ है ॥७॥

ऐसे पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने की मुख्यता से श्रीयोगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश के प्रथम महाधिकार के प्रथमस्थल में सात दोहों से प्रभाकरभट्ट नामक अपने शिष्य को पंचपरमेष्ठी की भक्ति का उपदेश दिया । ॥ *इति पीठिका* ॥

अथ प्रभाकरभट्टः पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिनो नत्वा पुनरिदानीं श्रीयोगीन्दुदेवान् विज्ञापयति–

भावि पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ ।
भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥८॥

भावेन प्रणम्य पञ्चगुरुन् श्रीयोगीन्दुजिनः ।
भट्टप्रभाकरेण विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावम् ॥८॥

भावि पणविवि पंचगुरु **भावेन भावशुद्ध्या प्रणम्य । कान् ? पञ्चगुरून् । पश्चात्किं कृतम् ?** ***सिरिजोइंदुजिणाउ भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ*** **श्रीयोगीन्द्रदेवनामा भगवान् प्रभाकरभट्टेन कर्तृभूतेन विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावं परिणाममिति । अत्र प्रभाकरभट्टः शुद्धात्मतत्त्वपरिज्ञानार्थं श्रीयोगीन्द्रदेवं भक्तिप्रकर्षेण विज्ञापितवानित्यर्थः ॥८॥**

.....

अब प्रभाकरभट्ट पूर्वपद्धति से पंचपरमेष्ठी को नमस्कारकर और श्रीयोगींदुदेव गुरु को नमस्कारकर श्रीगुरु से विनती करता है—

अब पंचगुरु को भावपूर्वक नमन कर योगीन्दु से ।
कहते प्रभाकरभट्ट निर्मल भाव वर्णन के लिये ॥८॥

दोहार्थ— भावों की शुद्धतापूर्वक पंचपरमेष्ठियों को नमस्कारकर प्रभाकरभट्ट अपने परिणामों को निर्मलकर श्री योगीन्दुदेव से शुद्धात्मतत्त्व का ज्ञान कराने के लिए कहते हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***भावि*** भावों की शुद्धता पूर्वक ***पंच-गुरु*** पंचपरमेष्ठियों को ***पणविवि*** नमस्कारकर ***भट्टपहायरि*** प्रभाकरभट्ट ***भाउ विमलु करेविणु*** अपने परिणामों को निर्मल करके ***सिरि-जोइंदु-जिणाउ*** श्रीयोगीन्दुदेव से शुद्धात्मतत्त्व को जानने के लिये महाभक्ति से ***विण्णविउ*** विनती करते हैं ॥८॥

तद्यथा—

गउ संसारि वसंताहँ सामिय कालु अणंतु ।
पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ॥९॥

गतः संसारे वसतां स्वामिन् कालः अनन्तः ।
परं मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महत् ॥९॥

गउ संसारि वसंताहँ सामिय कालु अणंतु गतः संसारे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन् । कोऽसौ ? कालः । कियान् ? अनन्तः । *पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु* परं किंतु मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महदिति। इतो विस्तरः ।

तथाहि—स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दसमरसीभावरूपसुखामृतविपरीत-नारकादिदुःखरूपेण क्षारनीरेण पूर्णे अजरामरपदविपरीतजातजरामरणरूपेण मकरादिजल-चरसमूहेन संकीर्णे अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतनानामानसादिदुःखरूपवडवान-लशिखासंदीपिताभ्यन्तरे वीतरागनिर्विकल्पसमाधिविपरीतसंकल्पविकल्पजालरूपेण कल्लोल-मालासमूहेन विराजिते संसारसागरे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिननन्तकालो गतः । कस्मात्? एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यत्वदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धि-सद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनेषु परंपरया दुर्लभेषु। कथंभूतेषु ? लब्धेष्वपि तपोभावनाद्यर्मेषु शुद्धात्मभावनालक्षणशुद्धात्मभावनाद्यर्मेषुशुद्धात्मभावना-लक्षणस्य वीतरागनिर्विकल्पसमाधिदुर्लभत्वात् । तदपि कथम्? वीतरागनिर्विकल्प-समाधिबोधिप्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरितिबोधिसमाधिलक्षणं यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । तथा चोक्तम्—

''इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् ।
संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरम् ॥''

परं किंतु बोधिसमाध्यभावे पूर्वोक्तसंसारे भ्रमतापि मया शुद्धात्मसमाधिसमुत्पन्न-वीतरागपरमानन्दसुखामृतं किमपि न प्राप्तं किंतु तद्विपरीतमाकुलत्वोत्पादकं विविधशारीर-मानसरूपं चतुर्गतिभ्रमणसंभवं दुःखमेव प्राप्तमिति ।

अत्र यस्य वीतरागपरमानन्दसुखस्यालाभे भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयमिति भावार्थः॥९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वह विनती इसप्रकार है—

चिरकाल से रहते हुए संसार में मैंने कभी ।
स्वामी न पाया सुक्ख केवल महा दुख पाए सभी ।।९।।

दोहार्थ— हे स्वामी ! इस संसार में रहते हुए मेरा अनन्त काल बीत गया, परन्तु मैंने कुछ भी सुख नहीं पाया, अपितु महान दु:ख ही पाए हैं ।

टीकार्थ— ***सामिय*** हे स्वामी! ***संसारि वसंताहँ*** इस संसार में रहते हुए हमारा ***अणंतु कालु गउ*** अनंतकाल बीत गया, ***पर मइँ किं पि*** लेकिन मैंने कुछ भी ***सुहु ण पत्तु*** सुख नहीं पाया, ***महंतु दुक्खु जि पत्तु*** उल्टा महान दु:ख ही पाया है । यहाँ से विशेष—

निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनंद समरसीभाव है, उस रूप जो आनंदामृत; उससे विपरीत नारकादिदु:खरूप क्षार (खारे) जल से पूर्ण (भरा हुआ) अजर-अमर पद से उलटा जन्म, जरा (बुढ़ापा), मरणरूपी जलचरों के समूह से भरा हुआ; अनाकुलता स्वरूप निश्चय सुख से विपरीत, अनेक प्रकार के आधि-व्याधि दु:खरूपी वड़वानल की शिखा से प्रज्वलित; वीतराग निर्विकल्पसमाधि से रहित, महान संकल्प-विकल्पों के जालरूपी कल्लोलों की मालाओं से विराजमान; —ऐसे संसाररूपी समुद्र में रहते हुए हे स्वामी! मेरा अनंत काल बीत गया । इस संसार में एकेन्द्रिय से दोइन्द्रिय, तीनेन्द्रिय, चारेन्द्रिय स्वरूप विकलत्रय पर्याय पाना दुर्लभ (कठिन) है; विकलत्रय से पंचेन्द्रिय, सैनी, छह पर्याप्तियों की संपूर्णता होना दुर्लभ है; उसमें भी मनुष्य होना अत्यंत दुर्लभ; उसमें आर्यक्षेत्र दुर्लभ; उसमें से उत्तम कुल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण पाना कठिन है; उसमें भी सुन्दर रूप, समस्त पाँचों इन्द्रियों की प्रवीणता, दीर्घ आयु, बल, निरोग शरीर, जैनधर्म—इनका उत्तरोत्तर मिलना कठिन है । कभी इतनी वस्तुओं की भी प्राप्ति हो जाए, तो भी श्रेष्ठ बुद्धि, श्रेष्ठ धर्म-श्रवण, धर्म का ग्रहण, धारण, श्रद्धान, संयम, विषय-सुखों से निवृत्ति, क्रोधादि कषायों का अभाव होना अत्यंत दुर्लभ है; और इन सभी से भी उत्कृष्ट शुद्धात्मभावनारूप वीतराग निर्विकल्प समाधि का होना अति दुर्लभ है; क्योंकि उस समाधि के शत्रु जो मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि रूप विभाव परिणाम हैं; उनकी प्रबलता है । इसीलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति नहीं होती ।

इनका पाना ही बोधि है; उस बोधि की जो निर्विघ्नरूप से भवान्तर-प्राप्ति है/दूसरे भव में प्राप्ति हो जाना है, वही समाधि है । —इसप्रकार बोधि-समाधि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का लक्षण सब जगह जानना चाहिये । इस बोधि-समाधि का मुझमें अभाव है, इसीलिये संसार-समुद्र में भटकते हुए मैंने वीतराग परमानंद सुख नहीं पाया; किन्तु उस सुख से विपरीत (उल्टा), आकुलता को उत्पन्न करने वाला नाना प्रकार का शरीर का तथा मन का दु:ख ही चारों गतियों में भ्रमण करते हुए पाया । इस संसार-सागर में भ्रमण करते मनुष्य-देह आदि का पाना बहुत दुर्लभ है,परंतु उसे पाकर कभी प्रमादी (आलसी) नहीं होना चाहिये । जो प्रमादी हो जाते हैं, वे संसाररूपी वन में अनंत काल पर्यन्त भटकते हैं ।

ऐसा ही दूसरे ग्रंथों में भी कहा है— *''इत्यतिदुर्लभरूपां''* इत्यादि । इसका अभिप्राय ऐसा है कि ''जैनशास्त्रों में कही गई इस महान दुर्लभ बोधि को प्राप्तकर जो जीव प्रमादी हो जाता है, वह रंक पुरुष बहुत काल तक संसाररूपी भयानक वन में भटकता है ।''

सारांश यह हुआ कि वीतराग परमानंद सुख के न मिलने से यह जीव संसाररूपी वन में भटक रहा है, इसलिये वीतराग परमानंदसुख ही आदर करने योग्य है ॥९॥

अथ यस्यैव परमात्मस्वभावस्यालाभेऽनादिकाले भ्रमितो जीवस्तमेव पृच्छति—

चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ ।
चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ॥१०॥

चतुर्गतिदु:खै: तप्तानां य: परमात्मा कश्चित् ।
चतुर्गतिदु:खविनाशकर: कथय प्रसादेन तमपि ॥१०॥

चउगइदुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ **चतुर्गतिदु:खतप्तानां जीवानां य: कश्चिच्चिदानन्दैकस्वभाव: परमात्मा । पुनरपि कथंभूत: ?** ***चउगइदुक्खविणासयरु*** **आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञारूपादिसमस्तविभावरहितानां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन परमात्मोत्थसहजानन्दैकसुखामृतसंतुष्टानां जीवानां चतुर्गतिदु:खविनाशक:** ***कहहु पसाएँ सो वि*** **हे भगवन् तमेव परमात्मानं महाप्रसादेन कथयेति ।**

अत्र योऽसौ परमसमाधिरतानां चतुर्गतिदु:खविनाशक: स एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थ: ॥१०॥

एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये प्रभाकरभट्टविज्ञप्तिकथनमुख्यत्वेन दोहक-सूत्रत्रयं गतम् ।

आगे जिस परमात्म-स्वभाव के अलाभ में यह जीव अनादि काल से भटक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रहा था, उसी परमात्मस्वभाव को प्रभाकरभट्ट पूछ रहा है—

जो परम आतम चतुर्गति के दु:ख से संतप्त के ।
है चतुर्गति दुख विनाशक कहिये कृपाकर अब उसे ।।१०।।

दोहार्थ— चारों गतियों के दु:खों से सन्तप्त जीवों के चतुर्गति सम्बन्धी दु:ख का विनाश करने वाला जो कोई परमात्मा है, उसे आप कृपाकर कहिए ।

टीकार्थ— ***चउ-गइ-दुक्खहँ*** देवगति, मनुष्यगति, नरकगति, तिर्यंचगतियों के दु:खों से ***तत्ताहँ*** तप्तायमान (दुखी) संसारी जीवों के ***चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु*** चार गतियों के दु:खों का विनाश करने वाला ***जो कोइ परमप्पउ*** जो कोई चिदानंद परमात्मा है, ***सो वि*** उसको ***पसाएँ*** कृपा करके ***कहहु*** हे श्रीगुरु ! आप कहिये ।

वह चिदानन्द शुद्ध स्वभाव परमात्मा; आहार, भय, मैथुन, परिग्रह के भेदरूप संज्ञाओं आदि समस्त विभावों से रहित, तथा वीतराग निर्विकल्प समाधि के बल पर निज स्वभाव से उत्पन्न हुए परमानंद सुखामृत से संतुष्ट हुआ है हृदय जिनका, ऐसे निकट संसारी-जीवों के चतुर्गति का भ्रमण दूर करने वाला है; जन्म-जरा-मरणरूप दु:ख का नाशक है, तथा वह परमात्मा निज स्वरूप परमसमाधि में लीन महामुनियों को निर्वाण का देने वाला है, वही सब प्रकार से उपादेय है, ध्यान करने योग्य है; —ऐसे परमात्मा का स्वरूप आपके प्रसाद से मैं सुनना चाहता हूँ । इसलिये कृपाकर आप कहिए । —इसप्रकार प्रभाकरभट्ट ने श्रीयोगींदुदेव से विनती की है ।।१०।।

इसप्रकार तीन प्रकार के आत्मा के प्रतिपादक प्रथम महाधिकार में प्रभाकर-भट्ट की विज्ञप्तिरूप कथन की मुख्यता से तीन दोहे हुए ।

अथ प्रभाकरभट्टविज्ञापनानन्तरं श्रीयोगीन्द्रदेवास्त्रिविधात्मानं कथयन्ति—

पुणु पुणु पणविवि पंच-गुरु भावें चित्ति धरेवि ।
भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा तिविहु कहेवि ।।११।।

पुनः पुनः प्रणम्य पञ्चगुरून् भावेन चित्ते धृत्वा ।
भट्टप्रभाकर निशृणु त्वम् आत्मानं त्रिविधं कथयामि ।।११।।

पुणु पुणु पणविवि पंचगुरु भावें चित्ति धरेवि **पुनः पुनः प्रणम्य पञ्चगुरूनहम्। किं कृत्वा ? भावेन भक्तिपरिणामेन मनसि धृत्वा पश्चात् *भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा तिविहु कहेवि* हे प्रभाकरभट्ट ! निश्चयेन शृणु त्वं त्रिविधमात्मानं कथयाम्यहमिति। बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिविधात्मा भवति । अयं त्रिविधात्मा यथा त्वया पृष्टो**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हे प्रभाकरभट्ट तथा भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियाः परमात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दसुधारस-पिपासिता वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखभयभीता भव्यवरपुण्डरीका भरतसगररामपाण्डवश्रेणिकादयोऽपि वीतरागसर्वज्ञतीर्थकरपरमदेवानां समवसरणे सपरिवारा भक्तिभरनमितोत्तमाङ्गाःसन्तः सर्वागमप्रश्नानन्तरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्धात्मानं पृच्छन्तीति ।

अत्र त्रिविधात्मस्वरूपमध्ये शुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥११॥

आगे प्रभाकरभट्ट की विनती सुनकर श्रीयोगींदुदेव तीन प्रकार के आत्मा का स्वरूप कहते हैं—

मैं पंचगुरु को कर प्रणाम पुनः पुनः नित भाव से ।
मन बसा कहता त्रिविध आतम भट्ट! तुम सुनना उसे ॥११॥

दोहार्थ— पंचपरमेष्ठियों को बारम्बार नमस्कारकर, भावपूर्वक उन्हें मन में धारण कर, मैं तीन प्रकार के आत्मा कहता हूँ। हे प्रभाकरभट्ट! तुम उसे ध्यान पूर्वक सुनो ।

टीकार्थ— ***पुणु पुणु*** बारम्बार ***पंच-गुरु*** पंचपरमेष्ठियों को ***पणविवि*** नमस्कारकर और ***भावैं चित्ति धरेवि*** निर्मल भावों से मन में धारण करके, ***तिविहु*** मैं तीन प्रकार के ***अप्पा कहेवि*** आत्मा कहता हूँ, ***भट्टपहायर*** सो हे प्रभाकरभट्ट ! ***तुहुँ णिसुणि*** तुम निश्चय से सुनो ।

बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा के भेद से आत्मा तीन प्रकार का है, सो हे प्रभाकरभट्ट ! जैसा तुमने मुझसे पूछा है; उसीप्रकार से भव्यों में महाश्रेष्ठ भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती, रामचंद्रबलभद्र, पांडव तथा श्रेणिक आदि बड़े-बड़े राजा; जिनके मस्तक भक्ति-भार से नम्रीभूत हो गये हैं, महा विनयवाले परिवारसहित समवसरण में आकर, वीतराग-सर्वज्ञ परमदेव से सर्व आगम संबंधी प्रश्नकर, उसके बाद सब प्रकार से ध्यान करने योग्य शुद्धात्मा का ही स्वरूप पूछते थे । उसके उत्तर में भगवान ने यही कहा कि आत्म-ज्ञान के समान दूसरा कोई सार नहीं है।

भरतादि, बड़े-बड़े श्रोताओं में से भरतचक्रवर्ती ने श्रीऋषभदेव भगवान से पूछा, सगरचक्रवर्ती ने श्रीअजितनाथ से, रामचंद्रबलभद्र ने देशभूषण-कुलभूषण केवली से तथा सकलभूषण केवली से, पांडवों ने श्रीनेमिनाथ भगवान से और राजा श्रेणिक ने श्रीमहावीरस्वामी से पूछा ।

कैसे हैं ये श्रोता ? जिन्हें निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय की भावना प्रिय है, परमात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप अमृतरस के प्यासे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं; और वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो सुखरूपी अमृत; उससे विपरीत जो नारकादि चारों गतियों के दु:ख, उनसे भयभीत हैं; जिसप्रकार इन भव्य जीवों ने भगवान से पूछा, और भगवान ने तीन प्रकार के आत्मा का स्वरूप कहा, वैसे ही मैं जिनवाणी के अनुसार तुम्हारे लिए कहता हूँ।

सारांश यह हुआ कि तीन प्रकार आत्मा के स्वरूपों में से शुद्धात्मस्वरूप जो निज परमात्मा, वही ग्रहण करने योग्य है । मोक्ष का मूलकारण जो रत्नत्रय है, वह मैंने निश्चय-व्यवहार दोनों प्रकार से कहा है; उसमें अपने स्वरूप का श्रद्धान, स्वरूप का ज्ञान, और स्वरूप का ही आचरण—यह तो निश्चयरत्नत्रय है, इसी का दूसरा नाम अभेद रत्नत्रय भी है; और देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, नवतत्त्वों की श्रद्धा, आगम का ज्ञान तथा संयम भाव—ये व्यवहार रत्नत्रय हैं, इसी का नाम भेदरत्नत्रय है । इनमें से भेदरत्नत्रय तो साधन है और अभेदरत्नत्रय साध्य है ॥११॥

अथ त्रिविधात्मानं ज्ञात्वा बहिरात्मानं विहाय स्वसंवेदनज्ञानेन परं परमात्मानं भावय त्वमिति प्रतिपादयति—

अप्पा तिविहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ ।
मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्प-सहाउ ॥१२॥

आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु मूढं मुञ्च भावम् ।
मन्यस्व स्वज्ञानेन ज्ञानमयं यः परमात्मस्वभावः ॥१२॥

अप्पा तिविहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ **हे प्रभाकरभट्ट आत्मानं त्रिविधं मत्वा लघु शीघ्रं मूढं बहिरात्मस्वरूपं भावं परिणामं मुञ्च । *मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्पसहाउ* पश्चात् त्रिविधात्मपरिज्ञानानन्तरं मन्यस्व जानीहि । केन करणभूतेन ? अन्तरात्मलक्षणवीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन । कं जानीहि ? यं परमात्मस्वभावम्। किंविशिष्टम् ? ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तमिति ।**

अत्र योऽसौ स्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मा ज्ञातः स एवोपादेय इति भावार्थः ।

स्वसंवेदनज्ञाने वीतरागविशेषणं किमर्थमिति पूर्वपक्षः; परिहारमाह—विषयानुभवस्वरूप-स्वसंवेदनज्ञानं सरागमपि दृश्यते तन्निषेधार्थमित्यभिप्रायः ॥१२॥

आगे तीन प्रकार के आत्मा को जानकर, बहिरात्मपना छोड़ स्वसंवेदनज्ञान से तुम परम-परमात्मा का ध्यान करो; ऐसा कहते हैं—

अब त्रिविध आतम जान तुम बहिरात्मा को छोड़ दो ।
स्वज्ञान से बस ज्ञानमय परमात्मता को मान लो ॥१२॥

दोहार्थ— आत्मा को तीन प्रकार का मानकर तुम शीघ्र ही मूढ़भाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(बहिरात्मपने) को छोड़ दो; और जो ज्ञानमय परमात्मस्वभाव है, उसे अपने ज्ञान द्वारा स्वीकार करो ।

टीकार्थ— हे प्रभाकरभट्ट! तुम ***अप्पा तिविहु मुणेवि*** आत्मा को तीन प्रकार का जानकर ***मूढउ भाउ*** बहिरात्म स्वरूप भाव को ***लहु मेल्लहि*** शीघ्र ही छोड़ो, और ***जो परमप्प-सहाउ*** जो परमात्मा का स्वभाव है, उसे ***सण्णाणे मुणि णाणमउ*** स्वसंवेदनज्ञान से अन्तरात्मा होते हुए जानो । वह स्वभाव केवलज्ञान से परिपूर्ण है।

यहाँ वीतराग स्वसंवेदनज्ञान से जो परमात्मा जाना था, वही ध्यान करने योग्य है। यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया कि जो स्वसंवेदन अर्थात् अपने से अपने को अनुभवना है, इसमें वीतराग विशेषण क्यों कहा? क्योंकि जो स्वसंवेदनज्ञान होगा, वह तो रागरहित होगा ही ।

इसका समाधान करते हुए श्रीगुरू ने कहा कि विषयों के आस्वादन से भी उन वस्तुओं के स्वरूप का जानपना होता है, परन्तु वह रागभाव से दूषित है, इसलिये निजरस आस्वाद नहीं है; और वीतराग दशा में स्वरूप का जो यथार्थ ज्ञान होता है, वह आकुलता रहित होता है । तथा स्वसंवेदनज्ञान प्रथम अवस्था में चौथे-पाँचवें गुणस्थानवाले गृहस्थ के भी होता है, वहाँ पर सराग देखने में आता है, उस रागसहित अवस्था के निषेध के लिये 'वीतराग स्वसंवेदनज्ञान'—ऐसा कहा है । रागभाव है, वह कषायरूप है, इस कारण जब तक मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धीकषाय है, तब तक तो बहिरात्मा है, उसके तो स्वसंवेदनज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है ।

चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी का अभाव होने से सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परन्तु कषाय की तीन चौकड़ी शेष रहने से द्वितीया के चंद्रमा के समान, विशेष प्रकाश नहीं होता; और श्रावक के पाँचवें गुणस्थान में दो चौकड़ी का अभाव है, इसलिये रागभाव कुछ कम हुआ; वीतरागभाव बढ़ गया, इस कारण स्वसंवेदनज्ञान भी प्रबल हुआ, परन्तु दो चौकड़ी के रहने से मुनि के समान प्रकाश नहीं हुआ ।

मुनि के तीन चौकड़ी का अभाव है, इसलिये रागभाव तो निर्बल हो गया, तथा वीतरागभाव प्रबल हुआ, वहाँ पर स्वसंवेदनज्ञान का अधिक प्रकाश हुआ; परन्तु चौथी चौकड़ी शेष है, इसलिये छट्ठे गुणस्थानवाले मुनि सरागसंयमी हैं, वीतरागसंयमी के समान प्रकाश नहीं है । सातवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी मन्द

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हो जाती है, वहाँ पर आहार-विहार क्रिया नहीं होती, ध्यान में आरूढ़ रहते हैं, सातवें से छट्ठे गुणस्थान में आयें, तब वहाँ पर आहारादि क्रिया है; इसीप्रकार छट्ठा-सातवाँ करते रहते हैं, वहाँ पर अन्तर्मुहूर्तकाल है ।

आठवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी अत्यन्त मन्द हो जाती है, वहाँ रागभाव की अत्यन्त क्षीणता होती है, वीतरागभाव पुष्ट होता है, स्वसंवेदनज्ञान का विशेष प्रकाश होता है, श्रेणी माँड़ने से शुक्लध्यान उत्पन्न होता है । श्रेणी के दो भेद हैं—एक क्षपक, दूसरी उपशम; क्षपकश्रेणीवाले तो केवलज्ञान पाकर उसी भव से मुक्त हो जाते हैं, और उपशमवाले आठवें-नवमें-दशवें से ग्यारहवाँ स्पर्शकर बाद में गिर जाते हैं, सो कुछ भव भी धारण कर सकते हैं । क्षपकवाले आठवें से नवमें गुणस्थान को प्राप्त होते हैं, वहाँ अन्त में कषायों का सर्वथा नाश होता है, एक संज्वलनलोभ रह जाता है, अन्य सबका अभाव होने से वीतराग भाव अति प्रबल हो जाता है, इसलिये स्वसंवेदनज्ञान का बहुत अधिक प्रकाश होता है, परन्तु एक संज्वलनलोभ शेष रहने से वहाँ सरागचारित्र ही कहा जाता है ।

दशवें गुणस्थान के बाद सूक्ष्मलोभ भी नहीं रहता, तब मोह की अट्ठाईस प्रकृतियों के नष्ट हो जाने से वीतरागचारित्र की सिद्धि हो जाती है । दशवें से बारहवें में जाते हैं, ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते; वहाँ निर्मोह वीतरागी के शुक्लध्यान का दूसरा पाया (भेद) प्रगट होता है, यथाख्यातचारित्र हो जाता है । बारहवें के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय—इन तीनों का भी विनाश हो गया, मोह का नाश पहले हो ही चुका था, तब चारों घातियाकर्मों के नष्ट हो जाने से तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट होता है, वहाँ पर ही शुद्ध परमात्मा होते हैं, अर्थात् उनके ज्ञान का पूर्ण प्रकाश हो जाता है, निःकषाय हैं ।

चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो वह अन्तरात्मा है, उसके गुणस्थान के अनुसार उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शुद्धता है, और पूर्ण शुद्धता परमात्मा के है, यह सारांश समझना ॥१२॥

अथ त्रिविधात्मसंज्ञां बहिरात्मलक्षणं च कथयति—

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ॥१३॥

मूढो विचक्षणो ब्रह्मा परः आत्मा त्रिविधो भवति ।
देहमेव आत्मानं यो मनुते स जनो मूढो भवति ॥१३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ मूढो मिथ्यात्वरागादिपरिणतो बहिरात्मा, विचक्षणो वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतोऽन्तरात्मा, ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा । शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं कथ्यते— शुद्धो रागादिरहितो बुद्धोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहित इति शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । स च कथंभूतः ब्रह्मा । परमो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः । एवमात्मा त्रिविधो भवति । ***देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ*** वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसंजातसदानन्दैकसुखामृतस्वभावमलभमानः सन् देहमेवात्मानं यो मनुते जानाति स जनो लोको मूढात्मा भवति इति ।

अत्र बहिरात्मा हेयस्तदपेक्षया यद्यप्यन्तरात्मोपादेयस्तथापि सर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मापेक्षया स हेय इति तात्पर्यार्थः ॥१३॥

.....

तीन प्रकार के आत्मा के भेद हैं, उनमें से प्रथम बहिरात्मा का लक्षण कहते हैं—

बहिरात्म अन्तर परम आतम त्रिविध कहते आतमा ।
यह देह ही है आतमा जो मानता बहिरात्मा ॥१३॥

दोहार्थ— मूढ बहिरात्मा, विचक्षण अन्तरात्मा और ब्रह्म परमात्मा—इसप्रकार तीन प्रकार का आत्मा है । जो देह को ही आत्मा मानता है, वह प्राणी मूढ बहिरात्मा है ।

टीकार्थ— ***मूढु*** मिथ्यात्व-रागादिरूप परिणत हुआ बहिरात्मा, ***वियक्खणु*** वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणमन करता हुआ अन्तरात्मा ***बंभु परु*** और शुद्ध-बुद्ध स्वभाव परमात्मा अर्थात् रागादि रहित अनन्त ज्ञानादि सहित, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म रहित आत्मा—इसप्रकार ***अप्पा*** आत्मा ***तिविहु हवेइ*** तीन प्रकार का है, अर्थात् बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा—ये तीन भेद हैं । इनमें से ***जो*** जो ***देहु जि अप्पा मुणइ*** देह को ही आत्मा मानता है, ***सो जणु मूढु हवेइ*** वह प्राणी बहिरात्मा है, अर्थात् बहिर्मुख मिथ्यादृष्टि है ।

जो देह को आत्मा समझता है, वह वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुए परमानन्द सुखामृत को नहीं पाता हुआ मूर्ख है, अज्ञानी है ।

इन तीन प्रकार के आत्माओं में से बहिरात्मा तो त्याज्य ही है, आदर योग्य नहीं है । इसकी अपेक्षा यद्यपि अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि वह उपादेय है; तो भी सब प्रकार से उपादेय जो परमात्मा, उसकी अपेक्षा वह अन्तरात्मा भी हेय ही है; शुद्ध परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है—ऐसा जानना ॥१३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ परमसमाधिस्थितः सन् देहविभिन्नं ज्ञानमयं परमात्मानं योऽसौ जानाति सोऽन्तरात्मा भवतीति निरूपयति—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ ।
परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ।।१४।।

देहविभिन्नं ज्ञानमयं यः परमात्मानं पश्यति ।
परमसमाधिपरिस्थितः पण्डितः स एव भवति ।।१४।।

***देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ* अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन देहादभिन्नं निश्चयनयेन भिन्नं ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तं परमात्मानं योऽसौ जानाति *परमसमाहिपरिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ* वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकशुद्धात्मानुभूतिलक्षणपरमसमाधिस्थितः सन् पण्डितोऽन्तरात्मा विवेकी स एव भवति । *''कः पण्डितो विवेकी''**इति वचनात् इति। अन्तरात्मा हेयरूपो, योऽसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय इति भावार्थः ।।१४।।**

.....

आगे परमसमाधि में स्थित देह से भिन्न ज्ञानमयी (उपयोगमयी) आत्मा को जो जानता है, वह अन्तरात्मा है, ऐसा कहते हैं—

है देह से जो पृथक् ज्ञानमयी कहा परमातमा ।
उत्कट समाधि परिस्थित अनुभवे अन्तर आतमा ।।१४।।

दोहार्थ— जो परमात्मा को शरीर से भिन्न केवलज्ञानमय जानता है, वही परमसमाधि में परिस्थित पण्डित अर्थात् अन्तरात्मा है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो पुरुष ***परमप्पु*** परमात्मा को ***देह-विभिण्णउ*** शरीर से भिन्न ***णाणमउ*** केवलज्ञान से पूर्ण ***णिएइ*** जानता है, ***सो जि*** वही ***परम-समाहि-परिट्ठियउ*** परमसमाधि में परिस्थित ***पंडिउ*** अन्तरात्मा अर्थात् विवेकी ***हवेइ*** है ।

यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय से अर्थात् इस जीव को परवस्तु का सम्बन्ध अनादिकाल का मिथ्यारूप होने से, व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा देहमय है, तो भी निश्चयनय की अपेक्षा सर्वथा देहादि से भिन्न है, और केवलज्ञानमयी है —ऐसे निज शुद्धात्मा को वीतराग निर्विकल्प सहजानन्द शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप परमसमाधि में स्थित होता हुआ जानता है, वही विवेकी अन्तरात्मा कहलाता है । यह अन्तरात्मा भी हेय है; तथा जो वह परमात्मा कहा गया है, वह ही साक्षात् उपादेय है, वह परमात्मा ही सर्वथा आराधना करने योग्य है—ऐसा जानना ।।१४।।

---

* अमोघवर्ष, प्रश्नोत्तर रत्नमाला, प्रश्न ५ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ समस्तपरद्रव्यं मुक्त्वा केवलज्ञानमयकर्मरहितशुद्धात्मा येन लब्धः स परमात्मा भवतीति कथयति—

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्कैं जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ।।१५।।

आत्मा लब्धो ज्ञानमयः कर्मविमुक्तेन येन ।
मुक्त्वा सकलमपि द्रव्यं परं तं परं मन्यस्व मनसा ।।१५।।

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्मविमुक्कैं जेण **आत्मा लब्धः प्राप्तः । किं विशिष्टः ? ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः । कथंभूतेन सता ? ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म-भावकर्मरहितेन येन । किं कृत्वात्मा लब्धः ? *मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण* मुक्त्वा परित्यज्य । किम् ? परं द्रव्यं देहरागादिकं सकलं । कतिसंख्योपेतं समस्त-मपि ? तमित्थंभूतमात्मानं परं परमात्मानमिति मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । केन कृत्वा ? मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयस्वरूपादिसमस्तविभावपरिणामरहितेन मनसेति । अत्रोक्तलक्षणपरमात्मा उपादेयो ज्ञानावरणादिसमस्तविभावरूपं परद्रव्यं तु हेयमिति भावार्थः ।।१५।।**

एवंविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये संक्षेपेण त्रिविधात्मसूचनमुख्यतया सूत्रपञ्चकं गतम् ।

.....

आगे, सब परद्रव्यों को छोड़कर कर्मरहित होकर जिसने केवलज्ञानमय अपना स्वरूप पा लिया है, वही परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—

हो सर्व कर्म-विमुक्त जो बस ज्ञानमय निज आतमा ।
पा सर्व पर-त्यागी हुये तू मान वे परमातमा ।।१५।।

दोहार्थ— जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों का नाशकर, सम्पूर्ण परद्रव्यों को छोड़कर, केवलज्ञानमयी आत्मा प्राप्त किया है, उन्हें तुम शुद्ध मन से परमात्मा जानो ।

टीकार्थ— ***जेण*** जिसने ***कम्म-विमुक्कैं*** ज्ञानावरणादि कर्मों का नाशकर और ***सयलु वि*** सब देहादिक ***परु दव्वु*** परद्रव्यों को ***मेल्लिवि*** छोड़कर ***णाणमउ अप्पा लद्धउ*** केवलज्ञानमयी आत्मा पाया है, ***सो मणेण परु मुणहि*** उसे शुद्ध मन से परमात्मा जानो ।

जिसने देहादिक समस्त परद्रव्य को छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिक भावकर्म, शरीरादि नोकर्म—इन तीनों से रहित केवलज्ञानमयी अपने आत्मा को प्राप्त कर लिया है, ऐसे आत्मा को हे प्रभाकरभट्ट! तुम माया, मिथ्या, निदानरूप शल्य आदि समस्त विभाव (विकार) परिणामों से रहित निर्मल चित्त से परमात्मा जानो ।

ऐसा केवलज्ञानादि गुणोंवाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादि सभी विभावरूप परवस्तुयें त्यागने योग्य हैं—ऐसा समझना चाहिये ।।१५।।

इसप्रकार जिसमें तीन प्रकार के आत्मा का कथन है, ऐसे प्रथम महाधिकार में त्रिविध आत्मा के कथन की मुख्यता से तीसरे स्थल में पाँच दोहा-सूत्र कहे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तदनन्तरं मुक्तिगतकेवलज्ञानादिव्यक्तिरूपसिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्रदशकं प्रारभ्यते । तद्यथा—

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा हरिहरादिविशिष्टपुरुषा यं ध्यायन्ति तं परमात्मानं जानीहीति प्रतिपादयति—

तिहुयण-वंदिउ सिद्धि-गउ हरि-हर झायहिँ जो जि ।
लक्खु अलक्खेँ धरिवि थिरु मुणि परमप्पउ सो जि ।।१६।।

त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं हरिहरा ध्यायन्ति यमेव ।
लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा स्थिरं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ।।१६।।

तिहुयणवंदिउ सिद्धिगउ हरिहर झायहिँ जो जि त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं यं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं परमात्मानं हरिहरहिरण्यगर्भादयो ध्यायन्ति । किं कृत्वा पूर्वम्? *लक्खु अलक्खेँ धरिवि थिरु* लक्ष्यं संकल्परूपं चित्तम् । अलक्ष्येण वीतराग-निर्विकल्पनित्यानन्दैकस्वभावपरमात्मरूपेण धृत्वा । कथंभूतम् ? स्थिरं परीषहोपसर्गैरक्षुभितं *मुणि परमप्पउ सो जि* तमित्थंभूतं परमात्मानं हे प्रभाकरभट्ट मन्यस्व जानीहि भावयेत्यर्थः।

अत्र केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपमुक्तिगतपरमात्मसदृशो रागादिरहितः स्वशुद्धात्मा साक्षादुपादेय इति भावार्थः ।।१६।।

संकल्पविकल्पस्वरूपं कथ्यते । तद्यथा— बहिर्द्रव्यविषये पुत्रकलत्रादिचेतनाचेतनरूपे ममेदमिति स्वरूपः संकल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिचित्तगतो हर्षविषादादिपरिणामो विकल्प इति । एवं संकल्पविकल्पलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

.....

अब मुक्ति को प्राप्त हुए केवलज्ञानादिरूप सिद्ध परमात्मा के व्याख्यान की मुख्यता से दश दोहा-सूत्र कहते हैं । वह इसप्रकार —

उनमें से पाँच दोहों में, हरिहरादि बड़े पुरुष अपना मन स्थिरकर जिस परमात्मा का ध्यान करते हैं, उसी का तुम भी ध्यान करो, यह कहते हैं—

नित हरी हर ध्याते जिसे त्रैलोक्य वंदित सिद्धिगत ।
परमातमा का मन विरागी बना थिर हो ध्यान धर ।।१६।।

दोहार्थ— तीनलोक से वन्दित, सिद्धदशा को प्राप्त जिस परमात्मा का ध्यान इन्द्र, नारायण, रुद्र आदि भी करते हैं; तुम भी अपने मन को वीतरागी परमात्मा में स्थिरकर उसी परमात्मा को मानो ।

टीकार्थ— ***हरि-हर*** इन्द्र, नारायण और रुद्र आदि बड़े-बड़े पुरुष ***तिहुयण-वंदिउ*** तीन लोक से वंदनीय (त्रैलोक्यनाथ) और ***सिद्धि-गउ*** केवलज्ञानादि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

व्यक्तिरूप सिद्धपने को प्राप्त ***जो जि*** जिस परमात्मा का ही ***झायहिँ*** ध्यान करते हैं, ***लक्खु*** अपने मन को ***अलक्खैं*** वीतराग निर्विकल्प नित्यानन्द स्वभावी परमात्मा में ***थिरु धरिवि*** स्थिर करके ***सो जि*** उसी को हे प्रभाकरभट्ट! तुम ***परमप्पउ मुणि*** परमात्मा जानकर चिंतवन करो ।

सारांश यह है कि केवलज्ञानादिरूप उस परमात्मा के समान रागादि रहित अपने शुद्धात्मा को पहिचानो; वही साक्षात् उपादेय है, अन्य सब संकल्प-विकल्प त्यागने योग्य हैं ।।१६।।

अब, संकल्प-विकल्प का स्वरूप कहते हैं—

जो बाह्यवस्तु पुत्र, स्त्री, कुटुंब, बाँधव आदि सचेतन पदार्थ; तथा चाँदी, सोना, रत्न, मणि के आभूषण आदि अचेतन पदार्थ हैं; —इन सबको अपना मानना, ये मेरे हैं, ऐसे ममत्व परिणाम को संकल्प जानना । तथा मैं सुखी, मैं दु:खी इत्यादि हर्ष-विषादरूप परिणाम होना विकल्प है । —इसप्रकार संकल्प-विकल्प का स्वरूप जानना चाहिये ।

अथ नित्यनिरञ्जनज्ञानमयपरमानन्दस्वभावशान्तशिवस्वरूपं दर्शयन्नाह—

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंदसहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ।।१७।।

नित्यो निरञ्जनो ज्ञानमय: परमानन्दस्वभाव: ।
य ईदृश: स शान्त: शिव: तस्य मन्यस्व भावम् ।।१७।।

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंदसहाउ **द्रव्यार्थिकनयेन नित्योऽविनश्वर:, रागादिकर्ममलरूपाञ्जनरहितत्वान्निरञ्जन:, केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमय:, शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागानन्दपरिणतत्वात्परमानन्दस्वभाव: *जो एहउ सो संतु सिउ* य इत्थंभूत: स शान्त: शिवो भवति हे प्रभाकरभट्ट *तासु मुणिज्जहि भाउ* तस्य वीतरागत्वात् शान्तस्य परमानन्दसुखमयत्वात् शिवस्वरूपस्य त्वं जानीहि भावय । कं भावय ? शुद्धबुद्धैकस्वभावमित्यभिप्राय: ।।१७।।**

आगे नित्य, निरंजन, ज्ञानमयी, परमानंदस्वभाव, शांत और शिवस्वरूप का वर्णन करते हैं—

जो नित्य अंजन रहित ज्ञानानन्द परम स्वभावमय ।
हैं ही उसे ही शान्त शिवमय मान और स्वभावमय ।।१७।।

दोहार्थ— नित्य, निरंजन, ज्ञानमय, परमानन्द स्वभाव—ऐसा जो है, वही शान्त, शिव है, उसी का भाव/शुद्ध-बुद्ध स्वभाव तुम मानो ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***णिच्चु*** द्रव्यार्थिकनय से अविनाशी ***णिरंजणु*** रागादिक उपाधि से रहित अथवा कर्ममलरूपी अंजन से रहित, ***णाणमउ*** केवलज्ञान से परिपूर्ण और ***परमाणंदसहाउ*** शुद्धात्म-भावना से उत्पन्न हुए वीतराग परमानंद रूप से परिणत है; ***जो एहउ*** जो ऐसा है, ***सो*** वही ***संतु सिउ*** शांतरूप और शिवस्वरूप है। ***तासु*** उसी परमात्मा का ***भाउ*** शुद्ध-बुद्ध स्वभाव, हे प्रभाकरभट्ट! तुम ***मुणिज्जहि*** जानो अर्थात् ध्यान करो ॥१७॥

पुनश्च किंविशिष्टो भवति—

जो णियभाउ ण परिहरइ जो परभाउ णं लेइ ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ॥१८॥

यो निजभावं न परिहरति यः परभावं न लाति ।
जानाति सकलमपि नित्यं परं स शिवः शान्तो भवति ॥१८॥

यः कर्ता निजभावमनन्तज्ञानादिस्वभावं न परिहरति यश्च परभावं कामक्रोधादिरूपमात्मरूपतया न गृह्णाति । पुनरपि कथंभूतः ? जानाति सर्वमपि जगत्त्रयकालत्रयवर्तिवस्तुस्वभावं न केवलं जानाति द्रव्यार्थिकनयेन नित्य एव अथवा नित्यं सर्वकालमेव जानाति परं नियमेन । स इत्थंभूतः शिवो भवति शान्तश्च भवतीति । किं च अयमेव जीवः मुक्तावस्थायां व्यक्तिरूपेण शान्तः शिवसंज्ञां लभते संसारावस्थायां तु शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शक्तिरूपेणेति । तथा चोक्तम्—

''परमार्थनयाय सदा शिवाय नमोऽस्तु ।''

पुनश्चोक्तम्—

''शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयम् ।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥''

अन्यः कोऽप्येको जगत्कर्ता व्यापी सदा मुक्तः शान्तः शिवोऽस्तीत्येवं न । अत्रायमेव शान्तशिवसंज्ञः शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥१८॥

आगे फिर उसी परमात्मा का कथन करते हैं—

निज भाव को ना छोड़ता परभाव ना लेता कभी ।
पर जानता सम्पूर्ण को शिव शान्त शाश्वत है वही ॥१८॥

दोहार्थ— जो अनन्तज्ञानादिरूप निज भाव को कभी छोड़ता नहीं है, काम-क्रोधादि पर भावों को कभी ग्रहण नहीं करता, समस्त ही पदार्थों को मात्र सदा जानता है; वही शिव, शान्त स्वरूप है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जो णियभाउ ण परिहरइ*** जो अनंतज्ञानादिरूप अपने भावों को कभी नहीं छोड़ता और ***जो परभाउ ण लेइ*** जो कामक्रोधादिरूप परभावों को कभी ग्रहण नहीं करता है । ***सयलु वि*** तीन लोक, तीन कालवर्ती सब पदार्थों को ***पर*** केवल ***णिच्चु*** हमेशा ***जाणइ*** जानता है, ***सो*** वही ***सिउ*** शिवस्वरूप तथा ***संतु*** शांत स्वरूप ***हवेइ*** है ।

संसार अवस्था में शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सभी जीव शक्तिरूप से परमात्मा हैं, व्यक्तिरूप से नहीं हैं । ऐसा कथन अन्य ग्रन्थों में भी किया है—

''शिवमित्यादि'' अर्थात् 'परमकल्याणरूप, निर्वाणरूप, महाशांत, अविनश्वर ऐसे मुक्ति-पद को जिसने पा लिया है, वही शिव है ।'' नैयायिकों का तथा वैशेषिक आदि का माना हुआ अन्य कोई, एक जगत्कर्ता सर्वव्यापी, सदा मुक्त, शांत, शिवरूप नहीं है । यह शुद्धात्मा ही शांत है, शिव है, उपादेय है ।।१८।।

अथ पूर्वोक्तं निरञ्जनस्वरूपं सूत्रत्रयेण व्यक्तीकरोति—

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ।।१९।।

जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ।।२०।।

अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ।।२१।। *।।तियलं।।*

यस्य न वर्णो न गन्धो रसः यस्य न शब्दो न स्पर्शः ।
यस्य न जन्म मरणं नापि नाम निरञ्जनस्तस्य ।।१९।।

यस्य न क्रोधो न मोहो मदः यस्य न माया न मानः ।
यस्य न स्थानं न ध्यानं जीव तमेव निरञ्जनं जानीहि ।।२०।।

अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य अस्ति न हर्षो विषादः ।
अस्ति न एकोऽपि दोषो यस्य स एव निरञ्जनो भावः ।।२१।।त्रिकलम्।।

यस्य मुक्तात्मनः शुक्लकृष्णरक्तपीतनीलरूपपञ्चप्रकारवर्णो नास्ति, सुरभिदुरभिरूपो द्विप्रकारो गन्धो नास्ति, कटुकतीक्ष्णमधुराम्लकषायरूपः पञ्चप्रकारो रसो नास्ति, भाषात्मकाभाषात्मकादिभेदभिन्नः शब्दो नास्ति, शीतोष्णस्निग्धरूक्षगुरुलघुमृदुकठिनरूपोऽष्ट-प्रकारः स्पर्शो नास्ति, पुनश्च यस्य जन्म मरणमपिनैवास्ति तस्य चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो निरञ्जनसंज्ञा लभते ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुनश्च किंरूपः स निरञ्जनः? यस्य न विद्यते । किं किं न विद्यते ? क्रोधो मोहो विज्ञानाद्यष्टविधमदभेदो यस्यैव मायामानकषायो यस्यैव नाभिहृदयललाटादिध्यानस्थानानि चित्तनिरोधलक्षणध्यानमपि यस्य न तमित्थंभूतं स्वशुद्धात्मानं हे जीव निरञ्जनं जानीहि। ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपसमस्तविभावपरिणामान् त्यक्त्वा स्वशुद्धात्मानुभूति-लक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः ।

पुनरपि किंस्वभावः स निरञ्जनः ? यस्यास्ति न। किं किं नास्ति ? द्रव्यभाव रूपं पुण्यं* पापं च। पुनरपि किं नास्ति ? रागरूपो हर्षो द्वेषरूपो विषादश्च। पुनश्च किं नास्ति? क्षुधाद्यष्टादशदोषेषु मध्ये चैकोऽपि दोषः। स एव शुद्धात्मा निरञ्जन इति हे प्रभाकरभट्ट त्वं जानीहि। स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ-स्थित्वानुभवेत्यर्थः।

किं च— एवंभूतसूत्रत्रयव्याख्यातलक्षणो निरञ्जनो ज्ञातव्यो न चान्यः कोऽपि निरञ्जनोऽस्ति परकल्पितः। अत्र सूत्रत्रयेऽपि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योऽसौ निरञ्जनो व्याख्यातः स एवोपादेय इति भावार्थ ॥१९-२१॥

.....

आगे, पहले कहे हुए निरंजनस्वरूप को तीन दोहा-सूत्रों से प्रगट करते हैं—

जिसके नहीं है वर्ण रस ना गंध ना स्पर्श ना ।
ना शब्द जानो निरंजन जिसके जनम ना मरण ना ॥१९॥

जिसके न क्रोध न मोह मद ना मान माया है नहीं ।
स्थान भी ना ध्यान ना जानो निरंजन है वही ॥२०॥

जिसके नहीं है पुण्य ना ही पाप हर्ष विषाद ना ।
वह ही निरंजन भाव जिसमें दोष होते रंच ना ॥२१॥

दोहार्थ— जिसके वर्ण नहीं है, गंध नहीं है, रस नहीं है, जिसके शब्द नहीं है, स्पर्श नहीं है, जिसके जन्म नहीं है, मरण नहीं है; उसका नाम निरंजन है ।

जिसके क्रोध नहीं है, मोह नहीं है, मद नहीं है, जिसके माया नहीं है, मान नहीं है, जिसके स्थान नहीं है, जिसके ध्यान नहीं है; हे जीव ! उसे ही निरंजन जानो।

जिसके पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, जिसके हर्ष नहीं है, विषाद नहीं है, जिसके एक भी दोष नहीं है; वही निरंजन भाव है ।

---

* पुण्यं पापं च = पुण्यपापं च ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जासु*** जिस भगवान के ***वण्णु*** सफेद, काला, लाल, पीला, नीलास्वरूप पाँच प्रकार के वर्ण ***ण*** नहीं हैं; ***गंधु रसु*** सुगन्ध, दुर्गन्धरूप दो प्रकार की गन्ध ***ण*** नहीं हैं; मधुर, आम्ल (खट्टा), तिक्त, कटु, कषाय (क्षार) रूप पाँच रस नहीं हैं; ***जासु*** जिसके ***सद्दु ण*** भाषा, अभाषारूप शब्द नहीं हैं; अथवा सचित्त, अचित्त, मिश्ररूप कोई शब्द नहीं हैं; सात स्वर नहीं है; ***फासु ण*** शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु, कठिनरूप आठ प्रकार के स्पर्श नहीं हैं; और ***जासु*** जिसके ***जम्मणु ण*** जन्म-जरा नहीं हैं; ***मरणु णवि*** तथा मरण भी नहीं है; ***तासु*** उसी चिदानन्द शुद्धस्वभाव परमात्मा की ***णिरंजणु णाउ*** निरंजन संज्ञा है, अर्थात् ऐसे परमात्मा को ही निरंजनदेव कहते हैं ।

वह निरंजनदेव और कैसा है? — ***जासु*** जिसके ***कोहु ण*** क्रोध/गुस्सा नहीं है, ***मोहु मउ ण*** मोह तथा कुल जाति आदि आठ प्रकार का अभिमान नहीं है, ***जासु माय ण माणु ण*** जिसके माया व मान कषाय नहीं है; और ***जासु*** जिसके ***ठाणु ण*** ध्यान के स्थान नाभि, हृदय, मस्तक आदि नहीं हैं; ***झाणु ण*** चित्त को रोकने रूप ध्यान नहीं है, अर्थात् जब चित्त ही नहीं है, तो रोकना किसका हो; ***जिय सो जि*** ऐसे निजशुद्धात्मा को हे जीव! ***णिरंजणु जाणु*** तुम निरंजन जानो ।

सारांश यह है कि अपनी प्रसिद्धी (बड़ाई), महिमा, अपूर्व वस्तु का मिलना, और देखे-सुने हुए भोगों की इच्छारूप सब विभाव परिणामों को छोड़कर अपने शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप निर्विकल्प समाधि में लीन होकर उस शुद्धात्मा का अनुभव करो ।

पुनः वह निरंजन कैसा है?— ***जासु*** जिसके द्रव्य भावरूप ***पुण्णु ण पाउ ण अत्थि*** पुण्य तथा पाप नहीं हैं, ***हरिसु विसाउ ण*** राग-द्वेषरूप हर्ष/खुशी व विषाद/रंज नहीं है, ***जासु*** और जिसके ***एक्कु वि दोसु*** क्षुधा (भूख) आदि दोषों में से एक भी दोष नहीं हैं, ***सो जि*** वही शुद्धात्मा ***णिरंजणु*** निरंजन है, ऐसा तुम ***भाउ*** जानो ।

ऐसे निज शुद्धात्मा का उसके परिज्ञानरूप वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर तुम अनुभव करो ।

इसप्रकार तीन दोहों में जिसका स्वरूप कहा गया है, उसे ही निरंजन जानो, अन्य कोई भी परिकल्पित निरंजन नहीं है । इन तीनों दोहों में जो निर्मल ज्ञान-दर्शनस्वभाववाला निरंजन कहा गया है, वही उपादेय है ॥१९-२१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ धारणाध्येययन्त्रमन्त्रमण्डलमुद्रादिकं व्यवहारध्यानविषयं मन्त्रवादशास्त्रकथितं यत्तन्निर्दोषपरमात्माराधनाध्याने निषेधयन्ति—

जासु ण धारणु धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु ।
जासु ण मंडलु मुद्द ण वि सो मुणि देउँ अणंतु ॥२२॥

यस्य न धारणा ध्येयं नापि यस्य न यन्त्रं न मन्त्रः ।
यस्य न मण्डलं मुद्रा नापि तं मन्यस्व देवमनन्तम् ॥२२॥

यस्य परमात्मनो नास्ति न विद्यते । किं किम् ? कुम्भकरेचकपूरकसंज्ञावायुधारणादिकप्रतिमादिकं ध्येयमिति । पुनरपि किं तस्य ? अक्षररचनाविन्यासरूपस्तम्भनमोहनादिविषयं यन्त्रस्वरूपं विविधाक्षरोच्चारणरूपं मन्त्रस्वरूपं च अप्मण्डलवायुमण्डलपृथ्वीमण्डलादिकं गारुडमुद्राज्ञानमुद्रादिकं च यस्य नास्ति तं परमात्मानं देवमाराध्यं द्रव्यार्थिकनयेनानन्तमविनश्वरमनन्तज्ञानादिगुणस्वभावं च मन्यस्व जानीहि । अतीन्द्रियसुखास्वादविपरीतस्य जिह्वेन्द्रियविषयस्य निर्मोहशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलस्य मोहस्य वीतरागसहजानन्दपरमसमरसीभावसुखरसानुभवप्रतिपक्षस्य नवप्रकाराब्रह्मव्रतस्य वीतरागनिर्विकल्पसमाधिघातकस्य मनोगतसंकल्पविकल्पजालस्य च विजयं कृत्वा हे प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मानमनुभवेत्यर्थः। तथा चोक्तम्—

''अक्खाण रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभं च ।
गुत्तीसु य मणगुत्ती चउरो दुक्खेहिं सिज्झंति॥''॥२२॥

आगे धारणा, ध्येय, यंत्र, मंत्र, मंडल, मुद्रा आदि व्यवहारध्यान के विषय मंत्रवाद शास्त्र में कहे गये हैं, उन सबका निर्दोष परमात्मा की आराधनारूप ध्यान में निषेध किया है—

जिसके नहीं है धारणा ना ध्येय यंत्र न मंत्र ना ।
मंडल नहीं मुद्रा नहीं हैं अन्त बिन जिन जानना ॥२२॥

दोहार्थ— जिसके धारणा नहीं है, ध्येय भी नहीं है, जिसके यंत्र भी नहीं है, मंत्र भी नहीं है, जिसके मंडल नहीं है, मुद्रा भी नहीं है; उसे अनन्त देव मानो।

टीकार्थ— ***जासु*** जिस परमात्मा के ***धारणु ण*** कुंभक, पूरक, रेचक नामवाली वायुधारणादि नहीं हैं; ***धेउ ण वि*** प्रतिमा आदि ध्यान करने योग्य पदार्थ भी नहीं हैं; ***जासु*** जिसके ***जंतु ण*** अक्षरों की रचनारूप स्तंभन, मोहनादि विषयक यंत्र नहीं हैं; ***मंतु ण*** अनेक प्रकार के अक्षरों के बोलनेरूप मंत्र नहीं हैं; ***जासु*** और जिसके ***मंडलु ण*** जलमंडल, वायुमंडल, अग्निमंडल, पृथ्वीमंडलादि पवन के भेद नहीं हैं;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मुद्द ण गारुडमुद्रा, ज्ञानमुद्रा आदि मुद्रा नहीं हैं; ***सो*** उसे ***अणंतु*** द्रव्यार्थिकनय से अविनाशी तथा अनन्त ज्ञानादिगुणरूप ***देउँ मुणि*** परमात्मदेव जानो।

अतीन्द्रिय आत्मीक-सुख के आस्वाद से विपरीत जिह्वाइन्द्रिय के विषय (रस) को जीतकर, निर्मोह शुद्ध स्वभाव से विपरीत मोहभाव को छोड़कर और वीतराग सहज आनन्द परम समरसीभाव सुखरूपी रस के अनुभव का शत्रु जो नौ प्रकार का कुशील, उसको तथा निर्विकल्पसमाधि के घातक मन के संकल्प-विकल्पों को त्यागकर हे प्रभाकरभट्ट ! तुम शुद्धात्मा का अनुभव करो । ऐसा ही दूसरी जगह भी कहा है—

''अक्खाणेति'' इसका आशय इसप्रकार है कि ''इन्द्रियों में जीभ प्रबल होती है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में मोह कर्म बलवान होता है, पाँच महाव्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रबल है और तीन गुप्तियों में से मनोगुप्ति पालना कठिन है। —ये चार बातें कठिनता से सिद्ध होती हैं ।'' ॥२२॥

अथ वेदशास्त्रेन्द्रियादिपरद्रव्यालम्बनाविषयं च वीतरागनिर्विकल्पसमाधिविषयं च परमात्मानं प्रतिपादयन्ति—

वेयहिँ सत्थहिँ इंदियहिँ जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मल-झाणहँ जो विसउ सो परमप्पु अणाइ ॥२३॥

वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियैः यो जीव मन्तुं न याति ।
निर्मलध्यानस्य यो विषयः स परमात्मा अनादिः ॥२३॥

वेदशास्त्रैरिन्द्रियैः कृत्वा योऽसौ मन्तुं ज्ञातुं न याति । पुनश्च कथंभूतो यः? मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाभिधानपञ्चप्रत्ययरहितस्य निर्मलस्य स्वशुद्धात्मसंवित्तिसंजात-नित्यानन्दैकसुखामृतास्वादपरिणतस्य ध्यानस्य विषयः । पुनरपि कथंभूतो यः ? अनादिः स परमात्मा भवतीति हे जीव जानीहि। तथा चोक्तम्—

''अन्यथा वेदपाण्डित्यं शास्त्रपाण्डित्यमन्यथा ।
अन्यथा परमं तत्त्वं लोकाः क्लिश्यन्ति चान्यथा ॥''

अत्रार्थभूत एवं* शुद्धात्मोपादेयो अन्यद्धेयमिति भावार्थः ॥२३॥

आगे वेद, शास्त्र, इंद्रियादि परद्रव्यों के अगोचर और वीतराग निर्विकल्प समाधि के गोचर (प्रत्यक्ष) परमात्मा का स्वरूप कहते हैं—

✡ पाठान्तर - एवं = एव ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो वेद इन्द्रिय शास्त्र से भी ज्ञात होता है नहीं ।
बस विषय निर्मल-ध्यान का ना आदि परमातम वही ।।२३।।

दोहार्थ— हे जीव ! जो वेद, शास्त्र और इन्द्रिय आदि परद्रव्य के आलम्बन द्वारा ज्ञात नहीं होता है; तथा वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप निर्मलध्यान का विषय है, वही अनादि परमात्मा है ।

टीकार्थ— ***वेयहिँ*** केवली की दिव्यवाणी से, ***सत्थहिँ*** महामुनियों के वचनों से तथा ***इंदियहँ*** इन्द्रिय और मन से भी ***जो जिय*** जो शुद्धात्मा ***मुणहु*** जाना ***ण जाइ*** नहीं जाता है; अर्थात् वेद, शास्त्र—ये दोनों शब्द स्वरूप हैं, आत्मा शब्दातीत है; तथा इन्द्रिय, मन विकल्परूप हैं, और मूर्तिक पदार्थ को जानते हैं; आत्मा निर्विकल्प है, अमूर्तिक है; इसलिये इन तीनों से नहीं जान सकते । ***जो*** जो आत्मा ***णिम्मल-झाणहँ*** निर्मल ध्यान के ***विसउ*** गम्य है, ***सो*** वही ***अणाइ*** आदि-अन्त रहित ***परमप्पु*** परमात्मा है; अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग—इन पाँच प्रकार के आस्रवों से रहित निर्मल निज शुद्धात्मा के ज्ञान से उत्पन्न हुए नित्यानन्द सुखामृत का आस्वाद, उस स्वरूप परिणत निर्विकल्प अपने स्वरूप के ध्यान से स्वरूप की प्राप्ति है । आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्रगम्य नहीं है; क्योंकि जिनको शास्त्र सुनने से ध्यान की सिद्धि हो जाये, वे ही आत्मा का अनुभव कर सकते हैं; जिन्होंने पाया, उन्होंने ध्यान से ही पाया है, शास्त्र सुनना तो ध्यान का उपाय है; —ऐसा समझकर अनादि-अनन्त चिद्रूप में अपना परिणाम लगाओ।

दूसरी जगह भी ''अन्यथा'' —इत्यादि कहा है । उसका भावार्थ यह है कि ''वेद, शास्त्र तो अन्य प्रकार ही हैं, नय-प्रमाणरूप हैं, तथा ज्ञान की पंडिताई कुछ और ही है; आत्मा निर्विकल्प है, नय-प्रमाण-निक्षेप से रहित है; वह परमतत्त्व तो केवल आनन्दरूप है; और ये लोक अन्य ही मार्ग में लगे हुए हैं, सो वृथा क्लेश कर रहे हैं ।''

यहाँ अर्थरूप शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब त्यागने योग्य हैं, यह सारांश समझना ।।२३।।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।।
।। मोक्षपाहुड़, गाथा १०५।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप—ये चारों आराधनायें आत्मा की ही चेष्टायें/दशायें हैं; अतः मुझे आत्मा ही शरण है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ योऽसौ वेदादिविषयी न भवति परमात्मा समाधिविषयी भवति पुनरपि तस्यैव स्वरूपं व्यक्तं करोति—

केवल-दंसण-णाणमउ केवल-सुक्ख-सहाउ ।
केवल-वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ ॥२४॥

केवलदर्शनज्ञानमयः केवलसुखस्वभावः ।
केवलवीर्यस्तं मन्यस्व य एव परापरो भावः ॥२४॥

केवलोऽसहायः ज्ञानदर्शनाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः केवलानन्दसुखस्वभावः केवलानन्तवीर्यस्वभाव इति यस्तमात्मानं मन्यस्व जानीहि । पुनश्च कथंभूतः य एव? यः परापरः परेभ्योऽर्हत्परमेष्ठिभ्यः पर उत्कृष्टो मुक्तिगतः शुद्धात्मा भावः पदार्थः स एव सर्वप्रकारेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥२४॥

.....

आगे कहते हैं कि जो परमात्मा वेद-शास्त्रगम्य तथा इंद्रियगम्य नहीं, केवल परमसमाधिरूप निर्विकल्पध्यान से ही गम्य है, इसलिये उसी का स्वरूप कहते हैं—

जो ज्ञानदर्शनमयी केवल सुखस्वभावी है सदा ।
है वीर्य केवलमयी सर्वोत्कृष्ट वस्तु जानना ॥२४॥

दोहार्थ— जो केवलदर्शन, केवलज्ञानमय, केवलसुखस्वभावी, केवलवीर्यमय है, उसे ही सर्वोत्कृष्ट शुद्धात्म-पदार्थ मानो ।

टीकार्थ— ***जो*** जो ***केवल-दंसण-णाणमउ*** केवलज्ञान-केवलदर्शनमयी है, अर्थात् जिसके परवस्तु का आश्रय (सहायता) नहीं, आप ही सब बातों में परिपूर्ण, ऐसे ज्ञान-दर्शनवाला है, जिसका ***केवल-सुक्ख-सहाउ*** केवलसुखस्वभाव है, और जो ***केवल-वीरिउ*** अनंतवीर्यवाला है, ***सो जि*** वही ***परावरु भाउ*** उत्कृष्ट अर्हंतपरमेष्ठी से भी अधिक स्वभाववाला सिद्धरूप शुद्धात्मा है; ***मुणहि*** ऐसा मानो।

परमात्मा के दो भेद हैं; पहला सकलपरमात्मा, दूसरा निष्कलपरमात्मा; उनमें से कल अर्थात् शरीर सहित तो अरहंत भगवान हैं; वे साकार हैं; और जिनके शरीर नहीं, ऐसे निष्कलपरमात्मा निराकारस्वरूप सिद्धपरमेष्ठी हैं, वे सकल परमात्मा से भी उत्तम हैं, वही सिद्धरूप शुद्धात्मा ध्यान करने योग्य है ॥२४॥

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण ।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥ *—मोक्ष.पा.,गा.७*

जिनवरेन्द्रों ने उपदेश दिया है कि तीन प्रकार से/पूर्णतया बहिरात्मा को छोड़कर, अन्तरात्मा का आश्रय लेकर, परमात्मा का ध्यान करो।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ ''त्रिभुवनवन्दित'' इत्यादिलक्षणैर्युक्तो योऽसौ शुद्धात्मा भणितः स लोकाग्रे तिष्ठतीति कथयति—

एयहिँ जुत्तउ लक्खणहिँ जो परु णिक्कलु देउ ।
सो तहिँ णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहँ झेउ ॥२५॥

एतैर्युक्तो लक्षणैः यः परो निष्कलो देवः ।
स तत्र निवसति परमपदे यः त्रैलोक्यस्य ध्येयः ॥२५॥

एतैस्त्रिभुवनवन्दितादिलक्षणैः पूर्वोक्तैर्युक्तो यः। पुनश्च कथंभूतो यः ? परः परमात्मस्वभावः । पुनरपि किंविशिष्टः ? निष्कलः पञ्चविधशरीररहितः । पुनरपि किंविशिष्टः ? देवैस्त्रिभुवनाराध्यः स एव परमपदे मोक्षे निवसति । यत्पदं कथंभूतम्? त्रैलोक्यस्यावसानमिति । अत्र तदेव मुक्तजीवसदृशं स्वशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥२५॥

एवं त्रिविधात्मकथनप्रथममहाधिकारमध्ये मुक्तिगतसिद्धजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन दोहकसूत्रदशकं गतम् ।

.....

आगे तीन लोक द्वारा वंदना करने योग्य पूर्व में कहे हुए लक्षणों सहित जो शुद्धात्मा कहा गया है, वही लोक के अग्र में रहता है, यही कहते हैं—

पूर्वोक्त लक्षण युक्त जो उत्कृष्ट निष्कल देवता ।
त्रैलोक्य का वह ध्येय रहता परम पद में है सदा ॥२५॥

दोहार्थ— इन पूर्वोक्त लक्षणों से सहित जो सर्वोत्कृष्ट निष्कल देव है, जो तीन लोक का ध्येय है, वह वहाँ परम पद में निवास करता है ।

टीकार्थ— ***एयहिँ लक्खणहिँ*** 'तीन भुवन से वंदित' इत्यादि जो लक्षण कहे थे, उन लक्षणों से ***जुत्तउ*** सहित, ***परु*** सबसे उत्कृष्ट ***णिक्कलु*** औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण—ये पाँच शरीर जिसके नहीं हैं, अर्थात् निराकार है, ***देउ*** तीन लोक से आराधित जगत का देव है, ***जो*** ऐसा जो परमात्मा सिद्ध है, ***सो*** वही ***तहिँ परम-पइ*** उस लोक के शिखर पर ***णिवसइ*** विराजमान है, ***जो*** जो कि ***तइलोयहँ*** तीन लोक का ***झेउ*** ध्येय है ।

यहाँ पर जो सिद्धपरमेष्ठी का व्याख्यान किया है, उन्हीं के समान अपना भी स्वरूप है, वही उपादेय (ध्यान करने योग्य) है; जो सिद्धालय है, वह देहालय है, अर्थात् जैसा सिद्धलोक में विराज रहा है, वैसा ही हंस (आत्मा) इस घट (देह) में विराजमान है ॥२५॥

इसप्रकार जिसमें तीन प्रकार के आत्मा का कथन है, ऐसे प्रथम महाधिकार में मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्धपरमात्मा के व्याख्यान की मुख्यता से चौथे स्थल में दश दोहा कहे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत ऊर्ध्वं प्रक्षेपपञ्चकमन्त[1]र्भावचतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं यादृशो व्यक्तिरूपः परमात्मा मुक्तौ तिष्ठति तादृशः शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण देहेऽपि तिष्ठतीति कथयन्ति । तद्यथा—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिँ णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहँ मं करि भेउ ॥२६॥

यादृशो निर्मलो ज्ञानमयः सिद्धौ निवसति देवः ।
तादृशो निवसति ब्रह्मा परः देहे मा कुरु भेदम् ॥२६॥

यादृशः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः, निर्मलो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितः, ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणपरिणतः सिद्धो मुक्तो मुक्तौ निवसति तिष्ठति देवः परमाराध्यः । तादृशः पूर्वोक्तलक्षणसदृशः निवसति तिष्ठति ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा पर उत्कृष्टः । क्व निवसति ? देहे । केन ? शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन । कथंभूतेन ? शक्तिरूपेण हे प्रभाकरभट्ट भेदं मा कार्षीस्त्वमिति । तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः मोक्षप्राभृते—

''णमिएहिं जं णमिज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥''[2]

अत्र स एव परमात्मोपादेय इति भावार्थः ॥२६॥

आगे पाँच क्षेपक मिले हुए चौबीस दोहों में जैसा प्रगटरूप परमात्मा मुक्ति में है, वैसा ही शुद्धनिश्चयनय से देह में भी शक्तिरूप है, ऐसा कहते हैं—

ज्यों रहे निर्मल ज्ञानमय भगवान मुक्ति में अहो ।
त्यों रहे तन में परम ब्रह्मा अतः भेद नहीं करो ॥२६॥

दोहार्थ— जैसा निर्मल ज्ञानमय देव सिद्ध में निवास करता है, वैसा ही परब्रह्म देह में निवास करता है; अतः दोनों में भेद मत करो ।

टीकार्थ— ***जेहउ*** जैसा केवलज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार ***णिम्मलु*** उपाधि रहित भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरूप मल से रहित ***णाणमउ*** केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप सिद्धपरमेष्ठी ***देउ*** देवाधिदेव परम आराध्य ***सिद्धिहिँ*** मुक्ति में ***णिवसइ*** रहता है, ***तेहउ*** वैसा ही सब लक्षणों सहित ***परु बंभु*** परब्रह्म, शुद्ध,

---

१. पाठान्तर - र्भाव = र्भूत ।

२. अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़, गाथा १०३ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बुद्ध, एक स्वभाव परमात्मा, उत्कृष्ट शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से शक्तिरूप परमात्मा, ***देहहँ*** शरीर में ***णिवसइ*** रहता है, इसलिये हे प्रभाकरभट्ट ! तुम ***भेउ*** सिद्ध भगवान में और अपने में भेद ***मं करि*** मत करो ।

ऐसा ही मोक्षपाहुड़ में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है ***''णमिएहिं''*** इत्यादि—

इसका अभिप्राय यह है कि ''जो नमस्कार योग्य महापुरुषों से भी नमस्कार करने योग्य है, स्तुति करने योग्य सत्पुरुषों से स्तुति किया गया है और ध्यान करने योग्य आचार्यपरमेष्ठी आदि द्वारा भी ध्यान किया गया है—ऐसा जीव नामक पदार्थ इस देह में रहता है, उसको तुम परमात्मा जानो ।''

वही परमात्मा उपादेय है ॥२६॥

अथ येन शुद्धात्मना स्वसंवेदनज्ञानचक्षुषावलोकितेन पूर्वकृतकर्माणि नश्यन्ति तं किं न जानासि त्वं हे योगिन्निति कथयन्ति—

जें दिट्ठें तुट्टंति लहु कम्मइँ पुव्व-कियाइँ ।
सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ ॥२७॥

येन दृष्टेन त्रुट्यन्ति लघु कर्माणि पूर्वकृतानि ।
तं पर जानासि योगिन् देहे वसन्तं न किम् ॥२७॥

जें दिट्ठें तुट्टंति लहु कम्मइँ पुव्वकियाइँ **येन परमात्मना दृष्टेन सदानन्दैकरूपवीतरागनिर्विकल्पसमाधिलक्षणनिर्मललोचनेनावलोकितेन त्रुट्यन्ति शतचूर्णानि भवन्ति लघु शीघ्रम् अन्तर्मुहूर्तेन । कानि ? परमात्मनः प्रतिबन्धकानि स्वसंवेद्यभावोपार्जितानि पूर्वकृतकर्माणि *सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ* तं नित्यानन्दैकस्वभावं स्वात्मानं परमोत्कृष्टं किं न जानासि हे योगिन् ? कथंभूतमपि ? स्वदेहे वसन्तमपीति। अत्र स एवोपादेय इति भावार्थः ॥२७॥**

आगे जिस शुद्धात्मा को सम्यग्ज्ञान-नेत्र से देखने पर पूर्व में उपार्जित किये कर्म नष्ट हो जाते हैं, उसे हे योगिन ! तुम क्यों नहीं पहचानते ? ऐसा कहते हैं—

जो पूर्वकृत सब कर्म आतम-दर्श से क्षणमात्र में ।
ही नष्ट हों देहस्थ उसको क्यों नहीं तुम जानते?॥२७॥

दोहार्थ— जिसे देखनेमात्र से पूर्वकृत सब कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, हे योगी! देह में रहने वाले उस उत्कृष्ट आत्मा को तुम क्यों नहीं जानते हो ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जैं*** जिस परमात्मा को ***दिट्ठैं*** सदा आनन्दरूप वीतराग निर्विकल्प समाधिस्वरूप निर्मल नेत्रों द्वारा देखने से ***लहु*** शीघ्र ही ***पुव्व-कियाइँ*** निर्वाण को रोकनेवाले पूर्व उपार्जित ***कम्मइँ*** कर्म ***तुट्टंति*** चूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् सम्यग्ज्ञान के अभाव से (अज्ञान से) जो पहले शुभ-अशुभ कर्म कमाये थे, वे निजस्वरूप के देखने से ही नष्ट हो जाते हैं, ***सो परु*** उस सदानन्दरूप परमात्मा को ***देहि वसंतु*** देह में रहते हुए भी ***जोइया*** हे योगी ! तुम ***काइँ ण जाणहि*** क्यों नहीं जानते?

जिसके जानने से कर्म-कलंक दूर हो जाते हैं, वह आत्मा शरीर में निवास करता हुआ भी देहरूप नहीं होता, उसको तुम अच्छी तरह पहचानो; और दूसरे अनेक प्रपंचों (झगड़ों) को तो जानता है, अपने स्वरूप की ओर क्यों नहीं देखता? वह निज स्वरूप ही उपादेय है, अन्य कोई नहीं है ॥२७॥

अथ ऊर्ध्वं प्रक्षेपपञ्चकं कथयन्ति । तद्यथा—

जित्थु ण इंदिय-सुह-दुहइँ जित्थु ण मण-वावारु ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ अण्णु परिं अवहारु ॥२८॥

यत्र नेन्द्रियसुखदु:खानि यत्र न मनोव्यापार: ।
तं आत्मानं मन्यस्व जीव त्वं अन्यत्परमपहर ॥२८॥

जित्थु ण इंदियसुहदुहइँ जित्थु ण मणवावारु यत्र शुद्धात्मस्वरूपे न सन्ति न विद्यन्ते। कानि ? अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसौख्यविपरीतान्याकुलत्वोत्पादकानीन्द्रियसुखदु:खानि यत्र च निर्विकल्पपरमात्मनो विलक्षण: संकल्पविकल्परूपो मनोव्यापारो नास्ति । ***सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ अण्णु परिं अवहारु*** तं पूर्वोक्तलक्षणं स्वशुद्धात्मानं मन्यस्व नित्यानन्दैकरूपं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा जानीहि हे जीव, त्वम् अन्यत्परमात्मस्वभावाद्विपरीतं पञ्चेन्द्रियविषयस्वरूपादिविभावसमूहं परस्मिन् दूरे सर्वप्रकारेणापहर त्यजेति तात्पर्यार्थ: ।

निर्विकल्पसमाधौ सर्वत्र वीतरागविशेषणं किमर्थं कृतम् इति पूर्वपक्ष: । परिहारमाह— यत एव हेतो: वीतरागस्तत एव निर्विकल्प इति हेतुहेतुमद्भावज्ञापनार्थम्, अथवा ये सरागिणोऽपि सन्तो वयं निर्विकल्पसमाधिस्था इति वदन्ति तन्निषेधार्थम्, अथवाश्वेतशङ्ख-वत्स्वरूपविशेषणमिदम् इति परिहारत्रयं निर्दोषिपरमात्मशब्दादिपूर्वपक्षेऽपि योजनीयम्॥२८॥

इससे आगे पाँच प्रक्षेपकों द्वारा आत्मा ही का कथन करते हैं—

ना जहाँ इन्द्रिय सौख्य दुख ना जहाँ मन व्यापार ना ।
हे जीव ! मानो उसे आतम अन्य सब पर छोड़ना ॥२८॥

दोहार्थ— जिसमें इन्द्रियजन्य सुख-दु:ख नहीं है, जिसमें संकल्प-विकल्प

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रूप मन का व्यापार नहीं है, हे जीव ! तुम उसे आत्मा मानो, अन्य सब पर को छोड़ दो ।

टीकार्थ— ***जित्थु*** जिस शुद्ध आत्मस्वभाव में ***इंदिय-सुह-दुहइँ*** आकुलतारहित अतीन्द्रिय सुख से विपरीत जो आकुलता को उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियजनित सुख-दुःख ***ण*** नहीं हैं, ***जित्थु*** जिसमें ***मण-वावारु*** संकल्प-विकल्परूप मन का व्यापार भी ***ण*** नहीं है, अर्थात् विकल्प रहित परमात्मा से मन के व्यापार पृथक् हैं, ***सो*** उस पूर्वोक्त लक्षणवाले को ***जीव तुहुँ*** हे जीव, तुम ***अप्पा*** आत्माराम ***मुणि*** मानो, ***अण्णु परिं*** अन्य सब विभावों को ***अवहारु*** छोड़ दो ।

ज्ञानानन्दस्वरूप निज शुद्धात्मा को निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर जानो, अन्य परमात्मस्वभाव से विपरीत पाँच इंद्रियों के विषय आदि सब विकार-परिणामों को दूर से ही त्याग दो, उनका सर्वथा ही त्याग कर दो ।

यहाँ पर किसी शिष्य ने प्रश्न किया कि निर्विकल्प समाधि में सब जगह वीतराग विशेषण क्यों कहा है? उसका उत्तर कहते हैं— जहाँ पर वीतरागता है, वहीं निर्विकल्प समाधिपना है, इस रहस्य को समझाने के लिये; अथवा जो रागी होने पर भी कहते हैं कि हम निर्विकल्प समाधि में स्थित हैं, उनके निषेध के लिये वीतरागता सहित निर्विकल्प समाधि का कथन किया गया है; अथवा सफेद शंखों के समान स्वरूप प्रगट करने के लिये कहा गया है, अर्थात् जो शंख होगा, वह श्वेत ही होगा; उसीप्रकार जो निर्विकल्प समाधि होगी, वह वीतरागतारूप ही होगी ॥२८॥

अथ यः परमात्मा व्यवहारेण देहे तिष्ठति निश्चयेन स्वस्वरूपे तमाह—

देहादेहहिँ जो वसइ भेयाभेय-णएण ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ किं अण्णेँ बहुएण ॥२९॥

देहादेहयोः यो वसति भेदाभेदनयेन ।
तमात्मानं मन्यस्व जीव त्वं किमन्येन बहुना ॥२९॥

देहादेहयोरधिकरणभूतयोर्यो वसति । केन ? भेदाभेदनयेन । तथाहि— अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेणाभेदनयेन [स्वपरमात्मनोऽभिन्ने] स्वदेहे वसति, शुद्धनिश्चयनयेन तु भेदनयेन स्वदेहाद्भिन्ने स्वात्मनि वसति यः तमात्मानं मन्यस्व जानीहि हे जीव नित्यानन्दैकवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । किमन्येन शुद्धात्मनो भिन्नेन देहरागादिना बहुना ।

अत्र योऽसौ देहे वसन्नपि निश्चयेन देहरूपो न भवति स एव स्वशुद्धात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥२९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे यह परमात्मा व्यवहारनय से तो इस देह में रह रहा है, लेकिन निश्चयनय से अपने स्वरूप में ही रहता है; ऐसे आत्मा को कहते हैं—

व्यवहार से देहस्थ पर ना नियत से देहस्थ है ।
हे जीव ! जानो उसे आतम अन्य से क्या काम है ? ॥२९॥

दोहार्थ— जो भेदरूप व्यवहारनय से देह में रहता है और अभेदरूप निश्चयनय से अपने स्वभाव में रहता है, हे जीव ! तुम उस आत्मा को अपना मानो, अपने से भिन्न अन्य अनेकों से तुम्हें क्या प्रयोजन ?

टीकार्थ— ***जो*** जो ***भेयाभेयणएण देहादेहहिँ वसइ*** अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा अपने से भिन्न जड़रूप देह में रह रहा है, और शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा अपने आत्मस्वभाव में रह रहा है/स्थित है, अर्थात् व्यवहारनय की अपेक्षा तो देह से अभेदरूप (तन्मय) है; और निश्चय से सदा काल ही अत्यन्त पृथक् है, अपने स्वभाव में स्थित है; ***सो*** उसे ***जीव तुहुँ*** हे जीव ! तुम ***अप्पा*** परमात्मा ***मुणि*** जानो । अर्थात् नित्यानन्द वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अपने आत्मा का ध्यान करो । ***अण्णेँ*** अपने से भिन्न ***बहुएण*** देह, रागादिकों से ***किं*** तुझे क्या प्रयोजन है?

देह में रहता हुआ भी निश्चय से जो देहस्वरूप नहीं होता, वही निज शुद्धात्मा उपादेय है ॥२९॥

अथ जीवाजीवयोरेकत्वं मा कार्षीर्लक्षणभेदेन भेदोऽस्तीति निरूपयति—

जीवाजीव म एक्कु करि लक्खण भेएँ भेउ ।
जो परु सो परु भणमि मुणि अप्पा अप्पु अभेउ ॥३०॥

जीवाजीवौ मा एकौ कुरु लक्षणभेदेन भेदः ।
यत्परं तत्परं भणामि मन्यस्व आत्मन आत्मना अभेदः ॥३०॥

हे प्रभाकरभट्ट जीवाजीवावेकौ मा कार्षीः । कस्मात् ? लक्षणभेदेन भेदोऽस्ति। तद्यथा—रसादिरहितं शुद्धचैतन्यं जीवलक्षणम् । तथा चोक्तं प्राभृते—

''अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
*जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥''**

इत्थंभूतशुद्धात्मनो भिन्नमजीवलक्षणम् । तच्च द्विविधम् । जीवसंबन्धमजीवसंबन्धं

---

* समयसार प्राभृत, गाथा ४९ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

च । देहरागादिरूपं जीवसंबन्धं, पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपमजीवसंबन्धमजीवलक्षणम् । अत एव भिन्नं जीवादजीवलक्षणम् । ततः कारणात् यत्परं रागादिकं तत्परं जानीहि । कथंभूतम् ? भेद्यमभेद्यमित्यर्थः ।

अत्र योऽसौ शुद्धलक्षणसंयुक्तः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति भावार्थः ॥३०॥

आगे जीव और अजीव में लक्षण के भेद से भेद है, तुम दोनों को एक मत जानो, ऐसा कहते हैं—

ना करो जीव अजीव में एकत्व लक्षण भिन्न हैं ।
है आतमा ही मात्र आतम मान पर सब भिन्न हैं ॥३०॥

दोहार्थ— लक्षण भिन्न होने के कारण तुम जीव और अजीव में एकत्व मत करो; जो पर है, उसे पर मानो, और आत्मा को अपने से अभेद मानो —ऐसा मैं कहता हूँ।

टीकार्थ— हे प्रभाकरभट्ट, तुम ***जीवाजीव*** जीव और अजीव को ***एक्कु*** एक ***म करि*** मत करो, क्योंकि इन दोनों में ***लक्खण भेएँ*** लक्षण के भेद से ***भेउ*** भेद है; ***जो परु*** जो पर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए रागादि विभाव (विकार) हैं, ***सो परु*** उनको पर (अन्य) ***मुणि*** समझो और ***अप्पा*** आत्मा को ***अप्पु अभेउ*** अपने से अभेद जानो; ***—भणमि*** ऐसा मैं कहता हूँ।

जीव-अजीव के लक्षणों में से जीव का लक्षण शुद्ध चैतन्य है; वह स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्दादि से रहित है । ऐसा ही श्रीसमयसार में कहा है— ''अरसं'' इत्यादि।

इसका सारांश यह है कि ''जो आत्मद्रव्य है, वह मिष्ट आदि पाँच प्रकार के रस रहित है, श्वेत आदि पाँच प्रकार के वर्ण रहित है, सुगन्ध-दुर्गन्ध ये दो प्रकार के गन्ध उसमें नहीं हैं, प्रगट (दृष्टिगोचर) नहीं है, चैतन्यगुण सहित है, शब्द से रहित है, पुल्लिंग आदि लिंगों से ग्रहण नहीं होता, अर्थात् लिंग रहित है, और उसका आकार नहीं दिखता, अर्थात् निराकार वस्तु है । आकार छह प्रकार के हैं— समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुंडक — इन छह प्रकार के आकारों से रहित है; ऐसी जो चिद्रूप निज वस्तु है, उसे तुम पहचानो ।

आत्मा से भिन्न जो अजीव पदार्थ है, उसके लक्षण दो प्रकार हैं; एक जीव सम्बन्धी, दूसरा अजीवसम्बन्धी । जो द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरूप है, वह तो जीवसम्बन्धी है; और पुद्गलादि पाँच द्रव्यरूप अजीव जीवसम्बन्धी नहीं हैं;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अजीवसम्बन्धी ही हैं; इसलिये अजीव हैं, जीव से भिन्न हैं । इस कारण जीव से भिन्न अजीवरूप जो पदार्थ हैं, उनको अपने मत मानो । यद्यपि रागादि विभाव परिणाम जीव में ही उत्पन्न होते हैं, इससे जीव के कहे जाते हैं; परन्तु वे कर्म जनित हैं, परपदार्थ (कर्म) के सम्बन्ध से हैं, इसलिये पर ही समझो ।

यहाँ पर जीव-अजीव दो पदार्थ कहे गये हैं, उनमें से शुद्ध चेतना लक्षण को धारण करने वाला शुद्धात्मा ही उपादेय है, ध्यान करने योग्य है, यह सारांश है ॥३०॥

अथ तस्य शुद्धात्मनो ज्ञानमयादिलक्षणं विशेषेण कथयति—

अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमित्तु ।
अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥३१॥

अमनाः अनिन्द्रियो ज्ञानमयः मूर्तिविरहितश्चिन्मात्रः ।
आत्मा इन्द्रियविषयो नैव लक्षणमेतन्निरुक्तम् ॥३१॥

परमात्मविपरीतमानसविकल्पजालरहितत्वादमनस्कः, अतीन्द्रियशुद्धात्मविपरीतेनेन्द्रियग्रामेण रहितत्वादतीन्द्रियः लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः अमूर्तात्मविपरीतलक्षणया स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या वर्जितत्वान्मूर्तिविरहितः, अन्यद्रव्यासाधारणया शुद्धचेतनया निष्पन्नत्वाच्चिन्मात्रः । कोऽसौ ? आत्मा । पुनश्च किंविशिष्टः ? वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन ग्राह्योऽपीन्द्रियाणामविषयश्च लक्षणमिदं निरुक्तं निश्चितमिति ।

अत्रोक्तलक्षणपरमात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥३१॥

आगे शुद्धात्मा के ज्ञानादि लक्षणों को विशेषपने से कहते हैं—

मन रहित इन्द्रिय रहित ज्ञानमयी अमूर्तिक चेतना ।
मय मात्र इन्द्रियगम्य ना इन युक्त आतम जानना ॥३१॥

दोहार्थ— आत्मा मन रहित, इन्द्रिय रहित, ज्ञानमय, अमूर्तिक, चैतन्य मात्र है, वह इन्द्रिय का विषय नहीं है—ये लक्षण आत्मा के कहे गए हैं ।

टीकार्थ— ***अप्पा*** यह शुद्ध आत्मा ***अमणु*** परमात्मा से विपरीत विकल्पजालमयी मन से रहित है, ***अणिंदिउ*** शुद्धात्मा से भिन्न इन्द्रिय-समूह से रहित है, ***णाणमउ*** लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान स्वरूप है; ***मुत्ति-विरहिउ*** अमूर्तिक आत्मा से विपरीत स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाली मूर्तिरहित है; ***चिमित्तु*** अन्य द्रव्यों में नहीं पाई जाने वाली शुद्धचेतनास्वरूप ही है, और ***इंदिय-विसउ णवि***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इन्द्रियों के गोचर नहीं है, वीतराग स्वसंवेदन से ही ग्रहण किया जाता है;—***एहु लक्खणु*** ये लक्षण जिसके ***णिरुत्तु*** प्रगट कहे गये हैं, उसको ही तुम निःसन्देह आत्मा जानो।

यहाँ जिसके ये लक्षण कहे गये हैं, वही आत्मा है, वही उपादेय है, आराधना करने योग्य है, यह तात्पर्य है ॥३१॥

अथ संसारशरीरभोगनिर्विण्णो भूत्वा यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य संसारवल्ली नश्यतीति कथयति—

भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु जो अप्पा झाएइ ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ॥३२॥

भवतनुभोगविरक्तमना य आत्मानं ध्यायति ।
तस्य गुर्वी वल्ली संसारिकी त्रुट्यति ॥३२॥

भवतनुभोगेषु रञ्जितं मूर्छितं वासितमासक्तं चित्तं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्द-सुखरसास्वादेन व्यावृत्य स्वशुद्धात्मसुखे रतत्वात्संसारशरीरभोगविरक्तमनाः सन् यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य गुरुक्की महती संसारवल्ली त्रुट्यति नश्यति शतचूर्णा भवतीति।

अत्र येन परमात्मध्यानेन संसारवल्ली विनश्यति स एव परमात्मोपादेयो भावनीयश्चेति तात्पर्यार्थः ॥३२॥

इति चतुर्विंशतिसूत्रमध्ये प्रक्षेपकपञ्चकं गतम् ।

आगे जो कोई संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर शुद्धात्मा का ध्यान करता है; उसी की संसाररूपी बेल नाश को प्राप्त हो जाती है, इसे कहते हैं—

भव भोग तन से विरत मन युत आतमा के ध्यान को ।
जो करे उसकी महा भव-बेली नियम से नष्ट हो ॥३२॥

दोहार्थ— संसार, शरीर, भोगों से विरक्त मनवाला जो जीव आत्मा का ध्यान करता है, उसकी बड़ी/अनादिकालीन संसाररूपी बेल नष्ट हो जाती है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो जीव ***भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु*** संसार, शरीर और भोगों से विरक्त मन हुआ ***अप्पा*** शुद्धात्मा का ***झाएइ*** चिंतवन करता है, ***तासु*** उसकी ***गुरुक्की*** मोटी ***संसारिणि वेल्लडी*** संसाररूपी बेल ***तुट्टेइ*** नाश को प्राप्त हो जाती है ।

जो चित्त संसार, शरीर, भोगों में अत्यंत आसक्त (लगा हुआ) है, उसे आत्मज्ञान से उत्पन्न हुए वीतराग परमानंद सुखामृत के आस्वाद के बल पर, राग-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्वेष से हटाकर, अपने शुद्धात्म-सुख में अनुरागी कर, शरीरादि में वैराग्यरूप हुआ, जो शुद्धात्मा का विचार करता है, उसका संसार छूट जाता है ।

यहाँ जिस परमात्मा के ध्यान से संसाररूपी बेल दूर हो जाती है, वही उपादेय है, ध्यान करने योग्य है—यह तात्पर्य है ॥३२॥

इसप्रकार चौबीस सूत्रों के बीच आए पाँच प्रक्षेपक पूर्ण हुए।

तदनन्तरं देहदेवगृहे योऽसौ वसति स एव शुद्धनिश्चयेन परमात्मा, तन्निरूपयति—

देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु ।
केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥३३॥

देहदेवालये यः वसति देवः अनाद्यनन्तः ।
केवलज्ञानस्फुरत्तनुः स परमात्मा निर्भ्रान्तः ॥३३॥

व्यवहारेण देहदेवकुले वसन्नपि निश्चयेन देहाद्भिन्नत्वाद्देहवन्मूर्तः सर्वाशुचिमयो न भवति । यद्यपि देहो नाराध्यस्तथापि स्वयं परमात्माराध्यो देवः पूज्यः, यद्यपि देह आद्यन्तस्तथापि स्वयं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनानाद्यनन्तः, यद्यपि देहो जडस्तथापि स्वयं लोकालोकप्रकाशकत्वात्केवलज्ञानस्फुरिततनुः केवलज्ञानप्रकाशरूपशरीर इत्यर्थः । स पूर्वोक्तलक्षणयुक्तः परमात्मा भवतीति । कथंभूतः ? निर्भ्रान्तः निस्सन्देह इति ।

अत्र योऽसौ देहे वसन्नपिसर्वाशुच्यादिदेहधर्मं न स्पृशति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥३३॥

.....

आगे जो देहरूपी देवालय में रहता है, वही शुद्धनिश्चयनय से परमात्मा है, यह कहते हैं—

जो देहदेवल में रहे है देव त्रैकालिक सदा ।
आकार केवल ज्ञानमय निर्भ्रान्त वह परमात्मा ॥३३॥

दोहार्थ— जो देहरूपी देवालय में रहता है, देव, अनादि-अनन्त, प्रगट केवल ज्ञानाकार है; वह निःसंदेह परमात्मा है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो व्यवहारनय से ***देहादेवलि*** देहरूपी देवालय में ***वसइ*** रहता है, निश्चयनय से देह से भिन्न है, देह के समान मूर्तिक तथा अशुचिमय नहीं है, महा पवित्र है, ***देउ*** आराधन-योग्य है, पूज्य है; देह आराधन-योग्य नहीं है । ***अणाइ-अणंतु*** जो परमात्मा स्वयं शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से अनादि-अनंत है, तथा यह देह आदि-अन्त से सहित है; ***केवल-णाण-फुरंत-तणु*** जो आत्मा निश्चयनय से लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाले केवल ज्ञानरूप है, अर्थात्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवल ज्ञान ही प्रकाशरूप शरीर है, और देह जड़ है; ***सो परमप्पु*** वही परमात्मा ***णिभंतु*** निःसंदेह है, इसमें कुछ संशय नहीं समझना ।

सारांश यह है कि जो देह में रहता है, तो भी देह से पृथक् है, सर्वाशुचिमयी देह को वह देव छूता नहीं है; वही आत्मदेव उपादेय है ॥३३॥

अथ शुद्धात्मविलक्षणे देहे वसन्नपि देहं न स्पृशति देहेन सोऽपि न स्पृश्यत इति प्रतिपादयति—

देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमैं देहु वि जो जि ।
देहैं छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥३४॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति नियमेन देहमपि य एव ।
देहेन स्पृश्यते योऽपि नैव मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥३४॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति नियमेन देहमपि यः एव देहेन न स्पृश्यते योऽपि मन्यस्व जानीहि परमात्मा सोऽपि । इतो विशेषः —शुद्धात्मानुभूतिविपरीतेन क्रोधमान-मायालोभस्वरूपादिविभावपरिणामेनोपार्जितेन पूर्वकर्मणा निर्मिते देहे अनुपचरितासद्भूतव्य-वहारेण वसन्नपि निश्चयेन य एव देहं न स्पृशति, तथाविधदेहेन न स्पृश्यते योऽपि तं मन्यस्व जानीहि परमात्मानं तमेवम् । किं कृत्वा ? वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वेति ।

अत्र य एव शुद्धात्मानुभूतिरहितदेहे वसन्नपि देहममत्वपरिणामेन सहितानां हेयः स एव शुद्धात्मा देहममत्वपरिणामरहितानामुपादेय इति भावार्थः ॥३४॥

आगे शुद्धात्मा से भिन्न इस देह में रहता हुआ भी देह को स्पर्श नहीं करता है, और देह भी उसको नहीं छूती है, वह कहते हैं—

जो देह में रहता हुआ भी देह को छूता नहीं ।
ना देह भी जिसको छुए तू मान परमातम वही ॥३४॥

दोहार्थ— जो देह में रहते हुए भी नियम से देह का स्पर्श नहीं करता है तथा जो स्वयं भी देह से स्पर्शित नहीं होता है, तुम उसे परमात्मा मानो ।

टीकार्थ— ***जो जि*** जो ***देहे वसंतु वि*** देह में रहता हुआ भी ***णियमैं*** निश्चयनय से ***देहु वि*** शरीर को ***णवि छिवइ*** स्पर्श नहीं करता, ***देहैं*** देह से ***जो वि*** वह भी ***णवि छिप्पइ*** नहीं छुआ जाता । अर्थात् न तो जीव देह को स्पर्श करता है और न देह जीव को स्पर्श करता है, ***सो जि*** उसी को ***परमप्पउ*** तुम परमात्मा ***मुणि*** जानो, अर्थात् अपना स्वरूप ही परमात्मा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत क्रोध, मान, माया, लोभरूप विभाव परिणाम हैं, उनसे उपार्जन किये शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा बनाए हुए देह में अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय से बसता/रहता हुआ भी, निश्चय की अपेक्षा देह को नहीं छूता, उसीप्रकार देह भी जिसे नहीं छूता; उसे तुम परमात्मा जानो, उसी स्वरूप का वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित रहकर चिंतवन करो ।

यहाँ जो यह आत्मा जड़रूप देह में व्यवहारनय से रहता हुआ भी देहात्मबुद्धिवालों को ज्ञात नहीं होता है, वही शुद्धात्मा देह के ममत्व से रहित (विवेकी) पुरुषों को उपादेय है, आराधन-योग्य है ॥३४॥

अथ यः समभावस्थितानां योगिनां परमानन्दं जनयन् कोऽपि शुद्धात्मा स्फुरति तमाह—

जो सम-भाव-परिट्ठियहँ जोइहँ कोइ फुरेइ ।
परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥३५॥

यः समभावप्रतिष्ठितानां योगिनां कश्चित् स्फुरति ।
परमानन्दं जनयन् स्फुटं स परमात्मा भवति ॥३५॥

यः कोऽपि परमात्मा जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रादिसमभावपरिणत-स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ प्रतिष्ठितानां परमयोगिनां कश्चित् स्फुरति संवित्तिमायाति । किं कुर्वन् ? वीतरागपरमानन्दं जनयन् स्फुटं निश्चितम् । तथा चोक्तम्—

''आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः ।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥''✡

हे प्रभाकरभट्ट स एवंभूतः परमात्मा भवतीति । अत्र वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानां स एवोपादेयः, तद्विपरीतानां हेय इति तात्पर्यार्थः ॥३५॥

आगे जो योगी समभाव में स्थित हैं, उनको परमानन्द उत्पन्न करता हुआ कोई शुद्धात्मा स्फुरायमान है, उसका स्वरूप कहते हैं—

जो प्रतिष्ठित समभाव में उन योगियों के प्रगट है ।
जिससे प्रगट हो परम आनन्द प्रगट वह परमात्म है ॥३५॥

दोहार्थ— जो कोई समभाव में प्रतिष्ठित योगियों के प्रगट स्फुरायमान है, परमानन्द को उत्पन्न करता हुआ वही प्रगट परमात्मा है ।

✡ इष्टोपदेश, पद्य ४७ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***सम-भाव परिट्ठियहँ*** समभाव अर्थात् जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दु:ख, शत्रु, मित्र इत्यादि—इन सबमें समभाव रूप से परिणत हुए ***जोइहँ*** परम योगीश्वरों के अर्थात् जिनके शत्रु-मित्रादि सब समान हैं; और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप अभेदरत्नत्रय जिसका स्वरूप है, ऐसी वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित हुए हैं;— उन योगीश्वरों के हृदय में ***परमाणंदु जणंतु*** वीतराग परम आनन्द को उत्पन्न करता हुआ ***जो कोइ फुरेइ*** जो कोई स्फुरायमान होता है, ***सो फुडु*** वही प्रगट ***परमप्पु हवेइ*** परमात्मा है; ऐसा जानो। ऐसा ही दूसरी जगह भी ''आत्मानुष्ठान'' इत्यादि से कहा है—

अर्थात् ''जो योगी आत्मा के अनुभव में तल्लीन हैं, और व्यवहार से रहित शुद्ध निश्चय में स्थित हैं, उन योगियों को ध्यान से कोई अपूर्व परमानन्द उत्पन्न होता है ।''

इसलिये हे प्रभाकरभट्ट ! जो आत्मस्वरूप योगीश्वरों के हृदय में स्फुरायमान है, वही उपादेय है । जो योगी वीतराग निर्विकल्प समाधि में लगे हुए हैं, संसार से पराङ्मुख हैं, उन्हीं के वह आत्मा उपादेय है; और जो देहात्मबुद्धि विषयासक्त हैं, वे अपने स्वरूप को नहीं जानते हैं, उनके आत्मरुचि नहीं हो सकती; यह तात्पर्य हुआ ॥३५॥

अथ शुद्धात्मप्रतिपक्षभूतकर्मदेहप्रतिबद्धोऽप्यात्मा निश्चयनयेन सकलो न भवतीति ज्ञापयति—

कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु वि जो जि ।
होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥३६॥

कर्मनिबद्धोऽपि योगिन् देहे वसन्नपि य एव ।
भवति न सकलः कदापि स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥३६॥

कर्मनिबद्धोऽपि हे योगिन् देहे वसन्नपि य एव न भवति सकलः क्वापि काले स्फुटं मन्यस्व जानीहि परमात्मानं तमेवेति । अतो विशेषः — परमात्मभावनाविपक्षभूतैः रागद्वेषमोहैः समुपार्जितैः कर्मभिरशुद्धनयेन बद्धोऽपि तथैव देहस्थितोऽपि निश्चयनयेन सकलः सदेहो न भवति क्वापि तमेव परमात्मानं हे प्रभाकरभट्ट मन्यस्व जानीहि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन भावयेत्यर्थः ।

अत्र सदैव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानामुपादेयो भवत्यन्येषां हेय इति भावार्थः ॥३६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे शुद्धात्मा से पृथक् कर्म और शरीर—इन दोनों द्वारा अनादि से यह आत्मा बँधा हुआ है, तो भी निश्चय से शरीरस्वरूप नहीं है, यह कहते हैं—

जो कर्म से बँधता हुआ वा देह में रहता हुआ ।
भी कभी पर ना हुआ उनमय मान वह परमात्मा ।।३६।।

दोहार्थ— हे योगी! कर्म से निबद्ध होने पर भी देह में रहता होने पर भी, जो कभी सकल कर्म या देह रूप नहीं होता है; तुम उसे ही वास्तव में परमात्मा मानो ।

टीकार्थ— ***जोइया*** हे योगी ! ***जो जि*** जो यह आत्मा ***कम्म-णिबद्धु वि*** यद्यपि कर्मों से बँधा है, ***देहि वसंतु वि*** और देह में रहता भी है; ***कया वि*** तथापि कभी ***सयलु ण होइ*** देहरूप नहीं होता; ***सो जि*** उसी को तुम ***परमप्पउ*** परमात्मा ***फुडु*** निश्चय से ***मुणि*** जानो ।

परमात्मा की भावना से विपरीत जो राग, द्वेष, मोह हैं; उनसे यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा बँधा है, और देह में रह रहा है;तो भी निश्चयनय से शरीररूप नहीं है, उससे पृथक् ही है, किसी काल में भी यह जीव जड़ न तो हुआ है, न होगा; उसे हे प्रभाकरभट्ट ! परमात्मा जानो । निश्चय से आत्मा ही परमात्मा है, उसका तुम वीतराग स्वसंवेदनज्ञान से चिंतवन करो ।

सारांश यह है कि यह आत्मा सदैव वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन जीवों को तो उपादेय है, परन्तु अन्य जीवों को यह हेय हो रहा है ।।३६।।

यः परमार्थेन देहकर्मरहितोऽपि मूढात्मनां सकल इति प्रतिभातीत्येवं निरूपयति–

जो परमत्थें णिक्कलु वि कम्म-विभिण्णउ जो जि ।
मूढा सयलु भणंति फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ।।३७।।

यः परमार्थेन निष्कलोऽपि कर्मविभिन्नो य एव ।
मूढाः सकलं भणन्ति स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ।।३७।।

यः परमार्थेन निष्कलोऽपि देहरहितोऽपि कर्मविभिन्नोऽपि य एव भेदाभेदरत्नत्रयभावना-रहिता मूढात्मानस्तमात्मानं सकलमिति भणन्ति स्फुटं निश्चितं हे प्रभाकरभट्ट तमेव परमात्मानं मन्यस्व जानीहीति, वीतरागसदानन्दैकसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः ।

अत्र स एव परमात्मा शुद्धात्मसंवित्तिप्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिनिवृत्तिकाले सम्यगुपा-देयो भवति तदभावे हेय इति तात्पर्यार्थः ।।३७।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे निश्चयनय से आत्मा देह और कर्मों से रहित है, तो भी मूढ़ों (अज्ञानियों) को शरीर-स्वरूप प्रतीत/मालूम होता है, ऐसा कहते हैं—

परमार्थ से जो देह से वा कर्म से है भिन्न ही ।
पर मूढ़ इनसे सहित कहते मान परमातम वही ।।३७।।

दोहार्थ— परमार्थ से जो शरीर से रहित और कर्म से पृथक् होने पर भी, जिसे मूढ़ बहिरात्मा स्पष्टरूप में शरीरादिमय कहते हैं; तुम उसे ही परमात्मा जानो।

टीकार्थ— ***जो*** जो आत्मा ***परमत्थें*** निश्चयनय से ***णिक्कलु वि*** शरीर रहित है और ***कम्म-विभिण्णउ*** कर्मों से भी पृथक् है, तो भी ***मूढा*** निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय की भावना से विमुख मूढ़ ***सयलु*** शरीरस्वरूप ही ***फुडु*** प्रगटपने से ***भणंति*** मानते हैं; सो हे प्रभाकरभट्ट ! ***सो जि*** उसी को ***परमप्पउ*** परमात्मा ***मुणि*** जानो, अर्थात् वीतराग सदानन्द निर्विकल्प समाधि में रहकर अनुभव करो।

वही परमात्मा, शुद्धात्मा के वैरी मिथ्यात्व, रागादिकों के दूर होने के समय ज्ञानी जीवों को उपादेय है, और जिनके मिथ्यात्व-रागादि दूर नहीं हुए हैं, वे उसे हेय मानते हैं, उपादेय नहीं ।।३७।।

अथानन्ताकाशैकनक्षत्रमिव यस्य केवलज्ञाने त्रिभुवनं प्रतिभाति स परमात्मा भवतीति कथयति—

गयणि अणंति वि एक्क उडु जेहउ भुयणु विहाइ ।
मुक्कहँ जसु पए बिंबियउ सो परमप्पु अणाइ ।।३८।।

गगने अनन्तेऽपि एकमुडु यथा भुवनं विभाति ।
मुक्तस्य यस्य पदे बिम्बितं स परमात्मा अनादिः ।।३८।।

गगने अनन्तेऽप्येकनक्षत्रं यथा तथा भुवनं जगत् प्रतिभाति । क्व प्रतिभाति? मुक्तस्य यस्य पदे केवलज्ञाने बिम्बितं प्रतिफलितं दर्पणे बिम्बमिव । स एवंभूतः परमात्मा भवतीति ।

अत्र यस्यैव केवलज्ञाने नक्षत्रमेकमिव लोकः प्रतिभाति स एव रागादिसमस्तविकल्प-रहितानामुपादेयो भवतीति भावार्थः ।।३८।।

आगे अनंत आकाश में एक नक्षत्र के समान, जिसके केवलज्ञान में तीनों लोक प्रतिभासित होते हैं, वह परमात्मा है; ऐसा कहते हैं—

अनन्त नभ में एक उडु ज्यों केवली के ज्ञान में ।
है सर्व जग बिम्बित वही परमातमा ना आदि है ।।३८।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— जैसे अनन्त आकाश में एक नक्षत्र प्रतिभासित होता है, उसीप्रकार जिस मुक्त जीव के ज्ञान में तीनों लोक प्रतिबिम्बित हैं, वही अनादि परमात्मा है ।

टीकार्थ— ***जेहउ*** जैसे ***अणंति वि*** अनंत ***गयणि*** आकाश में ***एक्क उडु*** एक नक्षत्र है, उसी के समान ***भुयणु*** तीनलोक ***जसु मुक्कहँ*** जिस मुक्त के ***पए*** केवलज्ञान में ***बिंबियउ*** प्रतिबिंबित हुए, ***विहाइ*** दर्पण में मुख के समान प्रतिभासित होता है, ***सो*** वह ***परमप्पु अणाइ*** परमात्मा अनादि है।

जिसके केवलज्ञान में एक नक्षत्र के समान समस्त लोक-अलोक प्रतिभासित होता है, वही परमात्मा रागादि समस्त विकल्पों से रहित योगीश्वरों को उपादेय है ।।३८।।

अथ योगीन्द्रवृन्दैर्यो निरवधिज्ञानमयो निर्विकल्पसमाधिकाले ध्येयरूपश्चिन्त्यते तं परमात्मानमाह—

जोइय-विंदहिँ णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ ।
मोक्खहँ कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ ।।३९।।

योगिवृन्दैः ज्ञानमयः यो ध्यायते ध्येयः ।
मोक्षस्य कारणे अनवरतं स परमात्मा देवः ।।३९।।

योगीन्द्रवृन्दैः शुद्धात्मवीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतैः ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः यः कर्मतापन्नो ध्यायते ध्येयो ध्येयरूपोऽपि । किमर्थं ध्यायते? मोक्षकारणे मोक्षनिमित्ते अनवरतं निरन्तरं स एव परमात्मा देवः परमाराध्य इति ।

अत्र य एव परमात्मा मुनिवृन्दानां ध्येयरूपो भणितः स एव शुद्धात्मसंवित्ति-प्रतिपक्षभूतार्तरौद्रध्यानरहितानामुपादेय इति भावार्थः ।।३९।।

.....

आगे अनन्तज्ञानमयी जो परमात्मा योगीश्वरों द्वारा निर्विकल्प समाधि-काल में ध्यान करने योग्य है, उसी परमात्मा को कहते हैं—

है मोक्ष हेतु से सदा जो ध्येय ज्ञानमयी कहा ।
ध्यातव्य है सब योगियों से देव वह परमात्मा ।।३९।।

दोहार्थ— मोक्ष के कारणरूप में जिस ज्ञानमय ध्येय तत्त्व का योगी समूहों द्वारा सतत ध्यान किया जाता है, वही परमात्मा ध्येय है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो ***णाणमउ*** ज्ञानमयी, ***जोइय-विंदहिँ*** योगीश्वरों द्वारा ***मोक्खहँ कारणि*** मोक्ष के निमित्त ***अणवरउ*** निरन्तर ***झाइज्जइ*** चिंतवन किया जाता है, ***सो परमप्पउ देउ*** वह परमात्मदेव ***झेउ*** ध्येय है, आराधन-योग्य है; दूसरा कोई नहीं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो परमात्मा मुनियों को ध्यान करने योग्य कहा गया है, वही शुद्धात्मज्ञान के बैरी आर्त-रौद्र ध्यान से रहित धर्मी ज्ञानी जीवों को उपादेय है, अर्थात् जब आर्तध्यान-रौद्रध्यान—ये दोनों छूट जाते हैं, तभी उसका ध्यान हो सकता है।।३९।।

अथ योऽयं शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवो ज्ञानावरणादिकर्महेतुं लब्ध्वा त्रसस्थावररूपं जगज्जनयति स एव परमात्मा भवति नान्यः कोऽपि जगत्कर्ता ब्रह्मादिरिति प्रतिपादयति—

जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु बहु-विहउ जणेइ ।
लिंगत्तय-परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ।।४०।।

यो जीवः हेतुं लब्ध्वा विधिं जगत् बहुविधं जनयति ।
लिङ्गत्रयपरिमण्डितः स परमात्मा भवति ।।४०।।

यो जीवः कर्ता हेतुं लब्ध्वा । किम् ? विधिसंज्ञं ज्ञानावरणादिकर्म। पश्चाज्जङ्गमस्थावररूपं जगज्जनयति स एव लिङ्गत्रयमण्डितः सन् परमात्मा भण्यते, न चान्यः कोऽपि जगत्कर्ता हरिहरादिरिति ।

तद्यथा— योऽसौ पूर्वं बहुधा शुद्धात्मा भणितः स एव शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोऽपि सन् अनादिसंतानागतज्ञानावरणादिकर्मबन्धप्रच्छादितत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकसुखास्वादमलभमानो व्यवहारनयेन त्रसो भवति, स्थावरो भवति, स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गो भवति, तेन कारणेन जगत्कर्ता भण्यते, नान्यः कोऽपि परकल्पितपरमात्मेति ।

अत्रायमेव शुद्धात्मा परमात्मोपलब्धिप्रतिपक्षभूतवेदत्रयोदयजनितं रागादिविकल्पजालं निर्विकल्पसमाधिना यदा विनाशयति तदोपादेयभूतमोक्षसुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ।।४०।।

.....

आगे जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव जीव ज्ञानावरणादिकर्मों के कारण से त्रस-स्थावर जन्मरूप जगत को उत्पन्न करता है, वही परमात्मा है; दूसरे कोई भी ब्रह्मादि जगत्कर्ता नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—

जो कर्म कारण प्राप्त कर बहुविधि जगत पैदा करे ।
त्रयलिंग मंडित जीव वह परमातमा शाश्वत अरे ।।४०।।

दोहार्थ— जो जीव कर्मरूप कारण पाकर अनेक प्रकार का जगत उत्पन्न करता है, जो तीन लिंगों से मण्डित है, वही परमात्मा है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो ***जिउ*** आत्मा ***विहि हेउ*** ज्ञानावरणादि कर्मरूप कारणों को ***लहेवि*** पाकर ***बहु-विहउ जगु*** अनेक प्रकार के जगत को ***जणेइ*** पैदा करता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, अर्थात् कर्म के निमित्त से त्रस-स्थावररूप अनेक जन्म धारण करता है; ***लिंगत्तय-परिमंडियउ*** स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग—इन तीन चिन्हों से सहित है; ***सो*** वही ***परमप्पु*** शुद्धनिश्चय से परमात्मा ***हवेइ*** है, अर्थात् अशुद्धपने से परिणत हुआ जगत में भटकता है, इसलिये जगत का कर्ता कहा है, और शुद्धपनेरूप परिणत हुआ विभाव (विकार) परिणामों को हरता है, इसलिये हर्ता है । यह जीव ही ज्ञान-अज्ञान दशा से कर्ता-हर्ता है, और दूसरे कोई भी हरिहरादि कर्ता-हर्ता नहीं हैं ।

पूर्व में जो शुद्धात्मा कहा था, वह यद्यपि शुद्धनय से शुद्ध है; तो भी अनादि से संसार में ज्ञानावरणादि कर्म-बंध से ढ़का हुआ वीतराग, निर्विकल्प सहजानन्द, अद्वितीयसुख के स्वाद को न पाने से व्यवहारनय की अपेक्षा त्रस और स्थावररूप स्त्री-पुरुष-नपुंसक लिंगादि सहित होता है, इसलिये जगत्कर्ता कहा जाता है; दूसरों द्वारा कल्पित अन्य कोई भी परमात्मा नहीं है । यह आत्मा ही परमात्मा की प्राप्ति के शत्रु तीन वेदों (स्त्रीलिंगादि) के माध्यम से उत्पन्न हुए रागादि विकल्प-जालों को निर्विकल्प समाधि से जिस समय नष्ट करता है, उसी समय उपादेयरूप मोक्ष-सुख का कारण होने से उपादेय हो जाता है ।।४०।।

अथ यस्य परमात्मनः केवलज्ञानप्रकाशमध्ये जगद्वसति जगन्मध्ये सोऽपि वसति तथापि तद्रूपो न भवतीति कथयति✡—

जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि ।
जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि ।।४१।।

यस्य अभ्यन्तरे जगत् वसति जगदभ्यन्तरे य एव ।
जगति एव वसन्नपि जगत् एव नापि मन्यस्व परमात्मानं तमेव ।।४१।।

यस्य केवलज्ञानस्याभ्यन्तरे जगत् त्रिभुवनं ज्ञेयभूतं वसति जगतोऽभ्यन्तरे योऽसौ ज्ञायको भगवानपि वसति जगति वसन्नेव रूपविषये चक्षुरिव निश्चयनयेन तन्मयो न भवति मन्यस्व जानीहि । हे प्रभाकरभट्ट, तमित्थंभूतं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः।

अत्र योऽसौ केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य वीतरागस्वसंवेदनकाले मुक्तिकारणं भवति स एवोपादेय इति भावार्थः ।।४१।।

✡ पाठान्तर - कथयति = कथयन्ति ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे जिस परमात्मा के केवलज्ञान प्रकाश में जगत रह रहा है, और जगत के मध्य में वह रह रहा है, तो भी वह जगतरूप नहीं है, ऐसा कहते हैं—

नित जगत जिसमें रहे वह भी जगत में व्यापक रहे ।
पर जो कभी भी ना जगतमय मान परमातम उसे ।।४१।।

दोहार्थ— जिसके अन्दर (केवलज्ञान में) जगत रहता है (प्रतिबिम्बित होता है), जो जगत के अन्दर रहता है (लोकालोक को जानने की अपेक्षा लोकालोक/जगत व्यापक है); जगत में रहते हुये भी जो जगतरूप नहीं होता है, उसी को तुम परमात्मा मानो ।

टीकार्थ— ***जसु*** जिस आत्माराम के ***अब्भंतरि*** केवलज्ञान में ***जगु*** संसार ***वसइ*** बस रहा है, अर्थात् प्रतिबिम्बित हो रहा है, प्रत्यक्ष भासित हो रहा है, ***जग-अब्भंतरि जो जि*** और जगत में वह बस रहा है, अर्थात् सबमें व्याप रहा है; वह ज्ञाता है और जगत ज्ञेय है । ***जगि जि वसंतु वि*** जगत में निवास करता हुआ भी ***जगु जि ण वि*** निश्चयनय की अपेक्षा किसी जगत की वस्तु से तन्मय (उस स्वरूप) नहीं होता; अर्थात् जैसे रूपी पदार्थ को नेत्र देखते हैं, तो भी उनसे पृथक् ही रहते हैं; इसीप्रकार वह भी सबसे पृथक् रहता है; हे प्रभाकरभट्ट! तुम ***सो जि*** उसी को ***परमप्पउ*** परमात्मा ***मुणि*** जानो ।

जो शुद्ध, बुद्ध, सर्वव्यापक, सबसे अलिप्त, शुद्धात्मा है, उसका वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर ध्यान करो । जो केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार है, उसका कारणभूत वीतराग स्वसंवेदनज्ञानरूप निजभाव ही उपादेय है ।।४१।।

अथ देहे वसन्तमपि हरिहरादयः परमसमाधेरभावादेव यं न जानन्ति स परमात्मा भवतीति कथयन्ति—

देहि वसंत वि हरि-हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति ।
परम-समाहि-तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ।।४२।।

देहे वसन्तमपि हरिहरा अपि यम् अद्यापि न जानन्ति ।
परमसमाधितपसा विना तं परमात्मानं भणन्ति ।।४२।।

परमात्मस्वभावविलक्षणे देहे अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन वसन्तमपि हरिहरा अपि यमद्यापि न जानन्ति । केन बिना ? वीतरागनिर्विकल्पनित्यानन्दैकसुखामृत-रसास्वादरूपपरमसमाधितपसा । तं परमात्मानं भणन्ति वीतरागसर्वज्ञा इति ।

किं च—पूर्वभवे कोऽपि जीवो भेदाभेदरत्नत्रयाराधनां कृत्वा विशिष्टपुण्यबन्धं च

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कृत्वा पश्चादज्ञानभावेन निदानबन्धं करोति तदनन्तरं स्वर्गं गत्वा पुनर्मनुष्यो भूत्वा त्रिखण्डाधिपतिर्वासुदेवो भवति । अन्यः कोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वाप्यत्रैव भवे विशिष्टसमाधिबलेन पुण्यबन्धं कृत्वा पश्चात्पूर्वकृतचारित्रमोहोदयेन विषयासक्तो भूत्वा रुद्रो भवति । कथं ते परमात्मस्वरूपं न जानन्ति इति पूर्वपक्षः ।

तत्र परिहारं ददाति— युक्तमुक्तं भवता, यद्यपि रत्नत्रयाराधनां कृतवन्तस्तथापि यादृशेन वीतरागनिर्विकल्परत्नत्रयस्वरूपेण तद्भवे मोक्षो भवति तादृशं न जानन्तीति । अत्र यमेव शुद्धात्मानं साक्षादुपादेयभूतं तद्भवमोक्षसाधकाराधनासमर्थं च ते हरिहरादयो न जानन्तीति स एवोपादेयो भवतीति भावार्थः ॥४२॥

आगे वह शुद्धात्मा यद्यपि देह में रहता है, तो भी परमसमाधि के अभाव से हरिहरादिक भी जिसे प्रत्यक्ष नहीं जान सकते, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—

देहस्थ है पर आज भी उत्कट समाधि तप बिना ।
ना जान सकते हरी हर कहते उसे परमात्मा ॥४२॥

दोहार्थ— देह में रहते हुए भी आज तक जिसे परमसमाधि व तप के बिना हरि-हर आदि भी नहीं जान पाए हैं; उसे परमात्मा कहते हैं।

टीकार्थ— ***देहि*** परमात्मस्वभाव से भिन्न शरीर में ***वसंत वि*** अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय की अपेक्षा रहता है, तो भी ***जं*** जिसे ***हरि-हर वि*** हरि-हर जैसे चतुर पुरुष भी ***अज्ज वि*** आज तक भी ***ण मुणंति*** नहीं जानते हैं। किसके बिना ? ***परम-समाहि-तवेण विणु*** वीतराग निर्विकल्प नित्यानंद अद्वितीय सुखरूप अमृत के रस के आस्वादरूप परमसमाधिभूत महातप के बिना नहीं जानते, ***सो*** उसे ***परमप्पु*** वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा ***भणंति*** कहते हैं ।

यहाँ किसी का प्रश्न है कि पूर्वभव में कोई जीव जिनदीक्षा धारणकर, व्यवहार-निश्चयरूप रत्नत्रय की आराधनाकर, महान पुण्य का उपार्जन करके अज्ञानभाव से निदानबंध करने के बाद स्वर्ग में उत्पन्न होता है; वहाँ से आकर मनुष्य होता है, वही तीन खंड का स्वामी वासुदेव (हरि) कहलाता है, और कोई जीव इसी भव में जिनदीक्षा लेकर विशिष्ट समाधि के बल से पुण्यबंध करता है, उसके बाद पूर्वकृत चारित्रमोह के उदय से विषयों में लीन हो रुद्र (हर) कहलाता है । इसलिये वे हरि-हरादि परमात्मा का स्वरूप कैसे नहीं जानते हैं ?

इसका समाधान यह है कि तुम्हारा कहना ठीक है । यद्यपि इन हरि-हरादि महान पुरुषों ने रत्नत्रय की आराधना की है, तथापि जिसप्रकार के वीतराग-निर्विकल्प-रत्नत्रयस्वरूप से तद्भव में मोक्ष होता है, वैसा रत्नत्रय इनके प्रगट नहीं हुआ, सरागरत्नत्रय हुआ है, इसी का नाम व्यवहाररत्नत्रय है । सो यह तो हुआ,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लेकिन शुद्धोपयोगरूप वीतरागरत्नत्रय नहीं हुआ, इसलिये वीतरागरत्नत्रय के धारक उसी भव से मोक्ष जाने वाले योगी उस परमात्मा को जैसा जानते हैं, वैसा ये हरि-हरादि नहीं जानते । इसीलिये परम शुद्धोपयोगियों की अपेक्षा इन्हें, नहीं जाननेवाले कहा गया है; क्योंकि जैसे स्वरूप के जानने से साक्षात् मोक्ष होता है, वैसा स्वरूप ये नहीं जानते।

यहाँ पर सारांश यह है कि जिस साक्षात् उपादेयभूत शुद्धात्मा की तद्भव मोक्ष के साधक महामुनि ही आराधना कर सकते हैं, और हरि-हरादि नहीं जान सकते, वही उपादेय है, चिंतवन करने योग्य है ॥४२॥

अथोत्पादव्ययपर्यायार्थिकनयेन संयुक्तोऽपि यः द्रव्यार्थिकनयेन उत्पादव्ययरहितः स एव परमात्मा निर्विकल्पसमाधिबलेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्ट इति निरूपयति—

भावाभावहिँ संजुवउ भावाभावहिँ जो जि ।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिँ मुणि परमप्पउ सो जि ॥४३॥

भावाभावाभ्यां संयुक्तः भावाभावाभ्यां य एव ।
देहे एव दृष्टः जिनवरैः मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥४३॥

भावाभावाभ्यां संयुक्तः पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययाभ्यां परिणतः द्रव्यार्थिकनयेन भावाभावयोः रहितः य एव वीतरागनिर्विकल्पसदानन्दैकसमाधिना तद्भवमोक्षसाधकाराधनासमर्थेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्टः तमेव परमात्मानं मन्यस्व जानीहि वीतरागपरमसमाधिबलेनानुभवेत्यर्थः ।

अत्र य एव परमात्मा कृष्णनीलकापोतलेश्यास्वरूपादिसमस्तविभावरहितेन शुद्धात्मोपलब्धिध्यानेन जिनवरैर्देहेऽपि दृष्टः स एव साक्षादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥४३॥

.....

आगे यद्यपि पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय से सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय रहित है, सदा ध्रुव अविनाशी ही है, वही परमात्मा निर्विकल्प समाधि के बल से तीर्थंकर-देवों ने देह में भी देख लिया है, ऐसा कहते हैं—

उत्पाद व्यय से सहित जो उत्पाद व्यय से रहित भी।
है देह में देखा जिनों ने मान परमातम वही॥४३॥

दोहार्थ— जो उत्पाद-व्यय से सहित भी है और उत्पाद-व्यय से रहित भी है, जिसे जिनवरों ने देह में ही देखा है, उसे तुम परमात्मा मानो ।

टीकार्थ— ***जो जि*** जो ***भावाभावहिँ*** व्यवहारनय की अपेक्षा यद्यपि उत्पाद

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और व्यय से ***संजुवउ*** सहित है; तो भी द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा ***भावाभावहिँ*** उत्पाद और विनाश से रहित है, तथा वीतराग निर्विकल्प सदा आनंद एक समाधि द्वारा तद्भव मोक्ष के साधक ***जिणवरहिँ*** जिनवरदेव ने ***देहि जि*** देह में भी ***दिट्ठउ*** देख लिया है, ***सो जि*** उसी को तुम ***परमप्पउ*** परमात्मा ***मुणि*** जानो; अर्थात् वीतराग परमसमाधि के बल से अनुभव करो ।

जो परमात्मा कृष्ण, नील, कापोत लेश्यारूप विभाव परिणामों से रहित शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप ध्यान द्वारा जिनवरदेव ने देह में देखा है, वही साक्षात् उपादेय है ।।४३।।

अथ येन देहे वसता पञ्चेन्द्रियग्रामो वसति गतेनोद्वसो भवति स एव परमात्मा भवतीति कथयति—

देहि वसंतें जेण पर इंदिय-गामु वसेइ ।
उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ।।४४।।

देहे वसता येन परं इन्द्रियग्रामः वसति ।
उद्वसो भवति गतेन स्फुटं स परमात्मा भवति ।।४४।।

देहे वसता येन परं नियमेनेन्द्रियग्रामो वसति येनात्मना निश्चयेनातीन्द्रियस्वरूपेणापि व्यवहारनयेन शुद्धात्मविपरीते देहे वसता स्पर्शनादीन्द्रियग्रामो वसति, स्वसंवित्त्यभावे स्वकीयविषये प्रवर्तत इत्यर्थः । उद्वसो भवति गतेन स एवेन्द्रियग्रामो यस्मिन् भवान्तरगते सत्युद्वसो भवति स्वकीयविषयव्यापाररहितो भवति स्फुटं निश्चितं स एवं लक्षणश्चिदानन्दैक-स्वभावः परमात्मा भवतीति ।

अत्र य एवातीन्द्रियसुखास्वादसमाधिरतानां मुक्तिकारणं भवति स एव सर्वप्रकारोपादे-यातीन्द्रियसुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ।।४४।।

आगे देह में जिसके रहने से पाँच इन्द्रियरूप गाँव बसता है, और जिसके निकल जाने से पंचेन्द्रियरूप ग्राम ऊजड़ हो जाता है, वह परमात्मा है, ऐसा कहते हैं—

देहस्थ जिससे इन्द्रियों का विषयवर्तन हो सदा ।
गतदेह जिसके नष्ट हो वर्तन वही परमातमा ।।४४।।

दोहार्थ— जिसके शरीर में रहने मात्र से इन्द्रियग्राम वसता है और जिसके चले जाने पर वह नियम से ऊजड़ हो जाता है, वही परमात्मा है (आत्मा के होने पर ही इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं)।

टीकार्थ— ***जेण पर देहि वसंतें*** जिसके केवल देह में रहने से ***इंदिय-गामु*** इन्द्रिय गाँव ***वसेइ*** रहता है, ***गएण*** और जिसके परभव में चले जाने पर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उव्वसु फुडु होइ नियम से ऊजड़ हो जाता है, ***सो*** वह ***परमप्पु*** परमात्मा ***हवेइ*** है ।

शुद्धात्मा से पृथक् इस देह में बसते हुये आत्म-ज्ञान के अभाव से ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में (रूपादि में) प्रवर्तन करती हैं, और जिसके चले जाने पर अपने-अपने विषय-व्यापार से रुक जाती हैं, ऐसा चिदानन्द निज आत्मा, वही परमात्मा है । अतीन्द्रियसुख के आस्वादी परमसमाधि में लीन हुए मुनियों को ऐसे परमातमा का ध्यान ही मुक्ति का कारण है, वही अतीन्द्रियसुख का साधक होने से सब तरह उपादेय है ।।४४।।

अथ यः पञ्चेन्द्रियैः पञ्चविषयान् जानाति स च तैर्न ज्ञायते स परमात्मा भवतीति निरूपयति—

जो णिय-करणहिँ पंचहिँ वि पंच वि विसय मुणेइ ।
मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ ।।४५।।

यः निजकरणैः पञ्चभिरपि पञ्चापि विषयान् जानाति ।
ज्ञातः न पञ्चभिः पञ्चभिरपि स परमात्मा भवति ।।४५।।

जो निजकरणैः पञ्चभिरपि पञ्चापि विषयान् मनुते जानाति । तद्यथा—यः कर्ता शुद्धनिश्चयनयेनातीन्द्रियज्ञानमयोऽपि अनादिबन्धवशादसद्भूतव्यवहारेणेन्द्रियमयशरीरं गृहीत्वा स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थत्वात्पञ्चेन्द्रियैः कृत्वा पञ्चविषयान् जानाति, इन्द्रियज्ञानेन परिणमतीत्यर्थः । पुनश्च कथंभूतः ? *मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ* मतो न ज्ञातो न पञ्चभिरिन्द्रियैः पञ्चभिरपि स्पर्शादिविषयैः । तथाहि—वीतरागनिर्विकल्प-स्वसंवेदनज्ञानविषयोऽपि पञ्चेन्द्रियैश्च न ज्ञात इत्यर्थः । स एवं लक्षणः परमात्मा भवतीति ।

अत्र य एव पञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादविपरीतेन वीतरागनिर्विकल्पपरमानन्द-समरसीभावसुखरसास्वादपरिणतेन समाधिना ज्ञायते, स *एवात्मोपादानसिद्धमित्यादि-विशेषणविशिष्टस्योपादेयभूतस्यातीन्द्रियसुखस्य साधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ।।४५।।**

.....

आगे जो पाँच इन्द्रियों से पाँच विषयों को जानता है, और आप इन्द्रियों के गोचर नहीं होता है, वही परमात्मा है, यह कहते हैं—

पञ्चेन्द्रियों से पाँच इन्द्रिय-विषय को जो जानता ।
पर ज्ञात ना पंचेन्द्रियों से विषय से परमातमा ।।४५।।

✡ संस्कृत सिद्ध भक्ति, पद्य ७, प्रथम पाद वाक्यांश ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— जो अपनी पाँचों इन्द्रियों द्वारा क्रमशः पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जानता है, परन्तु पाँचों इन्द्रियों से और उनके पाँचों विषयों से जो नहीं जाना जाता है; वह परमात्मा है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो आत्माराम शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, तो भी अनादि बंध के कारण व्यवहारनय से इन्द्रियमय शरीर को ग्रहणकर ***णिय-करणहिँ पंचहिँ वि*** अपनी पाँचों इन्द्रियों द्वारा ***पंच वि विसय*** रूपादि पाँचों ही विषयों को ***मुणेइ*** जानता है, अर्थात् इंद्रियज्ञानरूप परिणमन करके इन्द्रियों से रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श को जानता है; और आप ***पंचहिँ*** पाँच इन्द्रियों से तथा ***पंचहिँ वि*** पाँचों विषयों से भी ***मुणिउ ण*** नहीं जाना जाता, अगोचर है, ऐसे लक्षण जिसके हैं, ***सो परमप्पु*** वही परमात्मा ***हवेइ*** है ।

पाँच इंद्रियों के विषय-सुख के आस्वाद से विपरीत, वीतराग निर्विकल्प परमानंद समरसीभावमय, सुख-रस के आस्वादरूप, परमसमाधि से जो जाना जाता है, वही परमात्मा है, वह ज्ञानगम्य है, इन्द्रियों से अगम्य है, और ''***(आत्मोपादानसिद्धं***....अपने उपादान से प्रगट'' इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट) उपादेयरूप अतीन्द्रिय सुख का साधक होने से अपने स्वभावरूप वही परमात्मा उपादेय है, आराधन-योग्य है ।।४५।।

अथ यस्य परमार्थेन बन्धसंसारौ न भवतस्तमात्मानं व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि इति कथयति—

जसु परमत्थे बंधु णवि जोइय ण वि संसारु ।
सो परमप्पउ जाणि तुहुँ मणि मिल्लहिँ ववहारु ।।४६।।

यस्य परमार्थेन बन्धो नैव योगिन् नापि संसारः ।
तं परमात्मानं जानीहि त्वं मनसि मुक्त्वा व्यवहारम् ।।४६।।

जसु परमत्थे बंधु णवि जोइय ण वि संसारु **यस्य परमार्थेन बन्धो नैव हे योगिन् नापि संसारः । तद्यथा— यस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मनस्तद्विलक्षणो द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपः परमागमप्रसिद्धः पञ्चप्रकारः संसारो नास्ति, इत्थंभूतसंसारस्य कारणभूतप्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नकेवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षपदार्थाद्विलक्षणो बन्धोऽपि नास्ति, *सो परमप्पउ जाणि तुहुँ मणि मिल्लहिँ ववहारु* तमेवेत्थंभूतलक्षणं परमात्मानं मनसि व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि, वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः।**

अत्र य एव शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणेन संसारेण बन्धनेन च रहितः स एवानाकुलत्वलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतमोक्षसुखसाधकत्वादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ।।४६।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे जिसके निश्चय से बंध नहीं है, और संसार भी नहीं है, उस आत्मा को सब लौकिक-व्यवहार छोड़कर अच्छी तरह पहचानो, ऐसा कहते हैं—

जिसके नहीं है बंध ना संसार है परमार्थ से।
तू जान वह परमातमा मन मुक्त कर व्यवहार से॥४६॥

दोहार्थ— हे योगी ! जिसके परमार्थ से बन्ध नहीं है, संसार भी नहीं है; उस परमात्मा को तुम मन में से व्यवहार को छोड़कर जानो।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी, ***जसु*** जिस चिदानन्द शुद्धात्मा के ***परमत्थे*** निश्चय की अपेक्षा ***संसारु*** निज स्वभाव से भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार परिवर्तन (भ्रमण) स्वरूप संसार ***ण वि*** नहीं है, ***बंधु णवि*** और संसार का कारणभूत प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चार प्रकार का बंध भी नहीं है । जो बंध केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय की प्रगटतारूप मोक्ष-पदार्थ से पृथक् है, ***सो परमप्पउ*** उस परमात्मा को ***तुहुँ*** तुम ***मणि ववहारु मिल्लहिँ*** मन में से सब लौकिक-व्यवहार को छोड़कर तथा वीतराग समाधि में स्थित होकर ***जाणि*** जानो, भावना करो ।

शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न संसार और संसार का कारणभूत बंध, इन दोनों से रहित और आकुलता से रहित लक्षणवाले मोक्ष का मूलकारण जो शुद्धात्मा है, वही सर्वथा उपादेय है, आराधन-योग्य है ॥४६॥

अथ यस्य परमात्मनो ज्ञानं वल्लीवत् ज्ञेयास्तित्वाभावेन निवर्तते न च शक्त्यभावेनेति कथयति—

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि ।
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ मणेवि ॥४७॥

ज्ञेयाभावे वल्ली यथा तिष्ठति ज्ञानं वलित्वा ।
मुक्तानां यस्य पदे बिम्बितं परमस्वभावं मणित्वा ॥४७॥

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि ज्ञेयाभावे वल्ली यथा तथा ज्ञानं तिष्ठति व्यावृत्येति । यथा मण्डपाद्यभावे वल्ली व्यावृत्य तिष्ठति तथा ज्ञेयावलम्बनाभावे ज्ञानं व्यावृत्य तिष्ठति न च ज्ञातृत्वशक्त्यभावेनेत्यर्थः । कस्य संबन्धि ज्ञानम् ? ***मुक्कहँ*** मुक्तात्मनां ज्ञानम् । कथभूतम् ? ***जसु पय बिंबियउ*** यस्य भगवतः पदे परमात्मस्वरूपे बिम्बितं प्रतिफलितं तदाकारेण परिणतम् । कस्मात् ? ***परमसहाउ मणेवि*** परमस्वभाव इति मणित्वा मत्वा ज्ञात्वैवेत्यर्थः ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत्र यस्येत्थंभूतं ज्ञानं सिद्धसुखस्योपादेयस्याविनाभूतं स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ।।४७।।

आगे परमात्मा का ज्ञान सर्वव्यापक है, ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो ज्ञान से न जाना जावे, सब ही पदार्थ ज्ञान में भासित होते हैं, ऐसा कहते हैं—

है बेलवत ही केवली का ज्ञान ज्ञेयों के बिना ।
बढ़ता नहीं पर सभी प्रतिबिम्बित स्वभाव कहा गया ।।४७।।

दोहार्थ— जैसे बेल आधार के अभाव में रुक जाती है; उसीप्रकार मुक्तजीवों का ज्ञान भी, जानने की शक्ति होने पर भी, ज्ञेयों के अभाव में रुक जाता है; जिसके केवलज्ञान में परमस्वभाव प्रतिबिम्बित है, ऐसा जानकर उसी की आराधना करो।

टीकार्थ— ***जिम*** जैसे मंडप के अभाव से ***विल्लि*** बेल (लता) ***थक्कइ*** ठहर जाती है, अर्थात् जहाँ तक मंडप है, वहाँ तक तो चढ़ती है, और आगे मंडप का सहारा न मिलने से चढ़ने से रुक जाती है; उसीप्रकार ***मुक्कहँ*** मुक्त-जीवों का ***णाणु*** ज्ञान भी जहाँ तक ज्ञेय हैं, वहाँ तक फैल जाता है, और ***णेयाभावे*** ज्ञेय का अवलम्बन न मिलने से ***वलेवि*** जानने की शक्ति होने पर भी ***थक्कइ*** ठहर जाता है, अर्थात् कोई पदार्थ जानने से शेष नहीं रहता; सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों को ज्ञान जानता है; ऐसे तीन लोक के समान अंनत लोकालोक भी हों, तो भी एक समय में ही जान लें, ***जसु*** जिस भगवान परमात्मा के ***पय*** केवलज्ञान में ***परम-सहाउ*** अपना उत्कृष्ट स्वभाव सबके जाननेरूप ***बिंबियउ*** प्रतिभासित हो रहा है, अर्थात् ज्ञान सबका अंतर्यामी है, सर्वाकार ज्ञान की परिणति है, ऐसा ***मणेवि*** जानकर ज्ञान का आराधन करो ।

जहाँ तक मंडप हो, वहाँ तक ही बेल की वृद्धि होती है, और जहाँ मंडप का अभाव हो, वहाँ बेल भी स्थिर हो जाती है, आगे नहीं फैलती, लेकिन इससे बेल में विस्तार-शक्ति का अभाव नहीं कह सकते; इसीप्रकार केवली का ज्ञान सर्वव्यापक है, उनके ज्ञान में सब पदार्थ झलकते हैं, वही ज्ञान आत्मा का परम स्वभाव है, ऐसा जिसका ज्ञान है, वही शुद्धात्मा उपादेय है । यह ज्ञानानंदरूप आत्माराम है, वही महामुनियों के चित्त का विश्राम (ठहरने का स्थान) है ।।४७।।

न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते–
स्वयं में शक्ति न होने पर उसे अन्य द्वारा नहीं किया जा सकता ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ यस्य कर्माणि यद्यपि सुखदु:खादिकं जनयन्ति तथापि स न जनितो न हत इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयति—

कम्महिँ जासु जणंतहिँ वि णिउ णिउ कज्जु सया वि ।
किं पि ण जणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ॥४८॥

कर्मभि: यस्य जनयद्भिरपि निजनिजकार्यं सदापि ।
किमपि न जनितो हृत: नैव तं परमात्मानं भावय ॥४८॥

कर्मभिर्यस्य जनयद्भिरपि । किम् ? निजनिजकार्यं सदापि तथापि किमपि न जनितो हृतश्च नैव तं परमात्मानं भावयत । यद्यपि व्यवहारनयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रतिबन्धकानि कर्माणि सुखदु:खादिकं निजनिजकार्यं जनयन्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन अनन्तज्ञानादिस्वरूपं न हृतं न विनाशितं न चाभिनवं जनितमुत्पादितं किमपि यस्यात्मनस्तं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थ: ।

अत्र यदेव कर्मभिर्न हृतं न चोत्पादितं चिदानन्दैकस्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यार्थ: ॥४८॥

.....

आगे जो शुभ-अशुभ कर्म हैं, वे यद्यपि सुख-दु:खादि को उत्पन्न करते हैं; तो भी वह आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, उसे किसी ने बनाया नहीं; ऐसा अभिप्राय मन में रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—

निज-निज करम करते हुये भी न करें जिसमें कहीं ।
कुछ नष्ट वा उत्पन्न भा परमातमा नित है वही ॥४८॥

दोहार्थ— अपने-अपने कार्यों को सदा ही प्रगट करते हुए भी कर्म, जिसमें न तो कुछ उत्पन्न करते हैं, और न कुछ नष्ट ही करते हैं; तुम उस परमातमा की भावना करो ।

टीकार्थ— ***कम्महिँ*** ज्ञानावरणादि कर्म ***सया वि*** हमेशा ***णिउ णिउ कज्जु*** अपने-अपने सुख-दु:खादि कार्य को ***जणंतहिँ वि*** प्रगट करते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय से ***जासु*** जिस आत्मा का ***किं वि*** कुछ भी अर्थात् अनन्तज्ञानादिस्वरूप, ***ण जणियउ*** न तो नया पैदा किया और ***ण वि हरिउ*** न विनाश किया, और न किसी दूसरे प्रकार का किया, ***सो*** उस ***परमप्पउ*** परमात्मा का ***भावि*** तुम चिन्तवन करो ।

यद्यपि व्यवहारनय से शुद्धात्मस्वरूप के रोकनेवाले ज्ञानावरणादिकर्म अपने-अपने कार्य को करते हैं, अर्थात् ज्ञानावरण तो ज्ञान को ढँकने में निमित्त होता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है; दर्शनावरणकर्म दर्शन को आच्छादित करने में निमित्त होता है; वेदनीय साता-असाता उत्पन्न करके अतीन्द्रियसुख के घात में निमित्त होता है; मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्र को रोकने में निमित्त है; आयुकर्म स्थिति के प्रमाण जीव को शरीर में रखने में निमित्त होता है, अविनाशी भाव को प्रगट नहीं होने देता; नामकर्म नाना प्रकार के गति, जाति, शरीरादि को उत्पन्न होने में निमित्त है; गोत्रकर्म ऊँच-नीच गोत्र में डालने में निमित्त होता है; और अन्तरायकर्म अनन्तवीर्य (बल) को प्रगट नहीं होने देने में निमित्त होता है । —इसप्रकार ये कार्य को करते हैं; तो भी शुद्धनिश्चयनय से आत्मा के अनन्तज्ञानादिस्वरूप का न तो इन कर्मों ने नाश किया है और न नया उत्पन्न किया, आत्मा तो जैसा है वैसा ही है । ऐसे अखंड परमात्मा का तुम वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर ध्यान करो ।

यहाँ पर यह तात्पर्य है कि जो जीवपदार्थ कर्मों से न हरा गया है, न उत्पन्न हुआ है, और न ही किसी दूसरे प्रकार का किया गया है, वही चिदानन्दस्वरूप उपादेय है ।।४८।।

अथ यः कर्मनिबद्धोऽपि कर्मरूपो न भवति कर्मापि तद्रूपं न संभवति तं परमात्मानं भावयेति कथयति—

कम्म-णिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि ।
कम्मु वि जो ण कया वि फुडु सो परमप्पउ भावि ।।४९।।

कर्मनिबद्धोऽपि भवति नैव यः स्फुटं कर्म कदापि ।
कर्मापि यो न कदापि स्फुटं तं परमात्मानं भावय ।।४९।।

कम्मणिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि **कर्मनिबद्धोऽपि भवति नैव यः स्फुटं निश्चितम् । किं न भवति ? कर्म कदाचिदपि । तथाहि— यः कर्ता शुद्धात्मोपलम्भाभावेनोपार्जितेन ज्ञानावरणादिशुभाशुभकर्मणा व्यवहारेण बद्धोऽपि शुद्धनिश्चयेन कर्मरूपो न भवति । केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपं त्यक्त्वा कर्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः। पुनश्च किंविशिष्टः ? *कम्मु वि जो ण कया वि फुडु* कर्मापि यो न कदापि स्फुटं निश्चितम् । तद्यथा— ज्ञानावरणादिद्रव्यभावरूपं कर्मापि कर्तृभूतं यः परमात्मा न भवति, स्वकीयकर्मपुद्गलस्वरूपं विहाय परमात्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । *सो परमप्पउ भावि* तमेवंलक्षणं परमात्मानं भावय ।**

देहरागादिपरिणतिरूपं बहिरात्मानं मुक्त्वा शुद्धात्मपरिणतिभावनारूपेऽन्तरात्मनि स्थित्वा सर्वप्रकारोपादेयभूतं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानं भावयेति भावार्थः ।।४९।।

एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये यथा निर्मलो ज्ञानमयो व्यक्तिरूपः

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुद्धात्मा सिद्धौ तिष्ठति, तथाभूतः शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण देहेऽपि तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्विंशतिसूत्राणि गतानि ।

इसके बाद जो आत्मा कर्मों से अनादिकाल का बँधा हुआ है, तो भी कर्मरूप नहीं होता, और कर्म भी आत्मस्वरूप नहीं होते; आत्मा चैतन्य है, कर्म जड़ हैं, ऐसा जानकर उस परमात्मा का तुम ध्यान करो, ऐसा कहते हैं—

है बँधा जो कर्म से पर कभी कर्ममयी नहीं ।
ना कर्म भी उसमय कभी परमातमा भा है यही ॥४९॥

दोहार्थ— जो कर्मों से निबद्ध होने पर भी वास्तव में कर्मरूप कभी भी नहीं हुआ है, कर्म भी जिसरूप कभी भी नहीं हुये हैं; उस व्यक्त परमात्मा की तुम भावना करो ।

टीकार्थ— ***जो*** जो चिदानन्द आत्मा ***कम्मणिबद्धु वि*** ज्ञानावरणादिकर्मों से बँधा हुआ होने पर भी ***कयावि*** कभी भी ***कम्मु णवि फुडु*** कर्मरूप निश्चय से नहीं ***होइ*** होता, और ***कम्मु वि*** कर्म भी ***जो*** जिस परमात्मरूप ***कयावि फुडु*** कभी भी निश्चय से ***ण*** नहीं होते, ***सो*** उस पूर्वोक्त लक्षणोंवाले ***परमप्पउ*** परमात्मा का तुम ***भावि*** चिन्तवन करो ।

जो आत्मा अपने शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति के अभाव से उत्पन्न किये ज्ञानावरणादि शुभ-अशुभ कर्मों से व्यवहारनय की अपेक्षा बँधा हुआ है, तो भी शुद्धनिश्चयनय से कर्मरूप नहीं है, अर्थात् केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप अपने स्वरूप को छोड़कर कर्मरूप नहीं परिणमता, और ये ज्ञानावरणादि द्रव्य-भावरूप कर्म भी आत्मस्वरूप नहीं परिणमते, अर्थात् अपने जड़रूप पुद्गलपने को छोड़कर चैतन्यरूप नहीं होते; यह निश्चय है कि जीव अजीव नहीं होता और अजीव जीव नहीं होता । —ऐसी अनादिकाल की मर्यादा है ।

इसलिये कर्मों से भिन्न ज्ञान-दर्शनमयी सब प्रकार से उपादेयरूप (आराधन-योग्य) परमात्मा को तुम, देह-रागादि परिणतिरूप बहिरात्मपने को छोड़कर शुद्धात्मपरिणति की भावनारूप अन्तरात्मा में स्थिर होकर चिन्तवन करो, उसी का अनुभव करो, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥४९॥

ऐसे तीन प्रकार आत्मा के कहनेवाले पहले महाधिकार के पाँचवें स्थल में, जैसा निर्मल ज्ञानमयी प्रगटरूप शुद्धात्मा सिद्धलोक में विराजमान है, वैसा ही शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शक्तिरूप से देह में विराज रहा है, ऐसे कथन की मुख्यता से चौबीस दोहा-सूत्र कहे गये ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत ऊर्ध्वं स्वदेहप्रमाणव्याख्यानमुख्यत्वेन षट्सूत्राणि कथयन्ति । तद्यथा–

कि वि भणंति जिउ सव्वगउ जिउ जडु के वि भणंति ।
कि वि भणंति जिउ देह-समु सुण्णु वि के वि भणंति ॥५०॥

केऽपि भणन्ति जीवं सर्वगतं जीवं जडं केऽपि भणन्ति ।
केऽपि भणन्ति जीवं देहसमं शून्यमपि केऽपि भणन्ति ॥५०॥

केऽपि भणन्ति जीवं सर्वगतं, जीवं केऽपि जडं भणन्ति, केऽपि भणन्ति जीवं देहसमं, शून्यमपि केऽपि वदन्ति । तथाहि— केचन सांख्यनैयायिकमीमांसकाः सर्वगतं जीवं वदन्ति । सांख्याः पुनर्जडमपि कथयन्ति । जैनाः पुनर्देहप्रमाणं वदन्ति । बौद्धाश्च शून्यं वदन्तीति । एवं प्रश्नचतुष्टयं कृतमिति भावार्थः ॥५०॥

इससे आगे छह दोहा-सूत्रों में आत्मा व्यवहारनय की अपेक्षा अपनी देह के बराबर है, यह कहते हैं—

कोई कहें है सर्वगत यह जीव जड़ कोई कहें ।
कोई कहें है देह-सम है शून्य भी कोई कहें ॥५०॥

दोहार्थ— (नैयायिक, वेदान्ती, मीमांसक आदि) कोई जीव को सर्वगत (सर्वव्यापक) कहते हैं । (सांख्य आदि) कोई जीव को जड़ कहते हैं । (बौद्ध आदि) कोई जीव को शून्य भी कहते हैं । (जैन मतानुसार) कोई व्यवहारनय की अपेक्षा जीव को देह-प्रमाण और निश्चय की अपेक्षा लोक-प्रमाण कहते हैं ।— वह आत्मा कैसा है? कैसा नहीं है? इसप्रकार चार प्रश्न शिष्य ने किए हैं ।

टीकार्थ— ***कि वि*** कोई नैयायिक, वेदान्ती और मीमांसक-दर्शनवाले ***जिउ*** जीव को ***सव्वगउ*** सर्वव्यापक ***भणंति*** कहते हैं; ***कि वि*** कोई सांख्य-दर्शनवाले ***जिउ*** जीव को ***जडु*** जड़ ***भणंति*** कहते हैं, ***के वि*** कोई बौद्ध-दर्शनवाले ***जिउ*** जीव को ***सुण्णु वि*** शून्य भी ***भणंति*** कहते हैं, ***कि वि*** कोई जिनधर्मी जीव को ***देहसमु*** व्यवहारनय की अपेक्षा देहप्रमाण ***भणंति*** कहते हैं, और निश्चयनय की अपेक्षा लोकप्रमाण कहते हैं । वह आत्मा कैसा है ? और कैसा नहीं है ? ऐसे चार प्रश्न शिष्य ने किये, ऐसा तात्पर्य है ॥५०॥

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना ।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्ति नमामि तम् ॥

— *स्वरूपसम्बोधन, पद्य १*

जो कर्मों से मुक्त और ज्ञानादि से अमुक्त एक रूप, अविनाशी, ज्ञानमूर्ति हैं, उन परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ वक्ष्यमाणनयविभागेन प्रश्नचतुष्टयस्याप्यभ्युपगमं स्वीकारं करोति—

अप्पा जोइय सव्व-गउ अप्पा जडु वि वियाणि ।
अप्पा देह-पमाणु मुणि अप्पा सुण्णु वियाणि ॥५१॥

आत्मा योगिन् सर्वगतः आत्मा जडोऽपि विजानीहि ।
आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व आत्मानं शून्यं विजानीहि ॥५१॥

आत्मा हे योगिन् सर्वगतोऽपि भवति, आत्मानं जडमपि विजानीहि, आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व, आत्मानं शून्यमपि जानीहि । तद्यथा— हे प्रभाकरभट्ट वक्ष्यमाणविवक्षितनयविभागेन परमात्मा सर्वगतो भवति, जडोऽपि भवति, देहप्रमाणोऽपि भवति, शून्योऽपि भवति, नापि दोष इति भावार्थः ॥५१॥

आगे नय-विभाग से आत्मा सबरूप है; एकान्तवाद से अन्यवादी मानते हैं, वह उचित नहीं है; इसप्रकार चारों प्रश्नों को स्वीकार करके समाधान करते हैं—

है किसी नय से आतमा ही सर्वगत जड़ भी कहा ।
है देह-सम भी शून्य भी है किसी नय से यह कहा ॥५१॥

दोहार्थ— हे योगी ! नय-विभाग से आत्मा को सर्वगत तथा आत्मा को जड़ भी जानो, आत्मा को देह-प्रमाण तथा आत्मा को शून्य भी मानो, जानो ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे प्रभाकरभट्ट, ***अप्पा सव्वगउ*** आगे कहे जानेवाले नय के भेद से आत्मा सर्वगत भी है, ***अप्पा*** आत्मा ***जडु वि*** जड़ भी है ऐसा ***वियाणि*** जानो, ***अप्पा*** आत्मा को ***देहपमाणु*** देह के बराबर भी ***मुणि*** मानो, ***अप्पा*** आत्मा को ***सुण्णु*** शून्य भी ***वियाणि*** जानो । नय-विभाग से मानने में कोई दोष नहीं है, ऐसा तात्पर्य है ॥५१॥

अथ कर्मरहितात्मा केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति तेन कारणेन सर्वगतो भवतीति प्रतिपादयति—

अप्पा कम्म-विवज्जियउ केवल-णाणें जेण ।
लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण ॥५२॥

आत्मा कर्मविवर्जितः केवलज्ञानेन येन ।
लोकालोकमपि मन्यते जीव सर्वगः उच्यते तेन ॥५२॥

आत्मा कर्मविवर्जितः सन् केवलज्ञानेन करणभूतेन येन कारणेन लोकालोकं मनुते जानाति हे जीव सर्वगत उच्यते तेन कारणेन । तथाहि— अयमात्मा व्यवहारेण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति, देहमध्ये स्थितोऽपि निश्चयनयेन स्वात्मानं जानाति, तेन कारणेन व्यवहारनयेन ज्ञानापेक्षया रूपविषये दृष्टिवत्सर्वगतो भवति न च प्रदेशापेक्षयेति।

कश्चिदाह— यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं, न च निश्चयनयेनेति । परिहारमाह— यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावात्। यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुखदुःखरागद्वेषपरिज्ञाने सुखी दुःखी रागी द्वेषी च स्यादिति महद्दूषणं प्राप्नोतीति ।

अत्र येनैव ज्ञानेन व्यापको भण्यते तदेवोपादेयस्यानन्तसुखस्याभिन्नत्वादुपादेय-मित्यभिप्रायः ॥५२॥

आगे कर्मरहित आत्मा केवलज्ञान से लोक और अलोक दोनों को जानता है, इसलिये सर्वव्यापक भी होता है, ऐसा कहते हैं—

है कर्मवर्जित जीव केवलज्ञान से ही जानता।
सब लोक और अलोक इससे सर्वगत उसको कहा॥५२॥

दोहार्थ— हे जीव ! जिस कारण कर्म से रहित आत्मा केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानता ही है, उस कारण वह सर्वगत कहलाता है ।

टीकार्थ— ***अप्पा*** यह आत्मा ***कम्मविवज्जियउ*** कर्म रहित हुआ ***केवलणाणें*** केवलज्ञान से ***जेण*** जिस कारण ***लोयालोउ वि*** लोक और अलोक को ***मुणइ*** जानता है, ***तेण*** इसीलिये ***जिय*** हे जीव, ***सव्वगु*** सर्वगत ***वुच्चइ*** कहा जाता है ।

यह आत्मा व्यवहारनय की अपेक्षा केवलज्ञान से लोक-अलोक को जानता है, और शरीर में रहने पर भी निश्चयनय से अपने स्वरूप को जानता है, इस कारण ज्ञान की अपेक्षा तो व्यवहारनय से सर्वगत है, परन्तु प्रदेशों की अपेक्षा नहीं है । जैसे रूपवाले पदार्थों को नेत्र देखते हैं, परंतु उन पदार्थों से तन्मय नहीं होते, उसरूप नहीं होते हैं ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है—यदि व्यवहारनय से लोकालोक को जानता है, और निश्चयनय से नहीं, तो व्यवहार से सर्वज्ञपना हुआ, निश्चयनय से नहीं ? उसका समाधान करते हैं—जैसे अपने आत्मा को तन्मय होकर जानता है, उसप्रकार परद्रव्य को तन्मयपने से नहीं जानता, भिन्नस्वरूप जानता है, इस कारण व्यवहारनय से कहा, कुछ ज्ञान के अभाव से नहीं कहा । ज्ञान की अपेक्षा जानपना तो निज और पर का समान है । जैसे अपने को सन्देह रहित जानता है, वैसा ही पर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को भी जानता है, इसमें सन्देह नहीं समझना; लेकिन निज स्वरूप से तो तन्मय है, और पर से तन्मय नहीं है । निज को तन्मय होकर जैसे निश्चय से जानता है, उसी प्रकार यदि पर को भी तन्मय होकर जाने; तो पर के सुख, दु:ख, राग, द्वेष के ज्ञान होने पर सुखी, दु:खी, रागी, द्वेषी हो जाये; यह बड़ा दूषण है । परन्तु इसप्रकार तो कभी नहीं हो सकता ।

यहाँ जिस ज्ञान से सर्वव्यापक कहा, वही ज्ञान उपादेयभूत अतीन्द्रियसुख से अभिन्न है, सुखरूप है, ज्ञान और आनन्द में भेद नहीं है, वही ज्ञान उपादेय है, यह अभिप्राय जानना ।

इस दोहा में जीव को ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत कहा है ।।५२।।

अथ येन कारणेन निजबोधं लब्ध्वात्मन इन्द्रियज्ञानं नास्ति* तेन कारणेन जडो भवतीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति—

जे णिय-बोह-परिट्ठियहँ जीवहँ तुट्टइ णाणु ।
इंदिय-जणियउ जोइया तिं जिउ जडु वि वियाणु ।।५३।।

येन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां त्रुट्यति ज्ञानम् ।
इन्द्रियजनितं योगिन् तेन जीवं जडमपि विजानीहि ।।५३।।

येन कारणेन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां त्रुट्यति विनश्यति । किं कर्तृ ? ज्ञानम् । कथंभूतम् ? इन्द्रियजनितं, हे योगिन् तेन कारणेन जीवं जडमपि विजानीहि। तद्यथा— छद्मस्थानां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञाने सत्यपीन्द्रियजनितं ज्ञानं नास्ति, केवलज्ञानिनां पुनः सर्वदैव नास्ति तेन कारणेन जडत्वमिति ।

अत्र इन्द्रियज्ञानं हेयमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमिति भावार्थः ।।५३।।

.....

आगे आत्म-ज्ञान को पाकर इन्द्रिय-ज्ञान नाश को प्राप्त होता है, परमसमाधि में, आत्मस्वरूप में लीन है, (सामान्यतया) परवस्तु (ज्ञान) गम्य नहीं है, इसलिये नय-प्रमाण की अपेक्षा भी जड़ है; परन्तु ज्ञानाभावरूप जड़ नहीं है, चैतन्यरूप ही है; अपेक्षा से जड़ कहा जाता है, यह अभिप्राय मन में रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—

हैं प्रतिष्ठित निज ज्ञान में जो जीव उनके नष्ट है ।
इन्द्रियजनित सब ज्ञान इससे कथंचित् जड़ कहा है ।।५३।।

---

* पाठान्तर - नास्ति = नश्यति ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— क्योंकि आत्म-ज्ञान में प्रतिष्ठित जीवों के इन्द्रियजनित ज्ञान नष्ट हो जाता है, अत: हे योगी ! जीव को जड़ भी जानो ।

टीकार्थ— ***जे*** जिस अपेक्षा ***णियबोहपरिट्ठियहँ*** आत्म-ज्ञान में प्रतिष्ठित ***जीवहँ*** जीवों के ***इंदियजणियउ णाणु*** इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान ***तुट्टइ*** नाश को प्राप्त होता है; ***जोइया*** हे योगी, ***तिं*** उसी कारण से ***जिउ*** जीव को ***जडु वि*** जड़ भी ***वियाणु*** जानो ।

महामुनियों के वीतराग निर्विकल्प-समाधि के समय स्वसंवेदनज्ञान होने पर भी इन्द्रियजनित ज्ञान नहीं है, और केवलज्ञानियों के तो किसी भी समय इन्द्रिय ज्ञान नहीं है, केवल अतीन्द्रिय ज्ञान ही है; इसलिये इंद्रिय-ज्ञान के अभाव की अपेक्षा आत्मा को जड़ भी कहा जा सकता है ।

यहाँ पर इन्द्रिय-ज्ञान हेय है, और अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है, यह सारांश हुआ ॥५३॥

अथ शरीरनामकर्मकारणरहितो जीवो न वर्धते न च हीयते तेन कारणेन मुक्तश्चरमशरीरप्रमाणो भवतीति निरूपयति—

कारण-विरहिउ सुद्ध-जिउ वड्ढइ खिरइ ण जेण ।
चरम-सरीर-पमाणु जिउ जिणवर बोल्लहिँ तेण ॥५४॥

कारणविरहित: शुद्धजीव: वर्धते क्षरति न येन ।
चरमशरीरप्रमाणं जीवं जिनवरा: ब्रुवन्ति तेन ॥५४॥

कारणविरहित: शुद्धजीवो वर्धते क्षरति हीयते न येन कारणेन चरमशरीरप्रमाणं मुक्तजीवं जिनवरा भवन्ति तेन कारणेनेति । तथाहि–यद्यपि संसारावस्थायां हानिवृद्धि-कारणभूतशरीरनामकर्मसहितत्वाद्धीयते वर्धते च तथापि मुक्तावस्थायां हानिवृद्धिकारणा-भावाद्वर्धते हीयते च नैव, चरमशरीरप्रमाण एव तिष्ठतीत्यर्थ: ।

कश्चिदाह— मुक्तावस्थायां प्रदीपवदावरणाभावे सति लोकप्रमाणविस्तारेण भाव्यमिति। तत्र परिहारमाह— प्रदीपस्य योऽसौ प्रकाशविस्तार: स स्वभावज एव न त्वपरजनित: पश्चाद्भाजनादिना साद्यावरणेन प्रच्छादितस्तेन कारणेन तस्यावरणाभावेऽपि प्रकाशविस्तारो घटते एव । जीवस्य पुनरनादिकर्मप्रच्छादितत्वात्पूर्वं स्वभावेन विस्तारो नास्ति । किंरूपसंहारविस्तरौ ? शरीरनामकर्मजनितौ । तेन कारणेन शुष्कमृत्तिकाभाजनवत् कारणाभावादुपसंहारविस्तरौ न भवत: । चरमशरीरप्रमाणेन तिष्ठतीति ।

अत्र य एव मुक्तौ शुद्धबुद्धस्वभाव: परमात्मा तिष्ठति तत्सदृशो रागादिरहितकाले स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थ: ॥५४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे शरीरनामक नामकर्मरूप कारण से रहित यह जीव न घटता है, और न बढ़ता है, इस कारण मुक्त-अवस्था में चरम-शरीर से कुछ कम पुरुषाकार रहता है, इसलिये शरीर-प्रमाण भी कहा जाता है; ऐसा कहते हैं—

हैं कर्मविरहित शुद्ध आतम ना बढ़ें ना घटें ही ।
अन्तिम शरीर-प्रमाण रहते जिनवरों का मत यही ॥५४॥

दोहार्थ— जिस कारण कर्म विरहित शुद्ध जीव न बढ़ते हैं और न घटते हैं, उस कारण जिनेन्द्रदेव जीव को अन्तिम शरीर-प्रमाण कहते हैं ।

टीकार्थ— ***जेण*** जिस ***कारणविरहिउ*** हानि-वृद्धि के कारणभूत शरीर नामकर्म से रहित हुआ ***सुद्धजिउ*** शुद्धजीव ***ण वड्ढइ खिरइ*** न तो बढ़ता है, और न घटता है; ***तेण*** उसी कारण ***जिणवर*** जिनेन्द्रदेव ***जिउ*** जीव को ***चरमशरीरपमाणु*** चरम शरीर-प्रमाण ***बोल्लहिँ*** कहते हैं।

यद्यपि संसार अवस्था में हानि-वृद्धि का कारण शरीरनामक नामकर्म है, उसके सम्बन्ध से जीव घटता है; और बढ़ता है; जब महामच्छ का शरीर पाता है, तब तो शरीर की वृद्धि होती है, और जब निगोदिया शरीर धारण करता है, तब घट जाता है, और मुक्त अवस्था में हानि-वृद्धि का कारण जो नामकर्म, उसका अभाव होने से जीव के प्रदेश न तो सिकुड़ते हैं, न फैलते हैं; किन्तु चरम शरीर से कुछ कम पुरुषाकार ही रहते हैं, इसलिये शरीर-प्रमाण हैं, यह निश्चय हुआ ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब तक दीपक के आवरण है, तब तक तो प्रकाश नहीं हो सकता है, और जब उसके रोकनेवाले का अभाव हुआ, तब प्रकाश विस्तृत होकर फैल जाता है; उसीप्रकार मुक्त-अवस्था में आवरण का अभाव होने से आत्मा के प्रदेश लोक-प्रमाण फैलने चाहिये, शरीर-प्रमाण ही क्यों रह गये?

उसका समाधान यह है कि दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह स्वभाव से होता है, पर से उत्पन्न नहीं हुआ है, पीछे भाजन आदि से अथवा दूसरे आवरण से आच्छादित किया गया, तब वह प्रकाश संकोच को प्राप्त हो जाता है; जब आवरण का अभाव होता है, तब प्रकाश विस्ताररूप हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है; परन्तु जीव का प्रकाश अनादिकाल से कर्मों से ढका हुआ है, पहले कभी विस्ताररूप नहीं हुआ । शरीर-प्रमाण ही संकोचरूप और विस्ताररूप हुआ । जीव के प्रदेशों का प्रकाश संकोच-विस्ताररूप शरीरनामकर्म से उत्पन्न हुआ है, इस कारण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सूखी मिट्टी के बर्तन के समान, कारण के अभाव से संकोच-विस्ताररूप नहीं होता, शरीर-प्रमाण ही रहता है ।

जैसे जब तक मिट्टी का बर्तन जल से गीला रहता है, तब तक जल के सम्बन्ध से वह घट-बढ़ जाता है, और जब जल का अभाव हुआ, तब बर्तन सूख जाने से घटता-बढ़ता नहीं है— जैसे का तैसा रहता है । उसीप्रकार इस जीव के जब तक नामकर्म का सम्बन्ध है, तब तक संसार-अवस्था में शरीर की हानि-वृद्धि होती है, उसकी हानि-वृद्धि से प्रदेश सिकुड़ते हैं और फैलते हैं । तथा सिद्ध-अवस्था में नामकर्म का अभाव हो जाता है, इस कारण शरीर न होने से प्रदेशों का संकोच-विस्तार नहीं होता, सदा एक से ही रहते हैं । जिस शरीर से मुक्त हुआ, उसी प्रमाण कुछ कम रहता है । दीपक का प्रकाश तो स्वभाव से उत्पन्न है, इससे आवरण से आच्छादित हो जाता है । जब आवरण दूर हो जाता है, तब प्रकाश सहज ही विस्तृत हो जाता है ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि जैसा शुद्ध-बुद्ध स्वभाव परमात्मा मुक्ति में विराज रहा है, वैसा ही शरीर में भी विराज रहा है । जब राग का अभाव होता है, उस काल में यह आत्मा परमात्मा के समान है, यही उपादेय है ।।५४।।

अथाष्टकर्माष्टादशदोषरहितत्वापेक्षया शून्यो भवतीति न च केवलज्ञानादिगुणापेक्षया चेति दर्शयति—

अट्ठ वि कम्मइँ बहुविहइँ णवणव दोस वि जेण ।
सुद्धहँ एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण ।।५५।।

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन ।
शुद्धानां एकोऽपि अस्ति नैव शून्योऽपि उच्यते तेन ।।५५।।

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन कारणेन शुद्धात्मनां तन्मध्ये चैकोऽप्यस्ति नैव शून्योऽपि भण्यते तेन कारणेनैवेति । तद्यथा— शुद्धनिश्चयनयेन ज्ञानावरणाद्यष्टद्रव्यकर्माणि क्षुधादिदोषकारणभूतानि क्षुधातृषादिरूपाष्टादशदोषा अपि कार्यभूताः, अपिशब्दात्सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणरूपेण शुद्धजीवत्वे सत्यपि दशप्राणरूपमशुद्धजीवत्वं च नास्ति तेन कारणेन संसारिणां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण रागादिविभावशून्यं च भवति । मुक्तात्मनां तु व्यक्तिरूपेणापि । न चात्मानन्तज्ञानादिगुणशून्यत्वमेकान्तेन बौद्धादिमतवदिति । तथा चोक्तं पञ्चास्तिकाये—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

''जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स ।
*ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ।।''**

अत्र य एव मिथ्यात्वरागादिभावेन शून्यश्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थः प्रतिपादितः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः।।५५।।

एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये य एव ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापको भणितः स एव परमात्मा निश्चयनयेनासंख्यातप्रदेशोऽपि स्वदेहमध्ये तिष्ठतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कं गतम् ।

.....

आगे आठ कर्म और अठारह दोषों से रहित तथा विभाव-भावों से रहित होने के कारण शून्य कहा जाता है; लेकिन केवलज्ञानादि गुणों की अपेक्षा शून्य नहीं है, सदा पूर्ण ही है; ऐसा दिखलाते हैं—

हैं कर्म बहुविध अष्ट अठदश दोष में से एक भी ।
हैं नहीं शुद्धों के अतः कहते उन्हें हैं शून्य भी ।।५५।।

दोहार्थ— जिसकारण अनेक भेद वाले आठों कर्मों में से और अठारह दोषों में से एक भी शुद्धात्माओं के नहीं हैं, उस कारण उन्हें शून्य भी कहते हैं ।

टीकार्थ— ***जेण*** जिस कारण ***अट्ठ वि*** आठों ही ***बहुविहइँ कम्मइँ*** अनेक भेदोंवाले कर्म और ***णवणव दोस वि*** अठारह ही दोष— इनमें से ***एक्कु वि*** एक भी ***सुद्धहँ*** शुद्धात्माओं के ***णवि अत्थि*** नहीं हैं, ***तेण*** इसलिये ***सुण्णु वि*** शून्य भी ***वुच्चइ*** कहे जाते हैं।

इस आत्मा के शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं, क्षुधादि दोषों के कारणभूत कर्मों के नष्ट हो जाने से कार्यभूत क्षुधा-तृषादि अठारह दोष भी नहीं हैं; और अपि शब्द से सत्ता, चैतन्य, ज्ञान, आनंदादि शुद्ध प्राण होने पर भी इंद्रियादि दश अशुद्धरूप प्राण नहीं हैं; इसलिये संसारी-जीवों के भी शुद्ध निश्चयनय से शक्तिरूप से शुद्धपना है, रागादि विभाव-भावों की शून्यता ही है । तथा सिद्ध जीवों के तो सब प्रकार से प्रगटरूप रागादि से रहितपना है, इसलिये विभावों से रहितपने की अपेक्षा शून्यभाव है; इसी अपेक्षा से आत्मा को शून्य भी कहते हैं । ज्ञानादि शुद्ध भाव की अपेक्षा सदा पूर्ण ही है,अतः जिसप्रकार बौद्धमती सर्वथा शून्य मानते हैं, वैसा अनंतज्ञानादि गुणों से शून्य कभी नहीं हो सकता ।

---

* पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ३५ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसा कथन श्रीपंचास्तिकाय में भी किया है— ***''जेसिं जीवसहावो''*** इत्यादि — इसका अभिप्राय यह है कि ''जिन सिद्धों के जीव का स्वभाव निश्चल है, जिस स्वभाव का सर्वथा अभाव नहीं है, वे सिद्धभगवान देह से रहित हैं और वचन के विषय से रहित हैं अर्थात् उनका स्वभाव वचनों से नहीं कह सकते ।''

यहाँ मिथ्यात्व, रागादिभाव की अपेक्षा शून्य तथा एक चिदानंदस्वभाव से पूर्ण जो परमात्मा कहा गया है, अर्थात् विभाव से शून्य और स्वभाव से पूर्ण कहा गया है, वही उपादेय है, ऐसा तात्पर्य हुआ ।।५५।।

ऐसे जिसमें तीन प्रकार के आत्मा का कथन है, ऐसे पहले महाधिकार में जो ज्ञान की अपेक्षा व्यवहारनय से लोकालोकव्यापक कहा गया, वही परमात्मा निश्चयनय से असंख्यातप्रदेशी है, तो भी अपने देह के प्रमाण रहता है, इस व्याख्यान की मुख्यता से छह दोहा-सूत्र कहे गये ।

तदनन्तरं द्रव्यगुणपर्यायनिरूपणमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं कथयति । तद्यथा—

अप्पा जणियउ केण ण वि अप्पें जणिउ ण कोइ ।
दव्व-सहावें णिच्चु मुणि पज्जउ विणसइ दोइ ।।५६।।

आत्मा जनितः केन नापि आत्मना जनितं न किमपि ।
द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व पर्यायः विनश्यति भवति ।।५६।।

आत्मा न जनितः केनापि आत्मना कर्तृभूतेन जनितं न किमपि, द्रव्यस्वभावेन नित्यमात्मानं मन्यस्व जानीहि । पर्यायो विनश्यति भवति चेति । तथाहि— संसारिजीवः शुद्धात्मसंवित्त्यभावेनोपार्जितेन कर्मणा यद्यपि व्यवहारेण जन्यते स्वयं च शुद्धात्मसंवित्तिच्युतः सन् कर्माणि जनयति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण कर्मकर्तृभूतेन नरनारकादिपर्यायेण न जन्यते स्वयं च कर्मनोकर्मादिकं न जनयतीति । आत्मा पुनर्न केवलं शुद्धनिश्चयनयेन व्यवहारेणापि न च जन्यते न च जनयति तेन कारणेन द्रव्यार्थिकनयेन नित्यो भवति, पर्यायार्थिकनयेनोत्पद्यते विनश्यति चेति ।

अत्राह शिष्य— मुक्तात्मनः कथमुत्पादव्ययाविति । परिहारमाह *आगमप्रसिद्ध्या-गुरुलघुकगुणहानिवृद्ध्यपेक्षया, अथवा येनोत्पादादिरूपेण ज्ञेयं वस्तु परिणमति तेन परिच्छित्त्याकारेण ज्ञानपरिणत्यपेक्षया, अथवा मुक्तौ संसारपर्यायविनाशः सिद्धपर्यायोत्पादः शुद्धजीवद्रव्यं ध्रौव्यापेक्षया च सिद्धानामुत्पादव्ययौ ज्ञातव्याविति ।

अत्र तदेव सिद्धस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ।।५६।।

✡ पाठान्तर - आगमप्रसिद्धया - आगमप्रसिद्ध ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे द्रव्य, गुण, पर्याय के कथन की मुख्यता से तीन दोहे कहते हैं—

यह आतमा ना किसी से उत्पन्न है ना किसी को ।
उत्पन्न करता अतः ध्रुव है क्षणिक मानो दशा को ।।५६।।

दोहार्थ— यह आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ है और इस आत्मा से भी कोई भी द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ है, अतः इसे द्रव्य स्वभाव से नित्य मानो; पर्यायें उत्पन्न होती हैं, नष्ट होती हैं ।

टीकार्थ— ***अप्पा*** यह आत्मा ***केण वि*** किसी से भी ***जणियउ ण*** उत्पन्न नहीं हुआ है, ***अप्पैं*** और इस आत्मा से भी ***कोइ*** कोई भी द्रव्य ***जणिउ ण*** उत्पन्न नहीं हुआ है, अतः इसे ***दव्वसहावें*** द्रव्यस्वभाव से ***णिच्चु*** नित्य ***मुणि*** जानो, ***पज्जउ*** पर्यायभाव से ***विणसइ होइ*** विनाशीक है ।

यह संसारी-जीव यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा शुद्धात्मज्ञान के अभाव से उपार्जन किये ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मों के निमित्त से, नर-नारकादि पर्यायों से उत्पन्न होता है, और नष्ट होता है; और आप भी शुद्धात्मज्ञान से रहित हुआ, कर्मों को उत्पन्न करता है; तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शक्तिरूप शुद्ध ही है, कर्मों से उत्पन्न हुई नर-नारकादि पर्यायरूप नहीं होता, और आप भी कर्म-नोकर्मादिक को नहीं बाँधता । (आत्मा मात्र शुद्ध निश्चयनय से ही नहीं, अपितु) व्यवहार से भी न किसी से जन्मता है, न किसी से विनाश को प्राप्त होता है, न किसी को उत्पन्न करता है, कारण-कार्य से रहित है । कारण उत्पन्न करने वाले को कहते हैं, कार्य उत्पन्न होने वाले को कहते हैं । ये दोनों भाव वस्तु में नहीं है, इससे द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जीव नित्य है, और पर्यायार्थिकनय से उत्पन्न होता है, तथा विनाश को प्राप्त होता है ।

यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है— संसारी जीवों के तो नर-नारकी आदि पर्यायों की अपेक्षा उत्पत्ति और मरण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं; परंतु सिद्धों के उत्पाद, व्यय किसप्रकार हो सकता है ? क्योंकि उनके विभाव-पर्याय नहीं है, स्वभाव-पर्याय ही है; और वे सदा अखंड, अविनश्वर ही हैं । इसका समाधान यह है— जैसा उत्पन्न होना-मरना, चारों गतियों में संसारीजीवों के है, वैसा तो उन सिद्धों के नहीं है, वे अविनाशी हैं; परन्तु शास्त्रों में प्रसिद्ध अगुरुलघुक गुण की परिणति-रूप अर्थपर्याय है, वह समय-समय में आविर्भाव-तिरोभावरूप होती है । अर्थात् प्रति समय पूर्वपरिणति का व्यय होता है और आगे की पर्याय का आविर्भाव (उत्पाद) होता है । इस अर्थपर्याय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय जानना, अन्य संसारी-जीवों के समान नहीं जानना ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सिद्धों के एक तो अर्थपर्याय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय कहा है । अर्थपर्याय में षट्गुणी हानि और वृद्धि होती है । अनंतभागवृद्धि १, असंख्यातभागवृद्धि २, संख्यातभागवृद्धि ३, संख्यातगुणवृद्धि ४, असंख्यातगुणवृद्धि ५, अनंतगुणवृद्धि ६; अनंतभागहानि १, असंख्यातभागहानि २, संख्यातभागहानि ३, संख्यातगुणहानि ४, असंख्यातगुणहानि ५, अनंतगुणहानि ६; — ये षट्गुणी हानि-वृद्धि के नाम कहे हैं । इनका स्वरूप तो केवली के गम्य है, इस षट्गुणी हानि-वृद्धि की अपेक्षा सिद्धों के उत्पाद-व्यय कहा जाता है ।

अथवा समस्त ज्ञेयपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन करते हैं, वे सब पदार्थ सिद्धों के ज्ञान-गोचर हैं । ज्ञेयाकार ज्ञान की परिणति है, इसलिये जब ज्ञेय-पदार्थ में उत्पाद-व्यय हुआ, तब ज्ञान में सब प्रतिभासित हुआ; इसप्रकार ज्ञान की परिणति की अपेक्षा उत्पाद-व्यय जानना । अथवा जब सिद्ध हुए,तब संसार-पर्याय का विनाश हुआ, सिद्धपर्याय का उत्पाद हुआ, तथा द्रव्य स्वभाव से सदा ध्रुव ही है ।

सिद्धों के जन्म, जरा, मरण नहीं हैं; सदा अविनाशी हैं । सिद्ध का स्वरूप सब उपाधियों से रहित है, वही उपादेय है, यह भावार्थ जानना ।।५६।।

अथ द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं प्रतिपादयति—

तं परियाणहि दव्वु तुहुँ जं गुण-पज्जय-जुत्तु ।
सह-भुव जाणहि ताहँ गुण कम-भुव पज्जउ वुत्तु ।।५७।।

तत् परिजानीहि द्रव्यं त्वं यत् गुणपर्याययुक्तम् ।
सहभुवः जानीहि तेषां गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः ।।५७।।

तं परियाणहि दव्वु तुहुँ जं गुणपज्जयजुत्तु तत्परि समन्ताज्जानीहि द्रव्यं त्वम्। तत्किम्? यद्गुणपर्याययुक्तं । गुणपर्यायस्य स्वरूपं कथयति— *सहभुव जाणहि ताहँ गुण कमभुव पज्जउ वुत्तु* सहभुवो जानीहि तेषां द्रव्याणां गुणाः, क्रमभुवः पर्याया उक्ता भणिता इति । तद्यथा— *'गुणपर्ययवद् द्रव्यं'*[१] ज्ञातव्यम् । इदानीं तस्य द्रव्यस्य गुणपर्यायाः कथ्यन्ते । *'सहभुवो गुणाः, क्रमभुवः पर्याया'*[२], इदमेकं तावत्सामान्यलक्षणम्। *'अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः'*[३], इति द्वितीयं च । यथा जीवस्य ज्ञानादयः पुद्गलस्य वर्णादयश्चेति । ते च प्रत्येकं द्विविधाः स्वभावविभावभेदेनेति । तथाहि—

१. मोक्षशास्त्र पंचमोध्याय, सूत्र ३८ ।
२. आलापपद्धति, सूत्र ९२ ।
३. प्रवचनसार, गाथा ९३ की तात्पर्यवृत्ति टीका ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जीवस्य तावत्कथ्यन्ते— सिद्धत्वादयः स्वभावपर्यायाः केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा असाधारणा इति । अगुरुलघुकाः स्वभावगुणास्तेषामेव गुणानां षड्हानिवृद्धिरूपस्वभाव-पर्यायाश्च सर्वद्रव्यसाधारणाः। तस्यैव जीवस्य मतिज्ञानादिविभावगुणा नरनारकादि-विभावपर्यायाश्च इति ।

इदानीं पुद्गलस्य कथ्यन्ते— केवलपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावपर्यायः वर्णान्तरादिरूपेण परिणमनं वा । तस्मिन्नेव परमाणौ वर्णादयः स्वभावगुणा इति, द्व्यणुकादिरूपस्कन्धरूपविभावपर्यायास्तेष्वेव द्व्यणुकादिस्कन्धेषु वर्णादयो विभावगुणा इति भावार्थः । धर्माधर्माकाशकालानां स्वभावगुणपर्यायास्ते च यथावसरं कथ्यन्ते । विभावपर्यायास्तूपचारेण यथा घटाकाशमित्यादि ।

अत्र शुद्धगुणपर्यायसहितः शुद्धजीव एवोपादेय इति भावार्थः ॥५७॥

.....

आगे द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप कहते हैं—

है गुण तथा पर्याय से संयुक्त जो वह द्रव्य ही।
नित साथ रहते गुण सभी पर्याय क्रमभावी कहीं॥५७॥

दोहार्थ— जो गुण और पर्यायों से सहित है उसे तुम द्रव्य जानो। जो सदा उनके साथ रहते हैं, उन्हें गुण जानो तथा जो क्रम से होती हैं, उन्हें पर्याय कहते हैं ।

टीकार्थ— ***जं*** जो ***गुणपज्जयजुत्तु*** गुण और पर्यायों से सहित है, ***तं*** उसे ***तुह*** हे प्रभाकरभट्ट ! तुम ***दव्वु*** द्रव्य ***परियाणहि*** जानो । ***सहभुव*** जो सदाकाल पाये जायें, नित्यरूप हों, वे तो ***ताहँ गुण*** उन द्रव्यों के गुण हैं; ***कमभुव*** और जो द्रव्य की अनेकरूप परिणति क्रम से हों अर्थात् अनित्यपनेरूप प्रतिसमय उत्पन्न हों, नष्ट हों, नानास्वरूप हों, वे ***पज्जउ*** पर्याय ***जुत्तु*** कही जाती हैं; ***जाणहि*** —ऐसा जानो । जो द्रव्य होता है, वह गुण-पर्याय से सहित होता है । यही कथन तत्त्वार्थसूत्र में किया है "गुणपर्ययवद् द्रव्यं" ।

अब गुण-पर्याय का स्वरूप कहते हैं— "सहभुवो गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः" यह नयचक्र ग्रंथ का वचन है, अथवा, "अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः"— इनका अर्थ ऐसा है कि गुण तो सदा द्रव्य से सहभावी हैं, द्रव्य में हमेशा एकरूप, नित्यरूप पाये जाते हैं; और पर्याय नानारूप होती हैं, जो परिणति पहले समय में थी, वह दूसरे समय में नहीं होती, समय-समय में उत्पाद-व्ययरूप होती है, इसलिये पर्याय क्रमवर्ती कही जाती है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अब इसका विस्तार करते हैं— जीव द्रव्य के ज्ञान आदि अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत गुण हैं; और पुद्गल-द्रव्य के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि अनंतगुण हैं; सो ये गुण तो द्रव्य में सहभावी हैं, अन्वयी हैं, सदा नित्य हैं, कभी द्रव्य से तन्मयपना नहीं छोड़ते ।

पर्याय के दो भेद हैं— एक तो स्वभाव, दूसरा विभाव । जीव के, सिद्धत्वादि स्वभाव-पर्याय हैं, और केवलज्ञानादि स्वभाव-गुण हैं । ये तो जीव में ही पाये जाते हैं, अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते । तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व आदि ये स्वभावगुण सब द्रव्यों में पाये जाते हैं । अगुरुलघु गुण का परिणमन षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप है । यह स्वभावपर्याय सभी द्रव्यों में है, कोई द्रव्य षट्गुणी हानि-वृद्धि बिना नहीं है, यही अर्थ-पर्याय कही जाती है, यह शुद्ध पर्याय है । यह शुद्ध पर्याय संसारी-जीवों के, सब अजीव-पदार्थों के तथा सिद्धों के पायी जाती है; और सिद्धपर्याय तथा केवलज्ञानादि गुण सिद्धों के ही पाये जाते हैं, दूसरों के नहीं । संसारी-जीवों के मतिज्ञानादि विभावगुण और नर-नारकी आदि विभावपर्यायें पायी जाती हैं । ये तो जीव-द्रव्य के गुण-पर्याय कहे ।

पुद्गल के परमाणुरूप तो द्रव्य तथा वर्ण आदि स्वभावगुण और एक वर्ण से दूसरे वर्णरूप होना, ये विभावगुण व्यञ्जन-पर्याय तथा एक परमाणु में दो-तीन इत्यादि अनेक परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होना, ये विभावद्रव्य व्यञ्जन-पर्याय हैं । द्व्यणुकादि स्कन्ध में जो वर्ण आदि हैं, वे विभावगुण कहे जाते हैं, और वर्ण से वर्णान्तर होना, रस से रसान्तर होना, गन्ध से अन्य गन्ध होना—यह विभाव-पर्याय है । परमाणु शुद्ध द्रव्य में एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध, और शीत-उष्ण में से एक, तथा रूखे-चिकने में से एक, ऐसे दो स्पर्श—इसप्रकार पाँच गुण तो मुख्य हैं, इनके साथ ही अस्तित्वादि अनन्तगुण हैं, वे स्वभाव-गुण कहे जाते हैं; और परमाणु का जो आकार वह स्वभावद्रव्य व्यञ्जन-पर्याय है, तथा वर्णादि गुणरूप परिणमन वह स्वभावगुण व्यञ्जन-पर्याय है । जीव और पुद्गल इन दोनों में तो स्वभाव और विभाव दोनों हैं; तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल— इन चारों में अस्तित्वादि स्वभाव गुण ही हैं, और अर्थपर्याय षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वभाव-पर्याय सभी के हैं । धर्मादि चार पदार्थों के विभावगुण-पर्याय नहीं हैं । आकाश के घटाकाश-मठाकाश इत्यादि की जो कहावत है, वह उपचारमात्र है ।

ये षट् द्रव्यों के गुण-पर्याय कहे गये हैं । इन षट् द्रव्यों में जो शुद्ध गुण, शुद्ध पर्याय सहित शुद्ध जीवद्रव्य है, वही उपादेय है/आराधन-योग्य है ।।५७।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ जीवस्य विशेषेण द्रव्यगुणपर्यायान् कथयति—

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुँ गुण पुणु दंसणु णाणु ।
पज्जय चउ-गइ-भाव तणु कम्म-विणिम्मिय जाणु ॥५८॥

आत्मानं बुध्यस्व द्रव्यं त्वं गुणौ पुनः दर्शनं ज्ञानम् ।
पर्यायान् चतुर्गतिभावान् तनुं कर्मविनिर्मितान् जानीहि ॥५८॥

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुँ आत्मानं द्रव्यं बुध्यस्व जानीहि त्वम्। *गुण पुणु दंसणु णाणु* गुणौ पुनर्दर्शनं ज्ञानं च। *पज्जय चउगइभाव तणु कम्मविणिम्मिय जाणु* तस्यैव जीवस्य पर्यायांश्चतुर्गतिभावान् परिणामान् तनुं शरीरं च। कथंभूतान् तान् ? कर्मविनिर्मितान् जानीहीति।

इतो विशेषः — शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं द्रव्यं जानीहि । तस्यैवात्मनः सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनं गुण इति । तत्र ज्ञानमष्टविधं केवलज्ञानं सकलमखण्डं शुद्धमिति शेषं सप्तकं खण्डज्ञानमशुद्धमिति । तत्र सप्तकमध्ये मत्यादिचतुष्टयं सम्यग्ज्ञानं कुमत्यादित्रयं मिथ्याज्ञानमिति । दर्शनचतुष्टयमध्ये केवलदर्शनं सकलमखण्डं शुद्धमिति चक्षुरादित्रयं विकलमशुद्धमिति।

किं च — गुणास्त्रिविधाः भवन्ति । केचन साधारणाः, केचनासाधारणाः, केचन साधारणासाधारणा इति । जीवस्य तावदुच्यन्ते । अस्तित्वं वस्तुत्वं प्रमेयत्वागुरुलघुत्वादयः साधारणाः, ज्ञानसुखादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः। अमूर्तत्वं पुद्गलद्रव्यं प्रत्यसाधारणमाकाशादिकं प्रति साधारणम् । प्रदेशत्वं पुनः कालद्रव्यं प्रति पुद्गलपरमाणुद्रव्यं च प्रत्यसाधारणं शेषद्रव्यं प्रति साधारणमिति संक्षेपव्याख्यानम्। एवं शेषद्रव्याणामपि यथासंभवं ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥५८॥

आगे जीव के विशेषरूप से द्रव्य-गुण-पर्याय कहते हैं—

है आत्मा ही द्रव्य दर्शन ज्ञान उसके गुण कहे ।
सब कर्मनिर्मित चतुर्गति के भाव तन पर्याय हैं ॥५८॥

दोहार्थ— तुम आत्मा को द्रव्य जानो, दर्शन-ज्ञान आदि उसके गुण जानो, और चारगति सम्बन्धी भावों को तथा शरीर को कर्म के निमित्त में होने वाली पर्यायें जानो ।

टीकार्थ— हे शिष्य, ***तुहुँ*** तुम ***अप्पा*** आत्मा को तो ***दव्वु*** द्रव्य ***वुज्झहि*** जानो, ***पुणु*** और ***दंसणु णाणु*** दर्शन-ज्ञान को ***गुण*** गुण जानो, ***चउगइभाव तणु*** चार गतियों के भाव तथा शरीर को ***कम्मविणिम्मिय*** कर्मजनित ***पज्जय*** विभाव-पर्याय ***जाणु*** समझो ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसका विशेष व्याख्यान करते हैं— शुद्ध-निश्चयनय से शुद्ध, बुद्ध, एक, अखंड, स्वभाव आत्मा को तुम द्रव्य जानो; चेतनपने के सामान्य स्वभाव को दर्शन जानो, और विशेषता से जानपना उसको ज्ञान समझो । ये दर्शन-ज्ञान आत्मा के निज गुण हैं, उनमें से ज्ञान के आठ भेद हैं; उनमें केवलज्ञान तो पूर्ण है, अखण्ड है, शुद्ध है; तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान—ये चार ज्ञान सम्यग्ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि—ये तीन मिथ्याज्ञान; —ये सातों ही केवलज्ञान की अपेक्षा खंडित हैं, और सर्वथा शुद्ध नहीं हैं, अशुद्धता सहित हैं; इसलिये परमात्मा में एक केवलज्ञान ही है । (चार दर्शनों में से केवलदर्शन सकल, अखण्ड, शुद्ध है और चक्षु आदि तीन विकल, अशुद्ध हैं ।

और दूसरी बात यह है कि गुण भी तीन प्रकार के हैं—साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण जीव में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण हैं; ज्ञान, सुख आदि अपनी जाति की अपेक्षा साधारण और विजाति की अपेक्षा असाधारण हैं ।)

पुद्गल में अमूर्तगुण नहीं पाया जाता, इस कारण अमूर्तत्वगुण पुद्गल की अपेक्षा असाधारण है, शेष आकाशादि पाँचों की अपेक्षा साधारण है । बहु प्रदेशत्वगुण काल और पुद्गल परमाणु में न पाए जाने से, इन दोनों की अपेक्षा वह असाधारण है; परन्तु शेष आकाशादि की अपेक्षा साधारण है। पुद्गल-द्रव्य में मूर्तिकगुण असाधारण है, इसी में पाया जाता है, अन्य में नहीं और अस्तित्वादि गुण इसमें भी पाये जाते हैं, तथा अन्य में भी, इसलिये साधारणगुण हैं । चेतनपना पुद्गल में सर्वथा नहीं पाया जाता । पुद्गल-परमाणु को द्रव्य कहते हैं । स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णस्वरूप जो मूर्ति, वह इस पुद्गल का विशेषगुण है । सब द्रव्यों में जो उनका स्वरूप है, वह द्रव्य है, और अस्तित्वादि गुण, तथा स्वभाव - परिणति पर्याय है ।

जीव और पुद्गल के बिना अन्य चार द्रव्यों में विभाव-गुण और विभाव-पर्याय नहीं हैं, तथा जीव-पुद्गल में स्वभाव-विभाव दोनों हैं । उनमें से सिद्धों में तो स्वभाव ही है, और संसारी में विभाव की मुख्यता है । पुद्गल परमाणु में स्वभाव ही है, और स्कन्ध विभाव ही है । इसप्रकार छहों द्रव्यों का संक्षेप से व्याख्यान जानना ।।५८।।

ऐसे तीन प्रकार के आत्मा का कथन करने वाले पहले महाधिकार में द्रव्य-गुण-पर्याय के व्याख्यान की मुख्यता से सातवें स्थल में तीन दोहा-सूत्र कहे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथानन्तसुखस्योपादेयभूतस्याभिन्नत्वात् शुद्धगुणपर्याय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते । तत्राष्टकमध्ये प्रथमचतुष्टयं कर्मशक्तिस्वरूपमुख्यत्वेन द्वितीयचतुष्टयं कर्मफलमुख्यत्वेनेति । तद्यथा—

जीवकर्मणोरनादिसंबन्धं कथयति—

जीवहँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण ।
कम्मैं जीउ वि जणिउ णवि दोहिँ वि आइ ण जेण ॥५९॥

जीवानां कर्माणि अनादीनि जीव जनितं कर्म न तेन ।
कर्मणा जीवोऽपि जनितः नैव द्वयोरपि आदिः न येन ॥५९॥

जीवहँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण जीवानां कर्मणामनादिसंबन्धो भवति हे जीव जनितं कर्म न तेन जीवेन । *कम्मैं जीउ वि जणिउ णवि दोहिँ वि आइ ण जेण* कर्मणा कर्तृभूतेन जीवोऽपि जनितो न द्वयोरप्यादिर्न येन कारणेनेति ।

इतो विशेषः — जीवकर्मणामनादिसंबन्धः पर्यायसंतानेन बीजवृक्षवद्व्यवहारनयेन संबन्धः कर्म तावत्तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावेन जीवेन न तु जनितं कर्म तथाविधजीवोऽपि स्वशुद्धात्मसंवित्त्यभावोपार्जितेन कर्मणा नरनारकादिरूपेण न जनितः कर्मात्मेति च द्वयोरनादित्वादिति ।

अत्रानादिजीवकर्मणोस्संबन्धव्याख्यानेन सदा मुक्तः सदा शिवः कोऽप्यस्तीति निराकृतमिति भावार्थः । तथा चोक्तम्—

''मुक्तश्चेत्प्राग्भवे बद्धो नो बद्धो मोचनं वृथा ।
अबद्धो मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः।।
अनादितो हि मुक्तश्चेत्पश्चाद्बन्धः कथं भवेत् ।
बन्धनं मोचनं नो चेन्मुञ्चेरर्थो निरर्थकः ।।''॥५९॥

आगे उपादेयभूत, आदर करने योग्य अतीन्द्रिय सुख से तन्मय जो निर्विकल्पभाव, उसकी प्राप्ति के लिए शुद्ध गुण-पर्याय के व्याख्यान की मुख्यता से आठ दोहा कहते हैं । उनमें से पहले चार दोहों में अनादि कर्मसंबंध का व्याख्यान और पिछले चार दोहों में कर्म के फल का व्याख्यान— इसप्रकार आठ दोहों का रहस्य है ।

उसमें प्रथम ही जीव और कर्म का अनादि काल का संबंध है, ऐसा कहते हैं—

हैं जीव कर्म अनादि सम्बन्धी न कर्मोत्पन्न है।
यह जीव, जीवोत्पन्न कर्म नहीं, न इनकी आदि है॥५९॥

दोहार्थ— हे जीव ! जीवों के कर्म अनादि से हैं, इस जीव ने कर्म उत्पन्न

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं किये हैं, और न कर्मों से जीव उत्पन्न हुआ है, क्योंकि दोनों की आदि नहीं है ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे आत्मा ***जीवहँ*** जीवों के ***कम्मु*** कर्म ***अणाइ*** अनादि काल से हैं, अर्थात् जीव-कर्म का अनादि काल से संबंध है, ***तेण*** उस जीव ने ***कम्मु*** कर्म ***जणियउ ण*** उत्पन्न नहीं किये, ***कम्मैं वि*** ज्ञानावरणादि कर्मों ने भी ***जीउ*** यह जीव ***ण वि जणिउ*** उत्पन्न नहीं किया है; ***जेण*** क्योंकि ***दोहिँ वि*** जीव-कर्म— इन दोनों की ही ***आइ ण*** आदि नहीं है, दोनों ही अनादि के हैं ।

यद्यपि व्यवहारनय से पर्यायों के समूह की अपेक्षा जीव नये-नये कर्म प्रतिसमय बाँधता है, नये-नये उपार्जन करता है; जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज होता है, उसी प्रकार पहले बीजरूप कर्मों से देह धारण करता है, देह से नये-नये कर्मों का विस्तार करता है, यह तो बीज से वृक्ष हुआ । इसीप्रकार जन्म-सन्तान चली आती है । परन्तु शुद्धनिश्चयनय से विचार किया जाये, तो जीव निर्मल ज्ञान-दर्शनस्वभाव ही है । न तो जीव ने ये कर्म उत्पन्न किये हैं और न ही इन कर्मों से यह जीव भी उत्पन्न हुआ है । जीव भी अनादि का है, पुद्गलस्कंध भी अनादि के हैं । जीव और कर्म नये नहीं है, जीव अनादि से ही कर्मों से बँधा है। और कर्मों के क्षय से मुक्त होता है ।

इस व्याख्यान से जो कोई ऐसा कहते हैं कि आत्मा सदा मुक्त है, कर्मों से रहित है, उनका निराकरण (खंडन) किया । ये वृथा कहते हैं, ऐसा तात्पर्य है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है— ***'मुक्तश्चेत्'*** इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि ''यदि यह जीव पहले बँधा हुआ हो, तभी 'मुक्त' ऐसा कथन संभव होता है; और यदि पहले बँधा ही नहीं हो, तो फिर 'मुक्त' ऐसा कहना कैसे ठीक हो सकता ? मुक्त तो छूटे हुए का नाम है, सो जब बँधा ही नहीं, तो फिर 'छूटा' कैसे कहा जा सकता है ? जो अबंध है, उसे छूटा कहना ठीक नहीं है। जो बंध के बिना ही मुक्ति मानते हैं, उनका कथन निरर्थक है । यदि यह अनादि से मुक्त ही हो, तो पीछे बंध कैसे सम्भव हो सकता है ? बंध हो तभी मोचन/छुटकारा हो सकता है । यदि बंध न हो तो मुक्त कहना निरर्थक है ।।५९।।''

> द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्तशक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण है, इसलिये स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य करने के लिये समर्थ है, उसे बाह्यसामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती। इसलिये केवलज्ञान के इच्छुक आत्मा को बाह्यसामग्री की अपेक्षा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है।
>
> *— प्रवचनसार गाथा १६ का भावार्थ, पृष्ठ २८*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ व्यवहारनयेन जीवः पुण्यपापरूपो भवतीति प्रतिपादयति—

एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु ।
बहुविह-भावें परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु ॥६०॥

एष व्यवहारेण जीवः हेतुं लब्ध्वा कर्म ।
बहुविधभावेन परिणमति तेन एव धर्मः अधर्मः ॥६०॥

एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु एष प्रत्यक्षीभूतो जीवो व्यवहारनयेन हेतुं लब्ध्वा । किम् ? कर्मेति । *बहुविहभावें परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु* बहुविधभावेन विकल्पज्ञानेन परिणमति तेनैव कारणेन धर्मोऽधर्मश्च भवतीति । तद्यथा— एष जीवः शुद्धनिश्चयेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावोऽपि पश्चाद्व्यवहारेण वीतरागनिर्विकल्प-स्वसंवेदनाभावेनोपार्जितं शुभाशुभं कर्म हेतुं लब्ध्वा पुण्यरूपः पापरूपश्च भवति ।

अत्र यद्यपि व्यवहारेण पुण्यपापरूपो भवति तथापि परमात्मानुभूत्यविनाभूतवीतराग-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रबहिर्द्रव्येच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना तस्या भावनाकाले साक्षादुपादेयभूतवीतरागपरमानन्दैकरूपो मोक्षसुखाभिन्नत्वात् शुद्धजीव उपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥६०॥

.....

आगे व्यवहारनय से यह जीव पुण्य-पापरूप होता है, ऐसा कहते हैं—

जब कर्म कारण प्राप्त कर यह जीव ही व्यवहार से ।
परिणमे बहुविध भाव से धर्माधर्म हों उसी से ॥६०॥

दोहार्थ— यह जीव कर्मरूपी कारण प्राप्तकर व्यवहार से अनेक प्रकार के भावरूप परिणमित होता है, उससे ही धर्म-अधर्म होते हैं ।

टीकार्थ— ***एहु जीवडउ*** यह जीव ***ववहारें*** व्यवहारनय की अपेक्षा ***कम्मु हेउ*** कर्मरूप कारण को ***लहेविणु*** प्राप्तकर ***बहुविहभावें*** अनेक विकल्परूप ***परिणवइ*** परिणमन करता है । ***तेण जि*** इसी से ***धम्मु अहम्मु*** पुण्य और पापरूप होता है ।

यह जीव शुद्ध निश्चय से वीतराग चिदानन्द स्वभाव है, तो भी व्यवहारनय की अपेक्षा वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के अभाव से रागादिरूप परिणमित होने से उपार्जन किये शुभ-अशुभ कर्मों के कारण को पाकर पुण्यरूप तथा पापरूप होता है । यद्यपि यह व्यवहारनय की अपेक्षा पुण्य-पापरूप है; तो भी परमात्मा की अनुभूति से तन्मय जो वीतराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और बाह्य पदार्थों में इच्छा को रोकने रूप तप —ये चार निश्चय आराधना हैं, इनकी भावना के समय साक्षात् उपादेयरूप वीतराग परमानन्द जो मोक्ष का सुख, उससे अभिन्न आनन्दमयी— ऐसा निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, अन्य सब हेय हैं ॥६०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ तानि पुनः कर्माण्यष्टौ भवन्तीति कथयति—

ते पुणु जीवहँ जोइया अट्ठ वि कम्म हवंति ।
जेहिँ जि झंपिय जीव णवि अप्प-सहाउ लहंति ।।६१।।

तानि पुनः जीवानां योगिन् अष्टौ अपि कर्माणि भवन्ति ।
यैः एव झंपिताः जीवाः नैव आत्मस्वभावं लभन्ते ।।६१।।

ते पुणु जीवहँ जोइया अट्ठ वि कम्म हवंति तानि पुनर्जीवानां हे योगिन्नष्टावेव कर्माणि भवन्ति । *जेहिँ जि झंपिय जीव णवि अप्पसहाउ लहंति* यैरेव कर्मभिर्झंपिताः जीवा नैवात्मस्वभावं लभन्ते इति । तद्यथा— ज्ञानावरणादिभेदेन कर्माण्यष्टावेव भवन्ति यैर्झंपिताः सन्तो जीवाः सम्यक्त्वाद्यष्टविधस्वकीयस्वभावं न लभन्ते । तद्यथा हि—

''सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं ।
*अगुरुलहुमव्वाबाहं अट्ठगुणा हुंति सिद्धाणं ।।''**

शुद्धात्मादिपदार्थविषये विपरीताभिनिवेशरहितः परिणामः क्षायिकसम्यक्त्वमिति भण्यते । जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थयुगपद्विशेषपरिच्छित्तिरूपं केवलज्ञानं भण्यते। तत्रैव सामान्यपरिच्छित्तिरूपं केवलदर्शनं भण्यते । तत्रैव केवलज्ञानविषये अनन्तपरिच्छित्ति-शक्तिरूपमनन्तवीर्यं भण्यते । अतीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं भण्यते । एकजीवावगाहप्रदेशे अनन्तजीवावगाहदानसामर्थ्यमवगाहनत्वं भण्यते । एकान्तेन गुरुलघुत्वस्याभावरूपेण अगुरुलघुत्वं भण्यते । वेदनीयकर्मोदयजनितसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधगुणश्चेति ।

इदं सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं संसारावस्थायां किमपि केनापि कर्मणा प्रच्छादितं तिष्ठति यथा तथा कथ्यते—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वकर्मणा प्रच्छादितं, केवलज्ञानं केवलज्ञानावरणेन झंपितं, केवलदर्शनं केवलदर्शनावरणेन झंपितम्, अनन्तवीर्यं वीर्यान्तरायेण प्रच्छादितं, सूक्ष्मत्वमायुष्ककर्मणा प्रच्छादितम् । कस्मादिति चेत् ? विवक्षितायुःकर्मोदयेन भवान्तरे प्राप्ते सत्यतीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं त्यक्त्वा पश्चादिन्द्रियज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । अवगाहनत्वं शरीरनामकर्मोदयेन प्रच्छादितं, सिद्धावस्थायोग्यं विशिष्टागुरुलघुत्वं नामकर्मोदयेन प्रच्छादितम् । गुरुत्वशब्देनोच्चगोत्रजनितं महत्त्वं भण्यते, लघुत्वशब्देन नीचगोत्रजनितं तुच्छत्वमिति, तदुभयकारणभूतेन गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टागुरुलघुत्वं प्रच्छाद्यत इति । अव्याबाधगुणत्वं वेदनीयकर्मोदयेनेति संक्षेपेणाष्टगुणानां कर्मभिराच्छादनं ज्ञातव्यमिति । तदेव गुणाष्टकं मुक्तावस्थायां स्वकीयस्वकीयकर्मप्रच्छादनाभावे व्यक्तं भवतीति संक्षेपेणाष्टगुणाः कथिताः। विशेषेण पुनरमूर्तत्वनिर्नामगोत्रादयः साधारणासाधारणरूपानन्तगुणाः यथासंभवमागमाविरोधेन ज्ञातव्या इति ।

अत्र सम्यक्त्वादिशुद्धगुणस्वरूपः शुद्धात्मैवोपादेय इति भावार्थः ।।६१।।

---

* प्राकृत सिद्ध भक्ति, गाथा २० ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे वे कर्म आठ हैं, जिनसे संसारी जीव बँधे हैं, उन्हें श्रीगुरु अपने शिष्य से कहते हैं—

हैं आठ ही वे कर्म योगी ! आतमा के साथ जो ।
उनसे ढका यह आतमा पाता न आत्मस्वभाव को ।।६१।।

दोहार्थ— हे योगी ! जीवों के वे कर्म आठ ही होते हैं, जिनसे आच्छादित जीव आत्मस्वभाव को ही प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

टीकार्थ— ***जोइया*** हे योगी, ***ते पुणु कम्म*** और वे कर्म ***जीवहँ अट्ठ वि*** जीवों के आठ ही ***हवंति*** होते हैं, ***जेहिँ जि झंपिय*** जिन कर्मों से ही आच्छादित (ढँके हुए) ***जीव*** ये जीव ***अप्पसहाउ*** अपने सम्यक्त्वादि आठ गुणरूप स्वभाव को ***णवि लहंति*** नहीं पाते हैं। अब उन्हीं आठ गुणों का व्याख्यान करते हैं ***''सम्मत्त''*** इत्यादि— इसका अर्थ ऐसा है कि ''सम्यक्त्व, (केवल) ज्ञान, (केवल) दर्शन, (अनन्त) वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्यावाधत्व— ये आठ गुण सिद्धों के हैं।''

शुद्ध आत्मादि पदार्थों में विपरीत श्रद्धान रहित जो परिणाम, उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं । तीन लोक-तीन काल के पदार्थों को एक ही समय में विशेषरूप से सबको जाने, वह केवलज्ञान है । सब पदार्थों को केवलदृष्टि से एक ही समय में सामान्य देखे, वह केवलदर्शन है । उसी केवलज्ञान में अनन्तज्ञायक (जानने की) शक्ति, वह अनन्तवीर्य है। अतीन्द्रियज्ञान से अमूर्तिक सूक्ष्म पदार्थों को जानना, आप चार ज्ञान के धारियों से न जाना जावे, वह सूक्ष्मत्व है । एक जीव के अवगाह क्षेत्र में (जगह में) अनन्त जीव समा जावें, ऐसी अवकाश देने की सामर्थ्य, वह अवगाहनत्वगुण है । सर्वथा गुरुता और लघुता का अभाव अर्थात् न गुरु न लघु—उसे अगुरु-लघु कहते हैं; और वेदनीयकर्म के उदय के अभाव से उत्पन्न हुआ समस्त बाधा रहित जो निराबाधगुण, उसे अव्याबाध कहते हैं ।

ये सम्यक्त्वादि आठ गुण जो सिद्धों के हैं, वे संसारावस्था में किस-किस कर्म से ढँके हुए हैं; इसे कहते हैं— सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वनामक कर्म से आच्छादित है, केवलज्ञानावरण से केवलज्ञान ढका हुआ है, केवलदर्शनावरण से केवलदर्शन ढका है, वीर्यान्तरायकर्म से अनन्तवीर्य ढका है; आयु:कर्म से सूक्ष्मत्वगुण ढका है, क्योंकि आयुकर्म के उदय से जब जीव परभव को जाता है, वहाँ जब इन्द्रियज्ञान का धारक होता है, तब अतीन्द्रियज्ञान का अभाव हो जाता है, इस कारण कुछ एक स्थूल वस्तुओं को तो जानता है, सूक्ष्म को नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जानता; शरीरनामकर्म के उदय से अवगाहनगुण आच्छादित है, सिद्धावस्था के योग्य विशेषरूप अगुरुलघुगुण नामकर्म के उदय से अथवा गोत्रकर्म के उदय से ढक गया है, क्योंकि गोत्रकर्म के उदय से जब नीच गोत्र पाया, तब उसमें तुच्छ या लघु कहलाया; और उच्च गोत्र में बड़ा अर्थात् गुरु कहलाया और वेदनीय कर्म के उदय से अव्याबाध गुण ढक गया, अतः उसके उदय में साता-असातारूप सांसारिक सुख-दुःख का भोक्ता हुआ ।

इसप्रकार आठ गुण आठ कर्मों से ढक गये, इसलिये यह जीव संसार में भ्रमा । जब कर्म का आवरण मिट जाता है, तब सिद्धपद में ये आठ गुण प्रगट होते हैं । यह संक्षेप में आठ गुणों का कथन किया । विशेषता से अमूर्तत्व, निर्नाम, निगोत्रादि अनन्तगुण यथासम्भव शास्त्र-प्रमाण से जानना ।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वादि निज शुद्ध गुणस्वरूप जो शुद्धात्मा है, वही उपादेय है ।।६१।।

अथ विषयकषायासक्तानां जीवानां ये कर्मपरमाणवः संबद्धा भवन्ति तत्कर्मेति कथयति—

विसय-कसायहिँ रंगियहँ जे अणुया लग्गंति ।
जीव-पएसहँ मोहियहँ ते जिण कम्म भणंति ।।६२।।

विषयकषायैः रञ्जितानां ये अणवः लगन्ति ।
जीवप्रदेशेषु मोहितानां तान् जिनाः कर्म भणन्ति ।।६२।।

विसयकसायहिँ रंगियहँ जे अणुया लग्गंति **विषयकषायैः रंगितानां रक्तानां ये परमाणवो लग्ना भवन्ति ।** ***जीवपएसहँ मोहियहँ ते जिण कम्म भणंति*** **— केषु लग्ना भवन्ति ? जीवप्रदेशेषु । केषाम् ? मोहितानां जीवानाम् । तान् कर्मस्कन्धान् जिनाः कर्मेति कथयन्ति । तथाहि— शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणैर्विषयकषायैः रक्तानां स्वसंवित्त्यभावोपार्जितमोहकर्मोदयपरिणतानां च जीवानां कर्मवर्गणायोग्यस्कन्धास्तैलम्रक्षितानां मलपर्यायवदष्टविधज्ञानावरणादिकर्मरूपेण परिणमन्तीत्यर्थः ।**

अत्र य एव विषयकषायकाले कर्मोपार्जनं करोति स एव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले साक्षादुपादेयो भवतीति तात्पर्यार्थः ।।६२।।

इति कर्मस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम् ।

आगे विषय-कषायों में लीन जीवों के जो कर्मपरमाणुओं के समूह बँधते हैं, वे कर्म कहे जाते हैं, ऐसा कहते हैं—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो रक्त विषय-कषाय से उन मोहियों के अणु भी ।
लगते हैं आत्मप्रदेश में जिन कहें कर्म इसे सभी ।।६२।।

दोहार्थ— विषय-कषाय से रागी-मोही जीवों के आत्मप्रदेशों में जो परमाणु लगते हैं, उन्हें जिनेन्द्रदेव कर्म कहते हैं ।

टीकार्थ— ***विसयकसायहिँ*** विषय-कषायों से ***रंगियहँ*** रागी ***मोहियहँ*** मोही जीवों के ***जीवपएसहँ*** जीव के प्रदेशों में ***ते अणुया*** जो परमाणु ***लग्गंति*** लगते हैं, बँधते हैं, ***ते*** उन परमाणुओं के स्कंधों को ***जिण*** जिनेन्द्रदेव ***कम्म भणंति*** कर्म कहते हैं ।

शुद्ध आत्मा की अनुभूति से भिन्न जो विषय-कषाय, उनसे रँगे हुए, आत्म-ज्ञान के अभाव से उपार्जन किये हुए, मोहकर्म के उदय से परिणत हुए, ऐसे रागी-द्वेषी-मोही संसारी जीवों के कर्मवर्गणा योग्य जो पुद्गलस्कंध हैं, वे ज्ञानावरणादि आठ प्रकार से कर्मरूप होकर परिणमित होते हैं । जैसे तेल से शरीर चिकना होता है, उस पर धूलि लगने से वह मैलरूप होकर परिणमित होती है; वैसे ही रागी-द्वेषी-मोही जीवों के विषय-कषाय दशा में पुद्गलवर्गणा कर्मरूप होकर परिणमित होती है।

यहाँ विषय-कषाय के समय जो कर्मों का उपार्जन करता है, वही परमात्मा वीतराग निर्विकल्प समाधि के समय कर्मों का क्षय करने के कारण साक्षात् उपादेय है, आराधन-योग्य है—यह तात्पर्य हुआ ।।६२।।

इसप्रकार कर्मस्वरूप के कथन की मुख्यता से चार दोहे कहे ।

अथापीन्द्रियचित्तसमस्तविभावचतुर्गतिसंतापाः शुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनिता इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं कथयन्ति—

पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयल-विभाव ।
जीवहँ कम्मइँ जणिय जिय अण्णु वि चउगइ-ताव ।।६३।।

पञ्चापि इन्द्रियाणि अन्यत् मनः अन्यदपि सकलविभावः ।
जीवानां कर्मणा जनिताः जीव अन्यदपि चतुर्गतितापाः ।।६३।।

पंच वि इंदिय अण्णु मणु अण्णु वि सयलविभाव **पञ्चेन्द्रियाणि अन्यन्मनः अन्यदपि पुनरपि समस्तविभावः । *जीवहँ कम्मइँ जणिय जिय अण्णु वि चउगइताव*** **एते जीवानां कर्मणा जनिता हे जीव, न केवलमेते अन्यदपि पुनरपि चतुर्गतिसंतापास्ते कर्मजनिता इति ।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तद्यथा— अतीन्द्रियात् शुद्धात्मनो यानि विपरीतानि पञ्चेन्द्रियाणि, शुभाशुभसंकल्प-विकल्परहितात्मनो यद् विपरीतमनेकसंकल्पविकल्पजालरूपं मनः, ये च शुद्धात्मतत्त्वानुभूते-र्विलक्षणाः समस्तविभावपर्यायाः, वीतरागपरमानन्दसुखामृतप्रतिकूलाः समस्तचतुर्गतिसंतापाः दुःखदाहाश्चेति सर्वेऽप्येते अशुद्धनिश्चयनयेन स्वसंवेद्याभावोपार्जितेन कर्मणा निर्मिता जीवानामिति ।

अत्र परमात्मद्रव्यात्प्रतिकूलं यत्पञ्चेन्द्रियादिसमस्तविकल्पजालं तद्धेयं तद्विपरीतं स्वशुद्धात्मतत्त्वं पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषादिसमस्तविकल्परहितं परमसमाधिकाले साक्षादुपादेयमिति भावार्थः ॥६३॥

.....

आगे पाँच इंद्रिय, मन, समस्त विभाव और चार गति के दुःख— ये सब शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा कर्म से उत्पन्न हैं, जीव के नहीं हैं, यह अभिप्राय मन में रखकर दोहा-सूत्र कहते हैं—

हैं पाँच इन्द्रिय भिन्न मन भी भिन्न सकल विभाव भी ।
हैं भिन्न चौगति ताप कर्मज जीव के ये हैं नहीं ॥६३॥

दोहार्थ— पाँचों ही इन्द्रियाँ भिन्न हैं, मन और सम्पूर्ण विभाव भी भिन्न हैं, हे जीव ! कर्म से उत्पन्न जीवों के दुःख भी जीव से भिन्न हैं ।

टीकार्थ— ***पंचवि*** पाँचों ही ***इंदिय*** इन्द्रियाँ ***अण्णु*** भिन्न हैं, ***मण*** मन ***वि*** और ***सयलविभाव*** रागादि सब विभाव परिणाम ***अण्णु*** अन्य हैं, तथा ***चउगइताव वि*** चारों गतियों के दुःख भी ***अण्णु*** अन्य हैं; ***जिय*** हे जीव, ये सब ***जीवहँ*** जीवों के ***कम्मइँ*** कर्म से ***जणिय*** उत्पन्न हैं, जीव से भिन्न हैं, ऐसा जानो ।

इन्द्रिय रहित शुद्धात्मा से विपरीत, जो स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ; शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प से रहित आत्मा से विपरीत, अनेक संकल्प-विकल्पसमूहरूप जो मन और शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति से भिन्न, जो राग, द्वेष, मोहादिरूप सब विभाव— ये सब आत्मा से भिन्न हैं; तथा वीतराग परमानंद सुखरूप अमृत से पराङ्मुख जो समस्त चतुर्गति के महान दुःखदायी दुःख—वे सब जीव पदार्थ से भिन्न हैं । ये सभी अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा आत्म-ज्ञान के अभाव से उपार्जन किये हुए कर्मों से जीव के उत्पन्न हुए हैं । इसलिये ये सब अपने नहीं हैं, कर्मजनित हैं ।

यहाँ पर परमात्म-द्रव्य से विपरीत जो पाँच इन्द्रिय आदि समस्त विकल्प-जाल हैं, वे तो त्याग करने योग्य हैं; उससे विपरीत पाँचों इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा आदि समस्त विकल्प-जालों से रहित अपना शुद्धात्मतत्त्व, वही परमसमाधि के समय साक्षात् उपादेय है; यह तात्पर्य जानना ॥६३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ सांसारिकसमस्तसुखदुःखानि शुद्धनिश्चयनयेन जीवानां कर्म जनयतीति निरूपयति—

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ ॥६४॥

दुःखमपि सुखमपि बहुविधं जीवानां कर्म जनयति ।
आत्मा पश्यति मनुते परं निश्चयः एवं भणति ॥६४॥

दुक्खु वि सुक्ख वि बहुविहउ जीवहँ कम्मु जणेइ दुःखमपि सुखमपि । कथंभूतम् ? बहुविधं जीवानां कर्म जनयति । *अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ* आत्मा पुनः पश्यति जानाति परं नियमेन निश्चयनयः एवं ब्रुवते इति ।

तथाहि—अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकवीतरागसौख्यात् प्रतिकूलं सांसारिकसुखदुःखं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापि शुद्धनिश्चयेन कर्मजनितं भवति । आत्मा पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थः सन् वस्तु वस्तुस्वरूपेण पश्यति जानाति च न च रागादिकं करोति ।

अत्र पारमार्थिकसुखाद्विपरीतं सांसारिकसुखदुःखविकल्पजालं हेयमिति तात्पर्यार्थः ॥६४॥

आगे संसार के सब सुख-दुःख शुद्ध निश्चयनय से शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा उत्पन्न होते हैं, और कर्मों को ही उत्पन्न करते हैं, जीव के नहीं है, ऐसा कहते हैं—

सब आत्मा के विविध दुख सुख कर्म से उत्पन्न हैं ।
दर्शक व ज्ञायक मात्र आतम वास्तविक यह कथन है ॥६४॥

दोहार्थ— जीवों के अनेक प्रकार के दुःख-सुख सब ही कर्मजनित हैं, आत्मा तो मात्र देखता और जानता है—ऐसा निश्चयनय कहता है।

टीकार्थ— ***जीवहँ*** जीवों के ***बहुविहउ*** अनेक प्रकार के ***दुक्खु वि सुक्खु वि*** दुःख और सुख दोनों ही ***कम्मु*** कर्म ही ***जणेइ*** उत्पन्न करता है । ***अप्पा*** आत्मा ***देक्खइ*** उपयोगमयी होने से देखता है, ***पर मुणइ*** और केवल जानता है, ***एउँ*** इसप्रकार ***णिच्छउ*** निश्चयनय ***भणेइ*** कहता है, अर्थात् निश्चयनय से भगवान ने ऐसा कहा है ।

आकुलता रहित पारमार्थिक वीतराग सुख से पराङ्मुख (उल्टे) संसार के सुख-दुःख, यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा जीवसम्बंधी हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनय से जीव ने उत्पन्न नहीं किये हैं, इसलिये जीव के नहीं हैं, कर्म-संयोग से उत्पन्न हुए हैं; और आत्मा तो वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर हुआ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वस्तु को वस्तु के स्वरूप से देखता है, जानता है, रागादिरूप नहीं होता, उपयोगरूप है, ज्ञाता-दृष्टा है, परम आनन्दरूप है ।

यहाँ पारमार्थिक सुख से उल्टा जो इन्द्रियजनित संसार का सुख-दु:ख आदि विकल्प समूह है, वह त्याग करने योग्य है, ऐसा भगवान ने कहा है, यह तात्पर्य है ।।६४।।

अथ निश्चयेन बंधमोक्षौ कर्म करोतीति प्रतिपादयति—

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ ।।६५।।

बन्धमपि मोक्षमपि सकलं जीव जीवानां कर्म जनयति ।
आत्मा किमपि करोति नैव निश्चय एवं भणति ।।६५।।

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ **बन्धमपि मोक्षमपि समस्तं हे जीव जीवानां कर्म कर्तृ जनयति** ***अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ*** **आत्मा किमपि न करोति बन्धमोक्षस्वरूपं निश्चय एवं भणति ।**

तद्यथा— अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यबन्धं तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावबन्धं तथा नयद्वयेन द्रव्यभावमोक्षमपि यद्यपि जीव: करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धनिश्चयनयेन न करोत्येवं भणति । कोऽसौ ? निश्चय इति ।

अत्र य एव शुद्धनिश्चयेन बन्धमोक्षौ न करोति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थ: ।।६५।।

.....

आगे निश्चयनय की अपेक्षा बंध और मोक्ष कर्मजनित ही हैं, कर्म के योग से बंध और कर्म के वियोग से मोक्ष है, ऐसा कहते हैं—

हैं आतमा के बंध मोक्षादि सभी कर्मज कहे।
है वास्तविक कथनी यही आतम नहीं इनको करे।।६५।।

दोहार्थ— हे जीव ! जीवों के बंध-मोक्ष सब ही कर्म उत्पन्न करता है, आत्मा कुछ भी नहीं करता है, ऐसा निश्चय कहता है ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ***बंधु वि*** बंध को और ***मोक्खु वि*** मोक्ष को ***सयलु*** सबको ***जीवहँ*** जीवों के ***कम्मु*** कर्म ही ***जणेइ*** उत्पन्न करता है; ***अप्पा*** आत्मा ***किंपि वि*** कुछ भी ***णवि कुणइ*** नहीं करता; ***णिच्छउ*** निश्चयनय ***एउँ*** ऐसा ***भणेइ*** कहता है, अर्थात् निश्चयनय से भगवान ने ऐसा कहा है ।

अनादिकालीन संबंध की अयथार्थता को बताने वाले अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मबंध को और अशुद्धनिश्चयनय से रागादि भावकर्म के बंध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को तथा दोनों नयों से द्रव्यकर्म-भावकर्म की मुक्ति को यद्यपि जीव करता है; तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव को ग्रहण करनेवाले शुद्धनिश्चयनय से नहीं करता है, बंध और मोक्ष से रहित है, ऐसा भगवान ने कहा है ।

यहाँ जो शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा बन्ध और मोक्ष का कर्ता नहीं है, वही शुद्धात्मा उपादेय है, आराधन-योग्य है ॥६५॥

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

सो णत्थि त्ति पएसो चउरासी-जोणि-लक्ख-मज्झम्मि ।
जिण-वयणं ण जहंतो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीवो ॥१॥✡

स नास्ति इति प्रदेशः चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये ।
जिनवचनं न लभमानः यत्र न भ्रमितः जीवः ॥१॥

सो णत्थि त्ति पएसो **स प्रदेशो नास्त्यत्र जगति । स किम् ?** ***चउरासीजोणि-लक्खमज्झम्मि जिणवयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीवो*** **चतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये भूत्वा जिनवचनमलभमानो यत्र न भ्रमितो जीव इति । तथाहि—भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं जिनवचनमलभमानः सन्नयं जीवोऽनादिकाले यत्र चतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये भूत्वा न भ्रमितः सोऽत्र कोऽपि प्रदेशो नास्ति इति ।**

अत्र यदेव भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं जिनवचनमलभमानो भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयात्म-सुखप्रतिपादकत्वादुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥१॥

आगे दोहा-सूत्रों की स्थल-संख्या से बाहर 'उक्तं च' स्वरूप प्रक्षेपक को कहते हैं—

ये जिनवचन पाये बिना गति चार लख चौरासियुत ।
सब योनियों में जीव घूमा रहा शेष नहीं कछुक ॥१॥

दोहार्थ— ऐसे जिन वचनों को प्राप्त न करता हुआ चौरासी लाख योनियों के बीच में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ यह जीव नहीं घूमा हो ।

टीकार्थ— ***सो*** इस जगत में ऐसा कोई भी ***पएसो णत्थित्ति*** प्रदेश (स्थान) नहीं है कि ***जत्थ*** जिस जगह ***चउरासीजोणिलक्खमज्झम्मि*** चौरासी लाख योनियों में होकर ***जिणवयणं ण लहंतो*** जिन-वचन को नहीं प्राप्त करता हुआ ***जीवो*** यह जीव ***ण डुलुडुल्लिओ*** नहीं भटका ।

इस जगत में कोई ऐसा स्थान नहीं रहा, जहाँ पर यह जीव निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय को कहनेवाले जिनवचन को नहीं पाता हुआ अनादि काल से चौरासी लाख

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

योनियों में होकर न घूमा हो, अर्थात् जिनवचन की प्रतीति न करने से सब जगह और सब योनियों में भ्रमण किया, जन्म-मरण किये ।

यहाँ यह तात्पर्य है कि भेदाभेद रत्नत्रय के प्रतिपादक जिन-वचन को न पाने से यह जीव जगत में घूमा, इसलिये उपादेयभूत आत्मसुख के प्रतिपादक होने से जिन-वचन ही उपादेय हैं, आराधन-योग्य हैं ।।१।।

अथात्मा पङ्गुवत् स्वयं न याति न चैति कर्मैव नयत्यानयति चेति कथयति–

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ।।६६।।

आत्मा पङ्गोः अनुहरति आत्मा न याति न आयाति ।
भुवनत्रयस्य अपि मध्ये जीव विधिः आनयति विधिः नयति ।।६६।।

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ आत्मा पङ्गोरनुहरति सदृशो भवति अयमात्मा* न याति न चागच्छति । क्व ? ***भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ*** भुवनत्रयस्यापि मध्ये हे जीव विधिरानयति विधिर्नयतीति ।

तद्यथा– अयमात्मा शुद्धनिश्चयेनानन्तवीर्यत्वात् शुभाशुभकर्मरूपनिगलद्वयरहितोऽपि व्यवहारेण अनादिसंसारे स्वशुद्धात्मभावनाप्रतिबन्धकेन मनोवचनकायत्रयेणोपार्जितेन कर्मणा निर्मितेन पुण्यपापनिगलद्वयेन दृढतरं बद्धः सन् पङ्गुवद्भूत्वा स्वयं न याति न चागच्छति स एवात्मा परमात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतेन विधिशब्दवाच्येन कर्मणा भुवनत्रये नीयते तथैवानीयते चेति ।

अत्र वीतरागसदानन्दैकरूपात्सर्वप्रकारोपादेयभूतात्परमात्मनो यद्भिन्नं शुभाशुभकर्मद्वयं तद्धेयमिति भावार्थः ।।६६।।

इति कर्म शक्तिस्वरूपकथनमुख्यत्वेनाष्टमस्थले सूत्राष्टकं गतम् ।

आगे आत्मा पंगु (लँगड़े) के समान आप स्वयं न तो कहीं जाता है, और न आता है; कर्म ही इसको ले जाते हैं, और ले आते हैं; ऐसा कहते हैं—

है पंगुवत यह आतमा आता न जाता स्वयं से ।
त्रय लोक में बस कर्म लाता और ले जाता इसे ।।६६।।

दोहार्थ– हे जीव ! यह आत्मा पंगु के समान, न तो स्वयं ही कहीं जाता है और न कहीं से आता है; इस तीन लोक में कर्म ही इस जीव को ले जाता है, और वही ले आता है ।

✡ पाठान्तर – अयमात्मा – स्वयमात्मा ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव, ***अप्पा*** यह आत्मा ***पंगुह अणुहरइ*** पंगु के समान है, ***अप्पु*** आप ***ण जाइ*** न कहीं जाता है, ***ण एइ*** न आता है, ***भुवणत्तयहँ वि मज्झि*** तीनों लोक में इस जीव को ***विहि*** कर्म ही ***आणइ*** ले जाता है, ***विहि*** कर्म ही ***णेइ*** ले आता है ।

यह आत्मा शुद्ध निश्चयनय से अनंतवीर्य (बल) को धारण करनेवाला होने से शुभ-अशुभ कर्मरूप बंधन से रहित है, तो भी व्यवहारनय से इस अनादि संसार में निज शुद्धात्मा की भावना से विमुख जो मन-वचन-काय—इन तीनों से उपार्जित कर्मों से उत्पन्न हुए पुण्य-पापरूप बंधनों से दृढतर/मजबूती से बँधा हुआ, पंगु के समान आप स्वयं न कहीं जाता है, न कहीं आता है । जैसे बन्दीवान आपसे (स्वयं से) न कहीं जाता है, और न कहीं आता है; चौकीदारों द्वारा ले जाया जाता है, और आता है, आप (स्वयं) तो पंगु के समान है । वही आत्मा परमात्मा की प्राप्ति को रोकनेवाले चतुर्गतिरूप संसार के कारणस्वरूप कर्मों से तीन जगत में गमन-आगमन करता है, एक गति से दूसरी गति में जाता है ।

यहाँ सारांश यह है कि वीतराग परम आनन्दरूप तथा सब प्रकार से उपादेयभूत परमात्मा से (अपने स्वरूप से) भिन्न जो शुभ-अशुभ कर्म हैं, वे त्याग करने योग्य हैं ॥६६॥

इसप्रकार कर्म की शक्ति के स्वरूप को कहने की मुख्यता से आठवें स्थल में आठ दोहे कहे ।

अत ऊर्ध्वं भेदाभेदभावनामुख्यतया पृथक्-पृथक् स्वतन्त्रसूत्रनवकं कथयति—

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ ।
परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमैं पभणहिं जोइ ॥६७॥

आत्मा आत्मा एव परः एव परः आत्मा परः एव न भवति ।
पर एव कदाचिदपि आत्मा नैव नियमेन प्रभणन्ति योगिनः ॥६७॥

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ **आत्मात्मैव पर एव परः आत्मा पर एव न भवति ।** ***परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमैं पभणहिं जोइ*** **पर एव कदाचिदप्यात्मा नैव भवति नियमेन निश्चयेन भणन्ति कथयन्ति । के कथयन्ति ? परमयोगिन इति ।**

तथाहि— शुद्धात्मा केवलज्ञानादिस्वभावः शुद्धात्मात्मैव परः कामक्रोधादिस्वभावः पर एव पूर्वोक्तः परमात्माभिधानं तदैकस्वस्वभावं त्यक्त्वा कामक्रोधादिरूपो न भवति । कामक्रोधादिरूपः परः क्वापि काले शुद्धात्मा न भवतीति परमयोगिनः कथयन्ति ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत्र मोक्षसुखादुपादेयभूतादभिन्नः कामक्रोधादिभ्यो भिन्नो यः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ।।६७।।

.....

इससे आगे भेदाभेदरत्नत्रय की भावना की मुख्यता से पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र नौ सूत्र कहते हैं—

है आतमा, आतम सदा, पर, पर सदा, आतम नहीं ।
होता कभी पर, पर नहीं आतम, कहें योगी सभी ।।६७।।

दोहार्थ— आत्मा आत्मा ही है, पर पर ही है, आत्मा कभी पर नहीं होता, पर कभी आत्मा नहीं बनते—ऐसा नियम से योगी कहते हैं।

टीकार्थ— ***अप्पा*** निज वस्तु ***अप्पु जि*** आत्मा ही है, ***परु*** देहादि पदार्थ ***परु जि*** पर ही हैं, ***अप्पा*** आत्मा तो ***परु ण जि*** परद्रव्य नहीं ***होइ*** होता, और ***परु जि*** परद्रव्य भी ***कयावि*** कभी ***अप्पु*** आत्मा ***णवि*** नहीं होता, ऐसा ***नियमें*** निश्चय से ***जोइ*** योगीश्वर ***पभणहिँ*** कहते हैं ।

शुद्धात्मा तो केवलज्ञानादि स्वभाव है, जड़रूप नहीं है, उपाधिरूप नहीं है, शुद्धात्मस्वरूप ही है । पर जो काम-क्रोधादि पर वस्तु भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म हैं; वे पर ही हैं, अपने नहीं हैं । जो यह आत्मा संसार-अवस्था में यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा काम-क्रोधादिरूप हो गया है, तो भी परमभावग्राहक-शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अपने ज्ञानादि निजभाव को छोड़कर काम-क्रोधादिरूप नहीं होता; अर्थात् निजभावरूप ही है । ये रागादि विभावपरिणाम औपाधिक हैं, पर के संबंध से हैं, निजभाव नहीं हैं, इसलिये आत्मा कभी इन रागादिरूप नहीं होता; ऐसा योगीश्वर कहते हैं ।

यहाँ उपादेयरूप मोक्ष-सुख (अतीन्द्रिय सुख) से तन्मय और काम-क्रोधादिक से भिन्न जो शुद्धात्मा है, वही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय है ।।६७।।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लियजीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।।
असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।।

।। नियमसार, गाथा-४७-४८।।

सिद्धात्माओं के समान भवलीन/संसारी जीव होने के कारण, वे भी जन्म-जरा-मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं। जैसे सिद्ध भगवान लोकाग्र में अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं, उसी प्रकार संसार में जीव जानना।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ शुद्धनिश्चयेनोत्पत्तिं मरणं बन्धमोक्षौ च न करोत्यात्मेति प्रतिपादयति—

ण वि उप्पज्जइ ण व मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउँ भणेइ ॥६८॥

नापि उत्पद्यते नापि म्रियते बन्धं न मोक्षं करोति ।
जीवः परमार्थेन योगिन् जिनवरः एवं भणति ॥६८॥

नाप्युत्पद्यते नापि म्रियते बन्धं मोक्षं च न करोति । कोऽसौ कर्ता ? जीवः। केन ? परमार्थेन हे योगिन् जिनवर एवं ब्रूते कथयति । तथाहि— यद्यप्यात्मा शुद्धात्मानुभूत्यभावे सति शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य जीवितमरणशुभाशुभबन्धान् करोति। शुद्धात्मानुभूतिसद्भावे तु शुद्धोपयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन न करोति ।

अत्राह शिष्यः — यदि शुद्धद्रव्यार्थिकलक्षणेन शुद्धनिश्चयेन मोक्षं च न करोति तर्हि शुद्धनयेन मोक्षो नास्तीति तदर्थमनुष्ठानं वृथा । परिहारमाह— मोक्षो हि बन्धपूर्वकः, स च बन्धः शुद्धनिश्चयेन नास्ति, तेन कारणेन बन्धप्रतिपक्षभूतो मोक्षः सोऽपि शुद्धनिश्चयेन नास्ति, यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बन्धो भवति तदा सर्वदैव बन्ध एव ।

अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—एकः कोऽपि पुरुषः शृङ्खलाबद्धस्तिष्ठति द्वितीयस्तु बन्धनरहितस्तिष्ठति, यस्य बन्धभावो मुक्त इति व्यवहारो घटते, द्वितीयं प्रति मोक्षो जातो भवत इति यदि भण्यते तदा कोपं करोति । कस्माद्बन्धाभावे मोक्षवचनं कथं घटत इति ? तथा जीवस्यापि शुद्धनिश्चयेन बन्धाभावे मुक्तवचनं न घटते इति ।

अत्र वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो मुक्तजीवसदृशः स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥६८॥

.....

आगे शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा आत्मा जन्म, मरण, बन्ध और मोक्ष को नहीं करता है, जैसा है वैसा ही है, ऐसा निरूपण करते हैं—

हे योगि! ना उत्पन्न हो मरता नहीं है आतमा ।
परमार्थ से ना बंध ना ही मोक्ष करता जिन कहा ॥६८॥

दोहार्थ— हे योगी ! परमार्थ से यह आत्मा न तो उत्पन्न होता है, और न मरता है; यह बंध और मोक्ष भी नहीं करता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

टीकार्थ— ***जोइया*** हे योगीश्वर, ***परमत्थें*** निश्चयनय की अपेक्षा विचार किया जावे, तो यह ***जिउ*** जीव ***ण वि*** न तो ***उप्पज्जइ*** उत्पन्न होता है, ***णवि मरइ*** न मरता है और ***ण बंधु मोक्खु*** न बन्ध-मोक्ष को ***करेइ*** करता है, अर्थात्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुद्धनिश्चयनय से बंध-मोक्ष से रहित है, ***एउँ*** ऐसा ***जिणवरु*** जिनेन्द्रदेव ***भणेइ*** कहते हैं ।

यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूति का अभाव होने पर शुभ-अशुभ उपयोगों से परिणमन करके जीवन, मरण, शुभ, अशुभ रूप कर्मबन्ध को करता है, और शुद्धात्मानुभूति के प्रगट होने पर शुद्धोपयोग से परिणत होकर मोक्ष को करता है, तो भी शुद्ध पारिणामिक-परमभाव-ग्राहक-शुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा न बंध का कर्ता है, और न मोक्ष का कर्ता है।

ऐसा कथन सुनकर शिष्य ने प्रश्न किया कि हे प्रभो! शुद्ध द्रव्यार्थिकस्वरूप शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा मोक्ष का भी कर्ता नहीं है, तो ऐसा समझना चाहिये कि शुद्धनय की अपेक्षा मोक्ष ही नहीं है; जब मोक्ष नहीं है, तब मोक्ष के लिये यत्न करना वृथा है ? उसका उत्तर कहते हैं—मोक्ष बंधपूर्वक होता है, और वह बन्ध शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा होता ही नहीं; इस कारण बंध के अभावरूप मोक्ष भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा नहीं है। यदि शुद्धनिश्चयनय से बंध होता, तो हमेशा बँधा ही रहता, कभी बंध का अभाव नहीं होता ।

इसके बारे में दृष्टांत कहते हैं—कोई एक पुरुष साँकल से बँधा है, और कोई एक पुरुष बंध रहित है; उनमें से जो बँधा है, उसको तो छूटने पर 'मुक्त' (छूटा) हुआ ऐसा व्यवहार से कहा जा सकता है; परन्तु दूसरा जो बँधा ही नहीं, उससे 'आप छूट गये' यदि ऐसा कहा जाय, तो वह क्रोध करता है, कहता है कि मैं बँधा कब था कि जिससे मुझे 'छूटा' कहते हो, बँधा हो, वह छूटता है इसलिये बँधे का तो मोक्ष कहना ठीक है; परन्तु जो बँधा ही नहीं है, उसे छूटा कैसे कह सकते हैं ?

उसीप्रकार यह जीव शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा बँधा हुआ नहीं है, इस कारण मुक्त कहना ठीक नहीं है । बंध भी व्यवहारनय से और मुक्ति भी व्यवहारनय से है, शुद्धनिश्चयनय से न बंध है, न मोक्ष है । अशुद्धनय से बंध है, इसलिये बंध के नाश का यत्न भी अवश्य करना चाहिये।

यहाँ यह अभिप्राय है कि सिद्ध समान यह अपना शुद्धात्मा वीतराग निर्विकल्पसमाधि में लीन पुरुषों को उपादेय है, अन्य सब हेय हैं ।।६८।।

न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते – वस्तु की शक्तियाँ दूसरों की अपेक्षा नहीं रखतीं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ निश्चयनयेन जीवस्योद्भवजरामरणरोगलिङ्गवर्णसंज्ञा नास्तीति कथयन्ति—

अत्थि ण उब्भउ जर-मरणु रोय वि लिंग वि वण्ण ।
णियमिं अप्पु वियाणि तुहुँ जीवहँ एक्क वि सण्ण ॥६९॥

अस्ति न उद्भवः जरामरणं रोगाः अपि लिङ्गान्यपि वर्णाः ।
नियमेन आत्मन् विजानीहि त्वं जीवस्य एकापि संज्ञा ॥६९॥

अत्थि ण उब्भउ जरमरणु रोय वि लिंग वि वण्ण अस्ति न न विद्यते । किं किं नास्ति? उत्पत्तिः जरामरणं रोगा अपि लिङ्गान्यपि वर्णाः ***णियमिं अप्पु वियाणि तुहुँ जीवहँ एक्क वि सण्ण*** नियमेन निश्चयेन हे आत्मन् हे जीव विजानीहि त्वम् । कस्य नास्ति ? जीवस्य न केवलमेतन्नास्ति संज्ञापि नास्तीति । अत्र संज्ञाशब्देनाहारादिसंज्ञा नामसंज्ञा वा ग्राह्या ।

तथाहि— वीतरागनिर्विकल्पसमाधेर्विपरीतैः क्रोधमानमायालोभप्रभृतिविभावपरिणामैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान्युद्भवादीनि शुद्धनिश्चयेन न सन्ति जीवस्य । तानि कस्मान्न सन्ति ? केवलज्ञानाद्यनन्तगुणैः कृत्वा निश्चयेनानादिसंतानागतोद्भवादिभ्यो भिन्नत्वादिति ।

अत्र उपादेयरूपानन्तसुखाविनाभूतशुद्धजीवात्तत्सकाशाद्यानि भिन्नान्युद्भवादीनि तानि हेयानीति तात्पर्यार्थः ॥६९॥

.....

आगे निश्चयनय की अपेक्षा जीव के जन्म, जरा, मरण, रोग, लिंग, वर्ण और संज्ञा नहीं हैं; आत्मा इन सब विकारों से रहित है, ऐसा कहते हैं—

ना जन्म-जरा-मरण नहीं ना रोग-लिंगादि नहीं ।
ना आतमा में नियम से वर्णादि संज्ञा भी नहीं ॥६९॥

दोहार्थ— हे आत्मन् ! जीव के जन्म, जरा, मरण, रोग, लिग, वर्ण तथा एक भी संज्ञा नियम से नहीं है—ऐसा तुम जानो ।

टीकार्थ— ***अप्पु*** हे जीव आत्माराम ! ***जीवहँ*** जीव के ***उब्भउ ण*** जन्म नहीं ***अत्थि*** है, ***जरमरण*** जरा (बुढ़ापा), मरण, ***रोय वि*** रोग, ***लिंग वि*** चिन्ह, ***वण्ण*** वर्ण, ***एक्क सण्ण वि*** आहारादि एक भी संज्ञा वा नाम नहीं हैं; ऐसा ***तुहुँ*** तुम ***णियमिं*** नियम से ***वियाणि*** जानो ।

वीतराग निर्विकल्पसमाधि से विपरीत जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभावपरिणाम, उनसे उपार्जित किये कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए जन्म, मरण आदि अनेक विकार हैं, वे शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा जीव के नहीं हैं; क्योंकि निश्चयनय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की अपेक्षा आत्मा केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, और अनादि-संतान से प्राप्त जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, स्त्री-पुरुष-नपुंसक लिंग, सफेद-काला वर्ण आदि, आहार-भय-मैथुन-परिग्रहरूप संज्ञा— इन सबसे भिन्न है ।

यहाँ उपादेयरूप अनंतसुख का धाम जो शुद्ध जीव, उससे भिन्न जो जन्मादि हैं, वे सभी त्याज्य हैं, एक आत्मा ही उपादेय है, यह तात्पर्य जानना ।।६९।।

यद्युद्भवादीनि स्वरूपाणि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य न सन्ति तर्हि कस्य सन्तीति प्रश्ने देहस्य भवन्तीति प्रतिपादयति—

देहहँ उब्भउ जर-मरणु देहहँ वण्णु विचित्तु ।
देहहँ रोय वियाणि तुहुँ देहहँ लिंगु विचित्तु ।।७०।।

देहस्य उद्भवः जरामरणं देहस्य वर्णः विचित्रः ।
देहस्य रोगान् विजानीहि त्वं देहस्य लिङ्गं विचित्रम् ।।७०।।

देहस्य भवति । किं किम् ? *उब्भउ* उत्पत्तिः जरामरणं च वर्णो विचित्रः । वर्णशब्देनात्र पूर्वसूत्रे च श्वेतादि ब्राह्मणादि वा गृह्यते । तस्यैव देहस्य रोगान् विजानीहीति, लिङ्गमपि लिङ्गशब्देनात्र पूर्वसूत्रे च स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गं यतिलिङ्गं वा ग्राह्यं चित्तं मनश्चेति ।

तद्यथा—शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयभावनाप्रतिकूलैः रागद्वेषमोहैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयसंपन्ना जन्ममरणादिधर्मा यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्य सन्ति तथापि निश्चयनयेन देहस्येति ज्ञातव्यम् ।

अत्र देहादिममत्वरूपविकल्पजालं त्यक्त्वा यदा वीतरागसदानन्दैकरूपेण सर्वप्रकारोपादेयभूतेन परिणमति तदा स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति भावार्थः।।७०।।

आगे यदि शुद्धनिश्चयनय से जन्म-मरणादि जीव के नहीं हैं, तो किसके हैं ? ऐसा शिष्य के प्रश्न करने पर समाधान यह है कि ये सब देह के हैं, ऐसा कथन करते हैं—

हैं देह के ही जन्म-मरण व वर्ण विध-विध देह के ।
हैं जरा-रोग व लिंग विध-विध जान मन भी देह के ।।७०।।

दोहार्थ— देह के ही जन्म, जरा, मरण हैं; देह के ही विविध वर्ण हैं, देह के ही रोग हैं, देह के ही विविध लिंग हैं—तुम ऐसा जानो ।

टीकार्थ— श्रीगुरु कहते हैं कि हे शिष्य, ***तुहुँ*** तुम ***देहहँ*** देह के ***उब्भउ*** जन्म, ***जरमरणु*** जरा, मरण होते हैं, अर्थात् नया शरीर धारण करना, विद्यमान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शरीर छोड़ना, वृद्ध अवस्था होना—ये सब देह के जानो, ***देहहँ*** देह के ***विचित्तुवण्णु*** अनेक प्रकार के सफेद, श्याम, हरे, पीले, लालरूप पाँच वर्ण; अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार वर्ण, ***देहहँ रोय*** देह के वात, पित्त, कफ आदि अनेक रोग, ***देहहँ*** देह के ***विचित्तु लिंगु*** अनेक प्रकार के स्त्रीलिंग, पुल्लिंग, नपुंसकलिंगरूप चिन्ह अथवा यति के लिंग और द्रव्यमन जानो ।

शुद्धात्मा के सच्चे श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रय की भावना से विमुख जो राग, द्वेष, मोह; उनसे उपार्जित जो कर्म, उनसे उत्पन्न जो जन्म-मरणादि विकार हैं, वे सब यद्यपि व्यवहारनय से जीव के हैं, तो भी निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, देहसम्बन्धी हैं—ऐसा जानना चाहिये ।

यहाँ पर देहादि में ममतारूप विकल्पजाल को छोड़कर जिस समय यह जीव वीतराग सदा आनंद एकरूप सब प्रकार से उपादेयभूत निज भावों से परिणमित होता है, तब अपना यह शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय जानो ॥७०॥

अथ देहस्य जरामरणं दृष्ट्वा मा भयं जीव कार्षीरिति निरूपयति—

देहहँ पेक्खवि जर-मरणु मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि ॥७१॥

देहस्य दृष्ट्वा जरामरणं मा भयं जीव कार्षीः ।
यः अजरामरः ब्रह्म परः तं आत्मानं मन्यस्व ॥७१॥

देहहँ पेक्खवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि देहसम्बन्धि दृष्ट्वा । किम् ? जरा-मरणम् । मा भयं कार्षीः हे जीव । अयमर्थो यद्यपि व्यवहारेण जीवस्य जरामरणं तथापि शुद्धनिश्चयेन देहस्य, न च जीवस्येति मत्वा भयं मा कार्षीः । तर्हि किं कुरु? ***जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि*** यः कश्चिदजरामरो जरामरणरहितब्रह्मशब्दवाच्यः शुद्धात्मा । कथंभूतः ? परः सर्वोत्कृष्टस्तमित्थंभूतं परं ब्रह्मस्वभावमात्मानं जानीहि पञ्चेन्द्रियविषयप्रभृतिसमस्तविकल्पजालं मुक्त्वा परमसमाधौ स्थित्वा तमेव भावयेति भावार्थः ॥७१॥

आगे ऐसा कहते हैं कि हे जीव, तुम जरा-मरण देह के जानकर डर मत करो—

भयभीत मत हो देख तन की जरा-मृत्यु जीव तू ।
जो परम ब्रह्म अजर-अमर वह आतमा ''मैं'' मान तू ॥७१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— हे जीव ! देह के जरा-मरण को देखकर तुम भयभीत मत होओ । जो अजर-अमर परम ब्रह्म स्वभाव है, उसे तुम आत्मा मानो ।

टीकार्थ-- ***जीव*** हे आत्माराम, तुम ***देहहँ*** देह के ***जरमरणु*** बुढ़ापा, मरण को ***पेक्खवि*** देखकर ***भउ*** डर ***मा करेहि*** मत करो, ***जो*** जो ***अजरामरु*** अजर-अमर ***परुबंभु*** परब्रह्म शुद्ध स्वभाव है, ***सो*** उसको तुम ***अप्पाणु*** आत्मा ***मुणेहि*** जानो।

यद्यपि व्यवहारनय से जीव के जरा-मरण हैं,तो भी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं है; वे देह के हैं, ऐसा जानकर भय मत करो; तुम अपने चित्त में ऐसा समझो कि जो कोई जरा-मरण रहित अखंड परब्रह्म है, वही मेरा स्वरूप है; शुद्धात्मा सबसे उत्कृष्ट है, ऐसा तुम अपना स्वभाव जानो । पाँच इन्द्रियों के विषय को और समस्त विकल्पजालों को छोड़कर परमसमाधि में स्थिर होकर निज आत्मा का ही ध्यान करो, यह तात्पर्य हुआ ।।७१।।

अथ देहे छिद्यमानेऽपि भिद्यमानेऽपि शुद्धात्मानं भावयेत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रं प्रतिपादयति—

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु ।
अप्पा भावहि णिम्मलउ जिं पावहि भव-तीरु ।।७२।।

छिद्यतां भिद्यतां यातु क्षयं योगिन् इदं शरीरम् ।
आत्मानं भावय निर्मलं येन प्राप्नोषि भवतीरम् ।।७२।।

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु छिद्यतां वा द्विधा भवतु भिद्यतां वा छिद्रीभवतु क्षयं वा यातु हे योगिन् इदं शरीरं तथापि त्वं किं कुरु ? ***अप्पा भावहि णिम्मलउ*** आत्मानं वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं भावय । किंविशिष्टम् ? निर्मलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितम् । येन किं भवति ? ***जिं पावहि भवतीरु*** येन परमात्मध्यानेन प्राप्नोषि लभसे त्वं हे जीव । किम् ? भवतीरं संसारसागरावसानमिति ।

अत्र योऽसौ देहस्य छेदनादिव्यापारेऽपि रागद्वेषादिक्षोभमकुर्वन् सन् शुद्धात्मानं भावयतीति संपादनादर्वाङ्मोक्षं स गच्छतीति भावार्थः ।।७२।।

आगे यदि देह छिद जाये, भिद जाये, क्षय हो जाये, तो भी तुम भय मत करो; केवल शुद्ध आत्मा का ध्यान करो, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर सूत्र कहते हैं—

हे जीव तन छिद जाय या भिद जाय या फिर नष्ट हो ।
भव-पार होगा पर यदि तू ध्यायगा शुद्धात्म को ।।७२।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— हे योगी ! यह शरीर छिद जाए, भिद जाए या नष्ट हो जाए, तो भी मन में खेद मत करो; तुम निर्मल आत्मा का ध्यान करो, जिससे संसार से पार हो जाओगे।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी, ***एहु*** यह ***सरीरु*** शरीर ***छिज्जउ*** छिद जाये, दो टुकड़े हो जाये, अथवा ***भिज्जउ*** भिद जाये, छेदसहित हो जाये, ***खउ जाउ*** नाश को प्राप्त हो, तो भी तुम भय मत करो, मन में खेद मत लाओ; ***णिम्मलउ अप्पा*** अपने निर्मल आत्मा का ही ध्यान करो, अर्थात् वीतराग चिदानंद शुद्धस्वभावमय तथा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित अपने आत्मा का ***भावहि*** चिंतवन करो, ***जिं*** जिस परमात्मा के ध्यान से तुम ***भवतीरु*** भवसागर का पार ***पावहि*** प्राप्त करोगे ।

जो देह के छेदनादि कार्य होते हुए भी राग-द्वेषादि विकल्प नहीं करता, निर्विकल्पभाव को प्राप्त करता हुआ शुद्ध आत्मा को ध्याता है, वह थोड़े ही समय में मोक्ष को प्राप्त करता है ॥७२॥

अथ कर्मकृतभावानचेतनं द्रव्यं च निश्चयनयेन जीवादिभिन्नं जानीहीति कथयति—

कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु ।
जीव-सहावहँ भिण्णु जिय णियमिं बुज्झहि सव्वु ॥७३॥

कर्मणः संबन्धिनः भावाः अन्यत् अचेतनं द्रव्यम् ।
जीवस्वभावात् भिन्नं जीव नियमेन बुध्यस्व सर्वम् ॥७३॥

कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु **कर्मसम्बन्धिनो रागादिभावा अन्यत् चाचेतनं देहादिद्रव्यं एतत्पूर्वोक्तं** ***अप्पसहावहँ भिण्णु जिय*** **विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपादात्मस्वभावान्निश्चयेन भिन्नं पृथग्भूतं हे जीव** ***णियमिं बुज्झहि सव्वु*** **नियमेन निश्चयेन बुध्यस्व जानीहि सर्वं समस्तमिति । अत्र मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगनिवृत्तिपरिणामकाले शुद्धात्मोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥७३॥**

आगे ऐसा कहते हैं, जो कर्मजनित रागादिभाव और शरीरादि परवस्तु हैं, वे चेतन द्रव्य न होने से निश्चयनय की अपेक्षा जीव से भिन्न हैं, ऐसा जानो—

जो जो करम सम्बन्धयुत वे सब अचेतन अन्य भी ।
हैं भिन्न जीव स्वभाव से नित भिन्न जानो जीव भी ॥७३॥

दोहार्थ— हे जीव ! कर्म सम्बन्धी सम्पूर्ण भाव और अन्य अचेतन सभी द्रव्य भी नियम से जीव स्वभाव से भिन्न जानो।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव, ***कम्महँ केरा भावडा*** कर्मों से जन्य रागादि भाव और ***अण्णु*** दूसरे ***अचेयणु दव्वु*** शरीरादि अचेतन पदार्थ ***सव्वु*** इन सबको ***णियमिँ जीवसहावहँ*** नियम से जीव के स्वभाव से ***भिण्णु*** पृथक् ***बुज्झहि*** जानो, अर्थात् ये सब कर्म के उदय से उत्पन्न हुए हैं, आत्मा का स्वभाव निर्मल ज्ञान-दर्शनमयी है ।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगों की निवृत्तिरूप परिणाम के समय शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ।।७३।।

अथ ज्ञानमयपरमात्मनः सकाशादन्यत्परद्रव्यं मुक्त्वा शुद्धात्मानं भावयेति निरूपयति–

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुँ भावहि अप्प-सहाउ ।।७४।।

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्यः परः भावः ।
तं त्यक्त्वा जीव त्वं भावय आत्मस्वभावम् ।।७४।।

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ **आत्मानं मुक्त्वा । किंविशिष्टम्? ज्ञानमयं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणराशिं निश्चयात् अन्यो भिन्नोऽभ्यन्तरे मिथ्यात्वरागादिबहिर्विषये देहादिपरभावः *सो छंडेविणु जीव तुहुँ भावहि अप्पसहाउ*** **तं पूर्वोक्तं शुद्धात्मनो विलक्षणं परभावं छंडयित्वा त्यक्त्वा हे जीव त्वं भावय । कम् ? स्वशुद्धात्मस्वभावम्। किंविशिष्टम् ? केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपकार्यसमयसारसाधकमभेदरत्नत्रयात्मक-कारणसमयसारपरिणतमिति ।**

अत्र तमेवोपादेयं जानीहीत्यभिप्रायः ।।७४।।

आगे ज्ञानमयी परमात्मा से भिन्न परद्रव्य को छोड़कर तुम शुद्धात्मा का ध्यान करो, ऐसा कहते हैं—

इस ज्ञानमय निज आतमा से भिन्न हैं परभाव जो ।
हे जीव उनको छोड़ ! भा तू नित्य आत्मस्वभाव को ।।७४।।

दोहार्थ— इस ज्ञानमय आत्मा से भिन्न अन्य जो परभाव हैं, उन्हें छोड़कर हे जीव ! तुम आत्मस्वभाव की भावना करो।

टीकार्थ— ***जीव*** हे जीव ***तुहुँ*** तुम ***णाणमउ*** ज्ञानमयी ***अप्पा*** आत्मा को ***मेल्लिवि*** छोड़कर (आत्मा से अतिरिक्त) ***अण्णु*** अन्य जो ***परायउभाउ*** दूसरे भाव हैं, ***सो*** उनको ***छंडेविणु*** छोड़कर ***अप्पसहाउ*** अपने शुद्धात्म-स्वभाव का ***भावहि*** चिंतवन करो ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलज्ञानादि अनंतगुणों के घनपिण्ड आत्मा से पृथक् जो मिथ्यात्व रागादि अंदर के भाव तथा देहादि बाह्य परभाव— ऐसे जो शुद्धात्मा से विलक्षण परभाव हैं, उन्हें छोड़कर केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय की व्यक्तिरूप कार्यसमयसार का साधक जो अभेदरत्नत्रयरूप कारणसमयसार है, उस रूप परिणत हुए अपने शुद्धात्म-स्वभाव का चिंतवन करो, उसी की भावना करो ।

यहाँ वह शुद्धात्मा ही उपादेय है—ऐसा जानो, यह अभिप्राय है ।।७४।।

अथ निश्चयेनाष्टकर्मसर्वदोषरहितं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसहितमात्मानं जानीहीति कथयति—

अट्ठहँ कम्महँ बाहिरउ सयलहँ दोसहँ चत्तु ।
दंसण-णाण-चरित्तमउ अप्पा भावि णिरुत्तु ।।७५।।

अष्टभ्यः कर्मभ्यः बाह्यं सकलैः दोषैः त्यक्तम् ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयं आत्मानं भावय निश्चितम् ।।७५।।

अट्ठहँ कम्महँ बाहिरउ सयलहँ दोसहँ चत्तु **अष्टकर्मभ्यो बाह्यं शुद्धनिश्चयेन ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मभ्यो भिन्नं मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपसर्वदोषैस्त्यक्तम् । पुनश्च किंविशिष्टम् ? *दंसणणाणचरित्तमउ* दर्शनज्ञानचारित्रमयं शुद्धोपयोगाविनाभूतैः स्वशुद्धात्मसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्निर्वृत्तं *अप्पा भावि णिरुत्तु* तमित्थंभूतमात्मानं भावय । दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तविभावपरिणामान् त्यक्त्वा भावयेत्यर्थः । *णिरुत्तु* निश्चितम् ।**

अत्र निर्वाणसुखादुपादेयभूतादभिन्नः समस्तभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मभ्यो भिन्नो योऽसौ शुद्धात्मा स एवाभेदरत्नत्रयपरिणतानां भव्यानामुपादेय इति भावार्थः ।।७५।।

एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये पृथक्-पृथक् स्वतन्त्रं भेदभावनास्थलसूत्रनवकं गतम् ।

आगे निश्चयनय की अपेक्षा आठ कर्म और सब दोषों से रहित, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी आत्मा को तुम जानो, ऐसा कहते हैं—

है आठ कर्मों से रहित सम्पूर्ण दोषों से रहित ।
शुद्धात्मा भा ! ज्ञान-दर्शन-चरितमय जो है नियत ।।७५।।

दोहार्थ— आठ कर्मों से भिन्न, सम्पूर्ण दोषों से रहित, दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय निश्चित आत्मा की भावना करो ।

टीकार्थ— ***अट्ठहँ कम्महँ*** शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से ***बाहिरउ*** रहित, ***सयलहँ दोसहँ*** मिथ्यात्व-रागादि सब विकारों से ***चत्तु***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रहित, ***दंसणणाणचरित्तमउ*** शुद्धोपयोग के साथ रहनेवाले अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय ***णिरुत्तु*** निश्चित ***अप्पा*** आत्मा का ***भावि*** चिंतवन करो ।

देखे-सुने-अनुभवे भोगों की अभिलाषारूप सब विभाव-परिणामों को छोड़कर निजस्वरूप का ध्यान करो । यहाँ उपादेयभूत अतींद्रिय-निर्वाणसुख से तन्मय और समस्त भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से पृथक् जो शुद्धात्मा है, वही अभेद रत्नत्रय को धारण करनेवाले भव्यों को उपादेय है—ऐसा तात्पर्य हुआ ।।७५।।

इसप्रकार तीन प्रकार आत्मा के कहनेवाले प्रथम महाधिकार में पृथक्-पृथक् स्वतंत्र भेद-भावना के स्थल में नौ दोहा-सूत्र कहे ।

तदनन्तरं निश्चयसम्यग्दृष्टिमुख्यत्वेन स्वतन्त्रसूत्रमेकं कथयति—

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ ।
सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइँ मुच्चेइ ।।७६।।

आत्मना आत्मानं जानन् जीवः सम्यग्दृष्टिः भवति ।
सम्यग्दृष्टिः जीवः लघु कर्मणा मुच्यते ।।७६।।

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि हवेइ आत्मनात्मानं जानन् सन् जीवो वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतेनान्तरात्मना स्वशुद्धात्मानं जानन्ननुभवन् सन् जीवः कर्ता ***सम्मादिट्ठि हवेइ*** वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भवति । निश्चयसम्यक्त्वभावनायाः फलं कथ्यते— ***सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइँ मुच्चेइ*** सम्यग्दृष्टिः जीवो लघु शीघ्रं ज्ञानावरणादिकर्मणा मुच्यते इति ।

अत्र येनैव कारणेन वीतरागसम्यग्दृष्टिः किल कर्मणा शीघ्रं मुच्यते तेनैव कारणेन वीतरागचारित्रानुकूलं शुद्धात्मानुभूत्यविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वमेव भावनीयमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यैर्मोक्षप्राभृते निश्चयसम्यक्त्वलक्षणम्—

''सद्दव्वरओ सवणो सम्मादिट्ठी हवेइ णियमेण ।
*सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ।।** *''।।७६।।*

आगे निश्चय सम्यग्दृष्टि की मुख्यता से स्वतन्त्र एक दोहासूत्र कहते हैं—

शुद्धात्मा को आतमा से जान सम्यग्दृष्टि हो ।
सद्दृष्टि आतम शीघ्र ही सब कर्मबंधन मुक्त हो ।।७६।।

दोहार्थ— आत्मा को आत्मारूप से जानता हुआ यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यग्दृष्टि जीव शीघ्र ही कर्मों से छूट जाता है ।

---

* अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़, गाथा १४ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***अप्पु*** अपने को ***अप्पिं*** अपने से ***मुणंतु*** जानता हुआ ***जिउ*** यह जीव ***सम्मादिट्ठि*** सम्यग्दृष्टि ***हवेइ*** होता है, और ***सम्माइट्ठिउ जीवडउ*** सम्यग्दृष्टि हुआ वह जीव ***लहु*** शीघ्र ***कम्मइँ*** कर्मों से ***मुच्चेइ*** छूट जाता है ।

यह आत्मा वीतराग स्वसंवेदनज्ञानरूप से परिणत हुआ अंतरात्मा होकर अपने को जानता, अनुभवता हुआ वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है; तब सम्यग्दृष्टि होने के कारण ज्ञानावरणादि कर्मों से शीघ्र ही छूट जाता है— रहित हो जाता है ।

यहाँ जिस कारण वीतराग सम्यग्दृष्टि होने से यह जीव कर्मों से छूटकर सिद्ध हो जाता है, उसी कारण वीतराग चारित्र के अनुकूल शुद्धात्मानुभूति का अविनाभावी जो वीतराग सम्यक्त्व है, वही भावना करने योग्य है—ऐसा अभिप्राय हुआ।

ऐसा ही कथन श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षपाहुड़ ग्रन्थ में निश्चयसम्यक्त्व के लक्षण में किया है ''सद्दव्वरओ'' इत्यादि— उसका अर्थ यह है कि ''आत्मस्वरूप में लीन हुआ जो यति, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है, फिर वह सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट आठ कर्मों का क्षय करता है ।'' ॥७६॥

अत ऊर्ध्वं मिथ्यादृष्टिलक्षणकथनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते । तद्यथा—

पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधइ बहु-विह-कम्मडा जें संसारु भमेइ ॥७७॥

पर्यायरक्तो जीवः मिथ्यादृष्टिः भवति ।
बध्नाति बहुविधकर्माणि येन संसारं भ्रमति ॥७७॥

पज्जयरत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ **पर्यायरक्तो जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति परमात्मानुभूतिरुचिप्रतिपक्षभूताभिनिवेशरूपा व्यावहारिकमूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलान्तर्भाविनी मिथ्या वितथा व्यलीका च सा दृष्टिरभिप्रायो रुचिः प्रत्ययः श्रद्धानं यस्य स भवति मिथ्यादृष्टिः । स च किंविशिष्टः ? नरनारकादिविभावपर्यायरतः । तस्य मिथ्यापरिणामस्य फलं कथ्यते— *बंधइ बहुविहकम्मडा जें संसारु भमेइ* बध्नाति बहुविधकर्माणि यैः संसारं भ्रमति, येन मिथ्यात्वपरिणामेन शुद्धात्मोपलब्धेः प्रतिपक्षभूतानि बहुविधकर्माणि बध्नाति तैश्च कर्मभिर्द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं परिभ्रमतीति । तथा चोक्तं मोक्षप्राभृते निश्चयमिथ्यादृष्टिलक्षणम् —**

''जो पुण परदव्वरओ मिच्छाइट्ठी हवेइ सो साहू ।
मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥''

पुनश्चोक्तं तैरेव–

✡ अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़, गाथा १५ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

''जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेयव्वा ।।''✡

अत्र स्वसंवित्तिरूपाद्वीतरागसम्यक्त्वात् प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं हेयमिति भावार्थः।।७७।।

इसके बाद मिथ्यादृष्टि के लक्षण-कथन की मुख्यता से आठ दोहा कहते हैं । वह इसप्रकार—

पर्याय में रत जीव मिथ्यादृष्टि नित ही बाँधता ।
बहुविध करम जिससे सतत संसार में ही घूमता ।।७७।।

दोहार्थ— पर्याय में लीन जीव मिथ्यादृष्टि है, वह अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधता है, जिससे संसार में घूमता है ।

टीकार्थ— ***पज्जयरत्तउ जीवडउ*** शरीर आदि पर्याय में लीन हुआ जो अज्ञानी जीव है, वह ***मिच्छादिट्ठि*** मिथ्यादृष्टि ***हवेइ*** होता है, और फिर वह ***बहुविहकम्मडा*** अनेक प्रकार के कर्मों को ***बंधइ*** बाँधता है, ***जें*** जिससे ***संसारु*** संसार में ***भमेइ*** भ्रमण करता है ।

परमात्मा की अनुभूतिरूप श्रद्धा से विमुख जो आठ मद, आठ मल, छह अनायतन, तीन मूढ़ता— इन पच्चीस दोषों से सहित अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व परिणाम जिसके हैं, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है । वह मिथ्यादृष्टि नर-नारकादि विभाव-पर्यायों में लीन रहता है । उस मिथ्यात्व परिणाम से शुद्धात्मानुभव के प्रतिपक्षी अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधता है; जिनसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूपी पाँच प्रकार के संसार में भटकता है । ऐसा कोई शरीर नहीं, जो इसने न धारण किया हो; ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ यह न उत्पन्न हुआ हो, और न मरण किया हो; ऐसा कोई काल नहीं है, जिसमें इसने जन्म-मरण न किये हों; ऐसा कोई भव नहीं, जो इसने पाया न हो; और ऐसे अशुद्ध भाव नहीं हैं, जो इसके न हुए हों । —इसप्रकार अनंत परावर्तन इसने किये हैं ।

ऐसा ही कथन मोक्षपाहुड़ में निश्चय मिथ्यादृष्टि के लक्षण में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने किया है— *''जो पुण''* इत्यादि । इसका अर्थ यह है— ''जो अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप परद्रव्य में लीन हो रहे हैं, वे साधु के व्रत धारण करने पर भी मिथ्यादृष्टि ही हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं और मिथ्यात्वरूप परिणमित होते हुए वे दुःख देनेवाले आठ कर्मों को बाँधते हैं ।''

✡ **प्रवचनसार, गाथा ९४ ।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उन्हीं आचार्य ने और भी कहा है— *"जे पज्जयेसु"* इत्यादि । उसका अर्थ यह है— "जो नर-नारकादि पर्यायों में मग्न हो रहे हैं, वे जीव परपर्याय में रत मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा भगवान ने कहा है, और जो उपयोग लक्षणरूप निजभाव में स्थित हैं, वे स्वसमयरूप सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा जानो ।"

सारांश यह है कि जो परपर्याय में रत हैं, वे तो परसमय (मिथ्यादृष्टि) हैं, और जो आत्म-स्वभाव में लीन हैं, वे स्वसमय (सम्यग्दृष्टि) हैं; मिथ्यादृष्टि नहीं हैं । यहाँ पर आत्मज्ञानरूपी वीतराग सम्यक्त्व से पराङ्मुख जो मिथ्यात्व है, वह हेय है, त्याग करने योग्य है — यह तात्पर्य है ॥७७॥

अथ मिथ्यात्वोपार्जितकर्मशक्तिं कथयति—

कम्मइँ दिढ-घण-चिक्कणइँ गरुवइँ वज्ज-समाइँ ।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहिं पाडहिँ ताइँ ॥७८॥

कर्माणि दृढघनचिक्कणानि गुरुकाणि वज्रसमानि ।
ज्ञानविचक्षणं जीवं उत्पथे पातयन्ति तानि ॥७८॥

कम्मइँ दिढघणचिक्कणइँ गरुवइँ वज्जसमाइँ **कर्माणि भवन्ति । किंविशिष्टानि? दृढानि बलिष्ठानि घनानि निबिडानि चिक्कणान्यपनेतुमशक्यानि विनाशयितुमशक्यानि गुरुकाणि महान्ति वज्रसमान्यभेद्यानि च । इत्थंभूतानि कर्माणि किं कुर्वन्ति ?** ***णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहिं पाडहिँ ताइँ*** **ज्ञानविचक्षणं जीवमुत्पथे पातयन्ति । तानि कर्माणि युगपल्लोकालोकप्रकाशककेवलज्ञानाद्यनन्तगुणविचक्षणं दक्षं जीवमभेदरत्नत्रय-लक्षणान्निश्चयमोक्षमार्गात्प्रतिपक्षभूत उन्मार्गे पातयन्तीति ।**

अत्रायमेवाभेदरत्नत्रयरूपो निश्चयमोक्षमार्ग उपादेय इत्यभिप्रायः ॥७८॥

आगे मिथ्यात्व द्वारा अनेक प्रकार के उपार्जित किये कर्मों से यह जीव संसार-वन में भ्रमता है, उस कर्मशक्ति को कहते हैं—

दृढ घने चिकने गुरु कर्म अभेद्य वज्र समान जो ।
वे कुपथ में हैं डालते विज्ञानमय इस जीव को ॥७८॥

दोहार्थ— दृढ, घने, चिकने, भारी और वज्र के समान अभेद्य वे कर्म, ज्ञान-विचक्षण जीव को उत्पथ/संसार-मार्ग में गिराते हैं।

टीकार्थ— ***ताइँ कम्मइँ*** वे ज्ञानावरणादि कर्म ***णाणवियक्खणु*** ज्ञानादि गुण से चतुर इस ***जीवडउ*** जीव को ***उप्पहिँ*** खोटे मार्ग में ***पाडहिँ*** पटकते हैं । कैसे हैं वे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर्म ? ***दिढघणचिक्कणइँ*** बलवान हैं, बहुत हैं, विनाश करने को अशक्य हैं, इसलिये चिकने हैं, ***गरुवइँ*** भारी हैं, ***वज्जसमाइँ*** और वज्र के समान अभेद्य हैं ।

यह जीव एक समय में लोकालोक के प्रकाशक केवलज्ञान आदि अनंत गुणों से बुद्धिमान चतुर है, तो भी इस जीव को वे संसार के कारणभूत कर्म ज्ञानादि गुणों का आच्छादन करके अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्ग से विपरीत खोटे मार्ग में डालते हैं, अर्थात् मोक्ष-मार्ग से हटाकर भव-वन में भटकाते हैं ।

यहाँ यह अभिप्राय है कि संसार के कारण जो कर्म और उनके कारण मिथ्यात्व-रागादि परिणाम हैं, वे सब हेय हैं, तथा अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्ग है, वह उपादेय है ॥७८॥

अथ मिथ्यापरिणत्या जीवो विपरीतं तत्त्वं जानातीति निरूपयति—

जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ ।
कम्म-विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥७९॥

जीवः मिथ्यात्वेन परिणतः विपरीतं तत्त्वं मनुते ।
कर्मविनिर्मितान् भावान् तान् आत्मानं भणति ॥७९॥

जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ जीवो **मिथ्यात्वेन परिणतः सन् विपरीतं तत्त्वं जानाति, शुद्धात्मानुभूतिरुचिविलक्षणेन मिथ्यात्वेन परिणतः सन् जीवः परमात्मादितत्त्वं च यथावद् वस्तुस्वरूपमपि विपरीतं मिथ्यात्वरागादिपरिणतं जानाति । ततश्च किं करोति ? *कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ* कर्मविनिर्मितान् भावान् तानात्मानं भणति, विशिष्टभेदज्ञानाभावाद्दौरस्थूलकृशादिकर्मजनितदेहधर्मानमात्मानं जानातीत्यर्थः।**

अत्र तेभ्यः कर्मजनितभावेभ्यो भिन्नो रागादिनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥७९॥

आगे मिथ्यात्व परिणति से यह जीव तत्त्व को यथार्थ नहीं जानता, विपरीत जानता है, ऐसा कहते हैं—

मिथ्यात्व परिणत जीव मिथ्या तत्त्व को ही मानता ।
वह कर्म-निर्मित भाव को ही आतमा के मानता ॥७९॥

दोहार्थ— मिथ्यात्वरूप से परिणमित यह जीव, विपरीत तत्त्व को मानता है; वह उन कर्म-विनिर्मित/कर्म के उदय में होने वाले भावों को, अपने कहता है, मानता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जिउ*** यह जीव ***मिच्छत्तें परिणमिउ*** (शुद्धात्मानुभूति रुचि से विलक्षण) अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्वमय परिणत हुआ, ***तच्चु*** परमात्मा आदि तत्त्वों के स्वरूप का, ***विवरिउ*** अन्य का अन्य ***मुणेइ*** श्रद्धान करता है, यथार्थ नहीं जानता। वस्तु का स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है, तो भी वह मिथ्यात्वी जीव वस्तु के स्वरूप को विपरीत जानता है, अपना जो शुद्ध ज्ञानादि सहित स्वरूप है, उसको मिथ्यात्व-रागादि रूप जानता है । उससे क्या करता है ? ***कम्मविणिम्मिय भावडा*** कर्मों से रचे गये जो शरीरादि परभाव हैं, ***ते*** उनको ***अप्पाणु*** अपने ***भणेइ*** कहता है, अर्थात् भेदविज्ञान के अभाव से गोरा, श्याम, स्थूल, कृश इत्यादि कर्मजनित देह के स्वरूप को अपना जानता है; इसी से संसार में भ्रमण करता है ।

यहाँ पर कर्मों द्वारा उपार्जित भावों से भिन्न, रागादि की निवृत्ति के समय स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है; क्योंकि जिस समय रागादि की निवृत्ति होती है, उसी समय शुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है — यह तात्पर्य है ॥७९॥

अथानन्तरं *तत्पूर्वोक्तकर्मजनितभावान् येन मिथ्यापरिणामेन कृत्वा बहिरात्मा आत्मनि योजयति तं परिणामं सूत्रपञ्चकेन विवृणोति—

हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ॥८०॥

अहं गौरः अहं श्यामः अहमेव विभिन्नः वर्णः ।
अहं तन्वङ्गः स्थूलः अहं एतं मूढं मन्यस्व ॥८०॥

अहं गौरो गौरवर्णः, अहं श्यामः श्यामवर्णः, अहमेव भिन्नो नानावर्णः मिश्रवर्णः । क्व ? वर्णविषये रूपविषये । पुनश्च कथंभूतोऽहम् ? तन्वङ्गः कृशाङ्गः। पुनश्च कथंभूतोऽहम् ? स्थूलः स्थूलशरीरः । इत्थंभूतं मूढात्मानं मन्यस्व । एवं पूर्वोक्तमिथ्यापरिणामपरिणतं जीवं मूढात्मानं जानीहीति ।

अयमत्र भावार्थः — निश्चयनयेनात्मनो भिन्नान् कर्मजनितान् गौरस्थूलादिभावान् सर्वथा हेयभूतानपि सर्वप्रकारोपादेयभूते वीतरागनित्यानन्दैकस्वभावे शुद्धजीवे यो योजयति स विषयकषायाधीनतया स्वशुद्धात्मानुभूतेश्च्युतः सन् मूढात्मा भवतीति ॥८०॥

इसके बाद जिस मिथ्यात्व परिणाम से बहिरात्मा उन पूर्व कथित कर्मजनित भावों को अपना मानता है, परन्तु वे अपने नहीं हैं; उन परिणामों को पाँच दोहा-सूत्रों से कहते हैं—

---

* पाठान्तर, तत् - तान् ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मैं गौर हूँ मैं श्यामवर्णी विविधवर्णी भी यही ।
मैं क्षीणतन मैं स्थूल तन यों मूढ माने नित्य ही ॥८०॥

दोहार्थ— मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ, मैं ही और भी अनेक वर्ण वाला हूँ; मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ—ऐसी मान्यतावाले को मूढ मानो ।

टीकार्थ— ***हउँ*** मैं ***गोरउ*** गोरा हूँ, ***हउँ*** मैं ***सामलउ*** काला हूँ, ***हउँ जि*** मैं ही ***विभिण्णउ वण्णु*** अनेक वर्णवाला हूँ, ***हउँ*** मैं ***तणुअंगउँ*** कृश (पतले) शरीरवाला हूँ, ***हउँ*** मैं ***थूलु*** मोटा हूँ— ***एहउँ*** इसप्रकार मिथ्यात्व परिणाम से परिणत मिथ्यादृष्टि जीव को तुम ***मूढउ*** मूढ ***मण्णु*** मानो ।

तात्पर्य यह है कि निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा से भिन्न जो कर्मजनित गौर-स्थूलादि भाव हैं, वे सर्वथा त्याज्य हैं; और सर्वप्रकार उपादेयभूत, आराधन-योग्य वीतराग नित्यानंद एक स्वभाव जो शुद्धजीव है, वह इनसे भिन्न है; तो भी पुरुष विषय-कषायों के आधीन होकर शरीर के भावों को अपने जानता है, वह अपनी शुद्धात्मानुभूति से रहित हुआ मूढात्मा है ॥८०॥

अथ—

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।
पुरिसु णउँसउ इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ॥८१॥

अहं वरः ब्राह्मणः वैश्यः अहं अहं क्षत्रियः अहं शेषः ।
पुरुषः नपुंसकः स्त्री अहं मन्यते मूढः विशेषम् ॥८१॥

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु अहं वरो विशिष्टो ब्राह्मणः अहं वैश्यो वणिग् अहं क्षत्रियोऽहं शेषः शूद्रादि । पुनश्च कथंभूतः ? ***पुरिसु णउँसउ इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु*** पुरुषो नपुंसकः स्त्रीलिङ्गोऽहं मन्यते मूढो विशेषं ब्राह्मणादिविशेषमिति ।

इदमत्र तात्पर्यम्—यन्निश्चयनयेन परमात्मनो भिन्नानपि कर्मजनितान् ब्राह्मणादभेदान् सर्वप्रकारेण हेयभूतानपि निश्चयनयेनोपादेयभूते वीतरागसदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि योजयति संबद्धान् करोति । कोऽसौ कथंभूतः ? अज्ञानपरिणतः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितो मूढात्मेति ॥८१॥

.....

मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण वैश्य क्षत्रिय शूद्र आदि मैं तथा ।
मैं पुरुष स्त्री नपुंसक मैं मूढ की यों मान्यता ॥८१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— मैं उत्कृष्ट ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं शेष शूद्र आदि हूँ; मैं पुरुष, नपुंसक, स्त्री हूँ—इत्यादि मूढ की विशेष मान्यतायें हैं ।

टीकार्थ— ***मूढु*** मिथ्यादृष्टि अपने को ***विसेसु मण्णइ*** ऐसा विशेष मानता है कि ***हउँ*** मैं ***वरु बंभणु*** सबमें श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, ***हउँ*** मैं ***वइसु*** वणिक हूँ, ***हउँ*** मैं ***खत्तिउ*** क्षत्री हूँ, ***हउँ*** मैं इनके ***सेसु*** सिवाय शूद्र हूँ, ***हउँ*** मैं ***पुरिसु णउँसउ इत्थि*** पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, और स्त्री हूँ । इसप्रकार शरीर के भावों को मूर्ख अपने मानता है; परन्तु ये सब शरीर के हैं, आत्मा के नहीं हैं ।

यहाँ पर भावार्थ ऐसा है कि निश्चयनय से ये ब्राह्मणादि भेद कर्मजनित हैं, परमात्मा के नहीं हैं, इसलिये सब प्रकार से आत्मज्ञानी को त्याज्यरूप हैं; तो भी जो निश्चयनय से उपादेयभूत, आराधन-योग्य वीतराग सदा आनंद एक स्वभाव निज शुद्धात्मा में इन भेदों को लगाता है; अर्थात् अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि रूप मानता है; स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि रूप मानता है, वह कर्मों का बंध करता है; वही अज्ञान से परिणत हुआ, निज शुद्धात्म-तत्त्व की भावना से रहित हुआ मूढात्मा है, ज्ञानवान नहीं है ॥८१॥

अथ—

तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥८२॥

तरुणः वृद्धः रूपवान् शूरः पण्डितः दिव्यः ।
क्षपणकः वन्दकः श्वेतपटः मूढः मन्यते सर्वम् ॥८२॥

तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु **तरुणो यौवनस्थोऽहं वृद्धोऽहं रूपस्व्यहं शूरः सुभटोऽहं पण्डितोऽहं दिव्योऽहम् । पुनश्च किंविशिष्टः? *खवणउ वंदउ सेवडउ* क्षपणको दिगम्बरोऽहं वन्दको बौद्धोऽहं श्वेतपटादिलिङ्गधारकोऽहमिति मूढात्मा सर्व मन्यत इति ।**

अयमत्र तात्पर्यार्थः — यद्यपि व्यवहारेणाभिन्नान् तथापि निश्चयेन वीतराग-सहजानन्दैकस्वभावात्परमात्मनः भिन्नान् कर्मोदयोत्पन्नान् तरुणवृद्धादिविभावपर्यायान् हेयानपि साक्षादुपादेयभूते स्वशुद्धात्मतत्त्वे योजयति । कोऽसौ ? ख्यातिपूजालाभादिविभाव-परिणामाधीनतया परमात्मभावनाच्युतः सन् मूढात्मेति ॥८२॥

आगे मूढ के और भी लक्षण कहते हैं—

मैं तरुण वृद्ध सुरूप पण्डित शूर दिव्य रु बौद्ध हूँ ।
हूँ दिगम्बर श्वेताम्बरी यों मूढ माने विविध हूँ ॥८२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— मैं तरुण, वृद्ध, रूपवान, शूरवीर, पण्डित, दिव्य, दिगम्बर, बौद्धाचार्य, श्वेताम्बर आदि सभी रूप हूँ—ऐसा मूढ मानता है ।

टीकार्थ— ***तरुणउ*** मैं जवान हूँ, ***बूढउ*** बुड्ढा हूँ, ***रूयडउ*** रूपवान हूँ, ***सूरउ*** शूरवीर हूँ, ***पंडिउ*** पंडित हूँ, ***दिव्वु*** सबसे श्रेष्ठ हूँ, ***खवणउ*** दिगम्बर हूँ, ***वंदउ*** बौद्धमत का आचार्य हूँ, और मैं ***सेवडउ*** श्वेताम्बर हूँ—इत्यादि ***सव्वु*** सब शरीर के भेदों को ***मूढउ*** मूर्ख ***मण्णइ*** अपने मानता है । ये भेद जीव के नहीं हैं ।

यहाँ पर तात्पर्य यह है कि यद्यपि व्यवहारनय से ये सब तरुण, वृद्धादि शरीर के भेद आत्मा के कहे जाते हैं; तथापि निश्चयनय से वीतराग, सहजानंद, एक स्वभाव जो परमात्मा, उससे भिन्न हैं । ये तरुण-वृद्धादि विभावपर्याय कर्म के उदय से उत्पन्न हुई हैं, इसलिये त्याग करने योग्य हैं; तो भी उन्हें साक्षात् उपादेयभूत निज शुद्धात्म-तत्त्व में जो लगाता है, अर्थात् उन्हें आत्मा के मानता है, वह अज्ञानी जीव ख्याति/बड़ाई, प्रतिष्ठा, धन का लाभ—इत्यादि विभाव परिणामों के आधीन होने से परमात्मा की भावना से रहित हुआ मूढ़ात्मा है; वह उन्हें जीव के ही भाव मानता है॥८२॥

अथ—

जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु ।
माया जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥८३॥

जननी जनन: अपि कान्ता गृहं पुत्रोऽपि मित्रमपि द्रव्यम् ।
मायाजालमपि आत्मीयं मूढ: मन्यते सर्वम् ॥८३॥

जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु जननी माता जनन: पितापि कान्ता भार्या गृहं पुत्रोऽपि मित्रमपि द्रव्यं सुवर्णादि यत्तत्सर्वं ***मायाजालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु*** मायाजालमप्यसत्यमपि कृत्रिममपि आत्मीयं स्वकीयं मन्यते । कोऽसौ ? मूढो मूढात्मा । कतिसंख्योपेतमपि ? सर्वमपीति ।

अयमत्र भावार्थ: — जनन्यादिकं परस्वरूपमपि शुद्धात्मनो भिन्नमपि हेयस्याशेष-नारकादिदु:खस्य कारणत्वाद्धेयमपि साक्षादुपादेयभूतानाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसौख्याद-भिन्ने वीतरागपरमानन्दैकस्वभावे शुद्धात्मतत्त्वे योजयति । स क: ? मनोवचनकाय-व्यापारपरिणत: स्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाशून्यो मूढात्मेति ॥८३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे मूढ के अन्य भी लक्षण कहते हैं—

माता-पिता, पति, पुत्र घर या मित्र आदि पर सभी ।
हैं कहे मायाजालवत् पर मूढ माने आत्म ही ॥८३॥

दोहार्थ— माता, पिता, पत्नी, घर, पुत्र, मित्र आदि सभी द्रव्य मायाजाल के समान हैं; तथापि यह मूढ जीव उन्हें अपना मानता है ।

टीकार्थ— ***जणणी*** माता, ***जणणु*** पिता ***वि*** और ***कंत*** स्त्री, ***घरु*** घर ***पुत्तवि*** और बेटा-बेटी, ***मित्तवि*** मित्र आदि सब कुटुम्बीजन बहिन, भानजी, नाना, मामा, भाई, बंधु आदि और ***दव्वु*** रत्न, माणिक, मोती, सुवर्ण, चाँदी, धन, धान्य, द्विपद—वाँदी, धाय, नौकर; चौपाये—गाय, बैल, घोड़ी, ऊँट, हाथी, रथ, पालकी, वहली आदि ये ***सव्व*** सर्व ***मायाजालुवि*** असत्य हैं, कर्मजनित हैं, तो भी ***मूढउ*** अज्ञानी जीव ***अप्पणउ*** अपने ***मण्णइ*** मानता है ।

ये माता-पिता आदि सब कुटुम्बीजन परस्वरूप भी हैं, सब स्वार्थ के साथी हैं, शुद्धात्मा से भिन्न हैं, शरीर संबंधी हैं, हेयरूप सांसारिक नारकादि दुःखों के कारण होने से त्याज्य भी हैं, उनको जो जीव साक्षात् उपादेयरूप अनाकुलतास्वरूप पारमार्थिक सुख से अभिन्न वीतराग परमानंदरूप एकस्वभाववाले शुद्धात्मद्रव्य में लगाता है अर्थात् अपने मानता है; वह मन, वचन, काय के व्यापाररूप परिणत हुआ अपने शुद्ध आत्मद्रव्य की भावना से शून्य (रहित) मूढात्मा है, ऐसा जानो; अर्थात् अतीन्द्रियसुखरूप आत्मा में परवस्तु का क्या प्रयोजन है ? जो परवस्तु को अपना मानता है, वही मूर्ख है ॥८३॥

अथ—

दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुह-हेउ रमेइ ।
मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ इत्थु ण काइँ करेइ ॥८४॥

दुःखस्य कारणं ये विषयाः तान् सुखहेतून् रमते ।
मिथ्यादृष्टिः जीवः अत्र न किं करोति ॥८४॥

दुक्खहँ कारणि जे विषय ते सुहहेउ रमेइ दुःखस्य कारणं ये विषयास्तान् विषयान् सुखहेतून् मत्वा रमते । स कः ? ***मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ*** मिथ्यादृष्टिर्जीवः। ***इत्थु ण काइँ करेइ*** अत्र जगति योऽसौ दुःखरूपविषयान् निश्चयनयेन सुखरूपान् मन्यते स मिथ्यादृष्टिः किमकृत्यं पापं न करोति ? अपि तु सर्वं करोत्येवेति ।

अत्र तात्पर्यम्— मिथ्यादृष्टिर्जीवो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दपरमसमरसी-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भावरूपसुखरसापेक्षया निश्चयेन दु:खरूपानपि विषयान् सुखहेतून् मत्वा अनुभवतीत्यर्थ:।।८४।।

एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये *'पज्जय-रत्तउ जीवडउ'* इत्यादिसूत्राष्टकेन मिथ्यादृष्टिपरिणतिव्याख्यानस्थलं समाप्तम् ।

.....

आगे मूढ के और भी लक्षण कहते हैं—

नित दु:ख-कारण को समझ सुख-हेतु रमता विषय में ।
यह मूढ क्या-क्या ना करे इसके लिए इस जगत में ?।।८४।।

दोहार्थ— दु:ख के कारणभूत विषयों को सुख का कारण मानकर यह जीव उनमें रमण करता है । मिथ्यादृष्टि जीव इस संसार में क्या-क्या नहीं करता?

टीकार्थ— ***दुक्खहँ*** दु:ख के ***कारणि*** कारण ***जे*** जो ***विसय*** पाँच इन्द्रियों के विषय हैं, ***ते*** उनको ***सुहहेउ*** सुख के कारण जानकर ***रमेइ*** रमण करता है, वह ***मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ*** मिथ्यादृष्टि जीव ***इत्थु*** इस संसार में ***काइँ ण करेइ*** क्या-क्या पाप नहीं करता? सभी पाप करता है, अर्थात् जीवों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, दूसरे का धन हरता है, दूसरे की स्त्री का सेवन करता है, अति तृष्णा करता है, बहुत आरम्भ करता है, खेती करता है, खोटे-खोटे व्यसन सेवन करता है, जो न करने योग्य काम हैं, उन्हें भी करता है।

मिथ्यादृष्टि जीव वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि से उत्पन्न परमानन्द परमसमरसी-भावरूप सुख से पराङ्मुख हुआ निश्चय से महा दु:खरूप विषयों को सुख के कारण समझकर सेवन करता है, परन्तु उनमें सुख नहीं है ।।८४।।

इसप्रकार तीन प्रकार के आत्मा को कहनेवाले पहले महा अधिकार में *'पज्जयरत्तउजीवडउ'* इत्यादि आठ दोहों द्वारा मिथ्यादृष्टि की परिणति का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

तदनन्तरं सम्यग्दृष्टिभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन *'कालु लहेविणु'* इत्यादि सूत्राष्टकं कथ्यते । अथ—

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ ।
तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ णियमैं अप्पु मुणेइ ।।८५।।

कालं लब्ध्वा योगिन् यथा यथा मोह: गलति ।
तथा तथा दर्शनं लभते जीव: नियमेन आत्मानं मनुते ।।८५।।

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ **कालं लब्ध्वा हे योगिन् यथा**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यथा मोहो विगलति *तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ* तथा तथा दर्शनं सम्यक्त्वं लभते जीवः । तदनन्तरं किं करोति ? *णियमैं अप्पु मुणेइ* नियमेनात्मानं मनुते जानातीत्यर्थः।

तथाहि—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपंचेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलशुद्धात्मोपदेशादीनामुत्तरोत्तर-दुर्लभक्रमेण दुःप्राप्ता तु या काललब्धिः, कथंचित्काकतालीयन्यायेन तां लब्ध्वा परमागमकथितमार्गेण मिथ्यात्वादिभेदभिन्नपरमात्मोपलंभप्रतिपत्तेर्यथा यथा मोहो विगलति तथा तथा शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं लभते । शुद्धात्मकर्मणोर्भेदज्ञानेन शुद्धात्मतत्त्वं मनुते जानातीति।

अत्र यस्यैवोपादेयभूतस्य शुद्धात्मनो रुचिपरिणामेन निश्चयसम्यग्दृष्टिर्जातो जीवः, स एवोपादेय इति भावार्थः ॥८५॥

.....

इसके आगे सम्यग्दृष्टि की भावना के व्याख्यान की मुख्यता से ***'कालु लहेविणु'*** इत्यादि आठ दोहा-सूत्र कहते हैं—

निज काल पाकर मोह ज्यों-ज्यों गले त्यों-त्यों प्राप्त हो ।
सम्यग्दरश वह जीव माने नियम से शुद्धात्म को ॥८५॥

दोहार्थ— हे योगी ! समय काल-लब्धि पाकर जैसे-जैसे मोह गलता जाता है, वैसे-वैसे यह जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; उसमें नियम से आत्मा को अपने रूप में मानता है ।

टीकार्थ— ***जोइया*** हे योगी ! ***कालु लहेविणु*** काल पाकर ***जिमु जिमु*** जैसे-जैसे ***मोहु गलेइ*** मोह गलता है—कम होता जाता है, ***तिमु तिमु*** वैसे-वैसे ***जिउ*** यह जीव ***दंसणु*** सम्यग्दर्शन को ***लहइ*** प्राप्त करता है, फिर ***णियमैं*** निश्चय से ***अप्पु*** अपने स्वरूप को ***मुणेइ*** जानता है ।

एकेन्द्रिय से विकलत्रय (दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय) होना दुर्लभ है, विकलत्रय से पंचेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय से सैनी पर्याप्त, उससे मनुष्य होना कठिन है । मनुष्य में भी आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, शुद्धात्मा का उपदेश आदि मिलना उत्तरोत्तर बहुत कठिन है । कभी किसी प्रकार 'काकतालीय न्याय से' काललब्धि प्राप्तकर सब दुर्लभ सामग्री मिलने पर भी जैन-शास्त्रोक्त मार्ग से मिथ्यात्वादि दूर हो जाने पर आत्मस्वरूप की प्राप्ति होते हुए, जैसे-जैसे मोह क्षीण होता जाता है, वैसे-वैसे शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व होता है । शुद्ध आत्मा और कर्म को पृथक्-पृथक् जानता है । जिस उपादेयभूत शुद्धात्मा की रुचिरूप परिणाम से यह जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि होता है, वही उपादेय है; यह तात्पर्य हुआ ॥८५॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत ऊर्ध्वं पूर्वोक्तन्यायेन सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा मिथ्यादृष्टिभावनायाः प्रतिपक्षभूतां यादृशीं भेदभावनां करोति तादृशीं क्रमेण सूत्रसप्तकेन विवृणोति—

अप्पा गोरउ किण्हु ण वि अप्पा रत्तु ण होइ ।
अप्पा सुहुमु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणें जोइ ॥८६॥

आत्मा गौरः कृष्णः नापि आत्मा रक्तः न भवति ।
आत्मा सूक्ष्मोऽपि स्थूलः नापि ज्ञानी ज्ञानेन पश्यति ॥८६॥

आत्मा गौरो न भवति रक्तो न भवति आत्मा सूक्ष्मोऽपि न भवति स्थूलोऽपि नैव । तर्हि किंविशिष्टः ? ज्ञानी ज्ञानस्वरूपः ज्ञानेन करणभूतेन पश्यति । अथवा *'णाणिउ जाणइ जोइं'* इति पाठान्तरं; ज्ञानी योऽसौ योगी स जानात्यात्मानम् । अथवा ज्ञानी ज्ञानस्वरूपेण आत्मा । कोऽसौ जानाति ? योगीति ।

तथाहि—कृष्णगौरादिकधर्मान् व्यवहारेण जीवसंबद्धानपि तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मनो भिन्नान् कर्मजनितान् हेयान् वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी स्वशुद्धात्मतत्त्वे तान् न योजयति संबद्धान्न करोतीति भावार्थः ॥८६॥

.....

इसके बाद पूर्वकथित पद्धति से सम्यग्दृष्टि होकर मिथ्यात्व की भावना से विपरीत जैसी भेदविज्ञान की भावना करता है, वैसी भेदविज्ञान-भावना का स्वरूप क्रम से सात दोहा-सूत्रों द्वारा कहते हैं—

ना आतमा है गौर काला नहीं आतम लाल ना ।
ना सूक्ष्म ना स्थूल ज्ञानी ज्ञान से यों जानता ॥८६॥

दोहार्थ— आत्मा गोरा-काला नहीं है, आत्मा लाल भी नहीं है, आत्मा सूक्ष्म भी नहीं है, स्थूल भी नहीं है—ऐसा ज्ञानी ज्ञान से जानता है ।

टीकार्थ— ***अप्पा*** आत्मा ***गोरउ किण्हु ण वि*** गोरा नहीं है, काला नहीं है, ***अप्पा*** आत्मा ***रत्तु*** लाल ***ण होइ*** नहीं है, ***अप्पा*** आत्मा ***सुहुमु वि*** सूक्ष्म भी नहीं है, और ***थूलु*** स्थूल भी ***णवि*** नहीं है, ***णाणिउ*** ज्ञानस्वरूप है, ***जाणें*** ज्ञानदृष्टि से ***जोइ*** देखा जाता है, अथवा ज्ञानी पुरुष योगी हो ज्ञान से आत्मा को जानता है ।

ये गोरे, काले आदि धर्म व्यवहारनय की अपेक्षा शरीर के सम्बन्ध से जीव के कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्धात्मा से पृथक् हैं, कर्मजनित हैं, त्याग करने योग्य हैं । जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी है, वह निज शुद्धात्मतत्त्व में इन धर्मों को नहीं लगाता, अर्थात् इनको अपने नहीं समझता है ॥८६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मुणइ असेसु ॥८७॥

आत्मा ब्राह्मणः वैश्यः नापि नापि क्षत्रियः नापि शेषः ।
पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि ज्ञानी मनुते अशेषम् ॥८७॥

अप्पा बंभणु बइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि आत्मा ब्राह्मणो न भवति वैश्योऽपि नैव नापि क्षत्रियो नापि शेषः शूद्रादिः पुरुषनपुंसकस्त्रीलिङ्गरूपोऽपि नैव । तर्हि किंविशिष्टः ? ***णाणिउ मुणइ असेसु*** ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानी सन् । किं करोति ? मनुते जानाति । कम् ? अशेषं वस्तुजातं वस्तुसमूहमिति ।

तद्यथा—यानेव ब्राह्मणादिवर्णभेदान् पुल्लिङ्गादिलिङ्गभेदान् व्यवहारेण परमात्मपदार्थाद-भिन्नान् शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् साक्षाद्धेयभूतान् वीतरागनिर्विकल्पसमाधिच्युतो बहिरात्मा स्वात्मनि योजयति तानेव तद्विपरीतभावनारतोऽन्तरात्मा स्वशुद्धात्मस्वरूपेण योजयतीति तात्पर्यार्थः ॥८७॥

.....

आगे ब्राह्मणादि वर्ण आत्मा के नहीं हैं, ऐसा वर्णन करते हैं—

मैं नहीं ब्राह्मण वैश्य क्षत्रिय शूद्र आदि भी नहीं ।
ना पुरुष स्त्री नपुंसक हैं भिन्न अपने से सभी ॥८७॥

दोहार्थ— आत्मा ब्राह्मण-वैश्य भी नहीं है, क्षत्रिय भी नहीं है, शेष शूद्र आदि भी नहीं हैं; पुरुष, नपुंसक, स्त्री भी नहीं है; ज्ञानी ज्ञान से सम्पूर्ण वस्तुओं को मात्र जानता ही है ।

टीकार्थ— ***अप्पा*** आत्मा ***बंभणु वइसु ण वि*** ब्राह्मण नहीं है, वैश्य भी नहीं है, ***खत्तिउ ण वि*** क्षत्रिय भी नहीं है, ***सेसु णवि*** शेष शूद्र आदि भी नहीं है; ***पुरिसु णउंसउ इत्थि णवि*** पुरुष, नपुंसक, स्त्रीलिंगरूप भी नहीं है; ***णाणिउ*** ज्ञानस्वरूप हुआ ***असेसु*** समस्त वस्तुओं को ज्ञान से ***मुणइ*** जानता है।

जो ब्राह्मणादि वर्ण-भेद हैं, और पुरुष लिंगादि तीन लिंग हैं, वे यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा देह के सम्बन्ध से जीव के कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा आत्मा से भिन्न हैं, और साक्षात् त्याग करने योग्य हैं, उन्हें वीतराग निर्विकल्प समाधि से रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है; परन्तु उन्हीं को मिथ्यात्व से रहित शुद्धात्मा की भावना में रत अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव अपने नहीं समझता । वह तो स्वयं को ही अपने आत्मा में लगाता है, ज्ञानस्वभावरूप जानता है; वर्ण, लिंगादि को अपने नहीं जानता; उन्हें अपने में नहीं मिलाता, यह तात्पर्यार्थ है ॥८७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

अप्पा वंदउ खवणु णवि अप्पा गुरउ ण होइ ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ॥८८॥

आत्मा वन्दकः क्षपणः नापि आत्मा गुरवः न भवति ।
आत्मा लिङ्गी एकः नापि ज्ञानी जानाति योगी ॥८८॥

आत्मा वन्दको बौद्धो न भवति, आत्मा क्षपणको दिगम्बरो न भवति, आत्मा गुरवः शब्दवाच्यः श्वेताम्बरो न भवति । आत्मा एकदण्डित्रिदण्डिहंसपरमहंससंज्ञाः संन्यासी शिखी मुण्डी योगदण्डाक्षमालातिलककुलकघोषप्रभृतिवेषधारी नैकोऽपि कश्चिदपि लिङ्गी न भवति । तर्हि कथंभूतो भवति ? ज्ञानी । तमात्मानं कोऽसौ जानाति ? योगी ध्यानीति ।

तथाहि— यद्यप्यात्मा व्यवहारेण वन्दकादिलिङ्गी भण्यते तथापि शुद्धनिश्चयनयेनैकोऽपि लिङ्गी न भवतीति । अयमत्र भावार्थः — देहाश्रितं द्रव्यलिङ्गमुपचरितासद्भूतव्यवहारेण जीवस्वरूपं भण्यते, वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिङ्गं तु यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वादुपचारेण शुद्धजीवस्वरूपं भण्यते, तथापि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन न भण्यत इति ॥८८॥

.....

आगे वंदक, क्षपणकादि भेद भी जीव के नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—

ना आतमा है बौद्ध क्षपणक नहीं श्वेताम्बर नहीं ।
ना अन्य लिंगी एक भी तू जान ज्ञायकमात्र ही ॥८८॥

दोहार्थ— आत्मा बौद्धाचार्य-दिगम्बर भी नहीं है, आत्मा श्वेताम्बर भी नहीं है, आत्मा एक भी लिंगवाला भी नहीं है; वह मात्र ज्ञानस्वरूप है—ऐसा योगी जानता है ।

टीकार्थ— ***अप्पा*** आत्मा ***वंदउ खवणु णवि*** बौद्ध का आचार्य नहीं है, दिगम्बर भी नहीं है, ***अप्पा*** आत्मा ***गुरउ ण होइ*** श्वेताम्बर भी नहीं है, ***अप्पा*** आत्मा ***एक्कु वि*** कोई भी ***लिंगिउ*** भेष का धारी ***ण*** नहीं है; अर्थात् एकदंडी, त्रिदंडी, हंस, परमहंस, संन्यासी, जटाधारी, मुंडित, रुद्राक्ष की माला, तिलक, कुलक, घोष आदि भेषों में से कोई भी भेषधारी नहीं है; ***णाणिउ*** एक ज्ञानस्वरूप है, उस आत्मा को ***जोइ*** ध्यानी मुनि ध्यानारूढ़ होकर ***जाणइ*** जानता है, ध्यान करता है ।

यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा यह आत्मा वंदकादि अनेक भेषों को धारण करता है, तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा कोई भी भेष जीव के नहीं हैं; देह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के हैं । यहाँ देह के आश्रय से जो द्रव्यलिंग है, वह उपचरितासद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा जीव का स्वरूप कहा जाता है; तो भी निश्चयनय की अपेक्षा जीव का स्वरूप नहीं है, क्योंकि जब देह ही जीव का नहीं है, तो देहाश्रित भेष उसके कैसे हो सकते हैं ? इसलिये द्रव्यलिंग तो सर्वथा ही उसके नहीं हैं; और वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंग यद्यपि शुद्धात्मस्वरूप का साधक है, इसलिये उपचार से जीव का स्वरूप कहा जाता है, तो भी परमसूक्ष्म शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा भावलिंग भी जीव का नहीं है । भावलिंग साधनरूप है, वह भी परम अवस्था का साधक नहीं है ॥८८॥

अथ—

अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु ।
सूरउ कायरु होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ॥८९॥

आत्मा गुरुः नैव शिष्यः नैव नैव स्वामी नैव भृत्यः ।
शूरः कातरः भवति नैव नैव उत्तमः नैव नीचः ॥८९॥

आत्मा गुरुर्नैव भवति शिष्योऽपि न भवति नैव स्वामी नैव भृत्यः शूरो न भवति कातरो हीनसत्त्वो नैव भवति नैवोत्तमः उत्तमकुलप्रसूतः नैव नीचो नीचकुलप्रसूत इति ।

तद्यथा— गुरुशिष्यादिसंबन्धान् यद्यपि व्यवहारेण जीवस्वरूपांस्तथापि शुद्धनिश्चयेन परमात्मद्रव्यादिभिन्नान् हेयभूतान् वीतरागपरमानन्दैकस्वशुद्धात्मोपलब्धेश्च्युतो बहिरात्मा स्वात्मसंबद्धान् करोति तानेव वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थो अन्तरात्मा परस्वरूपान् जानातीति भावार्थः ॥८९॥

.....

आगे यह गुरु-शिष्यादि भी नहीं है, ऐसा कहते हैं —

ना आतमा गुरु शिष्य ना स्वामी नहीं सेवक नहीं ।
ना शूर कायर नहीं उत्तम नहीं नीच हुआ नहीं ॥८९॥

दोहार्थ— आत्मा गुरु नहीं है, शिष्य नहीं है, स्वामी नहीं है, सेवक नहीं है, शूरवीर अथवा कायर भी नहीं है, उत्तम अथवा नीच भी नहीं है ।

टीकार्थ— ***अप्पा*** आत्मा ***गुरु णवि*** गुरु नहीं है, ***सिस्सु णवि*** शिष्य भी नहीं है, ***सामिउ णवि*** स्वामी भी नहीं है, ***भिच्चु णवि*** सेवक/नौकर नहीं है, ***सूरउ कायरु णवि*** शूरवीर नहीं है, कायर नहीं है, ***उत्तमु णवि*** उच्चकुल वाला नहीं है और ***णिच्चु णवि होइ*** नीचकुल वाला भी नहीं है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ये सब गुरु, शिष्य, स्वामी, सेवकादि सम्बन्ध यद्यपि व्यवहारनय से जीव के स्वरूप हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध आत्मा से पृथक् हैं, आत्मा के नहीं हैं, हेयभूत हैं/त्यागने योग्य हैं । इन भेदों को वीतराग परमानन्द एक निज शुद्धात्मा की प्राप्ति से रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव (अपने आत्मा से सम्बद्ध करता है) अपने समझता है; परन्तु इन्हीं भेदों को वीतराग निर्विकल्प समाधि में रहता हुआ अंतरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव पर रूप (दूसरे) जानता है ॥८९॥

अथ—

अप्पा माणुसु देउ ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ ।
अप्पा णारउ कहिँ वि णवि णाणिउ जाणइ जोइ ॥९०॥

आत्मा मनुष्यः देवः नापि आत्मा तिर्यग् न भवति ।
आत्मा नारकः क्वापि नैव ज्ञानी जानाति योगी ॥९०॥

अप्पा माणुसु *देउ* ***ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ अप्पा णारउ कहिँ वि णवि*** **आत्मा मनुष्यो न भवति, देवो न भवति, आत्मा तिर्यग्योनिर्न भवति, आत्मा नारकः क्वापि काले न भवति । तर्हि किंविशिष्टो भवति ?** ***णाणिउ जाणइ जोइ*** **ज्ञानी ज्ञानरूपो भवति । तमात्मानं कोऽसौ जानाति ? योगी । योगी कोऽर्थः ? त्रिगुप्ति-निर्विकल्पसमाधिस्थ इति ।**

तथाहि— विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनाप्रतिपक्षभूतैः रागद्वेषादिविभाव-परिणामजालैर्यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयजनितान् मनुष्यादिविभावपर्यायान् भेदाभेदरत्नत्रय-भावनाच्युतो बहिरात्मा स्वात्मतत्त्वे योजयति । तद्विपरीतोऽन्तरात्मशब्दवाच्यो ज्ञानी पृथक् जानातीत्यभिप्रायः ॥९०॥

.....

आगे आत्मा का स्वरूप कहते हैं—

ना नर नहीं नारक नहीं तिर्यंच सुर भी वह नहीं ।
आतम कदापि हो नहीं इन रूप ज्ञायक मात्र ही ॥९०॥

दोहार्थ— आत्मा मनुष्य-देव नहीं है, आत्मा तिर्यंच नहीं है, आत्मा नारकी भी कभी नहीं होता, वह मात्र ज्ञानस्वरूप है—ऐसा योगी जानते हैं ।

टीकार्थ— ***अप्पा*** जीव पदार्थ ***माणुसु देउ णवि*** न तो मनुष्य है, न देव है, ***अप्पा*** आत्मा ***तिरिउ ण होइ*** तिर्यंच/पशु भी नहीं है, ***अप्पा*** आत्मा ***णारउ*** नारकी ***कहिँ वि णवि*** कभी भी नहीं हुआ अर्थात् किसी प्रकार भी पररूप नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है; परन्तु ***णाणिउ*** ज्ञानस्वरूप है, उसको ***जोइ*** तीन गुप्ति के धारक और निर्विकल्प समाधि में लीन हुए मुनिराज ***जाणइ*** जानते हैं ।

निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वभावमय परमात्मतत्त्व की भावना से प्रतिपक्षभूत राग-द्वेषादि विभाव-परिणाम समूहों से उपार्जित किये जो शुभाशुभ कर्म हैं, उनके उदय से उत्पन्न हुई मनुष्यादि विभाव-पर्यायों को भेदाभेदस्वरूप रत्नत्रय की भावना से रहित हुआ बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्मतत्त्व में जोड़ता है, उन्हें अपना जानता है । और इस अज्ञान से रहित अन्तरात्मा शब्द का वाच्यभूत सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव उन मनुष्यादि पर्यायों को अपने से पृथक् जानता है ॥९०॥

अथ—

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।
तरुणउ बूढउ बालु णवि अण्णु वि कम्म-विसेसु ॥९१॥

आत्मा पण्डितः मूर्खः नैव नैव ईश्वरः नैव निःस्वः ।
तरुणः वृद्धः बालः नैव अन्यः अपि कर्मविशेषः ॥९१॥

अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु तरुणउ बूढउ बालु णवि **आत्मा पण्डितो न भवति, भवति मूर्खो नैव, ईश्वरः समर्थो नैव; निःस्वो दरिद्रः, तरुणो, वृद्धो, बालोऽपि नैव । पण्डितादिस्वरूपं यद्यात्मस्वभावो न भवति तर्हि किं भवति ?** ***अण्णु वि कम्मविसेसु*** **अन्य एव कर्मजनितोऽयं विभावपर्यायविशेष इति ।**

तद्यथा— पण्डितादिसंबन्धान् यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्वभावान् तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मद्रव्यादिभिन्नान् सर्वप्रकारेण हेयभूतान् वीतरागस्वसंवेदनज्ञानभावनारहितोऽपि बहिरात्मा स्वस्मिन्नियोजयति तानेव पण्डितादिविभावपर्यायांस्तद्विपरीतो योऽसौ चान्तरात्मा परस्मिन् कर्मणि नियोजयतीति तात्पर्यार्थः ॥९१॥

.....

आगे आत्मा का और भी स्वरूप कहते हैं—

पंडित नहीं मैं मूर्ख ना ईश्वर नहीं निर्धन नहीं ।
मैं बाल-वृद्ध-तरुण नहीं ये अन्य कर्म विशेष ही ॥९१॥

दोहार्थ— आत्मा पंडित व मूर्ख नहीं है, ईश्वर अथवा निर्धन भी नहीं है; बाल, तरुण, वृद्ध भी नहीं है;—ये सभी आत्मा से पृथक् कर्म के विशेष हैं।

टीकार्थ— ***अप्पा*** चिद्रूप आत्मा ***पंडिउ*** विद्यावान व ***मुक्खु*** मूर्ख ***णवि*** नहीं है, ***ईसरु*** धनवान, सब बातों में समर्थ भी ***णवि*** नहीं है, ***णीसु*** दरिद्री भी ***णवि***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं है, ***तरुणउ बूढउ बालु णवि*** जवान, वृद्ध/बूढ़ा, और बालक भी नहीं है, ***अण्णु वि कम्मविसेसु*** ये सब पर्यायें आत्मा से पृथक् कर्म के विशेष हैं; अर्थात् कर्म से उत्पन्न हुई विभाव-पर्यायें हैं।

यद्यपि शरीर के सम्बन्ध से पंडित आदि भेद व्यवहारनय से जीव के कहे जाते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा वे शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न हैं, और सर्वथा हेयभूत हैं, त्याग करने योग्य हैं । इन भेदों को वीतराग स्वसंवेदनज्ञान की भावना से रहित मिथ्यादृष्टि जीव अपने जानता है, और इन्हीं पंडितादि विभावपर्यायों को अज्ञान से रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपने से पृथक् कर्म-जनित जानता है ।।९१।।

अथ—

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ ।
एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण-भाउ ।।९२।।

पुण्यमपि पापमपि कालः नभः धर्माधर्ममपि कायः ।
एकमपि आत्मा भवति नैव मुक्त्वा चेतनभावम् ।।९२।।

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ **पुण्यमपि पापमपि कालः नभः आकाशं धर्माधर्ममपि कायः शरीरं,** ***एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयणभाउ*** **इदं पूर्वोक्तमेकमप्यात्मा न भवति । किं कृत्वा ? मुक्त्वा । किं ? चेतनभावमिति ।**

तथाहि— व्यवहारनयेनात्मनः सकाशादभिन्नान् शुद्धनिश्चयेन भिन्नान् हेयभूतान् पुण्यपापादिधर्माधर्मान्मिथ्यात्वरागादिपरिणतो बहिरात्मा स्वात्मनि योजयति तानेव पुण्यपापादिसमस्तसंकल्पविकल्पपरिहारभावनारूपे स्वशुद्धात्मद्रव्ये सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मके परमसमाधौ स्थितोऽन्तरात्मा शुद्धात्मनः सकाशात् पृथग् जानातीति तात्पर्यार्थः ।।९२।।

एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये मिथ्यादृष्टिभावनाविपरीतेन सम्यग्दृष्टिभावनास्थितेन सूत्राष्टकं समाप्तम् ।

.....

आगे आत्मा के चेतनभाव का वर्णन करते हैं—

सब पुण्य-पाप रु काल धर्म-अधर्म नभ व काय भी ।
ये एक भी आतम नहीं मैं मात्र चेतनभाव ही ।।९२।।

दोहार्थ— मात्र एक चेतन भाव को छोड़कर अन्य पुण्य, पाप, काल, आकाश, धर्म, अधर्म, शरीर आदि में से एक भी आत्मा नहीं है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***पुण्णु वि*** पुण्यरूप शुभकर्म ***पाउ वि*** पापरूप अशुभकर्म ***कालु*** अतीत, अनागत, वर्तमान काल ***णहु*** आकाश ***धम्माधम्मु वि*** धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, ***काउ*** शरीर—इनमें से ***एक्कु वि*** एक भी ***अप्पा*** आत्मा ***णवि होइ*** नहीं है; ***चेयणभाउ मेल्लिवि*** चेतनभाव को छोड़कर अर्थात् एक चेतनभाव ही अपना है ।

व्यवहारनय की अपेक्षा यद्यपि पुण्य-पापादि आत्मा से अभिन्न हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा भिन्न हैं, हेयभूत हैं, त्याग करने योग्य हैं । उन पुण्य-पाप आदि, धर्म-अधर्म आदि परभावों को मिथ्यात्व-रागादिरूप परिणत हुआ बहिरात्मा अपने जानता है; और उन्हीं को पुण्य-पापादि समस्त संकल्प-विकल्प के परिहार की भावनारूप निज शुद्धात्म-द्रव्य में सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप अभेदरत्नत्रयस्वरूप परमसमाधि में स्थित अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव, शुद्धात्मा से पृथक् जानता है । —ऐसा तात्पर्यार्थ है ॥९२॥

इसप्रकार बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मारूप तीन प्रकार के आत्मा का जिसमें कथन है, ऐसे पहले अधिकार में मिथ्यादृष्टि की भावना से रहित जो सम्यग्दृष्टि की भावना की स्थिति है, उसकी मुख्यता से आठ दोहा सूत्र कहे ।

अथानन्तरं सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेन *'अप्पा संजमु'* इत्यादि प्रक्षेपकान् विहायैकत्रिंशत्सूत्रपर्यन्तमुपसंहाररूपा चूलिका कथ्यते । तद्यथा—

यदि पुण्यपापादिरूपः परमात्मा न भवति तर्हि कीदृशो भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु ।
अप्पा सासय-मोक्ख-पउ जाणंतउ अप्पाणु ॥९३॥

आत्मा संयमः शीलं तपः आत्मा दर्शनं ज्ञानम् ।
आत्मा शाश्वतमोक्षपदं जानन् आत्मानम् ॥९३॥

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु अप्पा सासयमोक्खपउ **आत्मा संयमो भवति शीलं भवति तपश्चरणं भवति आत्मा दर्शनं भवति शाश्वतमोक्षपदं च भवति । अथवा पाठान्तरं *'सासयमुक्खपहुं'* शाश्वतमोक्षस्य पन्था मार्गः, अथवा *'सासयसुक्खपउ'* शाश्वतसौख्यपदं स्वरूपं च भवति । किं कुर्वन् सन् ? *जाणंतउ अप्पाणु* जानन्ननुभवन्। कम् ? आत्मानमिति ।**

तद्यथा— बहिरङ्गेन्द्रियसंयमप्राणसंयमबलेन साध्यसाधकभावेन निश्चयेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात् स्थितिकरणात् संयमो भवति, बहिरङ्गसहकारिकारणभूतेन कामक्रोधविवर्जनलक्षणेन व्रतपरिरक्षणशीलेन निश्चयेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मद्रव्यनिर्मलानुभवनेन शीलं भवति । बहिरङ्गेन सहकारिकारणभूतानशनादिद्वादशविधतपश्चरणेन निश्चयनयेनाभ्यन्तरे समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परमात्मस्वभावे प्रतपनाद्विजयनात्तपश्चरणं भवति । स्वशुद्धात्मैवापोदय इति रुचिकरणान्निश्चयसम्यक्त्वं भवति । वीतरागस्वसंवेदनज्ञानानुभवनान्निश्चयज्ञानं भवति । मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालत्यागेन परमात्मतत्त्वे परमसमरसीभावपरिणमनाच्च मोक्षमार्गो भवतीति।

अत्र बहिरङ्गद्रव्येन्द्रियसंयमादिप्रतिपादनादभ्यन्तरे शुद्धात्मानुभूतिरूपभावसंयमादिपरिणमनादुपादेयसुखसाधकत्वादात्मेवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥९३॥

.....

आगे भेद-विज्ञान की मुख्यता से *''अप्पा संजमु''* इत्यादि इकतीस दोहापर्यंत क्षेपक-सूत्रों को छोड़कर पहला अधिकार पूर्ण करते हुए चूलिकारूप व्याख्यान करते हैं; वह इसप्रकार—

यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया कि यदि पुण्य-पापादिरूप आत्मा नहीं है, तो कैसा है ? ऐसे प्रश्न का श्रीगुरु समाधान करते हैं—

है आतमा ही शील संयम ज्ञान दर्शन तप वही ।
है शाश्वत निज मोक्षपद इस आतमा को जान ही ॥९३॥

दोहार्थ— आत्मा को जानता हुआ आत्मा संयम है, शील है, तप है, आत्मा ही दर्शन-ज्ञान है, आत्मा ही शाश्वत मोक्षपद है ।

टीकार्थ— ***अप्पा*** निज गुण-पर्याय का धारक ज्ञानस्वरूप चिदानन्द ही ***संजमु*** संयम है, ***सीलु तउ*** शील है, तप है, ***अप्पा*** आत्मा ***दंसणु णाणु*** दर्शन-ज्ञान है, और ***अप्पाणु जाणंतउ*** अपने को जानता, अनुभवता हुआ ***अप्पा*** आत्मा ***सासय मोक्खपउ*** अविनाशी सुख का स्थान मोक्ष का मार्ग है । इसी कथन को विशेष रूप में कहते हैं ।

वह इसप्रकार— पाँच इन्द्रियों और मन को रोकना व छह काय के जीवों की दयास्वरूप बहिरंग इन्द्रियसंयम तथा प्राणीसंयम के बल से, साध्य-साधक भाव द्वारा निश्चय से अपने शुद्धात्मस्वरूप में संयमित स्थिर होने से, आत्मा को संयम कहा गया है । निश्चय शील के बहिरंग सहकारी कारणरूप जो काम-क्रोधादि के त्यागरूप व्रत की रक्षा, वह व्यवहार शील है; और निश्चय से अन्तरंग में अपने शुद्धात्मद्रव्य का निर्मल अनुभव शील होने से, शीलरूप आत्मा ही कहा गया है । बाह्य सहकारी कारणभूत अनशनादि बारह प्रकार के तप से तथा निश्चय नय की अपेक्षा अन्तरंग में समस्त परद्रव्यों की इच्छा के निरोध से, परमात्मस्वभाव (निजस्वभाव) में प्रतपन विजयन होने से, समस्त विभावपरिणामों के जीतने से, आत्मा ही 'तपश्चरण' है । आत्मा ही निजस्वरूप की रुचिरूप सम्यक्त्व है, वह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सर्वथा उपादेयरूप है, इससे सम्यग्दर्शन आत्मा ही है; अन्य कोई नहीं है; स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचि करने से आत्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है। वीतराग स्वसंवेदनज्ञान के अनुभव से आत्मा ही निश्चयज्ञानरूप है । मिथ्यात्व-रागादि समस्त विकल्पजाल के त्यागपूर्वक परमात्मतत्त्व में परमसमरसीभावरूप परिणमन से आत्मा ही मोक्षमार्ग है ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि बहिरंग द्रव्येन्द्रिय-संयमादि के पालन से, अन्तरंग में शुद्धात्मा के अनुभवरूप भावसंयमादि के परिणमन से, उपादेयसुखरूप अतींद्रियसुख की साधकता होने से, आत्मा ही उपादेय है ॥९३॥

अथ स्वशुद्धात्मसंवित्तिं विहाय निश्चयनयेनान्यदर्शनज्ञानचारित्रं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रं कथयति—

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु ।
अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेल्लिवि अप्पा जाणु ॥९४॥

अन्यद् एव दर्शनं अस्ति नापि अन्यदेव अस्ति न ज्ञानं ।
अन्यद् एव चरणं न अस्ति जीव मुक्त्वा आत्मानं जानीहि ॥९४॥

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय अन्यदेव दर्शनं नास्ति अन्यदेव ज्ञानं नास्ति अन्यदेव चरणं नास्ति हे जीव ! किं कृत्वा ? ***मेल्लिवि अप्पा जाणु*** मुक्त्वा । कम् ? आत्मानं जानीहीति।

तथाहि— यद्यपि षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थाः साध्यसाधकभावेन निश्चय-सम्यक्त्वहेतुत्वाद्व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति, तथापि निश्चयेन वीतरागपरमानन्दैकस्वभावः शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूपपरिणामपरिणतशुद्धात्मैव निश्चयसम्यक्त्वं भवति । यद्यपि निश्चयस्वसंवेदनज्ञानसाधकत्वात्तु व्यवहारेण शास्त्रज्ञानं भवति, तथापि निश्चयनयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मैव निश्चयज्ञानं भवति । यद्यपि निश्चयचारित्र-साधकत्वान्मूलोत्तरगुणा व्यवहारेण चारित्रं भवति, तथापि शुद्धात्मानुभूतिरूपवीतराग-चारित्रपरिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयनयेन चारित्रं भवतीति ।

अत्रोक्तलक्षणेऽभेदरत्नत्रयपरिणतः परमात्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥९४॥

.....

आगे निज शुद्धात्मस्वरूप को छोड़कर निश्चयनय से दूसरा कोई दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है, इस अभिप्राय को मन में रखकर गाथा-सूत्र कहते हैं—

है आतमा से अन्य कोई ज्ञान ना दर्शन नहीं ।
चारित्र भी है अन्य ना जानो सभी निज आत्म ही ॥९४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— हे जीव ! आत्मा को छोड़कर दूसरा कोई भी दर्शन नहीं है, अन्य कोई ज्ञान नहीं है, चारित्र भी अन्य नहीं है; ये सब आतमा ही जानो ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ***अप्पा*** आत्मा को ***मेल्लिवि*** छोड़कर ***अण्णु जि*** दूसरा कोई भी ***दंसणु णवि अत्थि*** दर्शन नहीं है, ***अण्णु जि णाणु ण अत्थि*** अन्य कोई ज्ञान नहीं है, ***अण्णु जि*** अन्य कोई ***चरणु ण अत्थि*** चारित्र नहीं है, ऐसा तुम ***जाणु*** जानो, अर्थात् आत्मा ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, ऐसा सन्देह रहित जानो ।

यद्यपि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थों का श्रद्धान कार्य-कारणभाव की अपेक्षा निश्चयसम्यक्त्व का कारण होने से व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है, अर्थात् व्यवहार साधक है, निश्चय साध्य है; तो भी निश्चय से वीतराग परमानन्द एक स्वभाववाला शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप परिणाम से परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयसम्यक्त्व है । यद्यपि निश्चय स्वसंवेदनज्ञान का साधक होने से व्यवहारनय की अपेक्षा शास्त्र का ज्ञान भी ज्ञान है; तो भी निश्चयनय से वीतराग स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयज्ञान है । यद्यपि निश्चयचारित्र के साधक होने से अट्ठाईस मूलगुण, चौरासी लाख उत्तरगुण, व्यवहार से चारित्र कहे जाते हैं; तो भी शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग-चारित्ररूप परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयनय से चारित्र है ।

तात्पर्य यह है कि कहे गये लक्षण में अभेदरत्नत्रयरूप परिणत हुआ परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है ॥९४॥

अथ निश्चयेन वीतरागभावपरिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयतीर्थः निश्चयगुरुर्निश्चयदेव इति कथयति—

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि ।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुँ अप्पा विमलु मुएवि ॥९५॥

अन्यद् एव तीर्थं मा याहि जीव अन्यद् एव गुरुं मा सेवस्व ।
अन्यद् एव देवं मा चिन्तय त्वं आत्मानं विमलं मुक्त्वा ॥९५॥

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि अण्णु जि देउ म चिंति तुहुँ अन्यदेव तीर्थं मा गच्छ हे जीव अन्यदेव गुरुं मा सेवस्व अन्यदेव देवं मा चिन्तय त्वम् । किं कृत्वा ? *अप्पा विमलु मुएवि* मुक्त्वा त्यक्त्वा । कम् ? आत्मानम् । कथंभूतम् ? विमलं रागादिरहितमिति ।

तथाहि— यद्यपि व्यवहारनयेन निर्वाणस्थानचैत्यचैत्यालयादिकं तीर्थभूतपुरुषगुणस्मरणार्थं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तीर्थं भवति, तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपनिश्छिद्रपोतेन संसारसमुद्रतरणसमर्थत्वान्निश्चयनयेन स्वात्मतत्त्वमेव तीर्थं भवति *यदुपदेशात्पारंपर्येण परमात्मतत्त्वलाभो भवतीति। व्यवहारेण शिक्षादीक्षादायको यद्यपि गुरुर्भवति, तथापि निश्चयनयेनपञ्चेन्द्रियविषयप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामपरित्यागकाले संसारविच्छित्तिकारणत्वात् स्वशुद्धात्मैव गुरुः । यद्यपि प्राथमिकापेक्षया सविकल्पापेक्षया चित्तस्थितिकरणार्थं तीर्थकरपुण्यहेतुभूतं साध्यसाधकभावेन परंपरया निर्वाणकारणं च जिनप्रतिमादिकं व्यवहारेण देवो भण्यते, तथापि निश्चयनयेन परमाराध्यत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिकाले स्वशुद्धात्मस्वभाव एव देव इति ।

एवं निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधकभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूपं ज्ञातव्यमिति भावार्थः।।९५।।

.....

आगे निश्चय से वीतरागभावरूप परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयतीर्थ, निश्चयगुरु, निश्चयदेव है; ऐसा कहते हैं—

निज विमल आतम छोड़ तू ना अन्य तीरथ जा कहीं ।
ना अन्य गुरु सेवा ना चिंतन अन्य देव ना आत्म ही ।।९५।।

दोहार्थ— हे जीव ! विमल आत्मा को छोड़कर तुम अन्य तीर्थ में मत जाओ, अन्य गुरु की सेवा मत करो, अन्य देव का चिंतन मत करो; ये सब निज आत्मा ही हैं ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ***तुहुँ*** तुम ***अण्णु जि*** दूसरे ***तित्थु*** तीर्थ को ***म जाहि*** मत जाओ, ***अण्णु जि*** दूसरे ***गुरूउ*** गुरु की ***म सेवि*** सेवा मत करो, ***अण्णु जि*** अन्य ***देउ*** देव को ***म चिंति*** मत ध्याओ, ***अप्पा विमलु*** रागादि मल रहित आत्मा को ***मुएवि*** छोड़कर; अर्थात् अपना आत्मा ही तीर्थ है, वहाँ रमण करो; आत्मा ही गुरु है, उसकी सेवा करो; और आत्मा ही देव है, उसी की आराधना करो । अपने सिवाय दूसरे का सेवन मत करो। इसी कथन को विस्तार से कहते हैं—

यद्यपि व्यवहारनय से मोक्ष के स्थानक सम्मेदशिखर आदि व जिनप्रतिमा-जिनमन्दिर आदि तीर्थ हैं, क्योंकि वहाँ जाने से महान पुरुषों के गुणों का स्मरण होता है; तो भी वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप छेद रहित जहाज द्वारा संसाररूपी समुद्र से तरने में समर्थ जो निज आत्मतत्त्व है, वही निश्चय से तीर्थ है, जिसके उपदेश से परम्परा से परमात्मतत्त्व का लाभ होता है । यद्यपि व्यवहार से शिक्षा-दीक्षा देने वाले गुरु होते हैं, तो भी निश्चयनय से विषय-कषाय आदि समस्त

---

* पाठान्तर - य = त ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विभावपरिणामों के परित्याग के समय निजशुद्धात्मा ही गुरु है, उसी से संसार की निवृत्ति होती है । यद्यपि प्रथम अवस्था में सविकल्प की अपेक्षा चित्त की स्थिरता के लिये व्यवहार से तीर्थंकर पुण्य हेतुभूत जिनप्रतिमादि देव कहे जाते हैं, और वे साध्य-साधक भाव द्वारा परम्परा से निर्वाण के कारण हैं; तो भी निश्चयनय से परम आराधन-योग्य वीतराग निर्विकल्प त्रिगुप्तिगुप्त परमसमाधि के समय निज शुद्धात्मस्वभाव ही देव है, अन्य नहीं ।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहारनय की अपेक्षा साध्य-साधक भाव से तीर्थ, गुरु, देव का स्वरूप जानना चाहिये । निश्चयदेव, निश्चयगुरु, निश्चयतीर्थ निज आत्मा ही है, वही साधने योग्य है; और व्यवहारदेव जिनेन्द्र तथा उनकी प्रतिमा, व्यवहारगुरु महामुनिराज, व्यवहारतीर्थ सिद्धक्षेत्रादि—ये सब निश्चय के साधक हैं, इसलिये प्रथम अवस्था में आराधन-योग्य हैं । तथा निश्चयनय की अपेक्षा ये सब पर पदार्थ हैं, इनसे साक्षात् सिद्धि नहीं है, परम्परा से है । यहाँ श्रीपरमात्मप्रकाश अध्यात्म-ग्रन्थ में निश्चयदेव, गुरु, तीर्थ अपना आत्मा ही है; उसकी आराधना करके अनंत सिद्ध हुए हैं और होंगे—यह सारांश है ॥९५॥

अथ निश्चयेनात्मसंवित्तिरेव दर्शनमिति प्रतिपादयति—

अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सव्वु ववहारु ।
एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहँ सारु ॥९६॥

आत्मा दर्शनं केवलोऽपि अन्यः सर्वः व्यवहारः ।
एक एव योगिन् ध्यायते यः त्रैलोक्यस्य सारः ॥९६॥

अप्पा दंसणु केवलु वि आत्मा दर्शनं सम्यक्त्वं भवति । कथंभूतोऽपि ? केवलोऽपि । *अण्णु सव्वु ववहारु* अन्यः शेषः सर्वोऽपि व्यवहारः । तेन कारणेन *एक्कु जि जोइय झाइयइ* हे योगिन् एक एव ध्यायते । यः आत्मा कथंभूतः ? *जो तइलोयहँ सारु* यः परमात्मा त्रैलोक्यस्य सारभूत इति ।

तद्यथा — वीतरागचिदानन्दैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रय-लक्षणनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिपरिणतो निश्चयनयेन स्वात्मैव सम्यक्त्वं अन्यः सर्वोऽपि व्यवहारस्तेन कारणेन स एव ध्यातव्य इति ।

अत्र यथा द्राक्षाकर्पूरश्रीखण्डादिबहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकमभेदविवक्षया कृत्वैकं भण्यते, तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैर्निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्बहुभिः परिणतो अनेकोऽप्यात्मा त्वभेदविवक्षया एकोऽपि भण्यत इति भावार्थः । तथा चोक्तं अभेदरत्नत्रयलक्षणम्—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

''दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चरितं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः।।''✡ ।।९६।।

आगे निश्चय से आत्मसंवित्ति ही सम्यग्दर्शन है, ऐसा प्रतिपादित करते हैं—

है मात्र आतम ही सुदर्शन और सब व्यवहार है ।
यह एक ही हे योगि ! ध्याओ लोकत्रय का सार है ।।९६।।

दोहार्थ— हे योगी ! मात्र आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, अन्य सभी व्यवहार है; अतः जो तीन लोक का सार है, उस एक आत्मा का ही ध्यान करो ।

टीकार्थ— ***केवलु अप्पा वि*** केवल (एक) आत्मा ही ***दंसणु*** सम्यग्दर्शन है, ***अण्णु सव्वु ववहारु*** दूसरा सब व्यवहार है, इसलिये ***जोइय*** हे योगी ***एक्कु जि झाइयइ*** एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, ***जो तइलोयहँ सारु*** जो कि तीन लोक में सार है ।

वीतराग, चिदानंद, एक, अखण्ड, स्वभावमय आत्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुभवरूप जो अभेदरत्नत्रय, वही जिसका लक्षण है, तथा निर्विकल्प मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तिरूप समाधि में लीन निज आत्मा ही निश्चयनय से सम्यक्त्व है, अन्य सभी व्यवहार है । — इस कारण आत्मा ही ध्यान करने योग्य है ।

जैसे दाख, कपूर, श्रीखण्ड, चन्दन आदि अनेक द्रव्यों से बनाया गया जो पानक/पीने का रस, वह यद्यपि अनेक रसरूप है, तो भी अभेदनय से एक पानकवस्तु कही जाती है; उसीप्रकार शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि अनेक भावों से परिणत हुआ आत्मा अनेकरूप है, तो भी अभेदनय की विवक्षा से आत्मा एक ही वस्तु है । यही अभेदरत्नत्रय का स्वरूप जैनसिद्धांतों में अनेक जगह कहा गया है ।

कहा भी है— *''दर्शनमित्यादि''* इसका अर्थ ऐसा है कि ''आत्मा का निश्चय वह सम्यग्दर्शन है, आत्मा का जानना वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में निश्चल होना वह सम्यक्चारित्र है; यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है, इससे बंध कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता ।'' ।।९६।।

दंसणमूलो धम्मो – सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है ।

✡ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य-२१६ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ निर्मलमात्मानं ध्यायस्व येन ध्यातेनान्तर्मुहूर्तेनैव मोक्षपदं लभ्यत इति निरूपयति—

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुएँ अण्णेण ।
जो झायंतहँ परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण ॥९७॥

आत्मानं ध्यायस्व निर्मलं किं बहुना अन्येन ।
यं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन ॥९७॥

अप्पा झायहि णिम्मलउ आत्मानं ध्यायस्व । कथंभूतं ? निर्मलम् । *किं बहुएँ अण्णेण* किं बहुनान्येन शुद्धात्मबहिर्भूतेन रागादिविकल्पजालमालाप्रपञ्चेन । *जो झायंतहँ परमपउ लब्भइ* यं परमात्मानं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते । केन [१]कारणभूतेन ? *एक्कखणेण* एकक्षणेनान्तर्मुहूर्तेनापि ।

तथाहि— समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन स्वशुद्धात्मतत्त्वध्यानेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन तदेव निरन्तरं ध्यातव्यमिति । तथा चोक्तं बृहदाराधनाशास्त्रे—

''षोडशतीर्थकराणां एकक्षणे तीर्थकरोत्पत्तिवासरे प्रथमे श्रामण्यबोधसिद्धिः अन्तर्मुहूर्तेन निर्वृत्ता ॥''[२]

अत्राह शिष्यः — यद्यन्तर्मुहूर्तपरमात्मध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानीमस्माकं तद्ध्यानं कुर्वाणानां किं न भवति ? परिहारमाह— यादृशं तेषां प्रथमसंहननसहितानां शुक्लध्यानं भवति तादृशमिदानीं नास्तीति । तथा चोक्तम्—

''अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तनम् ॥''[३]

अत्र येन कारणेन परमात्मध्यानेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन संसारस्थितिच्छेदनार्थमिदानीमपि तदेव ध्यातव्यमिति भावार्थः ॥९७॥

.....

आगे ऐसा कहते हैं कि निर्मल आत्मा को ही ध्याओ, जिसका ध्यान करने से अन्तर्मुहूर्त में ही मोक्षपद की प्राप्ति हो जाये—

अब अधिक क्या? बस एक निर्मल आतमा का ध्यान धर ।
हो प्राप्त जिससे ध्यान वाले को क्षणिक में परमपद ॥९७॥

---

१. कारणभूतेन — करणभूतेन ।
२. भगवती आराधना : मूल गाथा इसप्रकार है —
सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि ।
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥२०३७॥
३. तत्त्वानुशासन, पद्य ८३ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— अब और अधिक कहने से क्या? एक निर्मल आत्मा का ध्यान करो, जिससे ध्यान करने वाले को एक क्षण में परमपद की प्राप्ति हो जाती है।

टीकार्थ— हे योगी ! तुम ***णिम्मलउ अप्पा*** निर्मल आत्मा का ही ***झायहि*** ध्यान करो, ***अण्णेण बहुएँ किं*** और बहुत पदार्थों से क्या? देश, काल, पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है। रागादि-विकल्पजाल समूहों के प्रपंच से क्या लाभ ? एक निज स्वरूप को ध्याओ, ***जो*** जिस परमात्मा का ***झायंतहँ*** ध्यान करनेवालों को ***एक्कखणेण*** क्षणमात्र में ***परमपउ*** मोक्षपद ***लब्भइ*** मिलता है ।

सब शुभाशुभ संकल्प-विकल्प रहित निजशुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करने से शीघ्र ही मोक्ष मिलता है, इसलिये वही हमेशा ध्यान करने योग्य है । ऐसा ही बृहदाराधना-शास्त्र में कहा है—''सोलह तीर्थंकरों के एक ही समय तीर्थंकरों की उत्पत्ति के प्रथम दिन (केवलज्ञान होने के दिन ही) चारित्र-ज्ञान की सिद्धि हुई, फिर अंतर्मुहूर्त में मोक्ष हो गया ।''

यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है—यदि परमात्मा के ध्यान से अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष होता है, तो इस समय ध्यान करनेवाले हम लोगों को क्यों नहीं होता? उसका समाधान इसप्रकार है कि जैसा निर्विकल्प शुक्लध्यान वज्रवृषभनाराच संहननवालों को चौथे काल में होता है, वैसा अब नहीं हो सकता ।

ऐसा ही दूसरे ग्रन्थों में कहा है—*''अत्रेत्यादि''* इसका अर्थ यह है कि ''श्रीसर्वज्ञ-वीतरागदेव इस भरतक्षेत्र में इस पंचमकाल में शुक्लध्यान का निषेध करते हैं, इस समय धर्मध्यान हो सकता है, शुक्लध्यान नहीं हो सकता । उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों ही इस समय नहीं हैं, सातवें गुणस्थान तक ही गुणस्थान हैं, ऊपर के गुणस्थान नहीं हैं ।''

यहाँ तात्पर्य यह है कि जिस कारण परमात्मा के ध्यान से अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष होता है, उस कारण संसार की स्थिति नष्ट करने के लिए इस समय भी उसी परमात्मा का ध्यान करना चाहिए ॥९७॥

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥

॥ मोक्षपाहुड़, गाथा ६०॥

विषयों में विरक्त चित्त, सम्यग्दर्शन से शुद्ध, दृढ़चारित्र वाले को आत्मा का ध्यान करते हुए नियम से निर्वाण होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ यस्य वीतरागमनसि शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि किं कुर्वन्तीति कथयति—

अप्पा णिय-मणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु ।
सत्थ-पुराणइँ तव-चरणु मुक्खु वि करहिँ कि तासु ॥९८॥

आत्मा निजमनसि निर्मलः नियमेन वसति न यस्य ।
शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं मोक्षं अपि कुर्वन्ति किं तस्य ॥९८॥

अप्पा णियमणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु आत्मा निजमनसि निर्मलो नियमेन वसति तिष्ठति न यस्य *सत्थपुराणइँ तवचरणु मुक्खु वि करहिँ कि तासु* शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं च मोक्षमपि किं कुर्वन्ति तस्येति ?

तद्यथा— वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा यस्य शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराण-तपश्चरणानि निरर्थकानि भवन्ति । तर्हि किं सर्वथा निष्फलानि ? नैवम्। यदि वीतराग-सम्यक्त्वरूपस्वशुद्धात्मोपादेयभावनासहितानि भवन्ति तदा मोक्षस्यैव बहिरङ्गसहकारिकारणानि भवन्ति तदभावे पुण्यबन्धकारणानि भवन्ति । मिथ्यात्वरागादिसहितानि पापबन्धकारणानि च विद्यानुवादसंज्ञितदशमपूर्वश्रुतं पठित्वा भर्गपुरुषादिवदिति भावार्थः ॥९८॥

.....

आगे ऐसा कहते हैं कि जिसके मन में राग रहित शुद्धात्मा की भावना नहीं है, उसके शास्त्र, पुराण, तपश्चरण क्या कर सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते—

जिसके स्वमन में विमल आतम नहीं वसता नियम से ।
ना मुक्ति दे सकते तपादिक शास्त्र आदि भी उसे ॥९८॥

दोहार्थ— जिसके अपने मन में वास्तव में निर्मल आत्मा नहीं वसता है, उसकी मुक्ति क्या शास्त्र, पुराण, तपश्चरणादि कर सकते हैं? कभी नहीं कर सकते ।

टीकार्थ— ***जासु*** जिसके ***णियमणि*** निज मन में ***णिम्मलउ अप्पा*** निर्मल आत्मा ***णियमें*** निश्चय से ***ण वसइ*** नहीं रहता, ***तासु*** उस जीव के ***सत्थपुराणइँ*** शास्त्र, पुराण, ***तवचरणु वि*** तपस्या भी ***किं*** क्या ***मोक्खु*** मोक्ष को ***करहिँ*** कर सकते हैं ? कभी नहीं कर सकते ।

वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धभावना जिसके नहीं है, उसके शास्त्र, पुराण, तपश्चरणादि सब व्यर्थ हैं । यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि क्या सर्वथा ही निरर्थक हैं ? उसका समाधान ऐसा है कि सर्वथा तो नहीं हैं । यदि वे वीतराग सम्यक्त्वरूप निज शुद्धात्मा की भावना सहित हों, तब तो मोक्ष के ही बाह्य सहकारी कारण हैं;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तथा यदि वे वीतराग सम्यक्त्व के अभावरूप हों, तो पुण्यबंध के कारण हैं; और यदि मिथ्यात्व-रागादि सहित हों, तो पापबंध के कारण हैं; जैसे कि रुद्र आदि विद्यानुवाद नामक दशवें पूर्व पर्यन्त शास्त्र को पढ़कर भ्रष्ट हो जाते हैं ॥९८॥

अथात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति दर्शयति—

जोइय अप्पें जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ ।
अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ ॥९९॥

योगिन् आत्मना ज्ञातेन जगत् ज्ञातं भवति ।
आत्मनः संबन्धिनि भावे बिम्बितं येन वसति ॥९९॥

जोइय अप्पें जाणिएण हे योगिन् आत्मना ज्ञातेन । किं भवति ? *जगु जाणियउ हवेइ* जगत्त्रिभुवनं ज्ञातं भवति । कस्मात् ? *अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ* आत्मनः संबन्धिनि भावे केवलज्ञानपर्याये बिम्बितं प्रतिबिम्बितं येन कारणेन वसति तिष्ठतीति ।

अयमर्थः— वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मतत्त्वे ज्ञाते सति द्वादशाङ्गागम-स्वरूपं ज्ञातं भवति । कस्मात् ? यस्माद्भाघवपाण्डवादयो महापुरुषा जिनदीक्षां गृहीत्वा द्वादशाङ्गं पठित्वा द्वादशाङ्गाध्ययनफलभूते निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मध्याने तिष्ठन्ति तेन कारणेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन निजात्मनि ज्ञाते सति सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दसुखरसास्वादे जाते सति पुरुषो जानाति । किं जानाति? वेत्ति मम स्वरूपमन्यद्देहरागादिकं परमिति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति। अथवा आत्मा कर्ता श्रुतज्ञानरूपेण व्याप्तिज्ञानेन करणभूतेन सर्वं लोकालोकं जानाति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिबलेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन केवलज्ञाने जाते सति दर्पणे बिम्बबत् सर्वं लोकालोकस्वरूपं विज्ञायत इति हेतोरात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति ।

अत्रेदं व्याख्यानचतुष्टयं ज्ञात्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागं कृत्वा सर्वतात्पर्येण निजशुद्धात्मभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं समयसारे—

''जो पस्सइ अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सइ जिणसासणं सव्वं ॥'' ॥९९॥*

आगे जिन भव्यजीवों ने आत्मा जान लिया, उन्होंने सब जाना, ऐसा दिखलाते हैं—

---

* समयसार, गाथा १५ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हे योगि! आतम जानने से जगत ही जाना गया ।
है यतः केवलज्ञान में सब जगत प्रतिबिम्बित सदा ।।९९।।

दोहार्थ— हे योगी ! एक अपने आत्मा को जान लेने से सम्पूर्ण जगत ज्ञात हो जाता है, क्योंकि आत्मा के भावरूप केवलज्ञान में वह प्रतिबिम्बित होता हुआ वस रहा है ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी ***अप्पें जाणिएण*** एक अपने आत्मा को जानने से ***जगु जाणियउ हवेइ*** यह तीन लोक जाना जाता है ***जेण*** क्योंकि ***अप्पह केरइ भावडइ*** आत्मा के भावरूप केवलज्ञान में ***बिंबिउ*** यह लोक प्रतिबिंबित हुआ ***वसेइ*** वस रहा है ।

वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान से शुद्धात्मतत्त्व को जानने पर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है । क्योंकि जैसे रामचन्द्र, पांडव, भरत, सगर आदि महान पुरुष भी जिनराज की दीक्षा लेकर, द्वादशांग को पढ़कर, द्वादशांग पढ़ने का फल निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो शुद्धपरमात्मा, उसके ध्यान में लीन हुए विराजमान हैं; इसलिये वीतराग-स्वसंवेदनज्ञान से अपने आत्मा को जानना ही सार है, आत्मा को जानने से सबका ज्ञान सफल होता है, इस कारण जिन्होंने अपना आत्मा जाना उन्होंने सबको जाना ।

अथवा निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानंद सुखरस, उसके आस्वाद होने पर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है कि मेरा स्वरूप पृथक् है, और देह-रागादि मेरे से अन्य, दूसरे हैं, मेरे नहीं हैं, इसीलिये आत्मा को जानने से सब ज्ञात हो जाते हैं; जिसने अपने को जान लिया, उसने अपने से भिन्न सब पदार्थ जान लिए ।

अथवा आत्मा श्रुतज्ञानरूप व्याप्तिज्ञान से सब लोकालोक को जानता है, इसलिये आत्मा को जानने से सब जाना गया ।

अथवा वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि के बल से केवलज्ञान को उत्पन्न (प्रगट) करके, जैसे दर्पण में घट-पटादि पदार्थ झलकते हैं; उसीप्रकार ज्ञानरूपी दर्पण में सब लोक-अलोक प्रतिभासित होते हैं ।

इससे यह बात निश्चित हुई कि आत्मा को जानने से सब जाना जाता है । यहाँ पर सारांश यह है कि इन चारों व्याख्यानों का रहस्य जानकर बाह्य-अभ्यंतर सब परिग्रह छोड़कर सब प्रकार से अपने शुद्धात्मा की भावना करना चाहिये ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसा ही कथन समयसार में श्रीकुंदकुंदाचार्य ने किया है। *''जो पस्सइ''* इत्यादि— इसका अर्थ यह है कि ''जो निकट-संसारी जीव स्वसंवेदनज्ञान से अपने आत्मा को अनुभवता, सम्यग्दृष्टिपने से अपने को देखता है, वह सब जैनशासन को देखता है, ऐसा जिनसूत्र में कहा है। वह आत्मा कैसा है ? रागादि, ज्ञानावरणादि से रहित है, अन्यभाव जो नर-नारकादि पर्याय उनसे रहित है, विशेष अर्थात् गुणस्थान-मार्गणा-जीवसमास इत्यादि सब भेदों से रहित है। ऐसे आत्मा के स्वरूप को जो देखता है, जानता है, अनुभवता है; वह सब जिनशासन का मर्म जानने वाला है।'' ॥९९॥

अथैतदेव समर्थयति—

अप्प-सहावि परिट्ठियहँ एहउ होइ विसेसु ।
दीसइ अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु ॥१००॥

आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां एष भवति विशेषः ।
दृश्यते आत्मस्वभावे लघु लोकालोकः अशेषः ॥१००॥

अप्पसहावि परिट्ठियहँ **आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां पुरुषाणां,** ***एहउ होइ विसेसु*** **एष प्रत्यक्षीभूतो विशेषो भवति। एष कः ?** ***दीसइ अप्पसहावि लहु*** **दृश्यते परमात्म-स्वभावे स्थितानां लघु शीघ्रम्। अथवा पाठान्तरं** ***'दीसइ अप्पसहाउ लघु'*** **। दृश्यते, स कः ? आत्मस्वभावः कर्मतापन्नो, लघु शीघ्रम्। न केवलमात्मस्वभावो दृश्यते** ***लोयालोउ असेसु*** **लोकालोकस्वरूपमप्यशेषं दृश्यत इति। अत्र विशेषेण पूर्वसूत्रोक्त-मेव व्याख्यानचतुष्टयं ज्ञातव्यं यस्मात्तस्यैव वृद्धमतसंवादरूपत्वादिति भावार्थः ॥१००॥**

.....

अब इसी बात का समर्थन करते हैं—

निजभाव में हैं लीन उनकी व्यक्त एक विशेषता ।
सम्पूर्ण लोकालोक उनको शीघ्र निज में दीखता ॥१००॥

दोहार्थ— आत्मस्वभाव में लीन हुए पुरुषों के प्रत्यक्ष में यह विशेषता होती है कि उन्हें आत्मस्वभाव में सम्पूर्ण लोकालोक शीघ्र ही दिखाई दे जाता है।

टीकार्थ— ***अप्पसहावि*** आत्मा के स्वभाव में ***परिट्ठियहँ*** लीन हुए पुरुषों के ***एहउ विसेसु होइ*** प्रत्यक्ष में तो यह विशेषता होती है कि ***अप्पसहावि*** आत्मस्वभाव में उनको ***असेसु लोयालोउ*** समस्त लोकालोक ***लहु*** शीघ्र ही ***दीसइ*** दिखाई दे जाता है। अथवा यहाँ ऐसा भी पाठान्तर है, *''अप्पसहाव लहु''* इसका अर्थ यह है कि अपना स्वभाव शीघ्र दिखाई दे जाता है, और स्वभाव के दिखने से समस्त लोक भी दिखाई दे जाता है। यहाँ पर भी विशेष रूप से पूर्व सूत्रकथित चारों प्रकार का व्याख्यान जानना चाहिये, क्योंकि यही व्याख्यान बड़े-बड़े आचार्यों ने माना है ॥१००॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अतोऽमुमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ ।
जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ॥१०१॥

आत्मा प्रकाशयति आत्मानं परं यथा अम्बरे रविरागः ।
योगिन् अत्र मा भ्रान्तिं कुरु एष वस्तुस्वभावः ॥१०१॥

अप्पु पयासइ आत्मा कर्ता प्रकाशयति । कम् ? *अप्पु परु* आत्मानं परं च । यथा कः किं प्रकाशयति ? *जिमु अंबरि रविराउ* यथा येन प्रकारेण अम्बरे रविरागः । *जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थुसहाउ* हे योगिन् अत्र भ्रान्तिं मा कार्षीः, एष वस्तुस्वभावः इति ।

तद्यथा— यथा निर्मेघाकाशे रविरागो रविप्रकाशः स्वं परं च प्रकाशयति तथा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपे कारणसमयसारे स्थित्वा मोहमेघपटले विनष्टे सति परमात्मा छद्मस्थावस्थायां वीतरागभेदभावनाज्ञानेन स्वं परं च प्रकाशयतीत्येष पश्चादर्हदवस्थारूपकार्य-समयसाररूपेण परिणम्य केवलज्ञानेन स्वं परं च प्रकाशयतीत्येष आत्मवस्तुस्वभावः संदेहो नास्तीति ।

अत्र योऽसौ केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः स एवोपादेय इत्यभिप्रायः ॥१०१॥

.....

आगे इसी अर्थ को दृष्टान्त-दार्ष्टान्त से दृढ करते हैं—

नित सूर्यसम आकाश में स्व-पर प्रकाशक आतमा ।
है यही वस्तु-स्वभाव योगी यहाँ संशय करो ना ॥१०१॥

दोहार्थ— जैसे आकाश में सूर्य का प्रकाश स्व-पर प्रकाशक है, उसीप्रकार आत्मा स्व-पर को प्रकाशित करता है, यह वस्तु-स्वभाव है; हे योगी ! इसमें भ्रम मत करो ।

टीकार्थ— ***जिम*** जैसे ***अंबरि*** आकाश में ***रविराउ*** सूर्य का प्रकाश अपने को और पर को प्रकाशित करता है, उसीप्रकार ***अप्पु*** आत्मा ***अप्पु*** अपने को ***परु*** पर पदार्थों को ***पयासइ*** प्रकाशित करता है, सो ***जोइय*** हे योगी ***एत्थु*** इसमें ***भंति म करि*** भ्रम मत करो । ***एहउ वत्थुसहाउ*** ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

जैसे मेघ रहित आकाश में सूर्य का प्रकाश अपने को और पर को प्रकाशित करता है, उसीप्रकार वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप कारणसमयसार में लीन होकर मोहरूप मेघ-समूह का नाश करके यह आत्मा मुनि अवस्था में वीतराग भेदभावनारूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वसंवेदनज्ञान से अपने को और पर को प्रकाशित करता है; बाद में अरहंत अवस्थारूप कार्यसमयसार स्वरूप परिणमन करके केवलज्ञान से निज और पर को सम्पूर्णतया द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से प्रकाशित करता है । यह आत्म-वस्तु का स्वभाव है, इसमें सन्देह नहीं करना । यहाँ सारांश यह है कि जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यमय अनन्तचतुष्टय की प्रगटता रूप कार्यसमयसार है, वही उपादेय है, आराधन-योग्य है ॥१०१॥

अथास्मिन्नेवार्थे पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टान्तमाह—

तारायणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम ॥१०२॥

तारागणः जले बिम्बितः निर्मले दृश्यते यथा ।
आत्मनि निर्मले बिम्बितं लोकालोकमपि तथा ॥१०२॥

तारायणु जलि बिंबियउ **तारागणो जले बिम्बितः प्रतिफलितः । कथंभूते जले? *णिम्मलि दीसइ जेम* निर्मले दृश्यते यथा । दार्ष्टान्तमाह—*अप्पइ णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम* आत्मनि निर्मले मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहिते बिम्बितं लोकालोकमपि तथा दृश्यत इति । अत्र विशेषव्याख्यानं यदेव पूर्वदृष्टान्तसूत्रे व्याख्यातमत्रापि तदेव ज्ञातव्यम् । कस्मात् ? अयमपि तस्य दृष्टान्तस्य दृढीकरणार्थमिति सूत्रतात्पर्यार्थः ॥१०२॥**

.....

आगे इसी अर्थ को और भी स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त देकर कहते हैं—

ज्यों स्वच्छ जल में तारिकायें नित्य प्रतिबिम्बित सभी ।
त्यों वीतरागी आतमा में दिखे लोकालोक भी ॥१०२॥

दोहार्थ— जैसे निर्मल जल में ताराओं का समूह प्रतिबिम्बित हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उसीप्रकार निर्मल आत्मा में लोकालोक भी प्रतिबिम्बित होता है ।

टीकार्थ— ***जेम*** जैसे ***तारायणु*** ताराओं का समूह ***णिम्मलि जलि*** निर्मल जल में ***बिंबियउ*** प्रतिबिम्बित हुआ ***दीसइ*** प्रत्यक्ष दिखाई देता है, ***तेम*** उसीप्रकार ***णिम्मलि अप्पए लोयालोउ वि बिंबियउ*** मिथ्यात्व-रागादि विकल्पों से रहित स्वच्छ आत्मा में समस्त लोक-अलोक प्रतिभासित होते हैं ।

इसका विशेष व्याख्यान जो पहले किया था, वही यहाँ पर जानना अर्थात् जो सबका ज्ञाता-दृष्टा आत्मा है, वही उपादेय है । यह सूत्र भी पहले कथन को ही दृढ करनेवाला है ॥१०२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथात्मा परश्च येनात्मना ज्ञानेन ज्ञायते तमात्मानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन जानीहीति कथयति—

अप्पु वि परु वि वियाणियई जें अप्पें मुणिएण ।
सो णिय-अप्पा जाणि तुहुँ जोइय णाण-बलेण ॥१०३॥

आत्मापि परः अपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन ।
तं निजात्मानं जानीहि त्वं योगिन् ज्ञानबलेन ॥१०३॥

अप्पु वि परु वि वियाणियई जें अप्पें मुणिएण आत्मापि परोऽपि विज्ञायते येन आत्मना विज्ञातेन *सो णिय अप्पा जाणि तुहुँ* तं निजात्मानं जानीहि त्वम् । *जोइय णाणबलेण* हे योगिन् ! केन कृत्वा जानीहि ? ज्ञानबलेनेति ।

अयमत्रार्थः — वीतरागसदानन्दैकस्वभावेन येनात्मना ज्ञातेन स्वात्मा परोऽपि ज्ञायते तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानभावनासमुत्पन्नपरमानन्दसुखरसास्वादेन जानीहि तन्मयो भूत्वा सम्यगनुभवेति भावार्थः ॥१०३॥

.....

आगे जिस आत्मा को जानने से निज और पर सब पदार्थ जान लिये जाते हैं, उसी आत्मा को तुम स्वसंवेदनज्ञान के बल से जानो; ऐसा कहते हैं—

निज-पर सभी नित ज्ञात हों जिस आतमा के ज्ञान से ।
हे योगि! उस निज आतमा को ज्ञानबल से जान ले ॥१०३॥

दोहार्थ— जिस आत्मा को जानने से स्व और पर सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, उस आतमा को हे योगी! ज्ञान-बल से तुम जान लो ।

टीकार्थ— ***जें अप्पें मुणिएण*** जिस आत्मा को जानने से ***अप्पु वि*** आप और ***परु वि*** पर सब पदार्थ ***वियाणियई*** जाने जाते हैं, ***सो*** उस ***णिय अप्पा*** अपने आत्मा को ***जोइय*** हे योगी ***तुहुँ*** तुम ***णाणबलेण*** आत्मज्ञान के बल से ***जाणि*** जानो ।

यहाँ यह भावार्थ है कि रागादि विकल्प-जाल से रहित सदा आनंद स्वभाव जो निज आत्मा, उसे जानने से निज और पर—सब जान लिए जाते हैं, इसलिये हे योगी ! हे ध्यानी !! तुम उस आत्मा को वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान की भावना से उत्पन्न परमानंद सुखरस के आस्वाद से जानो, अर्थात् तन्मय होकर सम्यक् अनुभव करो । स्वसंवेदनज्ञान (आपसे आपका/स्वयं से स्वयं का अनुभव करना) ही सार है। ऐसा उपदेश श्रीयोगीन्दुदेव ने प्रभाकरभट्ट को दिया ॥१०३॥

चारित्तं खलु धम्मो — चारित्र वास्तविक धर्म है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अतः कारणात् ज्ञानं पृच्छति—

णाणु पयासहि परमु महु किं अण्णें बहुएण ।
जेण णियप्पा जाणियइ सामिय एक्क-खणेण ॥१०४॥

ज्ञानं प्रकाशय परमं मम किं अन्येन बहुना ।
येन निजात्मा ज्ञायते स्वामिन् एकक्षणेन ॥१०४॥

णाणु पयासहि परमु महु ज्ञानं प्रकाशय परमं मम *किं अण्णें बहुएण* किमन्येन ज्ञानरहितेन बहुना । *जेण णियप्पा जाणियइ* येन ज्ञानेन निजात्मा ज्ञायते, *सामिय एक्कखणेण* हे स्वामिन् नियतकालेनैकक्षणेनेति ।

तथाहि— प्रभाकरभट्टः पृच्छति । किं पृच्छति ? हे भगवन् येन वीतरागस्वसंवेदन-ज्ञानेन क्षणमात्रेणैवशुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ज्ञायते तदेव ज्ञानं कथय किमन्येन रागादिप्रवर्धकेन विकल्पजालेनेति ।

अत्र येनैव ज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिविकल्परहितेन निजशुद्धात्मसंवित्तिरूपेणान्तर्मुहूर्तेनैव परमात्मस्वरूपं ज्ञायते तदेवोपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥१०४॥

.....

अब प्रभाकरभट्ट महा विनय से ज्ञान का स्वरूप पूछता है—

जिस ज्ञान से निज आतमा क्षण एक में ही ज्ञात हो ।
अब अन्य से क्या? मात्र उत्कट ज्ञान मुझमें प्रकाशो ॥१०४॥

दोहार्थ— हे स्वामी ! जिस ज्ञान से एक क्षण में ही अपना आत्मा ज्ञात हो जाता है, उस परम ज्ञान को ही मेरे अन्दर प्रकाशित करो, अन्य विविध विकल्प-जालों से मुझे क्या?

टीकार्थ— ***सामिय*** हे भगवान, ***जेण*** जिस ज्ञान से ***एक्कखणेण*** क्षणभर में ***णियप्पा*** अपना आत्मा ***जाणियइ*** जाना जाता है, वह ***परमु णाणु*** परम ज्ञान ***महु*** मेरे ***पयासहि*** प्रकाशित करो, ***अण्णें बहुएण*** और बहुत विकल्प-जालों से ***किं*** क्या लाभ ? कुछ भी नहीं ।

प्रभाकरभट्ट श्रीयोगीन्दुदेव से पूछता है कि हे स्वामी ! जिस वीतराग स्व-संवेदनज्ञान से क्षणमात्र में ही शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव अपना आत्मा जाना जाता है, वह ज्ञान मुझको प्रकाशित करो, दूसरे विकल्प-जालों से कुछ लाभ नहीं है; क्योंकि ये रागादि विभावों को बढ़ाने वाले हैं ।

सारांश यह है कि मिथ्यात्व-रागादि विकल्पों से रहित निज शुद्ध आत्मानुभवरूप जिस ज्ञान से अंतर्मुहूर्त में ही परमात्मा का स्वरूप जाना जाता है, वही ज्ञान उपादेय है । ऐसी प्रार्थना शिष्य ने श्रीगुरु से की है ॥१०४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत ऊर्ध्वं सूत्रचतुष्टयेन ज्ञानस्वरूपं प्रकाशयति—

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुँ जो जाणइ अप्पाणु ।
जीव-पएसहिँ तित्तिडउ णाणेँ गयण-पवाणु ॥१०५॥

आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वं यः जानाति आत्मानम् ।
जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं ज्ञानेन गगनप्रमाणम् ॥१०५॥

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुँ प्रभाकरभट्ट आत्मानं ज्ञानं मन्यस्व त्वम् । यः किं करोति? *जो जाणइ अप्पाणु* यः कर्ता जानाति । कम् ? आत्मानम् । किंविशिष्टम्? *जीवपएसहिँ तित्तिडउ* जीवप्रदेशैस्तावन्मात्रं लोकमात्रप्रदेशम् । अथवा पाठान्तरम्— *'जीवपएसहिँ देहसमु'* तस्यार्थो निश्चयेन लोकमात्रप्रदेशोऽपि व्यवहारेणैव संहारविस्तारधर्मत्वाद्देहमात्रः । पुनरपि कथंभूतम् आत्मानं ? *णाणेँ गयणपवाणु* ज्ञानेन कृत्वा व्यवहारेण गगनमात्रं जानीहीति ।

तद्यथा— निश्चयनयेन मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानपञ्चकादभिन्नं व्यवहारेण ज्ञानापेक्षया रूपावलोकनविषये दृष्टिवल्लोकालोकव्यापकं निश्चयेन लोकमात्रासंख्येयप्रदेशमपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रं तमित्थंभूतमात्मानम् आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्प-कल्लोलजालं त्यक्त्वा जानाति यः स पुरुष एव ज्ञानादभिन्नत्वाज्ज्ञानं भण्यत इति।

अत्रायमेव निश्चयनयेन पञ्चज्ञानादभिन्नमात्मानं जानात्यसौ ध्याता तमेवोपादेयं जानीहीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—

''आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एगमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं लहदि ॥'' ॥१०५॥*

आगे श्रीगुरु चार दोहा-सूत्रों से ज्ञान का स्वरूप प्रकाशित करते हैं—

निज आतमा ही ज्ञान है तू मान यों वह आतमा ।
है लोक सम स्वक्षेत्र से पर ज्ञान से नभ सम कहा ॥१०५॥

दोहार्थ— जो आत्मा को जीव-प्रदेशों से उतना ही/लोक-प्रमाण मात्र ही और ज्ञान की अपेक्षा आकाश-प्रमाण जानता है, तुम उस ज्ञानमय आत्मा को मानो।

टीकार्थ— श्रीगुरु कहते हैं कि हे प्रभाकरभट्ट, ***तुहुँ*** तुम ***अप्पा*** आत्मा को ही ***णाणु*** ज्ञान ***मुणेहि*** जानो, ***जो*** जो ज्ञानरूप आत्मा ***अप्पाणु*** अपने को ***जीव पएसहिँ तित्तिडउ*** अपने प्रदेशों से लोक-प्रमाण ***णाणेँ गयणपवाणु*** ज्ञान से व्यवहारनय की अपेक्षा आकाश प्रमाण ***जाणइ*** जानता है । अथवा यहाँ ***''देहसमु''*** ऐसा भी पाठ है, उसका अर्थ ऐसा समझना कि निश्चयनय से लोकप्रमाण है, तो भी व्यवहारनय से संकोच-विस्तार स्वभाव होने से शरीरप्रमाण है ।

---

* समयसार, गाथा २०४ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चयनय की अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवल— इन पाँच ज्ञानों से अभिन्न तथा व्यवहारनय से ज्ञान की अपेक्षा, रूप देखने में नेत्रों के समान, लोक-अलोक में व्यापक है । अर्थात् जैसे आँखें रूपी पदार्थों को देखतीं हैं, परंतु उन स्वरूप नहीं होतीं; उसीप्रकार आत्मा यद्यपि लोक-अलोक को जानता है, देखता है, तो भी उन स्वरूप नहीं होता, अपने स्वरूप ही रहता है । यद्यपि निश्चय से प्रदेशों की अपेक्षा लोक-प्रमाण है, असंख्यात प्रदेशी है, तो भी व्यवहारनय की अपेक्षा अपने देह-प्रमाण है; ऐसे आत्मा को जो पुरुष आहार, भय, मैथुन, परिग्रहरूप चार वांछा स्वरूप इत्यादि समस्त विकल्प की तरंगों के जाल को छोड़कर जानता है, वही पुरुष ज्ञान से अभिन्न होने के कारण ज्ञान कहा जाता है । आत्मा और ज्ञान में भेद नहीं है, आत्मा ही ज्ञान है ।

यहाँ सारांश यह है कि निश्चयनय की अपेक्षा पाँच प्रकार के ज्ञानों से अभिन्न अपने आत्मा को जो ध्यानी जानता है, उसी आत्मा को तुम उपादेय जानो। वैसा ही कहा भी है— *''आभिणि''* इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि ''मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवलज्ञान— ये पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान एक आत्मा के ही स्वरूप हैं, आत्मा के बिना ये ज्ञान नहीं हो सकते, वह आत्मा ही परम अर्थ है, जिसको पाकर वह जीव निर्वाण को प्राप्त करता है ।'' ॥१०५॥

अथ—

अप्पहँ जे वि विभिण्ण वढ ते वि हवंति ण णाणु ।
ते तुहुँ तिण्णि वि परिहरिवि णियमिँ अप्पु वियाणु ॥१०६॥

आत्मनः ये अपि विभिन्नाः वत्स तेऽपि भवन्ति न ज्ञानम् ।
तान् स्वं त्रीण्यपि परिहृत्य नियमेन आत्मानं विजानीहि ॥१०६॥

अप्पहँ जे वि विभिण्ण वढ आत्मनः सकाशाद्येऽपि भिन्नाः वत्स ***ते वि हवंति ण णाणु*** तेऽपि भवन्ति न ज्ञानं, तेन कारणेन ***तुहुँ तिण्णि वि परिहरिवि*** तान् कर्मतापन्नान् तत्र हे प्रभाकरभट्ट त्रीण्यपि परिहृत्य । पश्चात्किं कुरु ? ***णियमिँ अप्पु वियाणु*** निश्चयेनात्मानं विजानीहीति ।

तद्यथा— सकलविशदैकज्ञानस्वरूपात् परमात्मपदार्थात् निश्चयनयेन भिन्नान् त्रीण्यपि धर्मार्थकामान् त्यक्त्वा वीतरागस्वसंवेदनलक्षणे शुद्धात्मानुभूतिज्ञाने स्थित्वात्मानं जानीहीति भावार्थः ॥१०६॥

.....

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे परभाव का निषेध करते हैं—

हैं आतमा से भिन्न जो भी वे नहीं हैं ज्ञानमय ।
तू तीन को भी छोड़ निश्चित जान आतम ज्ञानमय ।।१०६।।

दोहार्थ— हे शिष्य ! आत्मा से पृथक् जो भी हैं, वे भी ज्ञान नहीं हैं, तुम उन तीनों को छोड़कर नियम से आत्मा को जानो ।

टीकार्थ— ***वढ*** हे शिष्य, ***अप्पहँ*** आत्मा से ***जे वि विभिण्णउ*** जो भी पृथक् भाव हैं, ***ते वि*** वे भी ***णाणु ण हवंति*** ज्ञान नहीं हैं, वे सब भाव ज्ञान से रहित जड़रूप हैं, ***ते*** उन ***तिण्णि वि*** धर्म, अर्थ, कामरूप तीनों भावों को ***परिहरिवि*** छोड़कर ***णियमिँ*** निश्चय से ***अप्पु*** आत्मा को ***तुहुँ*** तुम ***वियाणु*** जानो ।

हे प्रभाकरभट्ट ! मुनिरूप धर्म, अर्थरूप संसार के प्रयोजन, काम (विषयाभिलाषा)— ये तीनों ही आत्मा से भिन्न हैं, ज्ञानरूप नहीं हैं । निश्चयनय की अपेक्षा सब ओर से निर्मल एक केवलज्ञानस्वरूप परमात्मपदार्थ से भिन्न तीनों ही धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों को छोड़कर वीतराग स्वसंवेदनस्वरूप शुद्धात्मानुभवरूप ज्ञान में रहकर आत्मा को जानो ।।१०६।।

अप्पा णाणहँ गम्मु पर णाणु वियाणइ जेण ।
तिण्णि वि मिल्लिवि जाणि तुहुँ अप्पा णाणेँ तेण ।।१०७।।

आत्मा ज्ञानस्य गम्यः परः ज्ञानं विजानाति येन ।
त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं आत्मानं ज्ञानेन तेन ।।१०७।।

अप्पा णाणहँ गम्मु पर आत्मा ज्ञानस्य गम्यो विषयः परः । कोऽर्थः ? नियमेन। कस्मात् ? ***णाणु वियाणइ जेण*** ज्ञानं कर्तृ विजानात्यात्मानं येन कारणेन अतः कारणात् ***तिण्णि वि मिल्लिवि जाणि तुहुँ*** त्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट, ***अप्पा णाणेँ तेण*** — कं जानीहि ? आत्मानम् । केन? ज्ञानेन तेन कारणेनेति ।

तथाहि— निजशुद्धात्मा ज्ञानस्यैव गम्यः । कस्मादिति चेत् ? मतिज्ञानादिकपञ्च-विकल्परहितं यत्परमपदं परमात्मशब्दवाच्यं साक्षान्मोक्षकारणं तद्रूपो योऽसौ परमात्मा तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानगुणेन विना दुर्धरानुष्ठानं कुर्वाणा अपि बहवोऽपि न लभन्ते यतः कारणात् । तथा चोक्तं समयसारे—

''णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति ।
*तं गिण्ह णियदमेदं जइ इच्छसि दुक्खपरिमोक्खं ।।''**

---

* समयसार, गाथा २०५ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत्र धर्मार्थकामादिसर्वपरद्रव्येच्छां योऽसौ मुञ्चति स्वशुद्धात्मसुखामृते तृप्तो भवति स एव निःपरिग्रहो भण्यते स एवात्मानं जानातीति भावार्थः । उक्तं च—

''अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं ।
*अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ।।''** ।।१०७।।

आगे आत्मा का स्वरूप दिखलाते हैं—

है नियम से निज ज्ञानगोचर ज्ञान से ही ज्ञात हो ।
तुम अतः तीनों छोड़ आतम ज्ञान से ही जान लो ।।१०७।।

दोहार्थ— आत्मा नियम से ज्ञान के ही गम्य है, क्योंकि ज्ञान ही जानता है; अतः तुम तीनों को ही छोड़कर ज्ञान से आत्मा को जान लो ।

टीकार्थ— ***अप्पा*** आत्मा ***पर*** नियम से ***णाणहँ*** ज्ञान के ***गम्मु*** गोचर है, ***जेण*** क्योंकि ***णाणु*** ज्ञान ही ***वियाणइ*** आत्मा को जानता है, ***तेण*** इसलिये ***तुहुँ*** हे प्रभाकरभट्ट ! तुम ***तिण्णि वि मिल्लिवि*** धर्म, अर्थ, काम— इन तीनों ही भावों को छोड़कर ***णाणें*** ज्ञान से ***अप्पा*** निज आत्मा को ***जाणि*** जानो ।

निज शुद्धात्मा ज्ञान के ही गोचर (जानने योग्य) है, क्योंकि मतिज्ञानादि पाँच भेदों रहित जो परमात्म शब्द का अर्थ परमपद है, वही साक्षात् मोक्ष का कारण है, उस स्वरूप परमात्मा को वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के बिना दुर्धर तप को करने वाले भी बहुत से प्राणी नहीं पाते । इसलिये ज्ञान से ही अपना स्वरूप अनुभव करो ।

ऐसा ही कथन श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने समयसारजी में किया है *''णाणगुणेहिं''* इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि ''सम्यग्ज्ञान नामक निज गुण से रहित पुरुष इस ब्रह्मपद को बहुत कष्ट करके भी नहीं पाते, अर्थात् ज्ञानगुण के बिना महान दुर्धर तप करो तो भी नहीं मिलता । इसलिये यदि तुम दुःख से छूटना चाहते हो, सिद्धपद की इच्छा रखते हो, तो आत्मज्ञान द्वारा निजपद को प्राप्त करो ।''

यहाँ सारांश यह है कि जो धर्म-अर्थ-कामादि सब परद्रव्य की इच्छा को छोड़ता है, वही निज शुद्धात्मसुखरूप अमृत में तृप्त हुआ परिग्रह रहित कहा जाता है, निर्ग्रंथ कहा जाता है, और वही अपने आत्मा को जानता है । ऐसा ही समयसार में कहा है *''अपरिग्गहो''* इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि ''जिन सिद्धान्त में परिग्रह रहित और इच्छारहित ज्ञानी कहा गया है, जो धर्म को भी नहीं चाहता

* समयसार, गाथा २०६ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, अर्थात् जिसके व्यवहारधर्म की भी कामना नहीं है, उसके अर्थ तथा काम की इच्छा कहाँ से हो ? वह आत्मज्ञानी सब अभिलाषाओं से रहित है, जिसके धर्म का भी परिग्रह नहीं है, तो अन्य परिग्रह कहाँ से हो ? इसलिये वह ज्ञानी परिग्रही नहीं है, केवल निजस्वरूप को जानने वाला ही होता है ।'' ॥१०७॥

अथ—

णाणिय णाणिउ णाणिअण णाणिउँ जा ण मुणेहि ।
ता अण्णाणिं णाणमउँ किं पर बंभु लहेहि ॥१०८॥

ज्ञानिन् ज्ञानी ज्ञानिना ज्ञानिनं यावत् न मन्यस्व ।
तावद् अज्ञानेन ज्ञानमयं किं परं ब्रह्म लभते ॥१०८॥

णाणिय हे ज्ञानिन् ***णाणिउ*** ज्ञानी निजात्मा ***णाणिअण*** ज्ञानिना निजात्मना करणभूतेन । कथंभूतो निजात्मा ? ***णाणिउँ*** ज्ञानी ज्ञानलक्षणः तमित्थंभूतमात्मानं ***जा ण मुणेहि*** यावत्कालं न जानासि ***ता अण्णाणिं णाणमउँ*** तावत्कालमज्ञानेन मिथ्यात्व-रागादिविकल्पजालेन ज्ञानमयम् । ***किं पर बंभु लहेहि*** किं परमुत्कृष्टं ब्रह्मस्वभावं लभसे ? किं तु नैवेति ।

तद्यथा— यावत्कालमात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन आत्मने निमित्तं आत्मनः सकाशात् आत्मनि स्थितं समस्तरागादिविकल्पजालं मुक्त्वा न जानासि तावत्कालं परमब्रह्मशब्दवाच्यं निर्दोषिपरमात्मानं किं लभसे ? नैवेति भावार्थः ॥१०८॥

इति सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थलं ज्ञानव्याख्यानं गतम् ।

आगे ज्ञान से ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—

यदि ज्ञानमय निज आतमा ज्ञानी न जाने ज्ञान से ।
पाता नहीं निज ज्ञानमय परब्रह्म वह अज्ञान से ॥१०८॥

दोहार्थ— हे ज्ञानी ! ज्ञानमय आत्मा ज्ञान द्वारा जब तक ज्ञानस्वरूपी आत्मा को नहीं जानता है, तब तक अज्ञान से ज्ञानमय परमब्रह्म को क्या वह प्राप्त कर सकता है? नहीं कर सकता ।

टीकार्थ— ***णाणिय*** हे ज्ञानी ***णाणिउ*** ज्ञानवान अपना आत्मा ***णाणिअण*** सम्यग्ज्ञान से ***णाणिउँ*** ज्ञानलक्षणवाले आत्मा को ***जा*** जब तक ***ण*** नहीं ***मुणेहि*** जानता, ***ता*** तब तक ***अण्णाणिं*** अज्ञानी होने से ***णाणमउँ*** ज्ञानमय ***पर बंभु*** अपने उत्कृष्ट ब्रह्म स्वरूप को ***किं लहेहि*** क्या पा सकता है ? कभी नहीं पा सकता । जो कोई आत्मा को पाता है, वह ज्ञान से ही पाता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जब तक यह जीव अपने को, आप, अपनी प्राप्ति के लिये, आपसे, अपने में स्थित हो समस्त रागादि विकल्पजाल से मुक्त होकर नहीं जान लेता; तब तक परमब्रह्म शब्द के वाच्यभूत निर्दोषी शुद्ध परमात्मा सिद्धपरमेष्ठी को क्या पा सकता है ? कभी नहीं पा सकता । जो आत्मा को जानता है, वही परमात्मा को जानता है ॥१०८॥

इसप्रकार प्रथम महास्थल में चार दोहों द्वारा ज्ञान का व्याख्यान करने वाला अन्तरस्थल पूर्ण हुआ ।

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यं परम मानं कथयति—

जोइज्जइ तिं बंभु परु जाणिज्जइ तिं सोइ ।
बंभु मुणेविणु जेण लहु गम्मिज्जइ परलोइ ॥१०९॥

दृश्यते तेन ब्रह्मा परः ज्ञायते तेन स एव ।
ब्रह्म मत्वा येन लघु गम्यते परलोके ॥१०९॥

जोइज्जइ **दृश्यते** ***तिं*** **तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा । कोऽसौ दृश्यते ?** ***बंभु परु*** **ब्रह्मशब्दवाच्यः शुद्धात्मा। कथंभूतः ? परः उत्कृष्टः । अथवा पर इति पाठे नियमेन । न केवलं दृश्यते** ***जाणिज्जइ*** **ज्ञायते तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा** ***सोइ*** **स एव शुद्धात्मा । केन कारणेन ?** ***बंभु मुणेविणु जेण लहु*** **येन पुरुषेण येन कारणेन वा ब्रह्मशब्दवाच्यनिर्दोषिपरमात्मानं मत्वा ज्ञात्वा पश्चात्** ***गम्मिज्जइ परलोइ*** **तेनैव पूर्वोक्तेन ब्रह्मस्वरूपे परिज्ञानपुरुषेण तेनैव कारणेन वा गम्यते । क्व ? परलोके परलोकशब्दवाच्ये परमात्मतत्त्वे ।**

किं च— योऽसौ शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण केवलज्ञानदर्शनस्वभावः परमात्मा स सर्वेषां सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवानां शरीरे पृथक् पृथग्रूपेण तिष्ठति स एव परमब्रह्मा स एव परमविष्णुः स एव परमशिवः इति, व्यक्तिरूपेण पुनर्भगवानर्हन्नेव मुक्तिगतसिद्धात्मा वा परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भण्यते । तेन नान्यः कोऽपि परिकल्पितः जगद्व्यापी तथैवैको परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वास्तीति ।

अयमत्रार्थः — यत्रासौ मुक्तात्मा लोकाग्रे तिष्ठति स एव ब्रह्मलोकः स एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोऽपीति भावार्थः ॥१०९॥

.....

आगे चार सूत्रों द्वारा अंतरस्थल में परलोक शब्द की व्युत्पत्ति द्वारा परलोक शब्द से वाच्य परमात्मा को कहते हैं—

देता दिखाई उसी से परब्रह्म जाने उसी से ।
फिर मान जिससे परम ब्रह्मा शीघ्र जाये मोक्ष में ॥१०९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— उसी से परमब्रह्म शुद्धात्मा नियम से देखा जाता है, उसी से जाना जाता है और उसी से परमब्रह्म को मानकर यह जीव शीघ्र ही मोक्ष में चला जाता है ।

टीकार्थ— ***तिं*** उस कारण से उसी पुरुष से ***परु बंभु*** शुद्धात्मा नियम से ***जोइज्जइ*** देखा जाता है, ***तिं*** उसी पुरुष से निश्चय से ***सोइ*** वही शुद्धात्मा ***जाणिज्जइ*** जाना जाता है, ***जेण*** जो पुरुष जिस कारण ***बंभु मुणेविणु*** अपना स्वरूप जानकर ***परलोइ लहु गम्मिज्जइ*** परमात्मतत्त्व को शीघ्र ही प्राप्त होता है।

जो कोई शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शक्तिरूप से केवलज्ञान-केवलदर्शन स्वभाव शुद्धात्मा अपना स्वरूप है, वही वास्तव में परमेश्वर है । परमेश्वर में और जीव में जाति-भेद नहीं है, जब तक कर्मों से बँधा हुआ है, तब तक संसार में भ्रमण करता है । सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रियादि जीवों के शरीर में पृथक्-पृथक् विराजमान है । जब कर्मों से रहित हो जाता है, तब सिद्ध कहलाता है । संसार-अवस्था में शक्तिरूप परमात्मा है, और सिद्ध-अवस्था में व्यक्तिरूप है । वही आत्मा शक्तिरूप से परम ब्रह्मा है, वही परमविष्णु है, वही परमशिव है; और प्रगटरूप से भगवान अर्हंत ही अथवा मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्धात्मा ही परमब्रह्मा, परमविष्णु, परमशिव कहे जाते हैं । —यह निश्चय से जानो । ऐसा कहने से अन्य कोई भी कल्पना किया हुआ जगत में व्यापक परमब्रह्मा, परमविष्णु, परमशिव नहीं है ।

सारांश यह है कि जिस लोक के शिखर पर अनंत सिद्ध विराज रहे हैं, वही लोक का शिखर परमधाम ब्रह्मलोक है वही विष्णु लोक है और वही शिवलोक है; अन्य कोई भी ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, शिवलोक नहीं है । ये सब निर्वाण क्षेत्र के नाम हैं; और ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये सब सिद्धपरमेष्ठी के नाम हैं । भगवान तो व्यक्तिरूप परमात्मा हैं, तथा यह जीव शक्तिरूप परमात्मा है । इसमें संदेह नहीं है । जितने भगवान के नाम हैं, उतने सब शक्तिरूप इस जीव के नाम हैं । यह जीव ही शुद्ध नय से भगवान है ।।१०९।।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं।। —*प्रवचनसार, गाथा- १९२*

इस तरह मैं आत्मा को ज्ञान दर्शनमय अचल।
हूँ मानता ध्रुव शुद्ध, आलम्बन न, इन्द्रिय बिन, महत।।

इसप्रकार मैं आत्मा को ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय, महार्थ, ध्रुव, अचल, अनालम्ब और शुद्ध मानता हूँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

मुणिवरविंदहँ हरिहरहँ जो मणि णिवसइ देउ ।
परहँ जि परतरु णाणमउ सो वुच्चइ पर-लोउ ॥११०॥

मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां यः मनसि निवसति देवः ।
परस्माद् अपि परतरः ज्ञानमयः स उच्यते परलोकः ॥११०॥

मुणिवरविंदहँ हरिहरहँ मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां च *जो मणि णिवसइ देउ* योऽसौ मनसि निवसति देवः आराध्यः । पुनरपि किंविशिष्टः ? *परहँ जि परतरु णाणमउ* परस्मादुत्कृष्टादपि अथवा *परहँ जि* बहुवचनं परेभ्योऽपि सकाशादतिशयेन परः परतरः । पुनरपि कथंभूतः ? ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः *सो वुच्चइ परलोउ* स एवं गुणविशिष्टः शुद्धात्मा परलोक इत्युच्यते इति । पर उत्कृष्टो वीतरागचिदानन्दैकस्वभाव आत्मा तस्य लोकोऽवलोकनं निर्विकल्पसमाधौ वानुभवनमिति परलोकशब्दस्यार्थः, अथवा लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोकः परश्चासौ लोकश्च परलोकः व्यवहारेण पुनः स्वर्गापवर्गलक्षणः परलोको भण्यते ।

अत्र योऽसौ परलोकशब्दवाच्यः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः॥११०॥

.....

आगे ऐसा कहते हैं कि भगवान का ही नाम परलोक है—

मुनिवर समूहों हरिहरों के हृदय में नित देव जो ।
रहता वही सर्वोत्कृष्ट सुज्ञानमय परलोक वो ॥११०॥

दोहार्थ— जो आत्मदेव मुनीश्वर समूहों और इन्द्र, वासुदेव, रुद्रों के मन में निवास करता है; वह उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट/सर्वोत्कृष्ट ज्ञानमय परलोक कहलाता है ।

टीकार्थ— ***जो देउ*** जो आत्मदेव ***मुणिवरविंदहँ हरिहरहँ*** मुनीश्वरों के समूह के तथा इंद्र वा वासुदेव, रुद्रों के ***मणि*** चित्त में ***णिवसइ*** वस रहा है, ***सो*** वह ***परहँ जि परतरु*** उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट ***णाणमउ*** ज्ञानमयी ***परलोउ*** परलोक ***वुच्चइ*** कहा जाता है ।

परलोक शब्द का अर्थ ऐसा है कि पर अर्थात् उत्कृष्ट-वीतराग चिदानंद एक शुद्ध स्वभाव आत्मा, उसका लोक अर्थात् अवलोकन, निर्विकल्पसमाधि में अनुभवन वह परलोक है । अथवा जिसके परमात्मस्वरूप में या केवलज्ञान में जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक है, उत्कृष्ट लोक वह परलोक है; इसलिये उस परमात्मा का नाम परलोक है । अथवा व्यवहारनय से स्वर्ग-मोक्ष को परलोक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कहते हैं । स्वर्ग और मोक्ष का कारण भगवान का धर्म है, इसलिये केवली भगवान को परलोक कहते हैं ।

यहाँ परलोक शब्द का वाच्यभूत जो परमात्मा है, वही उपादेय है— ऐसा तात्पर्यार्थ है ।।११०।।

अथ—

सो पर वुच्चइ लोउ परु जसु मइ तित्थु वसेइ ।
जहिँ मइ तहिँ गइ जीवहँ जि णियमेँ जेण हवेइ ।।१११।।

सः परः उच्यते लोकः परः यस्य मतिः तत्र वसति ।
यत्र मतिः तत्र गतिः जीवस्य एव नियमेन येन भवति ।।१११।।

सो पर वुच्चइ लोउ परु **स परः नियमेनोच्यते लोको जनः । कथंभूतो भण्यते ? पर उत्कृष्टः । स कः ?** ***जसु मइ तित्थु वसेइ*** **यस्य भव्यजनस्य मतिर्मनश्चित्तं तत्र निजपरमात्मस्वरूपे वसति विषयकषायविकल्पजालत्यागेन स्वसंवेदन-संवित्तिस्वरूपेण स्थिरीभवतीति । यस्य परमात्मतत्त्वे मतिस्तिष्ठति स कस्मात्परो भवतीति चेत् ?** ***जहिँ मइ तहिँ गइ जीवहँ जि णियमेँ जेण हवेइ*** **येन कारणेन यत्र स्वशुद्धात्मस्वरूपे मतिस्तत्रैव गतिः । कस्यैव ? जीव-जीवस्यैव अथवा बहुवचनपक्षे जीवानामेव निश्चयेन भवतीति ।**

अयमत्र भावार्थः — यद्यार्तरौद्राधीनतया स्वशुद्धात्मभावनाच्युतो भूत्वा परभावेन परिणमति तदा दीर्घसंसारी भवति, यदि पुनर्निश्चयरत्नत्रयात्मके परमात्मतत्त्वे भावनां करोति तर्हि निर्वाणं प्राप्नोति इति ज्ञात्वा सर्वरागादिविकल्पत्यागेन तत्रैव भावनां कर्तव्येति ।।१११।।

.....

आगे ऐसा कहते हैं, जिसका मन निज आत्मा में वस रहा है, वही ज्ञानी जीव परलोक है—

जिसकी मति शुद्धात्मा में लोक उत्कट है वही ।
जिसमें मति उसमें गति हो नियम से इस जीव की ।।१११।।

दोहार्थ— जिसकी बुद्धि उस निज शुद्धात्म-स्वरूप में वस रही है, वह वास्तव में परलोक कहलाता है; क्योंकि जहाँ बुद्धि होती है, जीव की गति नियम से वहाँ ही होती है ।

टीकार्थ— ***जसु मइ*** जिस भव्यजीव की बुद्धि ***तित्थु*** उस निज आत्मस्वरूप में ***वसेइ*** बस रही है, अर्थात् विषय-कषायरूप विकल्प-जाल के त्याग से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वसंवेदन—संवित्तिरूप ज्ञानस्वरूप से स्थिर हो रही है । ***सो*** वह पुरुष ***पर*** निश्चय से ***परलोउ*** उत्कृष्ट जन ***बुच्चइ*** कहा जाता है । अर्थात् जिसकी बुद्धि निजस्वरूप में ठहर रही है, वह उत्तम जन है; ***जेण*** क्योंकि ***जहिँ मइ*** जैसी बुद्धि होती है, ***तहिँ जि*** वैसी ही ***जीवहँ गइ*** जीव की गति ***णियमेँ हवेइ*** नियम से होती है, ऐसा जिनवरदेव ने कहा है । अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप में जिस जीव की बुद्धि होती है, उसकी वैसी ही गति होती है; जिन जीवों का मन निज-वस्तु में है, उनको निज-पद की प्राप्ति होती है, इसमें संदेह नहीं है ।

जो आर्तध्यान, रौद्रध्यान की आधीनता द्वारा अपने शुद्धात्मा की भावना से रहित होकर यदि रागादि परभावों स्वरूप परिणमन करता है, तो वह दीर्घसंसारी होता है, और जो निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परमात्मतत्त्व में भावना करता है, वह मोक्ष पाता है; ऐसा जानकर सब रागादि विकल्पों का त्याग कर उस परमात्मतत्त्व में ही भावना करना चाहिये ॥१११॥

अथ—

जहिँ मइ तहिँ मइ जीव तुहुँ मरणु वि जेण लहेहि ।
तेँ परबंभु मुएवि मइँ मा पर-दव्वि करेहि ॥११२॥

यत्र मतिः तत्र गतिः जीव त्वं मरणमपि येन लभसे ।
तेन परब्रह्म मुक्त्वा मतिं मा परद्रव्ये कार्षीः ॥११२॥

जहिँ मइ तहिँ गइ जीव तुहुँ मरणु वि जेण लहेहि यत्र मतिस्तत्र गतिः हे जीव त्वं मरणेन कृत्वा येन कारणेन लभसे ***तेँ परबंभु मुएवि मइँ मा परदव्वि करेहि*** तेन कारणेन परब्रह्मशब्दवाच्यं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं वीतराग-सदानन्दैकसुखामृतरसपरिणतं निजशुद्धात्मतत्त्वं मुक्त्वा मतिं चित्तं परद्रव्ये देहसंगादिषु मा कार्षीरिति तात्पर्यार्थः ॥११२॥

एवं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्या परलोकशब्दवाच्यस्य परमात्मनो व्याख्यानं गतम् ।

.....

आगे इसी बात को पुनः दृढ़ करते हैं—

जिसमें मति उसमें गति तू मरण कर भी पायगा ।
अतएव उत्कट ब्रह्म तज पर द्रव्य में मति मत लगा ॥११२॥

दोहार्थ— हे जीव ! क्योंकि जिसमें बुद्धि होगी, उसमें गति तुम मरने के बाद भी प्राप्त करोगे, अतः परमब्रह्म को छोड़कर परद्रव्य में बुद्धि मत करो।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जीव*** हे जीव ! ***जहिँ मइ*** जहाँ तुम्हारी बुद्धि है, ***तहिँ गइ*** वहीं पर गति है, उसे ***जेण*** जिस कारण ***तुहुँ*** तुम ***मरणु वि*** मरकर भी ***लहेहि*** पाओगे, इसलिये ***तेँ*** तुम ***परबंभु*** परब्रह्म को ***मुएवि*** छोड़कर ***परदव्वि*** परद्रव्य में ***मइँ*** बुद्धि को ***मा करेहि*** मत करो ।

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से टाँकी द्वारा गढ़े हुए के समान अघटितघाट, अमूर्तिक पदार्थ, ज्ञायकमात्र एक स्वभाव, वीतराग, सदा आनंदरूप, एक अद्वितीय अतींद्रिय सुखरूप, अमृत के रसरूप परिणत निज शुद्धात्मतत्त्व को छोड़कर द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म या देहादि परिग्रहों में मन को मत लगाओ ॥११२॥

इसप्रकार पहले महाधिकार में चार दोहा सूत्रों द्वारा अंतरस्थल में परलोक शब्द की व्युत्पत्ति द्वारा परलोक शब्द के वाच्यभूत परमात्मा का व्याख्यान किया।

तदनन्तरं किं तत् परद्रव्यमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—

जं णियदव्वहँ भिण्णु जडु तं पर-दव्वु वियाणि ।
पुग्गलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचमु जाणि ॥११३॥

यत् निजद्रव्याद् भिन्नं जडं तत् परद्रव्यं जानीहि ।
पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पञ्चमं जानीहि ॥११३॥

जमित्यादि **पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—*जं* यत् *णियदव्वहँ* निजद्रव्यात् *भिण्णु* भिन्नं पृथग्भूतं *जडु* जडं *तं* तत् *परदव्वु वियाणि* परद्रव्यं जानीहि । तच्च किम्? *पुग्गलु धम्माधम्मु णहु* पुद्गलधर्माधर्मनभोरूपं *कालु वि* कालमपि *पंचमु जाणि* पञ्चमं जानीहीति । अनन्तचतुष्टयस्वरूपान्निजद्रव्याद्बाह्यं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरूपं जीवसंबद्धं पुद्गलादिपञ्चभेदं यत्सर्वं तद्ज्ञेयमिति ॥११३॥**

आगे परलोक (परमात्मा) में ही मन लगाओ, परद्रव्य से ममता छोड़ो; ऐसा कहा गया था, उसमें शिष्य ने प्रश्न किया कि परद्रव्य क्या है ? उसका समाधान आगे श्रीगुरु करते हैं—

निज द्रव्य से जो भिन्न जड़ जानो उन्हें परद्रव्य ही ।
धर्माधर्म पुद्गल तथा आकाश पंचम काल भी ॥११३॥

दोहार्थ— निजद्रव्य से भिन्न जो जड़ पदार्थ हैं, उन पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और पाँचवे काल आदि सभी को परद्रव्य जानो।

टीकार्थ— ***जं*** जो ***णियदव्वहँ*** आत्म-पदार्थ से ***भिण्णु*** पृथक् ***जडु*** जड़ पदार्थ है, ***तं*** उसे ***परदव्वु*** परद्रव्य ***वियाणि*** जानो, और वह परद्रव्य ***पुग्गलु***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचमु पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और पाँचवाँ कालद्रव्य—ये सब ***जाणि*** जानो ।

द्रव्य छह हैं, उनमें से पाँच जड़ और जीव को चैतन्य जानो । पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश—ये सब जड़ हैं; इन्हें अपने से पृथक् जानो और जीव भी अनंत हैं, उन सभी को अपने से भिन्न जानो । अनंतचतुष्टयस्वरूप अपना आत्मा है, उसी को निज जानो । जीव के साथ भावकर्मरूप रागादिक, द्रव्यकर्मरूप ज्ञानावरणादि आठ कर्म और नोकर्मरूप शरीरादि का संबंध अनादि से है; परन्तु ये जीव से भिन्न हैं, इसलिये इन्हें अपने मत मानो । पुद्गलादि पाँच भेदरूप जड़ पदार्थ सब हेय जानो, अपना स्वरूप ही उपादेय है, उसी की आराधना करो ॥११३॥

अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरन्तर्मुहूर्तेनापि कर्मजालं दहतीति ध्यानसामर्थ्यं दर्शयति—

जइ णिविसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ ।
अग्गि-कणी जिम कट्ठ-गिरी डहइ असेसु वि पाउ ॥११४॥

यदि निमिषार्धमपि कोऽपि करोति परमात्मनि अनुरागम् ।
अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति अशेषमपि पापम् ॥११४॥

जइ इत्यादि — *जइ णिविसद्धु वि* यदि निमिषार्धमपि ***कु वि करइ*** कोऽपि कश्चित् करोति । किं करोति ? ***परमप्पइ अणुराउ*** परमात्मन्यनुरागम् । तदा किं करोति ? ***अग्गिकणी जिम कट्ठगिरी*** अग्निकणिका यथा काष्ठगिरिं दहति तथा ***डहइ असेसु वि पाउ*** दहत्यशेषं पापमिति ।

तथाहि—ऋद्धिगौरवरसगौरवकवित्ववादित्वगमकत्ववाग्मित्वचतुर्विधशब्दगौरवस्वरूप-प्रभृतिसमस्तविकल्पजालत्यागरूपेण महावातेन प्रज्वलिता निजशुद्धात्मतत्त्वध्यानाग्निकणिका *स्तोकाग्निकेन्धनराशिमिवान्तर्मुहूर्तेनापि चिरसंचितकर्मराशिं दहतीति । अत्रैवंविधं शुद्धात्मध्यान-सामर्थ्यं ज्ञात्वा तदेव निरन्तरं भावनीयमिति भावार्थः ॥११४॥

.....

आगे वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप अग्नि एक अन्तर्मुहूर्त में कर्म-जाल को भस्म कर डालती है, ऐसी समाधि की सामर्थ्य है, वही दिखाते हैं—

यदि करे कोई प्रीति निज परमातमा से क्षणिक भी ।
तो काष्ठगिरि को अग्निसम सब पाप करता भस्म ही ॥११४॥

दोहार्थ— यदि कोई अर्द्ध निमिषमात्र भी परमात्मा में अनुराग करता है, तो जैसे अग्नि की कणिका भी काष्ठपर्वत को भस्म कर देती है; उसीप्रकार उसके भी सम्पूर्ण पाप भस्म हो जाते हैं ।

✡ पाठान्तर — स्तोकाग्निके — स्तोकाग्निकणिकानि ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जइ*** यदि ***णिविसद्धु वि*** आधे निमेषमात्र भी ***कुवि*** कोई ***परमप्पइ*** परमात्मा में ***अणुराउ*** प्रीति ***करइ*** करता है, तो ***जिम*** जैसे ***अग्गिकणी*** अग्नि की कणी ***कट्ठगिरी*** काठ के पहाड़ को ***डहइ*** भस्म करती है, उसीप्रकार ***असेसु वि पाउ*** यह भी सब ही पापों को भस्म कर डालता है ।

ऋद्धि का गर्व, रसायन का गर्व अर्थात् पारा आदि धातुओं को भस्म करने का मद, अथवा नौ रसों के जानने का गर्व; कविकला का मद, वाद में जीतने का मद, शास्त्र की टीका बनाने का मद, शास्त्र के व्याख्यान करने का मद— ये चार प्रकार का शब्द-गौरव-स्वरूप—इत्यादि समस्त विकल्प-जालों के त्यागरूप प्रचंड पवन से प्रज्वलित हुई (धधकती हुई) जो निज शुद्धात्मतत्त्व के ध्यानरूप अग्नि की कणिका है; जैसे अग्नि की कणी काठ के पर्वत को भस्म कर देती है; उसी प्रकार यह समस्त पापों को भस्म कर डालती है, अर्थात् जन्म-जन्म के इकट्ठे किये हुए कर्मों को आधे निमेष में नष्ट कर देती है, ऐसी शुद्ध आत्म-ध्यान की सामर्थ्य जानकर उसी ध्यान की ही भावना सदा करना चाहिये ।।११४।।

अथ हे जीव चिन्ताजालं मुक्त्वा शुद्धात्मस्वरूपं निरन्तरं पश्येति निरूपयति–

मेल्लिवि सयल अवक्खडी जिय णिच्चिंतउ होइ ।
चित्तु णिवेसहि परमपए देउ णिरंजणु जोइ ।।११५।।

मुक्त्वा सकलां चिन्तां जीव निश्चिन्तः भूत्वा ।
चित्तं निवेशय परमपदे देवं निरञ्जनं पश्य ।।११५।।

मेल्लिवि इत्यादि — ***मेल्लिवि*** मुक्त्वा ***सयल*** समस्तं ***अवक्खडी*** देशभाषया चिन्ता ***जिय*** हे जीव ***णिच्चिंतउ होइ*** निश्चिन्तो भूत्वा । किं कुरु ? ***चित्तु णिवेसहि*** चित्तं निवेशय धारय । क्व ? ***परमपए*** निजपरमात्मपदे । पश्चात् किं कुरु ? देउ ***णिरंजणु जोइ*** देवं निरञ्जनं पश्येति ।

तद्यथा— हे जीव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्वरूपापध्यानादिसमस्तचिन्ताजालं मुक्त्वा निश्चिन्तो भूत्वा चित्तं परमात्मस्वरूपे स्थिरं कुरु, तदनन्तरं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्माञ्जनरहितं देवं परमाराध्यं निजशुद्धात्मानं ध्यायेति भावार्थः । अपध्यानलक्षणं कथ्यते—

''बन्धवधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
*आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ।।''**।।११५।।

---

* रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य ७८ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे हे जीव ! चिंताओं को छोड़कर शुद्धात्मस्वरूप को निरंतर देखो, ऐसा कहते हैं—

सम्पूर्ण चिंता छोड़ यदि निश्चिंत होकर आतमा ।
निज चित्त जोड़े परमपद में निरंजन जिन देखता ॥११५॥

दोहार्थ— हे जीव ! सम्पूर्ण चिंताओं को छोड़कर निश्चिंत होकर तुम अपने मन को परम पद में लगाकर निरंजन देव को देखो।

टीकार्थ— ***जीव*** हे जीव ! ***सयल*** समस्त ***अवक्खडी*** चिंताओं को ***मेल्लिवि*** छोड़कर ***णिच्चिंतउ होइ*** निश्चिंत होकर तुम ***चित्तु*** अपने मन को ***परमपए*** परमपद में ***णिवेसहि*** धारण करो, और ***णिरंजणु देउ*** निरंजनदेव को ***जोइ*** देखो ।

हे जीव ! देखे, सुने और भोगे हुए भोगों की वांछारूप अपध्यान— खोटे ध्यान आदि सब चिंताओं को छोड़कर अत्यंत निश्चिंत होकर अपने चित्त को परमात्मस्वरूप में स्थिर करो । उसके बाद भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मरूप अंजन से रहित जो निरंजनदेव परम आराधन-योग्य अपना शुद्धात्मा है, उसका ध्यान करो। पहले यह कहा था कि खोटे ध्यान को छोड़ो; उस खोटे ध्यान का नाम शास्त्र में अपध्यान कहा है ।

अपध्यान का लक्षण कहते हैं— *''बंधवधेत्यादि''* उसका अर्थ ऐसा है कि ''निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिन-शासन में उसको अपध्यान कहते हैं, जो द्वेष से पर को मारने का, बाँधने का अथवा छेदने का चिंतवन करता है और रागभाव से परस्त्री आदि का चिंतवन करता है ।'' उस अपध्यान के दो भेद हैं, एक आर्त, दूसरा रौद्र । सो ये दोनों ही नरक, निगोद के कारण हैं, इसलिये विवेकियों को त्यागने योग्य हैं ॥११५॥

अथ शिवशब्दवाच्ये निजशुद्धात्मनि ध्याते यत्सुखं भवति तत्सूत्रत्रयेण प्रतिपादयति–

जं सिव-दंसणि परम-सुहु पावहि झाणु करंतु ।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ॥११६॥

यत् शिवदर्शने परमसुखं प्राप्नोषि ध्यानं कुर्वन् ।
तत् सुखं भुवनेऽपि अस्ति नैव मुक्त्वा देवं अनन्तम् ॥११६॥

जमित्यादि **पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—** ***जं*** **यत्** ***सिवदंसणि*** **स्वशुद्धात्मदर्शने** ***परमसुहु*** **परमसुखं** ***पावहि*** **प्राप्नोषि हे प्रभाकरभट्ट ! किं कुर्वन् सन् ?** ***झाणु करंतु***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ध्यानं कुर्वन् सन् *तं सुहु* तत्पूर्वोक्तसुखं *भुवणि वि* भुवनेऽपि *अत्थि णवि* अस्ति नैव । किं कृत्वा ? *मेल्लिवि* मुक्त्वा । कम् ? देउ देवम् । कथंभूतम् ? *अणंतु* अनन्तशब्दवाच्यपरमात्मपदार्थमिति ।

तथाहि—शिवशब्देनात्र विशुद्धज्ञानस्वभावो निजशुद्धात्मा ज्ञातव्यः तस्य दर्शनमवलोकनमनुभवनं तस्मिन् शिवदर्शने परमसुखं निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमाह्लादरूपं लभसे । किं कुर्वन् सन् ? वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिं कुर्वन् । इत्थंभूतं सुखं अनन्तशब्दवाच्यो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तं मुक्त्वा त्रिभुवनेऽपि नास्तीति ।

अयमत्रार्थः – शिवशब्दवाच्यो योऽसौ निजपरमात्मा स एव रागद्वेषमोहपरिहारेण ध्यातः सन्ननाकुलत्वलक्षणं परमसुखं ददाति नान्यः कोऽपि शिवनामेति पुरुषः ॥११६॥

आगे शिव शब्द से कहे गये निज शुद्ध आत्मा का ध्यान करने पर जो सुख होता है, उस सुख का तीन दोहा-सूत्रों में वर्णन करते हैं—

नित ध्यान करते शिवदरश में जो परमसुख प्राप्त हो ।
त्रय लोक में वह कभी शुद्धातम बिना ना प्राप्त हो ॥११६॥

दोहार्थ— ध्यान करते हुये शिव-दर्शन में जो परमसुख प्राप्त होगा, वह सुख अनन्त देव परमात्मद्रव्य को छोड़कर तीन लोक में कहीं भी नहीं है ।

टीकार्थ— ***जं*** जो ***झाणु करंतु*** ध्यान करते हुए ***सिवदंसणि*** निज शुद्धात्मा के अवलोकन में ***परमसुहु*** परम सुख हे प्रभाकर ! तुम ***पावहि*** पा सकोगे, ***तं*** वह ***सुहु*** सुख ***भुवणि वि*** तीन लोक में भी ***अणंतु देउ मेल्लिवि*** अनन्तदेवमय परमात्मद्रव्य के सिवाय ***णवि अत्थि*** नहीं है ।

शिव नाम कल्याण का है, सो कल्याणरूप ज्ञानस्वभाव निज शुद्धात्मा जानो, उसके दर्शन अर्थात् अनुभव में जो सुख होता है, वह सुख परमात्मा को छोड़ तीन लोक में नहीं है । वह सुख क्या है ? जो निर्विकल्प वीतराग परम आनन्दरूप शुद्धात्मभाव है, वही सुख है । क्या करता हुआ यह सुख पाता है ? निर्विकल्प तीन गुप्तिरूप परमसमाधि में आरूढ़ हुआ ध्यानी पुरुष ही उस सुख को पाता है । अनन्त गुणरूप आत्म-तत्त्व के बिना वह सुख, तीनों लोक में प्रमुख इन्द्रादि को भी नहीं है ।

इस कारण सारांश यह निकला कि शिव नामवाला जो निज शुद्धात्मा है; वही राग, द्वेष, मोह के त्याग पूर्वक ध्यान किया गया आकुलता रहित परम सुख को देता है । संसारी जीवों के जो इन्द्रियजनित सुख है, वह आकुलतारूप है, और आत्मिक अतींद्रियसुख आकुलता रहित है । वह सुख ध्यान से ही मिलता है । दूसरा कोई शिव या ब्रह्मा या विष्णु नामक पुरुष देनेवाला नहीं है । आत्मा का ही नाम शिव है, विष्णु है, ब्रह्मा है ॥११६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय-अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिँ कोडि रमंतु ॥११७॥

यत् मुनिः लभते अनन्तसुखं निजात्मानं ध्यायन् ।
तत् सुखं इन्द्रोऽपि नैव लभते देवीनां कोटिं रम्यमाणः ॥११७॥

जमित्यादि— *जं* यत् *मुणि* मुनिस्तपोधनः *लहइ* लभते *अणंतसुहु* अनन्तसुखम्। किं कुर्वन् सन् ? *णियअप्पा झायंतु* निजात्मानं ध्यायन् सन् *तं सुहु* तत्पूर्वोक्तं सुखं *इंदु वि णवि लहइ* इन्द्रोऽपि नैव लभते । किं कुर्वन् सन् ? *देविहिँ कोडि रमंतु* देवीनां कोटिं रमयन् अनुभवन्निति ।

अयमत्र तात्पर्यार्थः — बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतराग-परमानन्दसहितो मुनिर्यत्सुखं लभते तद्देवेन्द्रादयोऽपि न लभन्त इति । तथा चोक्तम्—

''दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोहवन्हिना ।
विमुक्तविषयासंगाः सुखायन्ते तपोधनाः॥''॥११७॥

.....

आगे कहते हैं कि जो सुख आत्मा को ध्याने से महामुनि पाते हैं, वह सुख इन्द्रादि देवों को दुर्लभ है—

निज आत्मध्याता मुनि पाते नन्त सुख जो भी सदा ।
वह रम करोड़ों देवियों में इन्द्र भी ना पा सका ॥११७॥

दोहार्थ— अपने आत्मा का ध्यान करते हुए मुनि जो अनन्तसुख प्राप्त करते हैं, वह सुख करोड़ों देवियों में रमते हुए भी इन्द्र प्राप्त नहीं कर पाता है ।

टीकार्थ— ***णिय अप्पा झायंतु*** अपने आत्मा को ध्याते हुए ***मुणि*** परम तपोधन ***जं*** जो ***अणंतसुहु*** अनन्तसुख ***लहइ*** पाते हैं, ***तं सुहु*** उस सुख को ***इंदु वि*** इन्द्र भी ***देविहिँ कोडि रमंतु*** करोड़ देवियों के साथ रमता हुआ ***णवि*** नहीं ***लहइ*** पाता ।

बाह्य और अन्तरंग परिग्रह से रहित निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो सुख वीतराग परमानन्द सहित महामुनि पाते हैं; उस सुख को इन्द्रादि भी नहीं पाते । जगत में सुखी साधु ही हैं, अन्य कोई नहीं । यही कथन अन्य शास्त्रों में भी किया है— *''दह्यमाने* इत्यादि'' इसका अर्थ ऐसा है कि ''महामोहरूपी अग्नि से जलते हुए इस जगत में देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी सभी दुःखी हैं; और जिनके तप ही धन है, तथा सब विषयों का सम्बन्ध जिन्होंने छोड़ दिया है, ऐसे साधु मुनि ही इस जगत में सुखी हैं।'' ॥११७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अप्पा-दंसणि जिणवरहँ जं सुहु होइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ जाणंतउ सिउ संतु ॥११८॥

आत्मदर्शने जिनवराणां यत् सुखं भवति अनन्तम् ।
तत् सुखं लभते विरागः जीवः जानन् शिवं शान्तम् ॥११८॥

अप्पा इत्यादि—*अप्पादंसणि* निजशुद्धात्मदर्शने *जिणवरहँ* छद्मस्थावस्थायां जिनवराणां *जं सुहु होइ अणंतु* यत्सुखं भवत्यनन्तं *तं सुहु* तत्पूर्वोक्तसुखं *लहइ* लभते । कोऽसौ? *विराउ जिउ* वीतरागभावनापरिणतो जीवः । किं कुर्वन् सन् ? *जाणंतउ* जानन्ननुभवन् सन् । कम् ? सिउ शिवशब्दवाच्यं निजशुद्धात्मस्वभावम् । कथंभूतम् ? *संतु* शान्तं रागादिविभावरहितमिति ।

अयमत्र भावार्थः — दीक्षाकाले शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मानुभवने यत्सुखं भवति जिनवराणां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो जीवस्तत्सुखं लभत इति ॥११८॥

आगे ऐसा कहते हैं कि वैरागी मुनि ही निज आत्मा को जानते हुए निर्विकल्प सुख को पाते हैं—

नित आत्मदर्शन में मिले जिनवरों को जो नंत सुख ।
शिव-शान्त आतम जानते वैरागि को भी वही सुख ॥११८॥

दोहार्थ— जिनवरों को आत्मदर्शन में जो अनन्तसुख होता है, वह सुख शिव-शान्त आत्मा को जानते हुए विरागी जीव भी प्राप्त करता है ।

टीकार्थ— ***अप्पादंसणि*** निज शुद्धात्मा के दर्शन में ***जं अणंतुसुहु*** जो अनन्त अद्भुत सुख ***जिणवरहँ*** मुनि-अवस्था में जिनेश्वरदेवों को ***होइ*** होता है, ***तं सुहु*** वह सुख ***विराउ जिउ*** वीतरागभावना में परिणत हुए मुनिराज ***सिउ संतु जाणंतउ*** निज शुद्धात्मस्वभाव को तथा रागादि रहित शांत भाव को जानते हुए ***लहइ*** पाते हैं ।

दीक्षा के समय तीर्थंकर देव निज शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हुए जो निर्विकल्प सुख पाते हैं, वही सुख रागादि रहित निर्विकल्प-समाधि में लीन विरक्त मुनि पाते हैं ॥११८॥

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम् ।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४०

सम्यग्दृष्टि जीव अजर, अरोग, अक्षय, अव्याबाध, विशोक, विभय, विशंक, अनंतज्ञान, अव्याबाधसुखमय वैभव तथा विमलतायुक्त मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ कामक्रोधादिपरिहारेण शिवशब्दवाच्यः परमात्मा दृश्यत इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयन्ति—

जोइय णिय-मणि णिम्मलए पर दीसइ सिउ संतु ।
अंबरि णिम्मलि घण-रहिए भाणु जि जेम फुरंतु ॥११९॥

योगिन् निजमनसि निर्मले परं दृश्यते शिवः शान्तः ।
अम्बरे निर्मले घनरहिते भानुः इव यथा स्फुरन् ॥११९॥

जोइय इत्यादि— *जोइय* हे योगिन् *णियमणि* निजमनसि । कथंभूते ? *णिम्मलए* निर्मले *परं* नियमेन । *दीसइ* दृश्यते । कोऽसौ कर्मतापन्नः ? *सिउ* शिवशब्दवाच्यो निजपरमात्मा। कथंभूतः ? *संतु* शान्तः रागादिरहितः । दृष्टान्तमाह— *अम्बरे* आकाशे । कथंभूते? *णिम्मलि* निर्मले । पुनरपि कथंभूते ? *घणरहिए* घनरहिते । क इव ? *भाणु जि* भानुरिव यथा। किं कुर्वन् ? *फुरंतु* स्फुरन् प्रकाशमान इति ।

अयमत्र तात्पर्यार्थः — यथा घनघटाटोपविघटने सति निर्मलाकाशे दिनकरः प्रकाशते तथा शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतानां कामक्रोधादिविकल्परूपघनानां विनाशे सति निर्मलचित्ताकाशे केवलज्ञानाद्यनन्तगुणकरकलितः निजशुद्धात्मादित्यः प्रकाशं करोतीति ॥११९॥

आगे काम, क्रोधादि के त्याग से शिव शब्द से कहा गया परमात्मा दिखाई देता है, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर यह गाथा-सूत्र कहते हैं—

हे योगि ! ज्यों घन रहित निर्मल गगन में रवि दीखता ।
त्यों शान्त-शिव परमात्मा मलरहित मन में दीखता ॥११९॥

दोहार्थ— हे योगी ! मेघ रहित आकाश में जैसे सूर्य प्रकाशमान होता है, उसीप्रकार निर्मल निज मन में शिव-शात आत्मा नियम से दिखाई देता है।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी ! ***णिम्मलए णियमणि*** निर्मल अपने मन में ***सिउ संतु*** निज परमात्मा रागादि रहित ***पर*** नियम से ***दीसइ*** दिखाई देता है, ***जेम*** जैसे ***घणरहिए*** बादल रहित ***णिम्मलि अंबरि*** निर्मल आकाश में ***भाणु जि*** सूर्य के समान ***फुरंतु*** भासमान (प्रकाशमान) है ।

जैसे मेघमाला के आडंबर से सूर्य भासित नहीं होता, दिखाई नहीं देता और मेघ-आडंबर के दूर होने पर निर्मल आकाश में सूर्य स्पष्ट दिखाई देता है; उसी प्रकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति के शत्रु जो काम-क्रोधादि विकल्परूप मेघ हैं, उनके नाश होने पर निर्मल मनरूपी आकाश में केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप किरणों से सहित निजशुद्धात्मारूपी सूर्य प्रकाश करता है ॥११९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ यथा मलिने दर्पणे रूपं न दृश्यते तथा रागादिमलिनचित्ते शुद्धात्मस्वरूपं न दृश्यत इति निरूपयति—

राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु ॥१२०॥

रागेन रञ्जिते हृदये देवः न दृश्यते शान्तः ।
दर्पणे मलिने बिम्बं यथा एतत् जानीहि निर्भ्रान्तम् ॥१२०॥

राएँ इत्यादि— *राएँ रंगिए हियवडए* रागेन रञ्जिते हृदये *देउ ण दीसइ* देवो न दृश्यते । किंविशिष्टः ? *संतु* शान्तो रागादिरहितः । दृष्टान्तमाह—*दप्पणि मइलए* दर्पणे मलिने *बिंबु जिम* बिम्बं यथा *एहउ* एतत् *जाणि* जानीहि हे प्रभाकरभट्ट *णिभंतु* निर्भ्रान्तं यथा भवतीति ।

अयमत्राभिप्रायः — यथा मेघपटलप्रच्छादितो विद्यमानोऽपि सहस्रकरो न दृश्यते तथा केवलज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकोऽपि कामक्रोधादिविकल्पमेघप्रच्छादितः सन् देहमध्ये शक्तिरूपेण विद्यमानोऽपि निजशुद्धात्मा दिनकरो न दृश्यते इति ॥१२०॥

.....

आगे जैसे मैले दर्पण में रूप दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार रागादि से मलिन चित्त में शुद्ध आत्मस्वरूप दिखाई नहीं देता, ऐसा कहते हैं—

ज्यों मलिन दर्पण में नहीं प्रतिबिम्ब, शाश्वत देव भी ।
निर्भ्रान्त जानो राग-रंजित हृदय में दिखता नहीं ॥१२०॥

दोहार्थ— जैसे मलिन दर्पण में बिम्ब दिखाई नहीं देता है, उसीप्रकार राग-रंजित हृदय में शान्त देव दिखाई नहीं देता है—यह निर्भ्रान्त जानो ।

टीकार्थ— *राएँ रंगिए* राग से रंजित ***हियवडए*** मन में ***संतु देउ*** रागादि रहित आत्मा देव ***ण दीसइ*** नहीं दीखता, ***जिम*** जैसे कि ***मइलए दप्पणि*** मैले दर्पण में ***बिंबु*** मुख नहीं भासता, ***एहउ*** यह बात हे प्रभाकरभट्ट! तुम ***णिभंतु*** संदेह रहित ***जाणि*** जानो ।

ऐसा श्रीयोगीन्दुदेव ने उपदेश दिया है कि जैसे सहस्र किरणों से शोभित सूर्य आकाश में प्रत्यक्ष दिखाई देता है, लेकिन मेघसमूह से ढँक जाने पर नहीं दिखाई देता; उसीप्रकार केवलज्ञानादि अनंत गुणरूप किरणों से लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाला इस देह के बीच में शक्तिरूप से विद्यमान निज शुद्धात्मारूप सूर्य भी काम, क्रोधादि, राग, द्वेष आदि भावों स्वरूप विकल्प-जालरूप मेघ से ढँका हुआ दिखाई नहीं देता है ॥१२०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथानन्तरं विषयासक्तानां परमात्मा न दृश्यत इति दर्शयति—

जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारि ।
एक्कहिँ केम समंति वढ बे खंडा पडियारि ॥१२१॥

यस्य हरिणाक्षी हृदये तस्य नैव ब्रह्म विचारय ।
एकस्मिन् कथं समायातौ वत्स द्वौ खड्गौ प्रत्याकारे (?) ॥१२१॥

जसु इत्यादि— *जसु* यस्य पुरुषस्य *हरिणच्छी* हरिणाक्षी स्त्री *हियवडए* हृदये वसतीति क्रियाध्याहारः, *तसु* तस्य *णवि* नैवास्ति । कोऽसौ ? *बंभु* ब्रह्मशब्दवाच्यो निजपरमात्मा *वियारी* एवं विचारय त्वं हे प्रभाकरभट्ट । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह— *एक्कहिँ केम* एकस्मिन् कथं *समंति* सम्यग्गिमाते सम्यगवकाशं कथं लभेते *वढ* बत *बे खंडा* द्वौ खड्गौ असी । क्वाधिकरणभूते ? *पडियारी* प्रतिकारे (?) कोशशब्दवाच्ये इति ।

तथाहि— वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिसंजातानाकुलत्वलक्षणपरमानन्दसुखामृतप्रतिबन्धकैराकुलत्वोत्पादकैः स्त्रीरूपावलोकनचिन्तादिसमुत्पन्नहावभावविभ्रमविलासविकल्पजालैर्मूर्च्छिते वासिते रञ्जिते परिणते चित्ते त्वेकस्मिन् प्रतिहारे (?) खड्गद्वयवत्परमब्रह्मशब्दवाच्यनिजशुद्धात्मा कथमवकाशं लभते न कथमपीति भावार्थः । हावभावविभ्रमविलासलक्षणं कथ्यते—

''हावो मुखविकारः स्याद्भावश्चित्तोत्थ उच्यते ।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः ॥'' ॥१२१॥

.....

आगे जो विषयों में लीन हैं, उन्हें परमात्मा का दर्शन नहीं होता, ऐसा दिखलाते हैं—

जिसके हृदय में बसे नारी उसे ब्रह्म नहीं दिखे ।
सोचो जरा ! ज्यों दो खडग इक म्यान में न रह सकें ॥१२१॥

दोहार्थ— जिसके हृदय में मृगनयनी नारी बस रही है, उसके हृदय में शुद्धात्मा दिखाई नहीं देता, हे शिष्य ! इस पर विचार करो । एक म्यान में दो तलवारें कैसे आ सकती हैं? अर्थात् नहीं आ सकतीं।

टीकार्थ— ***जसु हियवडए*** जिस पुरुष के चित्त में ***हरिणच्छी*** मृग के समान नेत्रवाली स्त्री बस रही है ***तसु*** उसके ***बंभु*** अपना शुद्धात्मा ***णवि*** नहीं है, अर्थात् उसके शुद्धात्मा का विचार नहीं होता, ऐसा हे प्रभाकरभट्ट ! तुम अपने मन में ***वियारि*** विचार करो । ***बढ*** बड़े खेद की बात है कि ***एक्कहिँ*** एक ***पडियारि*** म्यान में ***बे खंडा*** दो तलवारें ***केम समंति*** कैसे आ सकती हैं ? कभी नहीं समा सकतीं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि से उत्पन्न हुए अनाकुलतारूप परम आनन्द-मय अतींद्रिय-सुखरूप अमृत को रोकने वाले तथा आकुलता को उत्पन्न करने वाले जो स्त्री के रूप को देखने की अभिलाषादि से उत्पन्न हुए हाव (मुख-विकार), भाव अर्थात् चित्त का विकार, विभ्रम अर्थात् मुँह का टेढ़ा करना, विलास अर्थात् नेत्रों के कटाक्ष—इन स्वरूप विकल्प जालों से मूर्छित, वासित, रंजित, परिणत चित्त में ब्रह्म का (निज शुद्धात्मा का) रहना कैसे हो सकता है ?

जैसे एक म्यान में दो तलवारें कैसे आ सकती हैं ? नहीं आ सकतीं । उसीप्रकार एक चित्त में ब्रह्म-विद्या और विषय-विनोद ये दोनों नहीं समा सकते । जहाँ ब्रह्म-विचार है, वहाँ विषय-विकार नहीं है; जहाँ विषय-विकार है, वहाँ ब्रह्मविचार नहीं है । इन दोनों में आपस में विरोध है । हाव, भाव, विभ्रम, विलास—इन चारों का लक्षण दूसरी जगह भी कहा है । *''हावो मुखविकारः''* इत्यादि, उसका अर्थ ऊपर कर चुके हैं, इससे दूसरी बार नहीं किया ॥१२१॥

णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥१२२॥

निजमनसि निर्मले ज्ञानिनां निवसति देवः अनादिः ।
हंसः सरोवरे लीनः यथा मम ईदृशः प्रतिभाति ॥१२२॥

णियमणि इत्यादि — *णियमणि* निजमनसि । किंविशिष्टे ? *णिम्मलि* निर्मले रागादिमलरहिते । केषां मनसि ? *णाणियहँ* ज्ञानिनां *णिवसइ* निवसति । कोऽसौ ? देउ देवः आराध्यः । किंविशिष्टः ? *अणाइ* अनादिः । क इव कुत्र ? *हंसा सरवरि लीणु जिम* हंसः सरोवरे लीनो यथा हे प्रभाकरभट्ट *महु एहउ पडिहाइ* ममैवं प्रतिभातीति ।

तथाहि— पूर्वसूत्रकथितेन चित्ताकुलत्वोत्पादकेन स्त्रीरूपावलोकनसेवनचिन्तादिसमुत्पन्नेन रागादिकल्लोलमालाजालेन रहिते निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानसहजसमुत्पन्नवीतरागपरमसुख-सुधारसस्वरूपेण निर्मलनीरेण पूर्णे वीतरागस्वसंवेदनजनितमानससरोवरे परमात्मा लीनस्तिष्ठति। कथंभूतः ? निर्मलगुणसादृश्येन हंस इव हंसपक्षी इव । कुत्र प्रसिद्धः ? सरोवरे। हंस इवेत्यभिप्रायो भगवतां श्रीयोगीन्द्रदेवानाम् ॥१२२॥

.....

आगे रागादि रहित निज मन में परमात्मा निवास करता है, ऐसा दिखाते हैं —

नित ज्ञानियों का देव शाश्वत अमल निज मन में वसे ।
ज्यों हंस वसते सरोवर में त्यों हि यह मुझको लगे ॥१२२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— ज्ञानियों के निर्मल निज मन में अनादि देव निवास कर रहा है । जैसे हंस सरोवर में लीन रहते हैं, वैसा ही यह मुझे प्रतिभासित होता है ।

टीकार्थ— ***णाणियहँ*** ज्ञानियों के ***णिम्मलि*** रागादि मल रहित ***णियमणि*** निज मन में ***अणाइ देउ*** अनादि देव आराधन-योग्य शुद्धात्मा ***णिवसइ*** निवास कर रहा है, ***जिम*** जैसे ***सरवरि*** मानससरोवर में ***लीणु हंसा*** लीन हुआ हंस वसता है । हे प्रभाकरभट्ट ! ***महु*** मुझे ***एहउ*** ऐसा ***पडिहाउ*** ज्ञात होता है । —ऐसा वचन श्रीयोगीन्द्रदेव ने प्रभाकरभट्ट से कहा ।

पहले दोहे में जो कहा था कि चित्त में आकुलता उत्पन्न करने वाले स्त्रीरूप का देखना, सेवना, चिन्तादिकों से उत्पन्न हुए रागादि तरंगों के समूह हैं; उनसे रहित निज शुद्धात्मद्रव्य का सम्यक् श्रद्धान, स्वाभाविकज्ञान, उससे समुत्पन्न वीतराग परमसुखरूप अमृतरस, उस स्वरूप निर्मल नीर से भरे हुए वीतराग स्वसंवेदन से उत्पन्न ज्ञानियों के मानससरोवर में परमात्मादेवरूपी हंस निरन्तर रहता है । वह आत्मदेव निर्मल गुणों की उज्ज्वलता से हंस के समान है । जैसे हंसों का निवास-स्थान मानससरोवर है, वैसे ब्रह्म का निवास-स्थान ज्ञानियों का निर्मल चित्त है । ऐसा श्रीयोगीन्द्रदेव का अभिप्राय है ॥१२२॥

उक्तं च—

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति ॥१२३॥

देवः न देवकुले नैव शिलायां नैव लेप्ये नैव चित्रे ।
अक्षयः निरञ्जनः ज्ञानमयः शिवः संस्थितः समचित्ते ॥१२३॥

देउ इत्यादि— देउ देवः परमाराध्यः *ण* नास्तिः । कस्मिन् कस्मिन् नास्ति? *देउले* देवकुले देवतागृहे *णवि सिलए* नैव शिलाप्रतिमायां, *णवि लिप्पइ* नैव लेपप्रतिमायां, *णवि चित्ति* नैव चित्रप्रतिमायाम् । तर्हि क्व तिष्ठति ? निश्चयेन *अखउ* अक्षयः *णिरंजणु* कर्माञ्जनरहितः । पुनरपि किंविशिष्टः ? *णाणमउ* ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः *सिउ* शिवशब्द वाच्यो निजपरमात्मा । एवंगुणविशिष्टः परमात्मा देव इति । *संठिउ* संस्थितः *समचित्ति* समभावे समभावपरिणतमनसि इति ।

तद्यथा— यद्यपि व्यवहारेण धर्मवर्तनानिमित्तं स्थापनारूपेण पूर्वोक्तगुणलक्षणो देवो देवगृहादौ तिष्ठति तथापि निश्चयेन शत्रुमित्रसुखदुःखजीवितमरणादिसमतारूपे वीतरागसहजानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकसमचित्ते शिव-शब्दवाच्यः परमात्मा तिष्ठतीति भावार्थः । तथा चोक्तं समचित्तपरिणतश्रमणलक्षणम्—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

''समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
*समलोहकंचणो वि य जीवियमरणे समो समणो ।।''** ।।१२३।।

इत्येकत्रिंशत्सूत्रैश्चूलिकास्थलं गतम् ।

आगे इसी बात को दृढ़ करते हैं—

ना देव मंदिर शिला में ना लेप में ना चित्र में ।
अक्षय निरंजन ज्ञानमय शिव रहे नित सम-चित्त में ।।१२३।।

दोहार्थ— देव, देवमंदिर में नहीं है, शिला/पाषाण की प्रतिमा में नहीं है, लेप में भी नहीं है, चित्र में भी नहीं है । वह अक्षय, निरंजन, ज्ञानमय, शिवस्वरूप देव तो समचित्त-साम्यभाव में संस्थित है ।

टीकार्थ— ***देउ*** आत्मदेव ***देउले*** देवालय में (मंदिर में) ***ण*** नहीं है, ***सिलए णवि*** पाषाण की प्रतिमा में भी नहीं है, ***लप्पइ णवि*** लेप में भी नहीं है, ***चित्ति णवि*** चित्राम की मूर्ति में भी नहीं है। लेप और चित्राम की मूर्ति लौकिकजन बनाते हैं, पंडितजन तो धातु-पाषाण की ही प्रतिमा मानते हैं, सो लौकिक दृष्टान्त के लिये दोहा में लेप, चित्राम का भी नाम आ गया । वह देव किसी जगह नहीं रहता। वह देव ***अखउ*** अविनाशी है, ***णिरंजणु*** कर्माञ्जन से रहित है, ***णाणमउ*** केवलज्ञान से पूर्ण है, ***सिउ*** ऐसा निज परमात्मा ***समचित्ति संठिउ*** समभाव में स्थित है, अर्थात् समभावरूप से परिणत हुए साधुओं के मन में विराजमान है, अन्य जगह नहीं है ।

यद्यपि व्यवहारनय से धर्म की प्रवृत्ति के लिये स्थापनारूप अरहन्तदेव देवालय में प्रतिष्ठित होते हैं, धातु-पाषाण की प्रतिमा को देव कहते हैं; तो भी निश्चयनय की अपेक्षा शत्रु-मित्र, सुख-दु:ख, जीवित-मरण आदि में समतारूप से परिणत, वीतराग सहजानन्द एकरूप परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप अभेद रत्नत्रय में लीन ज्ञानियों के सम चित्त में शिवशब्द का वाच्यभूत परमात्मा विराजमान है ।

ऐसा ही अन्य जगह भी समचित्तरूप परिणत हुए मुनियों का लक्षण कहा है— *''समसत्तु''* इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि ''जिनके सुख-दु:ख समान हैं, शत्रु-मित्रों का वर्ग समान है, प्रशंसा-निन्दा समान हैं, पत्थर और सोना समान है और जीवन-मरण जिनके समान हैं;— ऐसे समभाव को धारण करने वाले मुनि

---

* प्रवचनसार, गाथा २४१ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होते हैं ।'' अर्थात् ऐसे समभाव के धारक शांतचित्त योगीश्वरों के चित्त में चिदानन्द देव प्रतिष्ठित होता है ॥१२३॥

इसप्रकार इकतीस दोहा-सूत्रों द्वारा चूलिका स्थल कहा । चूलिका नाम अन्त का है, सो पहले स्थल का अन्त यहाँ हुआ ।

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकद्वयं कथ्यते—

मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स ।
बीहि वि समरसि हूवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स ॥२॥✡

मनः मिलितं परमेश्वरस्य परमेश्वरः अपि मनसः ।
द्वयोरपि समरसीभूतयोः पूजां समारोपयामि कस्य ॥२॥

मणु इत्यादि— ***मणु*** मनो विकल्परूपं ***मिलियउ*** मिलितं तन्मयं जातम् । कस्य संबन्धित्वेन ? ***परमेसरहँ*** परमेश्वरस्य ***परमेसरु वि मणस्स*** परमेश्वरोऽपि मनः संबन्धित्वेन लीनो जातः ***बीहि वि समरसि हूवाहँ*** एवं द्वयोरपि समरसीभूतयोः ***पुज्ज*** पूजां ***चडावउँ*** समारोपयामि । ***कस्स*** कस्य ? निश्चयनयेन न कस्यापीति ।

अयमत्र भावार्थः — यद्यपि व्यवहारनयेन गृहस्थावस्थायां विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं धर्मवर्धनार्थं च पूजाभिषेकदानादिव्यवहारोऽस्ति तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानां तत्काले बहिरङ्गव्यापाराभावात् स्वयमेव नास्तीति ॥२॥

.....

आगे स्थल की संख्या से बाह्य दो प्रक्षेपक दोहा कहते हैं—

निज मन मिला परमेश में परमेश भी मन में मिला ।
दोनों हि समरस हो गए अब करूँ पूजा शेष क्या? ॥२॥✡

दोहार्थ— मन परमेश्वर में मिल गया है, परमेश्वर मन में मिल गया है, दोनों के ही समरस/परस्पर में एकमेक हो जाने पर अब किसकी पूजा करूँ?

टीकार्थ— ***मणु*** विकल्परूप मन ***परमेसरहँ मिलियउ*** भगवान आत्माराम में मिल गया, तन्मय हो गया ***परमेसरु वि*** और परमेश्वर भी ***मणस्स*** मन से मिल गया— इसप्रकार ***बीहि वि*** दोनों ही ***समरसि हूवाहँ*** समरस (आपस में एकमेक) होने पर अब मैं ***कस्स*** किसकी ***पुज्ज चडावउँ*** पूजा करूँ ? अर्थात् निश्चयनय से किसी को पूजना, सामग्री चढ़ाना नहीं रहा ।

जब तक मन भगवान में नहीं मिला था, तब तक पूजा करता था, और जब मन प्रभु में मिल गया, तब पूजा का प्रयोजन नहीं है । यद्यपि व्यवहारनय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से गृहस्थ-अवस्था में, विषय-कषायरूप खोटे ध्यान से बचने के लिये और धर्म को बढ़ाने के लिये पूजा, अभिषेक, दान आदि का व्यवहार है; तो भी वीतराग निर्विकल्पसमाधि में लीन हुए योगीश्वरों को उस समय में बाह्य व्यापार का अभाव होने से स्वयं ही द्रव्य-पूजा का प्रसंग नहीं आता, भाव-पूजा में ही तन्मय हैं ।।२।।

जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसय-कसायहिँ जंतु ।
मोक्खहँ कारणु एत्तडउ अण्णु ण तंतु ण मंतु ।।३।।✡

येन निरञ्जने मनः धृतं विषयकषायेषु गच्छत् ।
मोक्षस्य कारणं एतावदेव अन्यः न तन्त्रं न मन्त्रः ।।३।।

जेण इत्यादि— *जेण* येन पुरुषेण कर्तृभूतेन *णिरंजणि* कर्माञ्जनरहिते परमात्मनि *मणु* मनः *धरिउ* धृतम् । किं कुर्वत् सत् ? *विसयकसायहिँ जंतु* विषयकषायेषु गच्छत् सत् । *विसयकसायहिँ* तृतीयान्तं पदं सप्तम्यन्तं कथं जातमिति चेत् ? परिहारमाह— प्राकृते क्वचित्कारकव्यभिचारो भवति लिङ्गव्यभिचारश्च । इदं सर्वत्र ज्ञातव्यम् । *मोक्खहँ कारणु* मोक्षस्य कारणं *एत्तडउ* एतावदेव । विषयकषायरतचित्तस्य व्यावर्तनेन स्वात्मनि स्थापनं *अण्णु ण* अन्यत् किमपि न मोक्षकारणम् । अन्यत् किम् ? *तंतु* तन्त्रं शास्त्रमौषधं वा *मंतु* मन्त्राक्षरं चेति ।

तथाहि— शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिकूलेषु विषयकषायेषु गच्छत् सत् मनो वीतराग-निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेन व्यावर्त्य निजशुद्धात्मद्रव्ये स्थापयति यः स एव मोक्षं लभते नान्यो मन्त्रतन्त्रादिबलिष्ठोऽपीति भावार्थः ।।३।।

एवं परमात्मप्रकाशवृत्तौ प्रक्षेपकत्रयं विहाय त्र्यधिकविंशत्युत्तरशतदोहकसूत्रैस्त्रिविधात्म-प्रतिपादकनामा प्रथममहाधिकारः समाप्तः ।।१।।

.....

आगे इसी कथन को दृढ़ करते हैं—

निज निरंजन में मन लगा विषयों कषायों से हटा ।
है मोक्ष कारण मात्र इतना अन्य तन्त्र न मन्त्र ना ।।३।।✡

दोहार्थ— जिसने विषय-कषायों में जाते हुए मन को निरंजन में लगाया है, बस इतना मात्र ही मोक्ष का कारण है; अन्य तन्त्र, मन्त्र आदि मोक्ष के कारण नहीं हैं।

टीकार्थ— ***जेण*** जिस पुरुष ने ***विसयकसायहिँ जंतु*** विषयकषायों में जाता हुआ (***'विसयकसायहिँ'*** यह पद तृतीया विभक्ति के बहुवचन का प्रयोग है; इसका प्रयोग सप्तमी विभक्ति के बहुवचन में कैसे कर सकते हैं ? शिष्य का ऐसा प्रश्न होने पर उसका समाधान करते हैं कि प्राकृत भाषा में कभी-कभी कारक व्यभिचार हो जाता है, कभी-कभी लिंग व्यभिचार भी । —ऐसा सर्वत्र जान लेना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चाहिये ।) ***मणु*** मन ***णिरंजणि धरिउ*** कर्मरूपी अंजन से रहित भगवान में रखा (लगाया); ***एत्तडउ*** मात्र इतना ही ***मोक्खहँ कारणु*** मोक्ष का कारण है, ***अण्णु*** दूसरा कोई भी ***तंतु ण*** तंत्र नहीं है, और ***मंतु ण*** न मंत्र है । तंत्र नाम शास्त्र व औषध का है, मंत्र नाम मंत्राक्षरों का है । विषय-कषायादि पर पदार्थों से मन को रोककर परमात्मा में मन को लगाना, यही मोक्ष का कारण है ।

जो कोई निकट-संसारी जीव शुद्धात्मतत्त्व की भावना से प्रतिकूल विषय-कषायों में जाते हुए मन को वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के बल से पीछे हटाकर निज शुद्धात्मद्रव्य में स्थापन करता है, वही मोक्ष को प्राप्त करता है; दूसरा कोई मंत्र-तंत्रादि में चतुर होने पर भी मोक्ष नहीं पाता ।।३।।

इसप्रकार परमात्मप्रकाश की टीका में तीन प्रक्षेपकों के सिवाय एक सौ तेईस दोहा-सूत्रों में बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मारूप तीन प्रकार से आत्मा को कहनेवाला पहला महाधिकार पूर्ण किया।

।।इति प्रथम महाधिकार।।

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स ।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स ।।

अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो परेण णियमेण ।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादयदि ।।

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि ।।

—पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १७०-१७२

संयम-तप संयुक्त होने पर भी पदार्थ सहित तीर्थंकर के प्रति बुद्धि के झुकाव वाले, सूत्र के प्रति प्रीति वाले जीव के लिए निर्वाण दूरतर है ।

अरहंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन के प्रति भक्तियुक्त जो जीव, परम संयम सहित तपरूपी कार्य करता है, वह देवलोक को प्राप्त करता है ।

इसलिए मोक्षाभिलाषी जीव सर्वत्र किंचित् भी राग न करे, उससे वह वीतरागी भव्य भवसागर को पार करता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

द्वितीय-महाधिकार

अत ऊर्ध्वं स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्दशाधिकशतद्वयप्रमितैर्दोहकसूत्रै-र्मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यते । तत्रादौ सूत्रदशकपर्यन्तं मोक्षमुख्यतया व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

॥१-१२४॥

सिरिगुरु अक्खहि मोक्खु महु मोक्खहँ कारणु तत्थु ।
मोक्खहँ केरउ अण्णु फलु जेँ जाणउँ परमत्थु ॥

श्रीगुरो आख्याहि मोक्षं मम मोक्षस्य कारणं तथ्यम् ।
मोक्षस्य संबन्धि अन्यत् फलं येन जानामि परमार्थम् ॥१॥

सिरिगुरु इत्यादि — *सिरिगुरु* हे श्रीगुरो योगीन्द्रदेव *अक्खहि* कथय *मोक्खु* मोक्षं *महु* मम, न केवलं मोक्षं *मोक्खहँ कारणु* मोक्षस्य कारणम् । कथंभूतम् ? *तत्थु* तथ्यम् *मोक्खहँ केरउ* मोक्षस्य संबन्धि *अण्णु* अन्यत् । किम् ? *फलु* फलम् । एतत्त्रयेन ज्ञातेन किं भवति ? *जेँ जाणउँ* येन त्रयस्य व्याख्यानेन जानाम्यहं कर्ता । कम् ? *परमत्थु* परमार्थमिति । तद्यथा— प्रभाकरभट्टः श्रीयोगीन्द्रदेवान् विज्ञाप्य मोक्षं मोक्षफलं मोक्षकारणमिति त्रयं पृच्छतीति भावार्थः ॥१॥

.....

इसके बाद प्रकरण की संख्या के बाहर अर्थात् प्रक्षेपकों के सिवाय दो सौ चौदह दोहा-सूत्रों द्वारा मोक्ष, मोक्ष-फल और मोक्ष-मार्ग के कथन की मुख्यता से दूसरा महाधिकार आरंभ करते हैं । उसमें भी पहले दस दोहों तक मोक्ष की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं—

हे गुरु ! कहिए मोक्ष तात्त्विक मोक्ष का कारण तथा ।
उस मोक्ष का फल जान लूँ जिससे सदा परमार्थता ॥१॥

दोहार्थ— हे गुरु ! मेरे लिए मोक्ष, मोक्ष का वास्तविक कारण और मोक्ष संबंधी फल कृपाकर बतलाइये—जिससे मैं परमार्थ को जानलूँ ।

टीकार्थ— ***सिरिगुरु*** हे श्रीगुरु, ***महु*** मुझे ***मोक्खु*** मोक्ष, ***तत्थु मोक्खहँ कारणु*** सत्यार्थ मोक्ष का कारण, ***अण्णु*** और ***मोक्खहँ केरउ*** मोक्ष का ***फलु*** फल ***अक्खहि*** कृपाकर कहिए, ***जे*** जिससे कि मैं ***परमत्थु*** परमार्थ को ***जाणउँ*** जानलूँ ।

प्रभाकरभट्ट श्रीयोगींद्रदेव से विनती करके मोक्ष, मोक्ष का कारण और मोक्ष का फल इन तीनों को पूछते हैं ॥१॥

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ तदेव त्रयं क्रमेण भगवान् कथयति—

॥२-१२५॥

जोइय मोक्खु वि मोक्ख-फलु पुच्छिउ मोक्खहँ हेउ ।
सो जिण-भासिउ णिसुणि तुहुँ जेण वियाणहि भेउ ॥

योगिन् मोक्षोऽपि मोक्षफलं पृष्टं मोक्षस्य हेतुः ।
तत् जिनभाषितं निशृणु त्वं येन विजानासि भेदम् ॥२॥

जोइय इत्यादि— *जोइय* हे योगिन् *मोक्खु वि* मोक्षोऽपि *मोक्खफलु* मोक्षफलं *पुच्छिउ* पृष्टं त्वया कर्तृभूतेन । पुनरपि कः पृष्टः ? *मोक्खहँ हेउ* मोक्षस्य हेतुःकारणम्। तत्त्रयं *जिणभासिउ* जिनभाषितं *णिसुणि* निश्चयेन शृणु समाकर्णय *तुहुँ* त्वं *जेण* येन *वियाणहि भेउ* विजानासि भेदं त्रयाणां सम्बन्धिनमिति ।

अयमत्र तात्पर्यार्थः — श्रीयोगीन्द्रदेवाः कथयन्ति हे प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मोपलम्भलक्षणं मोक्षं केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपं मोक्षफलं भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च क्रमेण प्रतिपादयाम्यहं त्वं शृण्विति ॥२॥

अब श्रीगुरु उन्हीं तीनों को क्रम से कहते हैं—

हे योगि ! पूछे हुए शिव शिवफल तथा शिवहेतु को ।
जिनकथित मैं कहता सुनो तुम भेद जिससे ज्ञात हो ॥२॥

दोहार्थ— हे योगी ! पूछे गए जिनभाषित मोक्ष, मोक्षफल और मोक्ष के कारण को मैं कहता हूँ; तुम उसे मन स्थिर कर सुनो, जिससे तुम्हें भेदज्ञान हो जाए ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी ! तुमने ***मोक्खुवि*** मोक्ष और ***मोक्खफलु*** मोक्ष का फल तथा ***मोक्खहँ हेउ*** मोक्ष का कारण ***पुच्छिउ*** पूछा, ***सो*** उसे ***जिणभासिउ*** जिनेश्वरदेव के कहे अनुसार ***तुहुँ*** तुम ***णिसुणि*** निश्चय से सुनो, ***जेण*** जिससे कि ***भेउ*** भेद ***वियाणहि*** भली-भाँति ज्ञात हो जायेंगे ।

श्रीयोगींद्रदेव गुरु, शिष्य से कहते हैं कि हे प्रभाकरभट्ट ! शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष, केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय की प्रगटता स्वरूप मोक्षफल और निश्चय-व्यवहार रत्नत्रयरूप भेदाभेद रत्नत्रयात्मक मोक्ष का मार्ग— इन तीनों को क्रम से जिन आज्ञा-अनुसार तुम्हारे लिए कहूँगा । उनको तुम अच्छी तरह चित्त में धारण करना, जिससे सब भेद ज्ञात हो जायेगा ॥२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ धर्मार्थकाममोक्षाणां मध्ये सुखकारणत्वान्मोक्ष एवोत्तम इति अभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

॥३-१२६॥

धम्महँ अत्थहँ कामहँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु ।
उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अण्णें जेण ण सोक्खु ॥

धर्मस्य अर्थस्य कामस्यापि एतेषां सकलानां मोक्षम् ।
उत्तमं प्रभणन्ति ज्ञानिनः जीव अन्येन येन न सौख्यम् ॥३॥

धम्महँ इत्यादि— *धम्महँ* धर्मस्य धर्माद्वा *अत्थहँ* अर्थस्य अर्थाद्वा *कामहँ वि* कामस्यापि कामाद्वा *एयहँ सयलहँ* एतेषां सकलानां संबन्धित्वेन एतेभ्यो वा सकाशात् *मोक्खु* मोक्षं *उत्तमु पभणहिँ* उत्तमं विशिष्टं प्रभणन्ति कथयन्ति । के कथयन्ति ? *णाणि* ज्ञानिनः । *जिय* हे जीव । कस्मादुत्तमं प्रभणन्ति मोक्षम् ? अण्णें अन्येन धर्मार्थकामादिना *जेण* येन कारणेन *ण सोक्खु* नास्ति परमसुखम् इति ।

तद्यथा— धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते, अर्थशब्देन तु पुण्यफलभूतार्थो राज्यादिविभूतिविशेषः, कामशब्देन तु तस्यैव राज्यस्य मुख्यफलभूतः स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादिसंभोगः; एतेभ्यस्त्रिभ्यः सकाशान्मोक्षमुत्तमं कथयन्ति । के ते ? वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानिनः। कस्मात् ? आकुलत्वोत्पादकेन वीतरागपरमानन्दसुखामृतरसास्वादविपरीतेन धर्मार्थकामादिना मोक्षादन्येन येन कारणेन सुखं नास्तीति भावार्थः ॥३॥

.....

अब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों में से सुख का मूलकारण होने से मोक्ष ही सबसे उत्तम है, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर इस गाथा-सूत्र को कहते हैं—

हैं धर्म अर्थ रु काम इनमें कहें सर्वोत्तम सभी ।
सुख मोक्ष का नित ज्ञानि क्योंकि अन्य से न सुख कभी ॥३॥

दोहार्थ— हे जीव ! धर्म, अर्थ और कामरूप इन सभी से ज्ञानी मोक्ष को ही उत्तम कहते हैं; क्योंकि अन्य से सुख नहीं है ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***धम्महँ*** धर्म, ***अत्थहँ*** अर्थ, ***कामहँ वि*** और काम ***एयहँ सयलहँ*** इन सब पुरुषार्थों में से ***मोक्खु उत्तमु*** मोक्ष को उत्तम ***णाणि*** ज्ञानी पुरुष ***पभणहिँ*** कहते हैं; ***जेण*** क्योंकि ***अण्णें*** अन्य धर्म, अर्थ, कामादि पदार्थों में ***सोक्खु ण*** परमसुख नहीं है ।

धर्म शब्द से यहाँ पुण्य समझना, अर्थ शब्द से पुण्य का फल राज्य आदि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संपदा जानना और काम शब्द से उस राज्य का मुख्यफल स्त्री, वस्त्र, सुगंधितमाला आदि वस्तुरूप भोग जानना; इन तीनों से परमसुख नहीं है, क्लेशरूप दु:ख ही है, इसलिये वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानी सर्वज्ञदेव इन सबसे उत्तम मोक्ष को ही कहते हैं; क्योंकि मोक्ष से पृथक् जो धर्म, अर्थ, काम हैं; वे आकुलता को उत्पन्न करने वाले हैं; तथा वीतराग परमानन्द सुखरूप अमृतरस के आस्वाद से विपरीत हैं, इसलिये सुख करने वाले नहीं हैं; ऐसा जानना ॥३॥

अथ धर्मार्थकामेभ्यो यद्युत्तमो न भवति मोक्षस्तर्हि तत्त्रयं मुक्त्वा परलोकशब्दवाच्यं मोक्षं किमिति जिना गच्छन्तीति प्रकटयन्ति—

॥४-१२७॥

जइ जिय उत्तमु होइ णवि एयहँ सयलहँ सोइ ।
तो किं तिण्णि वि परिहरवि जिण वच्चहिँ पर-लोइ ॥

यदि जीव उत्तमो भवति नैव एतेभ्य: सकलेभ्य: स एव ।
तत: किं त्रीण्यपि परिहृत्य जिना: व्रजन्ति परलोके ॥४॥

जइ इत्यादि— *जइ* यदि चेत् *जिय* हे जीव *उत्तमु होइ णवि* उत्तमो भवति नैव । केभ्य: ? *एयहँ सयलहँ* एतेभ्य: पूर्वोक्तेभ्यो धर्मादिभ्य: । कतिसंख्योपेतेभ्य:? सकलेभ्य: *सो वि* स एव पूर्वोक्तो मोक्ष: *तो* तत: कारणात् *किं* किमर्थं *तिण्णि वि परिहरवि* त्रीण्यपि परिहृत्य त्यक्त्वा *जिण* जिना: कर्तार: *वच्चहिँ* व्रजन्ति गच्छन्ति। कुत्र गच्छन्ति ? *परलोइ* परलोकशब्दवाच्ये परमात्मध्याने न तु कायमोक्षे चेति ।

तथाहि— परलोकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थ: कथ्यते । पर: उत्कृष्टो मिथ्यात्वरागादिरहित: केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहित: परमात्मा परशब्देनोच्यते तस्यैवंगुणविशिष्टस्य परमात्मनो लोको लोकनमवलोकनं वीतरागपरमानन्दसमरसीभावानुभवनं लोक इति परलोकशब्दस्यार्थ:। अथवा पूर्वोक्तलक्षण: परमात्मा परशब्देनोच्यते । निश्चयेन परमशिवशब्दवाच्यो मुक्तात्मा शिव इत्युच्यते तस्य लोक: शिवलोक इति । अथवा परमब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा परमब्रह्म इति तस्य लोको ब्रह्मलोक इति । अथवा परम विष्णुशब्दवाच्यो मुक्तात्मा विष्णुरिति तस्य लोको विष्णुलोक इति परलोकशब्देन मोक्षो भण्यते परश्चासौ लोकश्च परलोक इति । परलोकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थो ज्ञातव्य: न चान्य: कोऽपि परकल्पित: शिवलोकादिरस्तीति ।

अत्र स एव परलोकशब्दवाच्य: परमात्मोपादेय इति तात्पर्य: ॥४॥

आगे यदि धर्म, अर्थ, काम—इन तीनों से मोक्ष उत्तम नहीं होता; तो इन तीनों को छोड़कर जिनेश्वरदेव मोक्ष में क्यों जाते ? ऐसा दिखाते हैं—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हे जीव ! सर्वोत्कृष्ट शिव यदि इन सभी से नहीं हो ।
तो छोड़ तीनों क्यों सभी जिन जायँ शिवमय लोक को? ॥४॥

दोहार्थ— हे जीव ! यदि इन सभी से वह मोक्ष ही उत्तम नहीं होता तो जिनेन्द्र भगवान तीनों को छोड़कर मोक्ष में क्यों जाते?

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***जइ*** यदि ***एयहँ सयलहँ*** इन सभी से ***सो*** वह मोक्ष ***उत्तमु*** उत्तम ***वि*** ही ***णवि*** नहीं ***होइ*** होता ***तो*** तो ***जिण तिण्णि वि*** श्रीजिनवरदेव धर्म, अर्थ, काम—इन तीनों को ***परिहरिवि*** छोड़कर ***परलोइ*** मोक्ष में ***किं*** क्यों ***वच्चहिँ*** जाते ? इसीलिये जाते हैं कि मोक्ष सबसे उत्कृष्ट है ।

पर अर्थात् उत्कृष्ट मिथ्यात्व-रागादि रहित, केवलज्ञानादि अनंत गुण सहित परमात्मा वह पर है; इसप्रकार के गुणों से विशिष्ट उस परमात्मा का लोक लोकन, अर्थात् अवलोकन वीतराग परमानंद समरसीभाव का अनुभव, वह परलोक कहा जाता है । अथवा परमात्मा को परमशिव कहते हैं, उसका जो अवलोकन वह शिवलोक है । अथवा परमात्मा का ही नाम परमब्रह्म है, उसका लोक वह ब्रह्मलोक है । अथवा उसी का नाम परमविष्णु है, उसका लोक अर्थात् स्थान वह विष्णुलोक है । —ये सब मोक्ष के नाम हैं, अर्थात् जितने परमात्मा के नाम हैं, उनके आगे लोक लगाने से मोक्ष के नाम हो जाते हैं, दूसरा कोई कल्पित किया हुआ शिवलोक, ब्रह्मलोक या विष्णुलोक नहीं है।

यहाँ पर सारांश यह है कि परलोक के नाम से कहा गया परमात्मा ही उपादेय है, ध्यान करने योग्य है, अन्य कोई नहीं ॥४॥

अथ तमेव मोक्षं सुखदायकं दृष्टान्तद्वारेण दृढयति—

॥५-१२८॥

उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु मुक्खु ण होइ ।
तो किं इच्छहिँ बंधणहिँ बद्धा पसुय वि सोइ ॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमो मोक्षो न भवति ।
ततः किं इच्छन्ति बन्धनैः बद्धा पशवोऽपि तमेव ॥५॥

उत्तमु इत्यादि— ***उत्तमु*** उत्तमं ***सुक्खु*** सुखं ***ण देइ जइ*** न ददाति यदि चेत् ***उत्तमु मुक्खु ण होइ*** उत्तमो मोक्षो न भवति ***तो*** तस्मात्कारणात् ***किं*** किमर्थं ***इच्छहिँ*** इच्छन्ति ***बंधणहिँ*** बन्धनैः ***बद्धा*** निबद्धाः । ***पसुय वि*** पशवोऽपि । किमिच्छन्ति ? ***सोइ*** तमेव मोक्षमिति ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अयमत्र भावार्थः — येन कारणेन सुखकारणत्वाद्धेतोः बन्धनबद्धाः पशवोऽपि मोक्षमिच्छन्ति तेन कारणेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाविनाभूतस्योपादेयरूपस्यानन्तसुखस्य कारणत्वादिति ज्ञानिनो विशेषेण मोक्षमिच्छन्ति ॥५॥

आगे वही मोक्ष अनंत सुख देने वाला है, इसे दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं—

यदि मोक्ष उत्तम सुख नहीं देता तो उत्तम नहीं हो ।
तब चाहते क्यों बद्ध पशु भी बन्धनों से मोक्ष को ॥५॥

दोहार्थ— यदि उत्तम मोक्ष उत्तम सुख नहीं देता होता तो बन्धन में बद्ध पशु भी उस मोक्ष को ही क्यों चाहते ?

टीकार्थ— ***जइ*** यदि ***मुक्खु*** मोक्ष ***उत्तमु सुक्खु*** उत्तम सुख को ***ण*** नहीं ***देइ*** देता है तो वह ***उत्तमु*** उत्तम ***ण होइ*** नहीं हो, और यदि मोक्ष उत्तम ही न हो ***तो*** तो ***बंधणहिँ बद्धा*** बंधनों से बँधे ***पसुय वि*** पशु भी ***सोइ*** उस मोक्ष की ही ***किं इच्छहिँ*** इच्छा क्यों करते हैं ?

बंधन के समान कोई दुःख नहीं है, और छूटने के समान कोई सुख नहीं है, बंधन से बँधे पशु भी छूटना चाहते हैं, और जब वे छूटते हैं, तब सुखी होते हैं । इस सामान्य बंधन के अभाव से ही पशु सुखी होते हैं, तो कर्म-बंधन के अभाव से ज्ञानीजन परमसुखी हों, इसमें आश्चर्य क्या है ? इसलिये केवलज्ञानादि अनंत गुण से तन्मय, अविनाभूत, उपादेयरूप अनन्त सुख का कारण मोक्ष ही आदर करने योग्य है, इस कारण ज्ञानी पुरुष विशेष रूप से मोक्ष को ही चाहते हैं ॥५॥

अथ यदि तस्य मोक्षस्याधिकगुणगणो न भवति तर्हि लोको निजमस्तकस्योपरि तं किमर्थं धरतीति निरूपयति—

॥६-१२९॥

अणु जइ जगहँ वि अहिययरु गुण-गणु तासु ण होइ ।
तो तइलोउ वि किँ धरइ णिय-सिर-उप्परि सोइ ॥

अन्यद् यदि जगतोऽपि अधिकतरः गुणगणः तस्य न भवति ।
ततः त्रिलोकोऽपि किं धरति निजशिरसि उपरि तमेव ॥६॥

अणु इत्यादि— ***अणु*** पुनः ***जइ*** यदि चेत् ***जगहँ वि*** जगतोऽपि सकाशात् ***अहिययरु*** अतिशयेनाधिकः अधिकतरः । कोऽसौ ? ***गुणगणु*** गुणगणः ***तासु*** तस्य मोक्षस्य ***ण होइ*** न भवति । ***तो*** ततः कारणात् ***तइलोउ वि*** त्रिलोकोऽपि कर्ता ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किं धरइ किमर्थं धरति ? कस्मिन् ? *णियसिरउप्परि* निजशिरसि उपरि । *किं धरइ* किं धरति ? *सोइ* तमेव मोक्षमिति ।

तद्यथा— यदि तस्य मोक्षस्य पूर्वोक्तः सम्यक्त्वादिगुणगणो न भवति तर्हि लोकः कर्ता निजमस्तकस्योपरि तत्किं धरतीति ? अत्रानेन गुणगणस्थापनेन किं कृतं भवति ? बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराभिधानानां नवानां गुणानामभावं मोक्षं मन्यन्ते ये वृद्धवैशेषिकास्ते निषिद्धाः । ये च प्रदीपनिर्वाणवज्जीवाभावं मोक्षं मन्यन्ते सौगतास्ते च निरस्ताः । यच्चोक्तं सांख्यैः सुप्तावस्थावत् सुखज्ञानरहितो मोक्षस्तदपि निरस्तम् । लोकाग्रे तिष्ठतीति वचनेन तु मण्डिकसंज्ञा नैयायिकमतान्तर्गता यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठतीति वदन्ति तेऽपि निरस्ता इति । जैनमते पुनरिन्द्रियजनितज्ञान-सुखस्याभावे न चातीन्द्रियज्ञानसुखस्येतिकर्मजनितेन्द्रियादिदशप्राणसहितस्याशुद्धजीवस्याभावेन न पुनः शुद्धजीवस्येति भावार्थः ॥६॥

आगे बतलाते हैं कि यदि मोक्ष में अधिक गुणों का समूह नहीं होता, तो मोक्ष को तीन लोक अपने मस्तक पर क्यों रखता ? —

यदि सकल जग से अधिक गुणगण मोक्ष में होते नहीं ।
तो लोकत्रय निज शीश के ऊपर उसे रखता नहीं ॥६॥

दोहार्थ— यदि सम्पूर्ण लोक में सर्वाधिक गुणों का समूह उस मोक्ष में नहीं होता, तो तीन लोक भी उसे ही अपने मस्तक के ऊपर क्यों रखता ?

टीकार्थ— ***अणु*** फिर ***जइ*** यदि ***जगहँ वि*** सब लोक से भी ***अहिययरु*** बहुत अधिक ***गुणगणु*** गुणों का समूह ***तासु*** उस मोक्ष में ***ण होइ*** नहीं होता, ***तो*** तो ***तइलोउ वि*** तीनों ही लोक ***णियसिर*** अपने मस्तक के ***उप्परि*** ऊपर ***सोइ*** उसी मोक्ष को ***किं धरइ*** क्यों रखते ?

मोक्ष, लोक के शिखर (अग्रभाग) पर है; क्योंकि सब लोकों से मोक्ष में बहुत अधिक गुण हैं, इसीलिये उसे लोक अपने सिर पर रखता है । कोई किसी को अपने सिर पर रखता है, तो उसे अपने से अधिक गुणवाला जानकर ही रखता है । यदि क्षायिक सम्यक्त्व, केवलदर्शनादि अनंत गुण मोक्ष में न होते, तो मोक्ष सबके सिर पर न होता; मोक्ष के ऊपर अन्य कोई नहीं हैं, सबके ऊपर मोक्ष ही है, और मोक्ष के आगे अनंत अलोक है, वह शून्य है, वहाँ कोई नहीं है। वह अनंत अलोक भी सिद्धों के ज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है । यहाँ पर मोक्ष में अनंत गुणों के स्थापन करने से मिथ्यादृष्टियों का खंडन किया ।

कोई मिथ्यादृष्टि वैशेषिकादि ऐसा कहते हैं कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार—इन नव गुणों के अभावरूप मोक्ष है उनका निषेध किया; क्योंकि इंद्रियजनित बुद्धि का तो अभाव है, परन्तु केवल बुद्धि अर्थात् केवलज्ञान का अभाव नहीं है; इंद्रियों से उत्पन्न सुख का अभाव है, लेकिन अतीन्द्रिय सुख की पूर्णता है; दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—इन विभावरूप गुणों का तो अभाव ही है, परन्तु केवल स्वभावरूप परिणमन है; व्यवहार-धर्म का अभाव ही है, परन्तु वस्तु का स्वभावरूप धर्म वहाँ है ही, अधर्म का अभाव तो ठीक ही है; और परद्रव्यरूप संस्कार सर्वथा नहीं हैं; परन्तु स्वभावरूप संस्कार हैं ही। जो मूढ़ इन गुणों का अभाव मानते हैं, वे वृथा बकते हैं, मोक्ष तो अनंत गुणरूप है । इस तरह निर्गुणवादियों का निषेध किया ।

तथा बौद्धमती जीव के अभाव को मोक्ष कहते हैं । वे मोक्ष ऐसा मानते हैं कि जैसे दीपक का निर्वाण (बुझना); उसीप्रकार जीव का अभाव वही मोक्ष है । ऐसी बौद्ध की श्रद्धा का भी तिरस्कार किया; क्योंकि यदि जीव का ही अभाव हो गया, तो मोक्ष किसे हुआ ? जीव का शुद्ध होना वह मोक्ष है, अभाव कहना वृथा है ।

सांख्यदर्शनवाले ऐसा कहते हैं कि जो एकदम सोने की अवस्था है, वही मोक्ष है, जिस जगह न सुख है, न ज्ञान है; ऐसी प्रतीति का भी निवारण किया।

नैयायिक ऐसा कहते हैं कि जहाँ से मुक्त हुआ वहीं पर ठहरता है, ऊपर गमन नहीं करता; ऐसे नैयायिक के कथन का, लोक-शिखर पर विराजमान हैं—इस वचन से निषेध किया । जहाँ बंधन से छूटता है, वहाँ वह नहीं रहता, यह प्रत्यक्ष देखने में आता है; जैसे कैदी कैद से जब छूटता है, तब बंदीगृह से छूटकर अपने घर की ओर गमन करता है; वह निजघर निर्वाण ही है । जैन-मार्ग में तो इन्द्रियजनित ज्ञान जो कि मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय हैं; उनका अभाव माना है; और अतीन्द्रियरूप जो केवलज्ञान है, वह वस्तु का स्वभाव है, उसका अभाव आत्मा में नहीं हो सकता । स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द—इन पाँच इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न हुए सुख का तो अभाव ही है, लेकिन अतीन्द्रिय सुख जो निराकुल परमानंद है, उसका अभाव नहीं है; कर्मजनित जो इन्द्रियादि दस प्राण अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय, आयु, श्वासोच्छ्वास—इन दस प्राणों का भी अभाव है; ज्ञानादि निज प्राणों का अभाव नहीं है । जीव की अशुद्धता का अभाव है, शुद्धपने का अभाव नहीं; यह निश्चय से जानना ।।६।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथोत्तमं सुखं न ददाति यदि मोक्षस्तर्हि सिद्धाः कथं निरन्तरं सेवन्ते तमिति कथयति—

॥७-१३०॥

उत्तमु सुक्खु ण देइ जइ उत्तमु मुक्खु ण होइ ।
तो किं सयलु वि कालु जिय सिद्ध वि सेवहिँ सोइ ॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमः मोक्षो न भवति ।
ततः किं सकलमपि कालं जीव सिद्धा अपि सेवन्ते तमेव ॥७॥

उत्तमु इत्यादि— *उत्तमु सुक्खु* उत्तमं सुखं *ण देइ* न ददाति *जइ* यदि चेत्। *उत्तमु* उत्तमो *मुक्खु* मोक्षः *ण होइ* न भवति । *तो* ततः कारणात्, *किं* किमर्थं, *सयलु वि कालु* सकलमपि कालम् । *जिय* हे जीव । *सिद्ध वि* सिद्धा अपि *सेवहिँ* सेवन्ते *सोइ* तमेव मोक्षमिति ।

तथाहि— यद्यतीन्द्रियपरमाह्लादरूपमविनश्वरं सुखं न ददाति मोक्षस्तर्हि कथमुत्तमो भवति उत्तमत्वाभावे च केवलज्ञानादिगुणसहिताः सिद्धा भगवन्तः किमर्थं निरन्तरं सेवन्ते च चेत् ? तस्मादेव ज्ञायते तत्सुखमुत्तमं ददातीति । उक्तं च सिद्धसुखम्—

''आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं,
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम् ।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममममितं शाश्वतं सर्वकाल-
मुत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥''✡

अत्रेदमेव निरन्तरमभिलषणीयमिति भावार्थः ॥७॥

.....

आगे कहते हैं कि यदि मोक्ष उत्तम सुख नहीं देता तो सिद्ध उसका निरंतर सेवन क्यों करते ?—

यदि सौख्य सर्वोत्तम नहीं दे नहीं उत्तम मोक्ष तो ।
तब क्यों करें सेवन सदा सब सिद्ध कहिए उसी को ॥७॥

दोहार्थ— यदि मोक्ष उत्तम सुख नहीं देता तो मोक्ष उत्तम भी नहीं होता, और तब हे जीव ! सिद्ध परमेष्ठी भी सदैव उसी का ही सेवन क्यों करते?

टीकार्थ— ***जइ*** यदि ***उत्तमु सुक्खु*** उत्तम अविनाशी सुख को ***ण देइ*** नहीं देता, तो ***मुक्खु उत्तमु*** मोक्ष उत्तम भी ***ण होइ*** नहीं हो सकता; उत्तम सुख देता है इसीलिये मोक्ष सबसे उत्तम है । यदि मोक्ष में परमानंद नहीं होता ***तो*** तो

✡ संस्कृत सिद्ध भक्ति पद्य, ७ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिय हे जीव! ***सिद्ध वि*** सिद्धपरमेष्ठी भी ***सयलु वि कालु*** सदा काल ***सोइ*** उसी मोक्ष का ***किं सेवहिँ*** सेवन क्यों करते ? कभी भी सेवन न करते ।

वह मोक्ष अखंड सुख देता है, इसीलिये उसका सिद्ध भगवान सेवन करते हैं । मोक्ष परम आह्लादरूप है, अविनश्वर है, मन और इंद्रियों से रहित है, इसीलिये उसका सदाकाल सिद्ध सेवन करते हैं; केवलज्ञानादि गुण सहित सिद्ध भगवान निरंतर निर्वाण में ही निवास करते हैं, ऐसा निश्चित है ।

सिद्धों का सुख दूसरी जगह भी ऐसा ही कहा है *''आत्मोपादान''* इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि ''इस अध्यात्म-ज्ञान से सिद्धों के जो परमसुख हुआ है, वह कैसा है कि अपनी-अपनी उपादान-शक्ति से उत्पन्न हुआ है, पर की सहायता से नहीं है, स्वयं (आप ही) अतिशयरूप है, सब बाधाओं से रहित है, निराबाध है, विस्तीर्ण है, हीनाधिकता से रहित है, घटती-बढ़ती से रहित है, विषय-विकार से रहित है, भेदभाव से रहित है, निर्द्वन्द्व है, जहाँ पर वस्तु की अपेक्षा नहीं है, अनुपम है, अनंत है, अपार है, जिसका प्रमाण नहीं, सदा काल शाश्वत है, महा उत्कृष्ट है, अनंत सारता सहित है । —ऐसा परमसुख सिद्धों को है, अन्य को नहीं है ।''

यहाँ तात्पर्य यह है कि हमेशा मोक्ष का ही सुख अभिलाषा करने योग्य है, और संसार-पर्याय सब हेय है ॥७॥

अथ सर्वेषां परमपुरुषाणां मोक्ष एव ध्येय इति प्रतिपादयति—

८-१३१॥

हरि-हर-बंभु वि जिणवर वि मुणिवरविंद वि भव्व ।
परम-णिरंजणि मणु धरिवि मुक्खु जि झायहिँ सव्व ॥

हरिहरब्रह्माणोऽपि जिनवरा अपि मुनिवरवृन्दान्यपि भव्याः ।
परमनिरञ्जने मनः धृत्वा मोक्षं एव ध्यायन्ति सर्वे ॥८॥

हरिहर इत्यादि- ***हरिहरबम्भु वि*** हरिहरब्रह्माणोऽपि ***जिणवर वि*** जिनवरा अपि ***मुणिवरविंद वि*** मुनिवरवृन्दान्यपि ***भव्व*** शेषभव्या अपि । एते सर्वे किं कुर्वन्ति ? ***परमणिरंजणि*** परमनिरञ्जनाभिधाने निजपरमात्मस्वरूपे । ***मणु*** मनः ***धरिवि*** विषयकषायेषु गच्छत् सद् व्यावृत्त्य धृत्वा पश्चात् ***मुक्खु जि*** मोक्षमेव ***झायहिँ*** ध्यायन्ति ***सव्व*** सर्वेऽपि इति ।

तद्यथा— हरिहरादयः सर्वेऽपि प्रसिद्धपुरुषाः ख्यातिपूजालाभादिसमस्तविकल्पजालेन शून्ये, शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्प-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजानन्दैकसुखरसानुभवेन पूर्णकलशवत् भरितावस्थे निरञ्जनशब्दाभिधेयपरमात्मध्याने स्थित्वा मोक्षमेव ध्यायन्ति ।

अयमत्र भावार्थः — यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं तत्प्रतिबिम्बानि तन्मन्त्राक्षराणि तदाराधकपुरुषाश्च ध्येया भवन्ति तथापि वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिकाले निजशुद्धात्मैव ध्येय इति ॥८॥

आगे सभी महान पुरुषों का ध्येय मोक्ष ही है, ऐसा कहते हैं—

नित हरी हर ब्रह्मा जिनेश्वर सभी मुनिवर भव्य भी ।
मन लगा उत्तम निरंजन में मोक्ष को ध्याते सभी ॥८॥

दोहार्थ— नारायण, इन्द्र, रुद्र आदि, जिनवर परमदेव भी, मुनिवर समूह भी तथा अन्य भव्य जीव भी— इसप्रकार सभी अपने मन को परम निरंजन में लगाकर मोक्ष का ही ध्यान करते हैं ।

टीकार्थ— ***हरिहरबंभु वि*** नारायण वा इन्द्र, रुद्र, अन्य ज्ञानी पुरुष, ***जिणवर वि*** श्रीतीर्थंकर परमदेव, ***मुणिवरविंद वि*** मुनीश्वरों के समूह तथा ***भव्व*** अन्य भी भव्यजीव ***परमणिरंजणि*** परम निरंजन में ***मणु धरिवि*** मन रखकर ***सव्व*** सब ही ***मुक्खु*** मोक्ष का ***जि*** ही ***झायहिँ*** ध्यान करते हैं । यह मन जो विषय-कषायों में जाता है, उसे पीछे लौटाकर अपने स्वरूप में स्थिर अर्थात् निर्वाण को साधने वाला करते हैं ।

श्रीतीर्थंकरदेव तथा चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, महादेव इत्यादि सब प्रसिद्ध पुरुष अपने, शुद्ध, ज्ञानमय, एक, अखंड स्वभाव जो निज आत्मद्रव्य, उसके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रयमय निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानंद एक अतीन्द्रियसुखरस अनुभव से पूर्ण कलश के समान भरे हुए, निरञ्जन शब्द से वाच्य निरंतर निराकार निजस्वरूप परमात्मा के ध्यान में स्थिर होकर मोक्ष का ध्यान करते हैं, मुक्त होते हैं । कैसा है वह ध्यान ? ख्याति (प्रसिद्धि), पूजा (अपनी महिमा) और धनादिक का लाभ इत्यादि समस्त विकल्प-जालों से रहित है । यहाँ केवल आत्म-ध्यान ही को मोक्ष-मार्ग बतलाया है और अपना स्वरूप ही ध्यान करने योग्य है ।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा प्रथम अवस्था में वीतराग-सर्वज्ञ का स्वरूप, उनके प्रतिबिम्ब अथवा वीतराग के नाम-मंत्र के अक्षर अथवा वीतरागता के आराधक महामुनि ध्यान करने योग्य हैं; तो भी वीतराग निर्विकल्प तीन गुप्ति से गुप्त परमसमाधि के समय अपना शुद्ध आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, अन्य कोई भी दूसरा पदार्थ पूर्ण अवस्था में ध्यान करने योग्य नहीं है ॥८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ भुवनत्रयेऽपि मोक्षं मुक्त्वा अन्यत्परमसुखकारणं नास्तीति निश्चिनोति—

॥९-१३२॥

तिहुयणि जीवहँ अत्थि णवि सोक्खहँ कारणु कोइ ।
मुक्खु मुएविणु एक्कु पर तेणवि चिंतहि सोइ ॥

त्रिभुवने जीवानां अस्ति नैव सुखस्य कारणं किमपि ।
मोक्षं मुक्त्वा एकं परं तेनैव चिन्तय तमेव ॥९॥

तिहुयणि इत्यादि— *तिहुयणि* त्रिभुवने *जीवहँ* जीवानां *अत्थि णवि* अस्ति नैव। किं नास्ति ? *सोक्खहँ कारणु* सुखस्य कारणम् । *कोइ* किमपि वस्तु । किं कृत्वा? *मुक्खु मुएविणु एक्कु* मोक्षं मुक्त्वैकं *पर* नियमेन *तेणवि* तेनैव कारणेन *चिंतहि* चिंतय *सोइ* तमेव मोक्षमिति ।

तथाहि— त्रिभुवनेऽपि मोक्षं मुक्त्वा निरन्तरातिशयसुखकारणमन्यत्पञ्चेन्द्रियविषयानुभवरूपं किमपि नास्ति तेन कारणेन हे प्रभाकरभट्ट वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिके स्थित्वा निजशुद्धात्मस्वभावं ध्याय त्वमिति ।

अत्राह प्रभाकरभट्टः हे भगवन्नतीन्द्रियमोक्षसुखं निरन्तरं वर्ण्यते भवद्भिस्तच्च न ज्ञायते जनैः । भगवानाह हे प्रभाकरभट्ट कोऽपि पुरुषो निर्व्याकुलचित्तः प्रस्तावे पञ्चेन्द्रियभोगसेवारहितस्तिष्ठति स केनापि देवदत्तेन पृष्टः सुखेन स्थितो भवान् ? तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमात्मोत्थम् । कस्मादिति चेत् ? तत्काले स्त्रीसेवनादिस्पर्शविषयो नास्ति, भोजनादिजिह्वेन्द्रियविषयो नास्ति, विशिष्टरूपगन्धमाल्यादिघ्राणेन्द्रियविषयो नास्ति, दिव्यस्त्रीरूपावलोकनादिलोचनविषयो नास्ति, श्रवणरमणीयगीतवाद्यादिशब्दविषयोऽपि नास्तीति तस्मात् ज्ञायते तत्सुखमात्मोत्थमिति ।

किंच— एकदेशविषयव्यापाररहितानां तदेकदेशेनात्मोत्थसुखमुपलभ्यते वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरतानां पुनर्निरवशेषपञ्चेन्द्रियविषयमानसविकल्पजालनिरोधे सति विशेषेणोपलभ्यते । इदं तावत् स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यं सिद्धात्मनां च सुखं पुनरनुमानगम्यम्।

तथाहि— मुक्तात्मनां शरीरेन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि सुखमस्तीति साध्यम् । कस्माद्धेतोः ? इदानीं पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि स्वात्मोत्थवीतरागपरमानन्दसुखोपलब्धिरिति ।

अत्रेत्थंभूतं सुखमेवोपादेयमिति भावार्थः । तथागमे चोक्तमात्मोत्थमतीन्द्रियसुखम्—

''अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥''✡॥९॥

✡ प्रवचनसार, गाथा-१३ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अब तीन लोक में मोक्ष के सिवाय अन्य कोई भी परमसुख का कारण नहीं है, ऐसा निश्चय करते हैं—

इस जीव को त्रयलोक में मुक्ति बिना कारण नहीं ।
कुछ अन्य सुख का अत: नित बस मुक्ति-चिंतन श्रेष्ठ ही ।।९।।

दोहार्थ— जीवों को तीनों लोकों में मोक्ष को छोड़कर सुख का कारण अन्य कुछ भी नहीं है, अत: नियम से उस एक मोक्ष का ही चिंतन करो ।

टीकार्थ— ***तिहुयणि*** तीन लोक में ***जीवहँ*** जीवों को ***मुक्खु मुएविणु*** मोक्ष के सिवाय ***कोइ*** कोई भी वस्तु ***सोक्खहँ कारणु*** सुख का कारण ***णवि*** नहीं ***अत्थि*** है, एक सुख का कारण मोक्ष ही है, ***तेण वि*** इस कारण तुम ***पर एक्कु सोइ*** नियम से एक मोक्ष का ही ***चिंतहि*** चिंतवन करो, जिसका महामुनि भी चिंतवन करते हैं ।

श्रीयोगीन्दुदेव प्रभाकरभट्ट से कहते हैं कि हे वत्स ! तीन लोक में मोक्ष के सिवाय निरन्तर अतिशयसुख का कारण अन्य पंचेन्द्रियविषयों के अनुभवरूप कुछ भी नहीं है, और आत्म-ध्यान के सिवाय अन्य मोक्ष का कारण नहीं है, इसलिये तुम वीतराग निर्विकल्प परम सामायिक में स्थित होकर निज शुद्धात्म-स्वभाव का ही ध्यान करो । यह श्रीगुरु ने आज्ञा की ।

तब प्रभाकरभट्ट ने विनती की, हे भगवन ! आपने निरंतर अतींद्रिय मोक्ष-सुख का वर्णन किया है, परन्तु ये जगत के प्राणी उस अतींद्रिय सुख को जानते ही नहीं हैं, इंद्रिय सुख को ही सुख मानते हैं । तब गुरु ने कहा कि हे प्रभाकरभट्ट! कोई एक पुरुष, जिसका चित्त व्याकुलता रहित है, पंचेन्द्रिय के भोगों से रहित अकेला स्थित है, उस समय किसी देवदत्त नामक पुरुष ने उससे पूछा कि तुम सुखी हो । तब उसने कहा कि सुख में ही हैं । उस समय विषय-सेवनादि सुख तो है ही नहीं, तब फिर उसने यह क्यों कहा कि हम सुखी हैं । इससे यह ज्ञात होता है कि सुख नाम व्याकुलता रहित का है, सुख का मूल निर्व्याकुलपना है, वह निर्व्याकुल अवस्था आत्मा में ही है, विषय-सेवन में नहीं । उस समय स्त्रीसेवनादि स्पर्शन का विषय नहीं है, भोजनादि जिह्वा इंद्रिय का विषय भी नहीं है, विशिष्ट प्रकार की गंध-माल्यादि नाक का विषय भी नहीं है, दिव्य स्त्रियों का रूप अवलोकनादि नेत्र का विषय भी नहीं है, और कानों का मनोज्ञ गीत-वादित्रादि शब्द विषय भी नहीं है; इसलिये ज्ञात होता है कि वह सुख आत्मा से ही उत्पन्न है । —ऐसा तुम निश्चय करो ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विशेष यह है कि एक देश विषय-व्यापार से रहित जीवों को एकदेशस्थिरता रूप आत्मोत्थसुख है । वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान में लीन ज्ञानियों को समस्त पंच इंद्रियों के विषय और मन के विकल्प-जालों का निरोध हो जाने से विशेषता से निर्व्याकुल सुख उत्पन्न होता है । यह तो प्रत्यक्ष स्वसम्वेदनगम्य है । जो पुरुष निरोग और चिंता रहित हैं, उनके विषय-सामग्री के बिना ही सुख भासित होता है; और जो महामुनि शुद्धोपयोग अवस्था में ध्यानारूढ़ हैं, उनके निर्व्याकुलता प्रगट ही दिखाई देती है, वे इंद्रादिक देवों से भी अधिक सुखी हैं । इसप्रकार जब संसार अवस्था में ही सुख की मूल निर्व्याकुलता दिखाई देती है, तो सिद्धों के सुख की तो बात ही क्या है ? यद्यपि वे सिद्ध दृष्टिगोचर नहीं हैं, तो भी अनुमान से ऐसा जाना जाता है । वह इसप्रकार—

(मुक्तात्माओं के शरीर, इन्द्रिय, विषयव्यापार का अभाव होने पर भी सुख है— यह साध्य है । किस कारण उन्हें सुख है ? यहाँ अभी वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित परमयोगियों के पंचेन्द्रिय-विषयव्यापार का अभाव होने पर भी स्वात्मोत्थ वीतराग परमानन्द सुख की उपलब्धि है; इसी कारण ज्ञात होता है कि सिद्धों के भी इनके अभाव में सुख है ।) सिद्धों के भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म नहीं हैं; तथा विषयों की प्रवृत्ति नहीं है; कोई भी विकल्प-जाल नहीं है; केवल अतींद्रिय आत्मिक-सुख ही है; वही सुख उपादेय है; अन्य सुख सब दुःखस्वरूप ही हैं । जो चारों गतियों की पर्यायें हैं, उनमें कदापि सुख नहीं है । सुख तो सिद्धों के है, या महामुनीश्वरों के सुख का लेशमात्र देखा जाता है; दूसरे जगत की विषय-वासनाओं में सुख नहीं है ।

यहाँ इसप्रकार का सुख ही उपादेय है— यह भावार्थ है । ऐसा ही कथन श्री प्रवचनसार में किया है । *''अइसय''* इत्यादि । उसका सारांश यह है कि ''जो शुद्धोपयोग से प्रसिद्ध श्रीसिद्धपरमेष्ठी हैं, उनके अतींद्रिय सुख है, वह सर्वोत्कृष्ट है, और आत्मजनित है, तथा विषय-वासना से रहित है, अनुपम है, जिसके समान सुख तीन लोक में भी नहीं है, जिसका पार नहीं, ऐसा बाधारहित सुख सिद्धों के है ।''॥९॥

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं ।
णाणाइ चउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥ —*नियमसार, गाथा १७७*

परमात्मतत्त्व जन्म-जरा-मरण से रहित, परम, आठ कर्म रहित, शुद्ध, ज्ञानादि चार स्वभाववाला, अक्षय, अविनाशी और अच्छेद्य है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ यस्मिन् मोक्षे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखमस्ति तस्य मोक्षस्य स्वरूपं कथयति–

॥१०-१३३॥

जीवहँ सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पय-लाहु ।
कम्म-कलंक-विमुक्काहँ णाणिय बोल्लहिँ साहू ॥

जीवानां तं परं मोक्षं मन्यस्व यः परमात्मलाभः ।
कर्मकलङ्कविमुक्तानां ज्ञानिनः ब्रुवन्ति साधवः ॥१०॥

जीवहँ इत्यादि— *जीवहँ* जीवानां *सो* तं *पर* नियमेन *मोक्खु* मोक्षं *मुणि* मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । तं कम् ? *जो परमप्पयलाहु* यः परमात्मलाभः । इत्थंभूतो मोक्षः केषां भवति ? *कम्मकलंकविमुक्काहँ* ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मकलङ्कविमुक्तानाम्। इत्थंभूतं मोक्षं के ब्रुवन्ति ? *णाणिय बोल्लहिँ* वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो ब्रुवन्ति । ते के ? *साहू* साधवः इति ।

तथाहि— केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारभूतस्य हि परमात्मलाभो मोक्षो भवतीति । स च केषाम् ? पुत्रकलत्रममत्वस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्परहितध्यानेन भावकर्मद्रव्यकर्मकलङ्करहितानां भव्यानां भवतीति ज्ञानिनः कथयन्ति ।

अत्रायमेव मोक्षः पूर्वोक्तस्यानन्तसुखस्योपादेयभूतस्य कारणत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥१०॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये सूत्रदशकेन मोक्षस्वरूप-निरूपणस्थलं समाप्तम् ।

आगे जिस मोक्ष में ऐसा अतीन्द्रियसुख है, उस मोक्ष का स्वरूप कहते हैं—

जो कर्ममल से रहित जीवों को हुआ परमातमा ।
का लाभ वह ही मोक्ष ज्ञानी साधुओं ने यह कहा ॥१०॥

दोहार्थ— कर्मकलंक से विमुक्त जीवों को जो परमात्मा का लाभ हुआ है, उसे ही तुम नियम से मोक्ष मानो; ऐसा ज्ञानी साधु कहते हैं ।

टीकार्थ— हे प्रभाकरभट्ट ! ***कम्मकलंकविमुक्काहँ जीवहँ*** कर्मरूपी कलंक से रहित जीवों को ***जो परमप्पयलाहु*** जो परमात्मा की प्राप्ति है ***सो पर*** उसी को नियम से तुम ***मोक्खु मुणि*** मोक्ष जानो, ऐसा ***णाणिय साहू*** ज्ञानवान मुनिराज ***बोल्लहिँ*** कहते हैं; रत्नत्रय के योग से मोक्ष का साधन करते हैं, इससे उनका नाम साधु है ।

केवलज्ञानादि अनंतगुणों की प्रगटता रूप जो कार्यसमयसार अर्थात् शुद्ध

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परमात्मा का लाभ वह मोक्ष है, यह मोक्ष भव्यजीवों के ही होता है । भव्य कैसे हैं कि पुत्र, कलत्रादि परवस्तुओं के प्रति ममत्व आदि सब विकल्पों से रहित आत्म-ध्यान द्वारा जिन्होंने भावकर्म और द्रव्यकर्मरूपी कलंक क्षय किया है, ऐसे जीवों का निर्वाण होता है; ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं ।

यहाँ पर पूर्वोक्त उपादेयभूत अनंत सुख का कारण होने से मोक्ष ही उपादेय है—यह भावार्थ है ॥१०॥

इसप्रकार मोक्ष, मोक्ष का फल और मोक्ष-मार्ग आदि का जिसमें कथन है, ऐसे दूसरे महाधिकार के दस दोहों में मोक्ष का स्वरूप दिखलाया ।

अथ तस्यैव मोक्षस्यानन्तचतुष्टयस्वरूपं फलं दर्शयति—

॥११-१३४॥

दंसणु णाणु अणंत-सुहु समउ ण तुट्टइ जासु ।
सो पर सासउ मोक्ख-फलु बिज्जउ अत्थि ण तासु ॥

दर्शनं ज्ञानं अनन्तसुखं समयं न त्रुट्यति यस्य ।
तत् परं शाश्वतं मोक्षफलं द्वितीयं अस्ति न तस्य ॥११॥

दंसणु इत्यादि— *दंसणु* केवलदर्शनं *णाणु* केवलज्ञानं *अणंतसुहु* अनन्तसुखम् एतदुपलक्षणमनन्तवीर्याद्यनन्तगुणाः *समउ ण तुट्टइ* एतद्गुणकदम्बकमेकसमयमपि यावन्न त्रुट्यति न नश्यति *जासु* यस्य मोक्षपर्यायस्याभेदेन तदाधारजीवस्य वा *सो पर* तदेव केवलज्ञानादिस्वरूपं *सासउ मोक्खफलु* शाश्वतं मोक्षफलं भवति । *बिज्जउ अत्थि ण तासु* तस्यानन्तज्ञानादिमोक्षफलस्यान्यद् द्वितीयमधिकं किमपि नास्तीति ।

अयमत्र भावार्थः — अनन्तज्ञानादिमोक्षफलं ज्ञात्वा समस्तरागादित्यागेन तदर्थमेव निरन्तरं शुद्धात्मभावना कर्तव्येति ॥११॥

एवं द्वितीयमहाधिकारे मोक्षफलकथनरूपेण स्वतन्त्रसूत्रमेकं गतम् ।

आगे मोक्ष का फल अनंतचतुष्टय है, यह दिखलाते हैं—

जिसके दरश सुख ज्ञान आदि अनन्तों गुण कभी भी ।
ना नष्ट हों वह नित्य शिवफल दूसरा कुछ भी नहीं ॥११॥

दोहार्थ— जिसके केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्त सुख आदि अनन्तगुण एक समय को भी नष्ट नहीं होते हैं, उसके वही वास्तव में शाश्वत मोक्ष-फल है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जासु*** जिस मोक्ष-पर्याय के धारक शुद्धात्मा के ***दंसणु णाणु अणंतसुहु*** केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य—इन अनंतचतुष्टय आदि अनंत गुणों का समूह ***समउ ण तुट्टइ*** एक समयमात्र भी नष्ट नहीं होता अर्थात् सदैव अनंत गुण पाये जाते हैं, ***तासु*** उस शुद्धात्मा के ***सो*** वही ***पर*** निश्चय से ***सासउ मोक्खफलु*** सदा रहने वाला मोक्ष का फल ***अत्थि*** है, ***विज्जउ ण*** इसके सिवाय दूसरा मोक्षफल नहीं है, और इससे अधिक दूसरी वस्तु कोई नहीं है ।

मोक्ष का फल अनंतज्ञानादि जानकर समस्त रागादि के त्याग पूर्वक उसी के लिये निरन्तर शुद्धात्मा की भावना करना चाहिये ॥११॥

इसप्रकार दूसरे महाधिकार में मोक्ष-फल के कथन की मुख्यता से स्वतन्त्र एक दोहा-सूत्र कहा ।

अथानन्तरमेकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गव्याख्यानस्थलं कथ्यते। तद्यथा—

॥१२-१३५॥

जीवहँ मोक्खहँ हेउ वरु दंसणु णाणु चरित्तु ।
ते पुणु तिण्णि वि अप्पु मुणि णिच्छएँ एहउ वुत्तु ॥

जीवानां मोक्षस्य हेतुः वरं दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।
तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मानं मन्यस्व निश्चयेन एवं उक्तम् ॥१२॥

जीवहँ इत्यादि— *जीवहँ* जीवानां अथवा एकवचनपक्षे '*जीवहो*' जीवस्य *मोक्खहँ हेउ* मोक्षस्य हेतुः कारणं व्यवहारनयेन भवतीति क्रियाध्याहारः । कथंभूतम्? *वरु* वरमुत्कृष्टम् । किं तत् ? *दंसणु णाणु चरित्तु* सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयम् । *ते पुणु* तानि पुनः *तिण्णि वि* त्रीण्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि *अप्पु* आत्मानमभेदनयेन *मुणि* मन्यस्व जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट *णिच्छएँ* निश्चयनयेन *एहउ वुत्तु* एवमुक्तं भणितं तिष्ठतीति ।

इदमत्र तात्पर्यम्— भेदरत्नत्रयात्मको व्यवहारमोक्षमार्गः साधको भवति अभेद-रत्नत्रयात्मकः पुनर्निश्चयमोक्षमार्गः साध्यो भवति, एवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधकभावो ज्ञातव्यः सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् इति । तथा चोक्तम्—

''सम्मद्दसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥''✡ ॥१२॥

✡ द्रव्यसंग्रह, गाथा ३९ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे उन्नीस दोहापर्यंत निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्ग का व्याख्यान करते हैं—

नित परम दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीव के शिव हेतु हैं ।
वे तीन जानों आतमा यह नियतनय का कथन है ।।१२।।

दोहार्थ— जीवों को उत्कृष्ट सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्ष के कारण हैं। वे तीनों ही निश्चय से आत्मा ही जानो—ऐसा कहा है ।

टीकार्थ— ***जीवहँ*** जीवों को ***मोक्खहँ हेउ*** मोक्ष के कारण ***वरु*** उत्कृष्ट ***दंसणु णाणु चरित्तु*** दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, ***ते पुणु*** और वे ***तिण्णि वि*** तीनों ही ***णिच्छएँ*** निश्चय से ***अणु*** आत्मा ही ***मुणि*** जानो ***एहउ*** ऐसा ***बुत्तु*** श्रीवीतरागदेव ने कहा है—ऐसा हे प्रभाकरभट्ट ! तुम जानो ।

भेदरत्नत्रयरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग साधक है, और अभेदरत्नत्रयरूप निश्चय-मोक्षमार्ग साध्य/साधने-योग्य है । इसप्रकार निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का साध्य-साधकभाव, सुवर्ण-सुवर्णपाषाण के समान जानना । ऐसा ही कथन श्रीद्रव्यसंग्रह में किया है । *''सम्मद्दंसण''* इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि ''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीनों ही व्यवहारनय से मोक्ष के कारण जानना; और निश्चय से उन तीनोंमयी एक आत्मा ही मोक्ष का कारण है ।।''।।१२।।

अथ निश्चयरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीति प्रतिपादयति—

।।१३-१३६।।

पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि ।
दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहँ कारणु सो जि ।।

पश्यति जानाति अनुचरति आत्मना आत्मानं य एव ।
दर्शनं ज्ञानं चारित्रं जीवः मोक्षस्य कारणं स एव ।।१३।।

***पेच्छइ* इत्यादि— *पेच्छइ* पश्यति *जाणइ* जानाति *अणुचरइ* अनुचरति । केन कृत्वा? *अप्पिं* आत्मना करणभूतेन । कं कर्मतापन्नम् ? *अप्पउ* निजात्मानम् । *जो जि* य एव कर्ता *दंसणु णाणु चरित्तु* दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भवतीति* क्रियाध्याहारः । कोऽसौ भवति ? *जिउ* जीवः य एवाभेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भवतीति *मोक्खहँ कारणु* निश्चयेन मोक्षस्य कारणं एक एव *सो जि* स एव निश्चयरत्नत्रयपरिणतो जीव इति ।**

तथाहि— यः कर्ता निजात्मानं मोक्षस्य कारणभूतेन आत्मना कृत्वा पश्यति

✡ पाठान्तर – भवतीति = भवति ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्विकल्परूपेणावलोकयति । अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानापेक्षया चलमलिनागाढपरिहारेण शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपेण निश्चिनोति न केवलं निश्चिनोति वीतरागस्वसंवेदन-लक्षणाभेदज्ञानेन जानाति परिच्छिनत्ति । न केवलं परिच्छिनत्ति अनुचरति रागादिसमस्त-विकल्पत्यागेन तत्रैव निजस्वरूपे स्थिरीभवतीति स निश्चयरत्नत्रयपरिणतः पुरुष एव निश्चयमोक्षमार्गो भवतीति ।

अत्राह प्रभाकरभट्टः — तत्त्वार्थश्रद्धानरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं मोक्षमार्गो भवति नास्ति दोषः, पश्यति निर्विकल्परूपेणावलोकयति इत्येवं यदुक्तं तत्सत्तावलोकदर्शनं कथं मोक्षमार्गो भवति यदि भवति चेत्तर्हि तत्सत्तावलोकदर्शनमभव्यानामपि विद्यते तेषामपि मोक्षो भवति[१] स चागमविरोधः इति ?

परिहारमाह— तेषां निर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनं बहिर्विषये विद्यते न चाभ्यन्तर-शुद्धात्मतत्त्वविषये । कस्मादिति चेत् ? तेषामभव्यानां मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशम-क्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनमेव नास्ति चारित्रमोहोदयात् पुनर्वीतरागचारित्ररूपं निर्विकल्पशुद्धात्मसत्तावलोकनमपि न संभवतीति भावार्थः । निश्चयेना-भेदरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीत्यस्मिन्नर्थे संवादगाथामाह—

''रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणमुइत्तु अण्णदवियम्हि ।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा ।।''[२] ।।१३।।

आगे निश्चयरत्नत्रयरूप परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा कहते हैं—

जो आतमा को आतमा से जानता व देखता ।
अनुचरण करता जीव तीनों मयी शिव-कारण कहा ।।१३।।

दोहार्थ— जो आत्मा को ही आत्मा द्वारा देखता है, जानता है, अनुचरण करता है; वही जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप मोक्ष का कारण है ।

टीकार्थ— ***जो जि*** जो ***अप्पिं*** अपने से ***अप्पउ*** आपको ***पेच्छइ*** देखता है, ***जाणइ*** जानता है, ***अणुचरइ*** आचरण करता है, ***सो जि*** वही विवेकी ***दंसणु णाणु चरित्तु*** दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणत हुआ ***जिउ*** जीव ***मोक्खहँ कारणु*** मोक्ष का कारण है ।

जो सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को आपसे निर्विकल्परूप देखता है, अथवा

१. पाठान्तर – भवति = भवतु ।
२. द्रव्यसंग्रह, गाथा ४० ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तत्त्वार्थश्रद्धान की अपेक्षा चंचलता और मलिनता तथा शिथिलता—इनका त्यागकर (चल, मलिन और अगाढ दोषों के परिहारपूर्वक) शुद्धात्मा ही उपादेय है, इसप्रकार रुचिरूप निश्चय करता है; मात्र निश्चय ही नहीं करता, वीतराग स्वसंवेदनलक्षण अभेद ज्ञान से जानता है; मात्र जानता ही नहीं है अपितु रागादिक समस्त विकल्पों के त्याग से वहाँ निज स्वरूप में ही स्थिर होता है; वह निश्चयरत्नत्रय परिणत हुआ पुरुष ही निश्चयमोक्ष-मार्ग है ।

ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट ने प्रश्न किया कि हे प्रभो ! तत्त्वार्थश्रद्धान रुचिरूप सम्यग्दर्शन मोक्ष का मार्ग है, इसमें तो दोष नहीं है; परन्तु आपने जो कहा कि जो देखे वह दर्शन, जाने वह ज्ञान, और आचरण करे वह चारित्र है । इसमें (जो निर्विकल्परूप से अवलोकन करता है—इसप्रकार कहा गया सत्तावलोकनमय) देखनेरूप दर्शन कैसे मोक्ष का मार्ग हो सकता है ? और (यदि उसे मोक्षमार्ग कहेंगे तो सत्तावलोकनरूप) देखना तो अभव्य को भी होता है, उसके मोक्ष-मार्ग तो नहीं माना है ? यदि अभव्य के मोक्ष-मार्ग हो, तो आगम से विरोध आता है । आगम में तो यह निश्चय है कि अभव्य को मोक्ष नहीं होता ।

उसका समाधान यह है कि अभव्यों के देखनेरूप जो दर्शन है, वह बाह्यपदार्थों का है, अंतरंग शुद्धात्मतत्त्व का दर्शन तो अभव्यों के होता ही नहीं; (उसे वह नहीं होने का कारण यह है कि) उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम, क्षय नहीं है; तथा शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन भी उसके नहीं है, और चारित्रमोह के उदय से वीतराग चारित्ररूप निर्विकल्प शुद्धात्मा का सत्तावलोकन भी उसे कभी नहीं है । तात्पर्य यह है कि निश्चय से अभेदरत्नत्रय परिणत निज शुद्धात्मा ही मोक्ष का मार्ग है ।

ऐसी ही द्रव्यसंग्रह में साक्षीभूत गाथा कही है । *''रयणत्तयं''* इत्यादि । उसका अर्थ ऐसा है कि ''रत्नत्रय आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं रहता, इसलिये मोक्ष का कारण उन तीनमयी निज आत्मा ही है ।'' ॥१३॥

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥

—इष्टोपदेश, पद्य २९

मेरा मरण ना भीति कैसी ? व्याधि न तब क्यों व्यथा ?
मैं बाल वृद्ध युवक नहीं, ये सभी पुद्गल अवस्था ॥

मेरा मरण नहीं होता, अतः मुझे उसका भय कैसा? मुझे कोई व्याधि नहीं होती, तब उसका कष्ट कैसे हो? मैं बालक, युवक, वृद्ध नहीं हूँ—ये सभी पुद्गल में होते हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ भेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षमार्गं दर्शयति—

॥१४-१३७॥

जँ बोल्लइ ववहारु-णउ दंसणु णाणु चरित्तु ।
तं परियाणहि जीव तुहुँ जें परु होहि पवित्तु ॥

यद् ब्रूते व्यवहारनयः दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।
तत् परिजानीहि जीव त्वं येन परः भवति पवित्रः ॥१४॥

जं इत्यादि— *जं* यत् *बोल्लइ* ब्रूते । कोऽसौ कर्ता ? *ववहारणउ* व्यवहारनयः। यत् किं ब्रूते ? *दंसणु णाणु चरित्तु* सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं तं पूर्वोक्तं भेदरत्नत्रयस्वरूपं *परियाणहि* परि समन्तात् जानीहि । *जीव तुहुँ* हे जीव त्वं कर्ता । *जें* येन भेदरत्नत्रयपरिज्ञानेन *परु होहि* परः उत्कृष्टो भवसि त्वम् । पुनरपि किंविशिष्टस्त्वम् ? *पवित्तु* पवित्रः सर्वजनपूज्य इति ।

तद्यथा— हे जीव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि । त्वं येन ज्ञातेन कथंभूतो भविष्यसि ? परम्परया पवित्रः परमात्मा भविष्यसि इति । व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते ।

तद्यथा— वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानरूपो व्यवहार-मोक्षमार्गः निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठाननिश्चयमोक्षमार्गः अथवा साधको व्यवहारमोक्षमार्गः, साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः ।

अत्राह शिष्यः — निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति ? अत्र परिहारमाह— भूतनैगमनयेन परंपरया भवतीति। अथवा सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा, तत्रानन्तज्ञानरूपोऽहमित्यादि सविकल्परूपसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः । सविकल्प-निर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्गविषये संवादगाथामाह—

''जं पुण सगयं तच्चं सवियप्पं होइ तह य अवियप्पं ।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं ॥''✡॥१४॥

एवं पूर्वोक्तैकोनविंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादनरूपेण सूत्रत्रयं गतम् ।

आगे भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहार परम्परा से मोक्ष का मार्ग है, ऐसा दिखलाते हैं—

व्यवहारनय जिस ज्ञान-दर्शन-चरित को कहता सदा ।
हे जीव ! तू वह जान जिससे परम पावन हो दशा ॥१४॥

✡ तत्त्वसार, गाथा-१३ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— हे जीव ! व्यवहारनय जिस दर्शन, ज्ञान, चारित्र को कहता है, तुम उसे जानो; जिससे परमपवित्र हो जाओ ।

टीकार्थ— ***जीव*** हे जीव ! ***ववहारुणउ*** व्यवहारनय ***जं*** जो ***दंसणु णाणु चरित्तु*** दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों को ***बोल्लइ*** कहता है, ***तं*** उस व्यवहाररत्नत्रय को ***तुहुँ*** तुम ***परियाणहि*** जानो, ***जें*** जिससे कि ***परु पवित्तु*** उत्कृष्ट पवित्र ***होहि*** होओ।

हे जीव ! तुम तत्त्वार्थ के श्रद्धान, शास्त्र के ज्ञान और अशुभ क्रियाओं के त्यागरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय व्यवहारमोक्षमार्ग को जानो; क्योंकि ये निश्चयरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्ग के साधक हैं; इनके जानने से किसी समय परम पवित्र परमात्मा हो जाओगे। पहले व्यवहाररत्नत्रय की प्राप्ति हो जाए, तब ही निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति हो सकती है, इसमें संदेह नहीं है । जो अनन्त सिद्ध हुए और होवेंगे, वे पहले व्यवहाररत्नत्रय को पाकर निश्चयरत्नत्रयरूप हुए । व्यवहार साधन है, और निश्चय साध्य है ।

व्यवहार और निश्चय मोक्ष-मार्ग का स्वरूप कहते हैं— वीतराग-सर्वज्ञदेव के कहे हुए छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय— इनका श्रद्धान, इनके स्वरूप का ज्ञान, और शुभ क्रियारूप आचरण, व्यवहारमोक्षमार्ग है; और निज शुद्ध आत्मा का सम्यक् श्रद्धान, स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप में आचरण निश्चयमोक्षमार्ग है । साधन के बिना सिद्धि नहीं होती, इसलिये व्यवहार के बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती ।

यह कथन सुनकर शिष्य ने प्रश्न किया कि हे प्रभो ! निश्चयमोक्षमार्ग जो निश्चयरत्नत्रय है, वह तो निर्विकल्प है और व्यवहाररत्नत्रय विकल्प सहित है, सो यह विकल्प-दशा निर्विकल्पपने की साधन कैसे हो सकती है ? इस कारण उसे साधन मत कहो ।

अब इसका समाधान करते हैं— अनादिकालीन यह जीव विषय-कषायों से मलिन हो रहा है, वह व्यवहार-साधन के बिना उज्ज्वल नहीं हो सकता; जब मिथ्यात्व, अव्रत, कषायादि की क्षीणता से देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा करे, तत्त्वों का जानपना हो, अशुभ क्रिया मिट जाये, तब वह अध्यात्म का अधिकारी होता है । जैसे मलिन कपड़ा धोने से रँगने योग्य होता है, बिना धोये रंग नहीं लगता; इसलिये परम्परा से मोक्ष का कारण व्यवहाररत्नत्रय कहा है । मोक्ष का मार्ग दो प्रकार का है, एक व्यवहार, दूसरा निश्चय; निश्चय तो साक्षात् मोक्ष-मार्ग है, और व्यवहार परम्परा से है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(यहाँ पर्यन्त संस्कृत-टीका का शब्दशः अनुवाद इसप्रकार है—

हे जीव! सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय लक्षण निश्चय मोक्षमार्ग का साधक व्यवहार मोक्षमार्ग जानो। जिस जानकारी से तुम कैसे हो जाओगे? परम्परा से पवित्र परमात्मा हो जाओगे।

व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं। वह इसप्रकार—वीतराग-सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये छहद्रव्य आदि का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और व्रतादि अनुष्ठान रूप व्यवहार मोक्षमार्ग है; तथा निज शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान-अनुष्ठान निश्चय मोक्षमार्ग है। अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग साधक है, निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है।

यहाँ शिष्य कहता है—निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प मोक्षमार्ग नहीं है, तब वह साधक कैसे हो सकता है? यहाँ उसका परिहार कहते हैं—भूतनैगमनय की अपेक्षा परम्परा से उसे साधक कहते हैं।)

अथवा सविकल्प-निर्विकल्प के भेद से निश्चयमोक्षमार्ग भी दो प्रकार का है । मैं अनंतज्ञानरूप हूँ, शुद्ध हूँ, एक हूँ; ऐसा 'सोऽहं' का चिंतवन तो सविकल्प निश्चय-मोक्षमार्ग है, उसको साधक कहते हैं; और जहाँ पर कुछ चिंतवन नहीं है, कुछ बोलना नहीं है, और कुछ चेष्टा नहीं है, वह निर्विकल्पसमाधिरूप साध्य है, यह तात्पर्य हुआ । ऐसा ही कथन द्रव्यसंग्रह में किया है—

''मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतय किं वि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ।।५६।।

सारांश यह है कि हे जीव तुम कुछ भी काय की चेष्टा मत करो, कुछ बोलो भी मत, मौन से रहो, और कुछ चिन्तवन मत करो । सब बातों को छोड़, आत्मा में आपको लीन करो, यह ही परमध्यान है ।''

श्रीतत्त्वसार में भी सविकल्प-निर्विकल्प निश्चयमोक्षमार्ग के कथन में यह गाथा कही है कि *''जं पुण सगयं''* इत्यादि । इसका सारांश यह है कि ''जो आत्मतत्त्व है, वह भी सविकल्प-निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार का है, जो विकल्प सहित है, वह तो आस्रव सहित है, और जो निर्विकल्प है, वह आस्रव रहित है ।'' ।।१४।।

इसप्रकार पूर्वोक्त उन्नीस दोहों के महास्थल में तीन दोहों से निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन किया ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इदानीं चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्यवहारमोक्षमार्गप्रथमावयवभूतव्यवहारसम्यक्त्वं मुख्यवृत्त्या प्रतिपादयति । तद्यथा—

॥१५-१३८॥

दव्वइँ जाणइ जहठियइँ तह जगि मण्णइ जो जि ।
अप्पहँ केरउ भावडउ अविचलु दंसणु सो जि ॥

द्रव्याणि जानाति यथास्थितानि तथा जगति मन्यते य एव ।
आत्मनः सम्बन्धी भावः अविचलः दर्शनं स एव ॥१५॥

दव्वइँ इत्यादि— *दव्वइँ* द्रव्याणि *जाणइ* जानाति । कथंभूतानि ? *जहठियइँ* यथास्थितानि वीतरागस्वसंवेदनलक्षणस्य निश्चयसम्यग्ज्ञानस्य परंपरया कारणभूतेन परमागमज्ञानेन परिच्छिनत्तीति । न केवलं परिच्छिनत्ति *तह* तथैव *जगि* इह जगति *मण्णइ* मन्यते निजात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति रुचिरूपं यन्निश्चयसम्यक्त्वं तस्य परंपरया कारणभूतेन—

''मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेदि दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥''✡

इति श्लोककथितपञ्चविंशतिसम्यक्त्वमलत्यागेन श्रद्दधातीति । एवं द्रव्याणि जानाति श्रद्दधाति । कोऽसौ ? *अप्पहँ केरउ भावडउ* आत्मनः संबन्धिभावः परिणामः। किंविशिष्टो भावः ? *अविचलु* अविचलोऽपि चलमलिनागाढदोषरहितः *दंसणु* दर्शनं सम्यक्त्वं भवतीति । क एव ? *सो जि* स एव पूर्वोक्तो जीवभाव इति ।

अयमत्र भावार्थः — इदमेव सम्यक्त्वं चिन्तामणिरिदमेव कल्पवृक्ष इदमेव कामधेनुरिति मत्वा भोगाकांक्षास्वरूपादिसमस्तविकल्पजालं वर्जनीयमिति । तथा चोक्तम्—

''हस्ते चिन्तामणिर्यस्य गृहे यस्य सुरद्रुमः ।
कामधेनुर्धनं यस्य तस्य का प्रार्थना परा ॥'' ॥१५॥

आगे चौदह दोहापर्यन्त व्यवहारमोक्षमार्ग के पहले अंग व्यवहारसम्यक्त्व की मुख्यता से प्रतिपादन करते हैं; वह इसप्रकार—

हैं जगत में जो यथावस्थित द्रव्य उनको जानता ।
वा मानता सम्यक्त्व जो है भाव अविचल जीव का ॥१५॥

दोहार्थ— जगत में यथास्थित जो द्रव्य हैं, उन्हें उसी रूप में जो जानता है, मानता है, वही आत्मा सम्बन्धी अविचल भाव सम्यग्दर्शन है ।

✡ यशस्तिलकचम्पू, ज्ञानार्णव में उद्धृत ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जो जि*** जो ***दव्वइँ*** द्रव्यों को ***जहठियइँ*** जैसा उनका स्वरूप है, वैसा ***जाणइ*** जानता है ***तह*** और उसीप्रकार ***जगि*** इस जगत में ***मण्णइ*** निर्दोष श्रद्धान करता है, ***सो जि*** वही ***अप्पहँ केरउ*** आत्मा का ***अविचलु भावडउ*** चलमलिनागाढ दोष रहित निश्चल भाव है, वही आत्मभाव ***दंसणु*** सम्यग्दर्शन है।

यह जगत छह द्रव्यमयी है, सो इन द्रव्यों को अच्छी तरह जानकर श्रद्धान कर, उसमें सन्देह नहीं करना, वह सम्यग्दर्शन है; यह सम्यग्दर्शन आत्मा का निज स्वभाव है । वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन निश्चयसम्यग्ज्ञान के परम्परा से कारणभूत परमागम के ज्ञान को अच्छी तरह जानकर और मन में मानकर, यह निश्चय करे कि इन सब द्रव्यों में निज आत्मद्रव्य ही ध्यान योग्य है, ऐसी रुचिरूप जो निश्चयसम्यक्त्व है, उसका परम्परा से कारणभूत व्यवहारसम्यक्त्वमय देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा, उसे स्वीकार करे । व्यवहारसम्यक्त्व के पच्चीस दोष हैं, उनको छोड़े ।

उन पच्चीस दोषों को *''मूढ़त्रयं''* इत्यादि श्लोक में कहा है । इसका अर्थ ऐसा है कि ''जहाँ देव-कुदेव का विचार नहीं है, वह तो देवमूढ़; जहाँ सुगुरु-कुगुरु का विचार नहीं है, वह गुरुमूढ; जहाँ धर्म-कुधर्म का विचार नहीं है, वह धर्ममूढ़ —ये तीन मूढ़ता; और जातिमद, कुलमद, धनमद, रूपमद, तपमद, बलमद, विद्यामद, राजमद—ये आठ मद । कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, इनकी और इनके आराधकों की प्रशंसा—ये छह अनायतन और नि:शंकितादि आठ अंगों से विपरीत शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़ता, परदोष-कथन, अथिरकरण, साधर्मियों से स्नेह नहीं रखना, और जिनधर्म की प्रभावना नहीं करना—ये शंकादि आठ मल; —इसप्रकार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं;—इन दोषों को छोड़कर, तत्त्वों की श्रद्धा करना व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है । जहाँ अस्थिर बुद्धि नहीं है, परिणामों की मलिनता नहीं और शिथिलता नहीं, वह सम्यक्त्व है । यह सम्यग्दर्शन ही कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि है—ऐसा जानकर भोगों की वांछारूप जो विकल्प, उन्हें छोड़कर सम्यक्त्व को ग्रहण करना चाहिये ।

ऐसा ही कहा है *''हस्ते''* इत्यादि ''जिसके हाथ में चिन्तामणि है, और जिसके घर में कल्पवृक्ष है, धन में कामधेनु है, उसे अन्य क्या प्रार्थना की आवश्यकता है ? कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि तो कहने मात्र हैं; सम्यक्त्व ही कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि है; ऐसा जानना ।'' ॥१५॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः — सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकत्व मोक्ष का मार्ग/उपाय है ।
॥ तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय १, सूत्र १ ॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ यैः षड्द्रव्यैः सम्यक्त्वविषयभूतैस्त्रिभुवनं भृतं तिष्ठति तानीदृक् जानीहीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयति—

॥१६-१३९॥

दव्वइँ जाणहि ताइँ छह तिहुयणु भरियउ जेहिँ ।
आइ-विणास-विवज्जियहिँ णाणिहि पभणियएहिँ ॥

द्रव्याणि जानीहि तानि षट् त्रिभुवनं भृतं यैः ।
आदिविनाशविवर्जितैः ज्ञानिभिः प्रभणितैः ॥१६॥

दव्वइँ इत्यादि— *दव्वइँ* द्रव्याणि *जाणहि* त्वं हे प्रभाकरभट्ट *ताइँ* तानि परमागमप्रसिद्धानि । कतिसंख्योपेतानि ? *छह* षडेव । यैः द्रव्यैः किं कृतम् ? *तिहुयणु भरियउ* त्रिभुवनं भृतम् । *जेहिँ* यैः कर्तृभूतैः । पुनरपि किंविशिष्टैः ? *आइविणासविवज्जियहिँ* द्रव्यार्थिकनयेनादिविनाशविवर्जितैः । पुनरपि कथंभूतैः ? *णाणिहि पभणियएहिँ* ज्ञानिभिः प्रभणितैः कथितैश्चेति ।

अयमत्राभिप्रायः — एतैः षड्भिर्द्रव्यैर्निष्पन्नोऽयं लोको न चान्यः कोऽपि लोकस्य हर्ता कर्ता रक्षको वास्तीति । किंच— यद्यपि षड्द्रव्याणि व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानि भवन्ति तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिरूपस्य वीतरागसम्यक्त्वस्य नित्यानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव विषयो भवतीति ॥१६॥

.....

आगे सम्यक्त्व के विषयभूत जो छह द्रव्य हैं, उनसे यह तीनलोक भरा हुआ है, उनको यथार्थ जानो, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर यह गाथा-सूत्र कहते हैं—

जिनसे भरा त्रयलोक आदि-अन्त रहित अनादि से ।
उन छहों द्रव्यों को समझ लो सभी ज्ञानीजन कहें ॥१६॥

दोहार्थ— उन छहों द्रव्यों को जानो; जिनसे तीनों लोक भरा है, तथा जिन्हें ज्ञानी आदि-अन्त से रहित अनादि-अनन्त कहते हैं ।

टीकार्थ— हे प्रभाकरभट्ट ! तुम ***ताइँ छह दव्वइँ*** उन छहों द्रव्यों को ***जाणहि*** जानो, ***जेहिँ*** जिन द्रव्यों से ***तिहुयणु भरियउ*** यह तीन लोक भरा हुआ है, वे छह द्रव्य ***णाणिहि*** ज्ञानियों ने ***आइविणासविवज्जियहिँ*** आदि-अन्त से रहित द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा ***पभणियएहिँ*** कहे हैं ।

यह लोक छह द्रव्यों से भरा है, अनादिनिधन है, इस लोक का आदि-अन्त नहीं है; तथा इसका कर्ता, हर्ता व रक्षक कोई नहीं है । यद्यपि ये छह द्रव्य व्यवहारसम्यक्त्व के विषयभूत हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय से शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागसम्यक्त्व का विषय नित्य आनन्द एक स्वभाव निज शुद्धात्मा ही है ॥१६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ तेषामेव षड्द्रव्याणां संज्ञां कथयति चेतनाचेतनविभागं च कथयति—

॥१७-१४०॥

जीउ सचेयणु दव्वु मुणि पंच अचेयणु अण्णु ।
पोग्गलु धम्माधम्मु णहु कालें सहिया भिण्णु ॥

जीवः सचेतनं द्रव्यं मन्यस्व पञ्च अचेतनानि अन्यानि ।
पुद्गलः धर्माधर्मौ नभः कालेन सहितानि भिन्नानि ॥१७॥

जीउ इत्यादि— *जीउ सचेयणु दव्वु* चिदानन्दैकस्वभावो जीवश्चेतनद्रव्यं भवति। *मुणि* मन्यस्व जानीहि त्वम् । *पंच अचेयणु* पञ्चाचेतनानि *अण्णु* जीवादन्यानि । तानि कानि ? *पोग्गलु धम्माधम्मु णहु* पुद्गलधर्माधर्मनभांसि कथंभूतानि तानि ? *कालें सहिया* कालद्रव्येण सहितानि । पुनरपि कथंभूतानि ? *भिण्णु* स्वकीयस्वकीयलक्षणेन परस्परं भिन्नानि इति ।

तथाहि— द्विधा सम्यक्त्वं भण्यते सरागवीतरागभेदेन । सरागसम्यक्त्वलक्षणं कथ्यते— प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते, तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्याणीति । वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति ।

अत्राह प्रभाकरभट्टः — निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः, इदानीं पुनः वीतरागचारित्राविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः । कस्मादिति चेत् ? निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थकरपरमदेवभरतसगररामपाण्डवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतरागचारित्रमस्तीति परस्परविरोधः, अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः ?

तत्र परिहारमाह— तेषां शुद्धात्मोपादेयभावनारूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते परं किंतु चारित्रमोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभङ्गो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते । शुद्धात्मभावनाच्युताः सन्तः भरतादयो निर्दोषिपरमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुणस्तववस्तुस्तवरूपस्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्यायसाधूनां विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति । या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा वीतरागचारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति। वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः ॥१७॥

आगे उन छह द्रव्यों के नाम कहते हैं—

है जीव चेतन द्रव्य पाँच अचेतनायुत द्रव्य हैं ।
धर्माधर्म आकाश पुद्गल कालयुत सब भिन्न हैं ॥१७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— जीव सचेतन द्रव्य मानो; अन्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सहित पाँच अचेतन द्रव्य हैं; ये सभी पूर्णतया भिन्न-भिन्न हैं ।

टीकार्थ— हे शिष्य ! तुम ***जीउ सचेयणु दव्वु*** जीव चेतनद्रव्य है, ऐसा ***मुणि*** जानो, ***अण्णु*** और शेष ***पोग्गलु धम्माधम्मु*** पुद्गल, धर्म, अधर्म, ***णहु*** आकाश और ***कालें सहिया*** काल सहित जो ***पंच*** पाँच हैं, वे ***अचेयणु*** अचेतन हैं ***भिण्णु*** और जीव से भिन्न हैं, तथा ये सब अपने-अपने लक्षणों से आपस में भिन्न हैं; काल सहित छह द्रव्य हैं, काल के बिना पाँच अस्तिकाय ।

सम्यक्त्व दो प्रकार का है—एक सरागसम्यक्त्व, दूसरा वीतरागसम्यक्त्व । सरागसम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं—प्रशम अर्थात् शान्तिपना, संवेग अर्थात् जिनधर्म की रुचि तथा जगत से अरुचि, अनुकंपा अर्थात् परजीवों को दुःखी देखकर दया भाव और आस्तिक्य अर्थात् देव, गुरु, धर्म की तथा छह द्रव्यों की श्रद्धा— इन चारों का होना वह व्यवहारसम्यक्त्वरूप सरागसम्यक्त्व है; और वीतरागसम्यक्त्व जो निश्चय सम्यक्त्व, वह निजशुद्धात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्र से तन्मय है ।

यह कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट ने प्रश्न किया— हे प्रभो ! निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व का कथन पहले आपने अनेक बार किया, फिर अब वीतरागचारित्र से तन्मय निश्चयसम्यक्त्व है, यह व्याख्यान करते हैं, सो यह तो पूर्वापर विरोध है; क्योंकि निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व तो गृहस्थ में तीर्थंकर परमदेव, भरत चक्रवर्ती और राम, पांडवादि बड़े-बड़े पुरुषों के रहता है, लेकिन उनके वीतरागचारित्र नहीं है । यही परस्पर विरोध है । यदि उनके वीतरागचारित्र माना जाये, तो गृहस्थपना क्यों कहा?

उसका उत्तर श्रीगुरु देते हैं—उन महान पुरुषों के शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी भावनारूप निश्चयसम्यक्त्व तो है, परन्तु चारित्रमोह के उदय से स्थिरता नहीं है। जब तक महाव्रत का उदय नहीं है (व्रत, प्रतिज्ञा भंग होती है), तब तक असंयमी कहलाते हैं; शुद्धात्मा की अखंड भावना से रहित हुए भरत, सगर, राघव, पांडवादि निर्दोषी परमात्मा अरहंत-सिद्धों के गुणस्तवन, वस्तुस्तवनरूप स्तवनादि करते हैं, और उनके चरित्र, पुराणादिक सुनते हैं; तथा उनके आराधक महान पुरुष आचार्य, उपाध्याय, साधु—उनको भक्ति से आहारदानादि देते हैं, उनकी पूजा करते हैं । विषय-कषायरूप खोटे ध्यान को रोकने के लिये तथा संसार की स्थिति का नाश करने के लिये ऐसी शुभ क्रिया करते हैं । इसलिये शुभ राग के संबंध से सम्यग्दृष्टि हैं; और उनके निश्चय सम्यक्त्व भी कहा जा सकता है क्योंकि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वीतरागचारित्र से तन्मय निश्चयसम्यक्त्व का परम्परा से साधकपना है । परन्तु वास्तव में विचार किया जावे, तो गृहस्थ अवस्था में इनके सरागसम्यक्त्व ही है, और जो सरागसम्यक्त्व है, वह व्यवहार ही है, ऐसा जानो ।।१७।।

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेन जीवादिषड्द्रव्याणां क्रमेण प्रत्येकं लक्षणं कथ्यते—

।।१८-१४१।।

मुत्ति-विहूणउ णाणमउ परमाणंद-सहाउ ।
णियमिं जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ ।।

मूर्तिविहीनः ज्ञानमयः परमानन्दस्वभावः ।
नियमेन योगिन् आत्मानं मन्यस्व नित्यं निरञ्जनं भावम् ।।१८।।

मुत्तिविहूणउ **इत्यादि—** ***मुत्तिविहूणउ*** **अमूर्तः शुद्धात्मनो विलक्षणया स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या विहीनत्वात् मूर्तिविहीनः ।** ***णाणमउ*** **क्रमकरणव्यवधानरहितेन लोकालोकप्रकाशकेन केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात् ज्ञानमयः ।** ***परमाणंदसहाउ*** **वीतरागपरमानन्दैकरूपसुखामृतरसास्वादेन समरसीभावपरिणतस्वरूपत्वात् परमानन्दस्वभावः ।** ***णियमिं*** **शुद्धनिश्चयेन ।** ***जोइय*** **हे योगिन् ।** ***अप्पु*** **तमित्थंभूतमात्मानं** ***मुणि*** **मन्यस्व जानीहि त्वम् । पुनरपि किंविशिष्टं जानीहि ?** ***णिच्चु*** **शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वान्नित्यम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ?** ***णिरंजणु*** **मिथ्यात्वरागादिरूपाञ्जनरहितत्वान्निरञ्जनम् । पुनश्च कथंभूतमात्मानं जानीहि ?** ***भाउ*** **भावं विशिष्टपदार्थम् इति ।**

अत्रैवंगुणविशिष्टः शुद्धात्मैवोपादेय अन्यद्धेयमिति तात्पर्यार्थः ।।१८।।

आगे चार दोहों द्वारा छह द्रव्यों में से क्रमशः प्रत्येक का लक्षण कहते हैं—

मूर्ति रहित है ज्ञानमय स्व भाव परमानन्दमय ।
हे योगि ! जानो जीव निश्चित नित निरंजन भावमय ।।१८।।

दोहार्थ— हे योगी ! आत्मा को मूर्ति विरहित, ज्ञानमय, परमानन्द स्वभावरूप, नित्य, निरंजन भाव पदार्थ नियम से मानो।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी ! ***णियमिं*** निश्चय से तुम ***अप्पु*** आत्मा को ऐसा ***मुणि*** जानो । कैसा है आत्मा ? ***मुत्तिविहूणउ*** मूर्ति से रहित है, ***णाणमउ*** ज्ञानमयी है, ***परमाणंदसहाउ*** परमानंद स्वभाव वाला है, ***णिच्चु*** नित्य है, ***णिरंजणु*** निरंजन है, ***भाउ*** ऐसा जीवपदार्थ है ।

यह आत्मा अमूर्तिक शुद्धात्मा से भिन्न स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाली मूर्ति से रहित है; लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान से पूर्ण है, वह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलज्ञान सब पदार्थों को एक समय में प्रत्यक्ष जानता है, आगे-पीछे नहीं जानता; वीतरागभाव परमानंदरूप अतीन्द्रिय सुखस्वरूप अमृत के रस के स्वाद से समरसी भावरूप परिणत हुआ है; —ऐसा हे योगी ! शुद्ध निश्चय से अपने आत्मा को समझो, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से टाँकी से घड़्ये हुए सुघटघाट के समान ज्ञायक एक स्वभाव होने के कारण नित्य है, तथा मिथ्यात्व-रागादिरूप अंजन से रहित होने के कारण निरंजन है । ऐसे आत्मा को तुम भली-भाँति जानो, जो सब पदार्थों में उत्कृष्ट है ।

यहाँ इन गुणों से मंडित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, और सब तजने योग्य हैं—ऐसा तात्पर्यार्थ है ॥१८॥

अथ—

॥१९-१४२॥

पुग्गलु छव्विहु मुत्तु वढ इयर अमुत्तु वियाणि ।
धम्माधम्मु वि गयठियहँ कारणु पभणहिँ णाणि ॥

पुद्गलः षड्विधः मूर्तः वत्स इतराणि अमूर्तानि विजानीहि ।
धर्माधर्ममपि गतिस्थित्योः कारणं प्रभणन्ति ज्ञानिनः ॥१९॥

पुग्गलु इत्यादि— *पुग्गलु* पुद्गलद्रव्यं *छव्विहु* षड्विधम् । तथा चोक्तम्—

''पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपाउग्गा ।
कम्मातीदा एवं छब्भेया पुग्गला होंति ॥''✡

एवं तत्कथं भवति ? *मुत्तु* स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरिति वचनान्मूर्तम् । *वढ* वत्स पुत्र । *इयर* इतराणि पुद्गलात् शेषद्रव्याणि *अमुत्तु* स्पर्शाद्यभावादमूर्तानि *वियाणि* विजानीहि त्वम् । *धम्माधम्मु* वि धर्माधर्मद्वयमपि *गइठियहँ* गतिस्थित्योः *कारणु* कारणं निमित्तं *पभणहिँ* प्रभणन्ति कथयन्ति । के कथयन्ति ? *णाणि* वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः इति ।

अत्र द्रष्टव्यम्— यद्यपि वज्रवृषभनाराचसंहननरूपेण पुद्गलद्रव्यं मुक्तिगमनकाले सहकारिकारणं भवति तथापि धर्मद्रव्यं च गतिसहकारिकारणं भवति, अधर्मद्रव्यं च लोकाग्रे स्थितस्य स्थितिसहकारिकारणं भवति । यद्यपि मुक्तात्मप्रदेशमध्ये परस्परैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मनः सकाशाद्भिन्नस्वरूपेण मुक्तौ तिष्ठन्ति । तथात्र संसारे चेतनाकारणानि हेयानीति भावार्थः ॥१९॥

✡ पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा-७६के बाद क्षेपक गाथा ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे और भी कहते हैं—

षट्भेदयुत पुद्गल कहा मूर्तिक अमूर्तिक शेष सब ।
है गति धर्म अधर्म स्थिति सहायक कहें ज्ञानि सब ।।१९।।

दोहार्थ— हे शिष्य ! छह प्रकार का पुद्गल मूर्त है, अन्य सभी को अमूर्तिक जानो । धर्म-अधर्म द्रव्य गति-स्थिति में कारण हैं— ऐसा ज्ञानी कहते हैं ।

टीकार्थ— ***वढ*** हे वत्स ! तुम ***पुग्गलु*** पुद्गलद्रव्य ***छव्विहु*** छह प्रकार का तथा ***मुत्तु*** मूर्तिक है, ***इयर*** अन्य सब द्रव्य ***अमुत्तु*** अमूर्त हैं, ऐसा ***वियाणि*** जानो । ***धम्माधम्मु वि*** धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्यों को ***गइठियहँ कारणु*** गति, स्थिति का सहायककारण ***णाणि*** केवली, श्रुतकेवली ***पभणहिँ*** कहते हैं ।

पुद्गल द्रव्य के छह भेद दूसरी जगह भी *''पुढवी जलं''* इत्यादि गाथा से कहे हैं— उसका अर्थ यह है कि बादरबादर १, बादर २, बादरसूक्ष्म ३, सूक्ष्मबादर ४, सूक्ष्म ५, सूक्ष्मसूक्ष्म ६ —ये छह भेद पुद्गल के हैं; उनमें से पत्थर, काठ, तृण आदि पृथ्वी बादरबादर हैं, टुकड़े होकर नहीं जुड़ते; जल, घी, तैल आदि बादर हैं, जो टूटकर मिल जाते हैं; छाया, आतप, चाँदनी ये बादरसूक्ष्म हैं, जो कि देखने में तो बादर और ग्रहण करने में सूक्ष्म हैं; नेत्र को छोड़कर चार इंद्रियों के विषय रस, गंधादि सूक्ष्मबादर हैं, जो कि देखने में नहीं आते, परन्तु ग्रहण करने में आते हैं; कर्मवर्गणा सूक्ष्म हैं,जो अनंत मिली हुई हैं, परन्तु दृष्टि में नहीं आतीं; और सूक्ष्मसूक्ष्म परमाणु है, जिसका दूसरा भाग नहीं होता— इसप्रकार छह भेद हैं ।''

इन छहों प्रकार के पुद्गलों को तुम अपने स्वरूप से पृथक् समझो । यह पुद्गलद्रव्य स्पर्श, रस, गंध, वर्ण को धारण करता है, इसलिये मूर्तिक है । अन्य धर्म, अधर्म दोनों क्रमशः गति तथा स्थिति के कारण हैं; ऐसा वीतरागदेव ने कहा है ।

यहाँ पर एक बात देखने योग्य है कि यद्यपि वज्रवृषभनाराचसंहननरूप पुद्गलद्रव्य मोक्ष-गमन के समय सहकारीकारण है, इसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती; तो भी धर्मद्रव्य गति-सहायी है, इसके बिना सिद्धलोक को जाना नहीं हो सकता; तथा अधर्मद्रव्य सिद्धलोक में स्थिति का सहायी है । लोक-शिखर पर आकाश के प्रदेश अवकाश में सहायी हैं । अनन्त सिद्ध अपने स्वभाव में ही स्थित हैं, परद्रव्य का कुछ प्रयोजन नहीं है । यद्यपि मुक्तात्माओं के प्रदेश परस्पर में एक क्षेत्रावगाहरूप से स्थित हैं, तो भी निश्चय से विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी भगवान सिद्धक्षेत्र में भिन्न-भिन्न स्थित हैं, कोई सिद्ध किन्हीं सिद्ध से स्वभावतः मिले हुए नहीं है । पुद्गलादि पाँचों द्रव्य जीव को यद्यपि निमित्त कारण कहे गये हैं, तो भी उपादानकारण नहीं हैं, अतः हेय हैं; ऐसा सारांश हुआ ।।१९।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥२०-१४३॥

दव्वइँ सयलइँ वरि ठियइँ णियमें जासु वसंति ।
तं णहु दव्वु वियाणि तुहुँ जिणवर एउ भणंति ॥

द्रव्याणि सकलानि उदरे स्थितानि नियमेन यस्य वसन्ति ।
तत् नभः द्रव्यं विजानीहि त्वं जिनवरा एतद् भणन्ति ॥२०॥

दव्वइँ द्रव्याणि । कतिसंख्योपेतानि ? ***सयलइँ*** समस्तानि ***उवरि*** उदरे ***ठियइँ*** स्थितानि ***णियमें*** निश्चयेन ***जासु*** यस्य ***वसंति*** आधाराधेयभावेन तिष्ठन्ति ***तं*** तत् ***णहु दव्वु*** नभ आकाशद्रव्यं ***वियाणि*** विजानीहि ***तुहुँ*** त्वं हे प्रभाकरभट्ट ***जिणवर*** जिनवराः वीतरागसर्वज्ञाः ***एउ भणंति*** एतद्भणन्ति कथयन्तीति ।

अयमत्र तात्पर्यार्थः — यद्यपि परस्परैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठत्याकाशं तथापि साक्षादुपादेयभूतादनन्तसुखस्वरूपात्परमात्मनः सकाशादत्यन्तभिन्नत्वाद्धेयमिति ॥२०॥

.....

आगे आकाश का स्वरूप कहते हैं—

हैं सकल द्रव्य स्वभाव स्थित नित रहें जिसमें वही ।
आकाश है वह द्रव्य जानो जिनवरों ने यह कही ॥२०॥

दोहार्थ— सम्पूर्ण द्रव्य नियम से जिसके उदर में/जिसमें, अपने स्वभाव में स्थित रहते हुए रहते हैं, उसे तुम आकाश द्रव्य जानो —ऐसा जिनवर कहते हैं ।

टीकार्थ— ***जासु*** जिसके ***वरि*** अन्दर ***सयलइँ दव्वइँ*** सभी द्रव्य ***ठियइँ*** स्थित हुए ***णियमें वसंति*** निश्चय से आधार-आधेयरूप होकर रहते हैं, ***तं*** उसे ***तुहुँ*** तुम ***णहु दव्वु*** आकाशद्रव्य ***वियाणि*** जानो, ***एउ*** ऐसा ***जिणवर*** जिनेन्द्रदेव ***भणंति*** कहते हैं । लोकाकाश आधार है, अन्य सब द्रव्य आधेय हैं ।

यद्यपि ये सब द्रव्य आकाश में परस्पर एक क्षेत्रावगाह से स्थित हैं, तो भी आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं, इसलिये त्यागने योग्य हैं, और आत्मा साक्षात् उपादेयभूत, अनंतसुखस्वरूप है ॥२०॥

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥

—*मोक्षपाहुड़ गाथा ३६,*

जो जानता है, वह ज्ञान है, जो देखता है, वह दर्शन है और जो पुण्य-पाप का परिहार है, वह चारित्र है,—ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥२१-१४४॥

कालु मुणिज्जहि दव्वु तुहुँ वट्टण-लक्खणु एउ ।
रयणहँ रासि विभिण्ण जिम तसु अणुयहँ तह भेउ ॥

कालं मन्यस्व द्रव्यं त्वं वर्तनालक्षणं एतत् ।
रत्नानां राशिः विभिन्नः यथा तस्य अणूनां तथा भेदः ॥२१॥

कालु इत्यादि— *कालु* कालं *मुणिज्जहि* मन्यस्व जानीहि *तुहुँ* त्वं । किं जानीहि ? *दव्वु* कालसंज्ञं द्रव्यम् । कथंभूतम् ? *वट्टणलक्खणु* वर्तनालक्षणं स्वयमेव परिणममाणानां द्रव्याणां बहिरङ्गसहकारिकारणम् । किंवदिति चेत् ? कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिलावदिति। *एउ* एतत् प्रत्यक्षीभूतं तस्य कालद्रव्यस्यासंख्येयप्रमितस्य परस्परभेदविषये दृष्टान्तमाह— *रयणहँ रासि* रत्नानां राशिः । कथंभूतः ? *विभिण्ण* विभिन्नः विशेषेण स्वरूपव्यवधानेन भिन्नः *जिम* यथा *तसु* तस्य कालद्रव्यस्य *अणुयहँ* अणूनां कालाणूनां *तह* तथा *भेउ* भेदः इति ।

अत्राह शिष्यः — समय एव निश्चयकालः, अन्यन्निश्चयकालसंज्ञं कालद्रव्यं नास्ति । अत्र परिहारमाह— समयस्तावत्पर्यायः । कस्मात् ? विनश्वरत्वात् । तथा चोक्तं समयस्य विनश्वरत्वम्— "*समओ उप्पण्णपद्धंसी*"* इति । स च पर्यायो द्रव्यं बिना न भवति । कस्य द्रव्यस्य भवतीति विचार्यते यदि पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायो भवति तर्हि पुद्गलपरमाणुपिण्डनिष्पन्नघटादयो यथा मूर्ता भवन्ति तथा अणोरण्वन्तरव्यतिक्रमणाज्जातः समयः, चक्षुःसंपुटविघटनाज्जातो निमिषः, जलभाजनहस्तादिव्यापाराज्जाता घटिका, आदित्यबिम्बदर्शनाज्जातो दिवसः इत्यादि कालपर्याया मूर्ता दृष्टिविषयाः प्राग्भवन्ति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्योपादानकारणजातत्वाद् घटादिवत् इति । तथा चोक्तम्— "*उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति*" मृत्पिण्डाद्युपादानकारणजनितघटादिवदेव न च तथा समयनिमिषघटिकादिवसादिकालपर्याया मूर्ता दृश्यन्ते ।

यैः पुनः पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमननयनपुटविघटनजलभाजनहस्तादिव्यापारदिनकरबिम्बगमनादिभिः पुद्गलपर्यायभूतैः क्रियाविशेषैः समयादिकालपर्यायाः परिच्छिद्यन्ते, ते चाणुव्यतिक्रमणादयः तेषामेव समयादिकालपर्यायाणां व्यक्तिनिमित्तत्वेन बहिरङ्गसहकारिकारणभूता एव ज्ञातव्या न चोपादानकारणभूता घटोत्पत्तौ कुम्भकारचक्रचीवरादिवत् । तस्माद् ज्ञायते तत्कालद्रव्यममूर्तमविनश्वरमस्तीति तस्य तत्पर्यायाः समयनिमिषादय इति ।

अत्रेदं तु कालद्रव्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतात् शुद्धबुद्धैकस्वभावाज्जीवद्रव्याद्भिन्नत्वाद्धेयमिति तात्पर्यार्थः ॥२१॥

---

* पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १०१, तृतीय पाद ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कालद्रव्य का व्याख्यान करते हैं—

जो वर्तना लक्षणमयी है कालद्रव्य कहा उसे ।
हैं रत्नराशि सम पृथक् कालाणु तुम जानो उसे ॥२१॥

दोहार्थ— इस वर्तना-लक्षणवाले को तुम कालद्रव्य मानो । जैसे रत्नों की राशि पृथक्-पृथक् रहती है, उसीप्रकार उसके अणुओं को भी पृथक्-पृथक् जानो।

टीकार्थ— ***तुहुँ*** हे भव्य ! तुम ***एउ*** इस प्रत्यक्षरूप ***वट्टणलक्खणु*** वर्तनालक्षणवाले को ***कालु दव्वु*** कालद्रव्य ***मुणिज्जहि*** जानो अर्थात् अपने आप परिणमते हुए द्रव्यों को कुम्हार के चक्र के नीचे की शिला के समान जो बहिरंग सहकारीकारण है, यह कालद्रव्य असंख्यात प्रमाण है । ***जिम*** जैसे ***रयणहँ रासि*** रत्नों की राशि ***विभिण्ण*** पृथक्रूप है, सब रत्न पृथक्-पृथक् रहते हैं—मिलते नहीं हैं; ***तह*** उसीप्रकार ***तसु*** उस काल के ***अणुयहँ*** अणुओं का ***भेउ*** भेद है, एक कालाणु से दूसरा कालाणु नहीं मिलता ।

यहाँ पर शिष्य ने प्रश्न किया कि समय ही निश्चयकाल है, अन्य निश्चयकाल नामक कोई द्रव्य नहीं है ? इसका समाधान श्रीगुरु करते हैं—समय वह कालद्रव्य की पर्याय है, क्योंकि विनष्ट होती है । ऐसा ही श्रीपंचास्तिकाय में कहा है *''समओ उप्पण्णपद्धंसी''* अर्थात् ''समय उत्पन्न होता है और नष्ट होता है ।'' इससे जानते हैं कि समय पर्याय द्रव्य के बिना नहीं हो सकती । वह किस द्रव्य की पर्याय है, इस पर अब विचार करना चाहिये—यदि पुद्गलद्रव्य की पर्याय मानी जावे, तो जैसे पुद्गल परमाणुओं से उत्पन्न हुए घटादि मूर्तिक हैं, उसीप्रकार समय भी मूर्तिक होना चाहिये, परन्तु समय अमूर्तिक है, इसलिये पुद्गल की पर्याय तो नहीं है ।

पुद्गलपरमाणु का आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को जब गमन होता है, तो उससे काल की समय-पर्याय व्यक्त होती है । वह पुद्गलपरमाणु के निमित्त से व्यक्त होती है, नेत्रों के मिलने (बन्द होने) तथा विघटने (खुलने) से निमेष होता है, जल-पात्र तथा हस्तादि के व्यापार से घटिका होती है, और सूर्यबिम्ब के उदय से दिन होता है—इत्यादि काल की पर्याय हैं । ये पुद्गलद्रव्य के निमित्त से होती हैं; पुद्गल इन पर्यायों का मूलकारण नहीं है, मूलकारण काल है, यदि पुद्गल मूलकारण होता तो समयादि मूर्तिक होते । जैसे मूर्तिक मिट्टी के ढेले से उत्पन्न घड़े आदि मूर्तिक होते हैं, वैसे समयादि मूर्तिक नहीं हैं । (वैसा ही कहा है—उपादान कारण के समान ही कार्य होता है; मृत्पिण्ड आदि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उपादान कारण से उत्पन्न घट आदि के समान । परन्तु उसके समान समय, निमिष, घटिका, दिवस आदि काल-पर्यायें मूर्त दिखाई नहीं देती हैं ।

और पुद्गलपरमाणु के मंदगति से गमन, नयनपुट विघटन, जलभाजन, हस्तादि व्यापार, सूर्यबिम्ब गमन इत्यादि पुद्गल के जिन पर्यायभूत कार्य विशेषों द्वारा जो समय आदि काल-पर्यायें ज्ञात होती हैं; उनमें वे अणुव्यतिक्रमण आदि, उन समयादि काल-पर्यायों की प्रगटता में निमित्त होने से, उन्हें बहिरंग सहकारीकारणभूत ही जानना चाहिये, उपादानकारणभूत नहीं; घट की उत्पत्ति में कुम्भकार, चक्र, चीवर आदि के समान ।) इसलिये अमूर्तद्रव्यरूप काल की ये पर्यायें हैं, द्रव्य नहीं हैं। कालद्रव्य अणुरूप अमूर्तिक अविनश्वर है, और समयादि पर्यायें अमूर्तिक हैं, परन्तु विनश्वर हैं; अविनश्वरपना द्रव्य में ही है, पर्याय में नहीं है, यह निश्चय से जानना । इसलिये समयादि को कालद्रव्य की पर्याय ही कहना चाहिये; वे पुद्गल की पर्याय नहीं हैं, पुद्गल-पर्याय मूर्तिक है ।

सर्वथा उपादेयभूत शुद्ध-बुद्ध एक केवलस्वभाव जीव से भिन्न होने के कारण यहाँ कालद्रव्य हेय है, यह सारांश हुआ ॥२१॥

अथ जीवपुद्गलकालद्रव्याणि मुक्त्वा शेषधर्माधर्माकाशान्येकद्रव्याणीति निरूपयति—

॥२२-१४५॥

जीउ वि पुग्गलु कालु जिय ए मेल्लेविणु दव्व ।
इयर अखंड वियाणि तुहुँ अप्प-पएसहिँ सव्व ॥

जीवोऽपि पुद्गलः कालः जीव एतानि मुक्त्वा द्रव्याणि ।
इतराणि अखण्डानि विजानीहि त्वं आत्मप्रदेशैः सर्वाणि ॥२२॥

जीउ वि इत्यादि— *जीउ वि* जीवोऽपि *पुग्गलु* पुद्गलः *कालु* कालः *जिय* हे जीव *ए मेल्लेविणु* एतानि मुक्त्वा *दव्व* द्रव्याणि *इयर* इतराणि धर्माधर्माकाशानि *अखंड* अखण्डद्रव्याणि *वियाणि* विजानीहि *तुहुँ* त्वं हे प्रभाकरभट्ट । कैः कृत्वाखण्डानि विजानीहि ? *अप्पपएसहिं* आत्मप्रदेशैः । कतिसंख्योपेतानि ? *सव्व* सर्वाणि इति ।

तथाहि— जीवद्रव्याणि पृथक्-पृथक् जीवद्रव्यगणनेनानन्तसंख्यानि पुद्गलद्रव्याणि तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि भवन्ति । धर्माधर्माकाशानि पुनरेकद्रव्याण्येवेति । अत्र जीवद्रव्यमेवोपादेयं तत्रापि यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शक्त्यपेक्षया सर्वे जीवा उपादेयास्तथापि व्यक्त्यपेक्षया पञ्च परमेष्ठिन एव, तेष्वपि मध्ये विशेषेणार्हत्सिद्धा एव तयोरपि मध्ये सिद्धा एव, परमार्थेन तु मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इत्युपादेयपरंपरा ज्ञातव्येति भावार्थः ॥२२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे जीव, पुद्गल, काल—ये तीन द्रव्य अनेक हैं; और धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक हैं; ऐसा कहते हैं—

हैं जीव पुद्गल काल बिन धर्मादि तीनों द्रव्य ही ।
स्वक्षेत्र से भी अखंडित जानो सकलव्यापी यही ॥२२॥

दोहार्थ— हे जीव ! तुम जीव, पुद्गल, काल—इन द्रव्यों को छोड़कर शेषद्रव्यों को अखंडित अपने प्रदेशों से सर्वव्यापक जानो।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***तुहुँ*** तुम ***जीउ वि*** जीव और ***पुग्गलु*** पुद्गल, ***कालु*** काल ***ए दव्व*** इन तीन द्रव्यों को ***मेल्लेविणु*** छोड़कर ***इयर*** दूसरे धर्म, अधर्म, आकाश ***सव्व*** इन सब तीन द्रव्यों को ***अप्पपएसहिँ*** अपने प्रदेशों से ***अखण्ड*** अखंडित ***वियाणि*** जानो ।

जीवद्रव्य पृथक्-पृथक् जीवों की गणना से अनंत संख्यावाले हैं, पुद्गलद्रव्य उनसे भी अनंतगुणे हैं, कालद्रव्याणु असंख्यात हैं; धर्मद्रव्य एक है, और वह लोकव्यापी है; अधर्मद्रव्य भी एक है, और वह लोकव्यापी है; ये दोनों द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं; और आकाशद्रव्य अलोक अपेक्षा अनंतप्रदेशी है, तथा लोक अपेक्षा असंख्यातप्रदेशी है । ये सब द्रव्य अपने-अपने प्रदेशों से सहित हैं, किसी के प्रदेश किसी से नहीं मिलते ।

इन छहों द्रव्यों में जीव ही उपादेय है । यद्यपि शुद्ध निश्चय से शक्ति की अपेक्षा सभी जीव उपादेय हैं, तो भी व्यक्ति की अपेक्षा पंचपरमेष्ठी ही उपादेय हैं, उनमें भी अरहंत-सिद्ध ही हैं, उन दोनों में भी सिद्ध ही हैं; और निश्चय से मिथ्यात्व-रागादि विभावपरिणाम के अभाव में स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है—इसप्रकार उपादेय की परम्परा जानना चाहिए ॥२२॥

अथ जीवपुद्गलौ सक्रियौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि निःक्रियाणीति प्रतिपादयति—

॥२३-१४६॥

दव्व चयारि वि इयर जिय गमणागमण-विहीण ।
जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि पभणहिँ णाण-पवीण ॥

द्रव्याणि चत्वारि अपि इतराणि जीव गमनागमनविहीनानि ।
जीवमपि पुद्गलं परिहृत्य प्रभणन्ति ज्ञानप्रवीणाः ॥२३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इयर जीवपुद्गलाभ्यामितराणि *जिय* हे जीव । कथंभूतान्येतानि ? *गमणागमणविहीण* गमनागमनविहीनानि निःक्रियाणि चलनक्रियाविहीनानि । किं कृत्वा ? *जीउ वि पुग्गलु परिहरिवि* जीवपुद्गलौ परिहृत्य *पभणहिँ* एवं प्रभणन्ति कथयन्ति । के ते ? *णाण-पवीण* भेदाभेदरत्नत्रयाराधका विवेकिन इत्यर्थः ।

तथाहि— जीवानां संसारावस्थायां गतेः सहकारिकारणभूताः कर्मनोकर्मपुद्गलाः कर्मनोकर्माभावात्सिद्धानां निःक्रियत्वं भवति पुद्गलस्कन्धानां तु कालाणुरूपं कालद्रव्यं गतेर्बहिरङ्गनिमित्तं भवति । अनेन किमुक्तं भवति— अविभागिव्यवहारकालसमयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुः घटोत्पत्तौ कुम्भकारवद्बहिरङ्गनिमित्तेन व्यञ्जको व्यक्तिकारको भवति । कालद्रव्यं तु मृत्पिण्डवदुपादानकारणं भवति । तस्य तु पुद्गलपरमाणोर्मन्दगतिगमनकाले यद्यपि धर्मद्रव्यं सहकारिकारणमस्ति तथापि कालाणुरूपं निश्चयकालद्रव्यं च सहकारिकारणं भवति । सहकारिकारणानि तु बहून्यपि भवन्ति मत्स्यानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जलवत्, घटोत्पत्तौ कुम्भकारबहिरङ्गनिमित्तेऽपि चक्रचीवरादिवत्, जीवानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि कर्मनोकर्मपुद्गला गतेः सहकारिकारणं, पुद्गलानां तु कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणम्। कुत्र भणितमास्ते इति चेत् ? पञ्चास्तिकायप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः सक्रियनिः-क्रियव्याख्यानकाले भणितमस्ति—

''जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
*पुग्गलकरणा जीवा खंदा खलु कालकरणेहिं ।।''**

पुद्गलस्कन्धानां धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जलवत् द्रव्यकालो गतेः सहकारिकारणं भवतीत्यर्थः । अत्र निश्चयनयेन निःक्रियसिद्धस्वरूपसमानं निजशुद्धात्मद्रव्यमुपादेयमिति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं निश्चयनयेन निःक्रियजीवलक्षणम्—

''यावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते तावद् द्वैतस्य गोचराः ।
अद्वये निष्कले प्राप्ते निःक्रियस्य कुतः क्रिया ।।''॥२३॥

आगे जीव, पुद्गल—ये दोनों हलन-चलनादि क्रियायुक्त हैं; और धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चारों निःक्रिय हैं; ऐसा निरूपण करते हैं—

इन जीव पुद्गल के बिना धर्मादि चारों द्रव्य ही ।
हैं चलाचल बिन सदा निष्क्रिय कहें ज्ञानी जन सभी ॥२३॥

दोहार्थ— हे जीव ! जीव और पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्यों को ज्ञानप्रवीणकेवली, श्रुतकेवली, गमनागमन से रहित निष्क्रिय कहते हैं ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे हंस ! ***जीउ वि पुग्गलु*** जीव और पुद्गल इन दोनों को ***परिहरिवि*** छोड़कर ***इयर*** दूसरे ***चयारि वि दव्व*** धर्मादि चारों ही द्रव्य

---

* पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा-९८ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गमणागमणविहीण हलन-चलनादि क्रिया रहित हैं; जीव-पुद्गल क्रियावान हैं, गमनागमन करते हैं—ऐसा ***णाणपवीण*** ज्ञानियों में चतुर रत्नत्रय के धारक केवली, श्रुतकेवली ***पभणहिँ*** कहते हैं ।

जीवों को संसार-अवस्था में इस गति से अन्य गति में जाने के कर्म-नोकर्म जाति के पुद्गल सहायी हैं । और कर्म-नोकर्म के अभाव से सिद्धों के नि:क्रियपना है, गमनागमन नहीं है । पुद्गल के स्कन्धों को गमन का बहिरंग निमित्तकारण कालाणुरूप कालद्रव्य है ।

इससे क्या अर्थ निकला ? यह निकला कि निश्चयकाल की पर्याय जो समयरूप व्यवहारकाल, उसकी उत्पत्ति में मन्द गतिरूप परिणत हुआ अविभागी पुद्गलपरमाणु कारण होता है । समयरूप व्यवहारकाल का उपादानकारण निश्चयकालद्रव्य है, उसी की एक समयादि व्यवहारकाल का मूलकारण निश्चयकालाणुरूप कालद्रव्य है, उसी की एक समयादि पर्याय है; पुद्गल परमाणु की मंदगति बहिरंग निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं है । पुद्गल परमाणु आकाश के प्रदेश में मंदगति से गमन करता है, यदि शीघ्र गति से चले तो एक समय में चौदह राजू जाता है ।

जैसे घटपर्याय की उत्पत्ति में मूलकारण तो मिट्टी का पिण्ड है और बहिरंगकारण कुम्हार है; उसीप्रकार समयपर्याय की उत्पत्ति में मूलकारण तो कालाणुरूप निश्चयकाल है और बहिरंग निमित्तकारण पुद्गलपरमाणु है । पुद्गलपरमाणु के मंदगतिरूप गमन-समय में यद्यपि धर्मद्रव्य सहकारी है, तो भी कालाणुरूप निश्चयकाल परमाणु की मन्दगति का सहायी जानना । परमाणु के निमित्त से तो काल की समयपर्याय प्रगट होती है और काल के सहाय से परमाणु मन्दगति करता है ।

कोई प्रश्न करे कि गति का सहकारी धर्म है, काल को क्यों कहा ? उसका समाधान यह है कि सहकारीकारण अनेक होते हैं, और उपादानकारण एक ही होता है, दूसरा द्रव्य नहीं होता; निज द्रव्य ही निज (अपनी) गुण-पर्यायों का मूलकारण है, और निमित्तकारण, बहिरंगकारण तो अनेक होते हैं, इसमें कुछ दोष नहीं है । धर्मद्रव्य तो सब ही को गतिसहायी है, परन्तु मछलियों को गतिसहायी जल है; तथा घट की उत्पत्ति में बहिरंगनिमित्त कुम्हार है, तो भी दंड, चक्र, चीवरादि ये भी अवश्य कारण हैं, इनके बिना घट नहीं होता । यद्यपि धर्मद्रव्य जीवों की गति में सहायी विद्यमान है, तो भी कर्म, नोकर्म पुद्गल सहकारीकारण हैं; इसीप्रकार पुद्गल की गति में कालद्रव्य सहकारीकारण जानना ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ कोई प्रश्न करे कि धर्मद्रव्य तो गति का सहायी सब जगह कहा है, और कालद्रव्य वर्तना का सहायी है; गति-सहायी किस जगह कहा है ? उसका समाधान श्रीपंचास्तिकाय में कुन्दकुन्दाचार्य ने क्रियावान और अक्रियावान के व्याख्यान में कहा है । *''जीवा पुग्गल''* इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि ''जीव और पुद्गल ये दोनों क्रियावान हैं, और शेष चार द्रव्य अक्रियावाले हैं, हलन-चलन क्रिया से रहित हैं । जीव को दूसरी गति में गमन का कारण कर्म है, वह पुद्गल है और पुद्गल को गमन का कारण काल है । जैसे धर्मद्रव्य के विद्यमान होने पर भी मच्छों को गमन सहायी जल है, उसीप्रकार पुद्गल को धर्मद्रव्य के होने पर भी द्रव्यकाल गमन का सहकारी कारण है ।''

यहाँ निश्चयनय से गमनादि क्रिया से रहित निःक्रिय सिद्धस्वरूप के समान निःक्रिय निर्द्वंद्व निज शुद्धात्मा ही उपादेय है—यह शास्त्र का तात्पर्य हुआ । इसी प्रकार दूसरे ग्रन्थों में भी निश्चय से हलन-चलनादि क्रिया रहित जीव का लक्षण कहा है । *''यावत्क्रिया''* इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि ''जब तक इस जीव के हलन-चलनादि क्रिया है, गति से गत्यंतर को जाना है, तब तक दूसरे द्रव्य का सम्बन्ध है; जब दूसरे का सम्बन्ध मिटा, अद्वैत हुआ, तब निकल अर्थात् शरीर से रहित निःक्रिय है, उसके हलन-चलनादि क्रिया कहाँ से हो सकती है ? अर्थात् संसारी जीव का कर्म के संबंध से गमन है, सिद्धभगवान कर्मरहित निःक्रिय हैं, उनके गमनागमन क्रिया कभी नहीं हो सकती ॥२३॥

अथ पञ्चास्तिकायसूचनार्थं कालद्रव्यमप्रदेशं विहाय कस्य द्रव्यस्य कियन्तः प्रदेशा भवन्तीति कथयति—

॥२४-१४७॥

धम्माधम्मु वि एक्कु जिउ ए जि असंख्य-पदेस ।
गयणु अणंत-पएसु मुणि बहु-विह पुग्गल-देस ॥

धर्माधर्मौ अपि एकः जीवः एतानि एव असंख्यप्रदेशानि ।
गगनं अनन्तप्रदेशं मन्यस्व बहुविधाः पुद्गलदेशाः ॥२४॥

धम्माधम्मु वि इत्यादि— *धम्माधम्मु वि* धर्माधर्मद्वितयमेव *एक्कु जिउ* एको विवक्षितो जीवः । *ए जि* एतान्येव त्रीणि द्रव्याणि *असंखपदेस* असंख्येयप्रदेशानि भवन्ति । *गयणु* गगनं *अणंतपएसु* अनन्तप्रदेशं *मुणि* मन्यस्व जानीहि । *बहुविह* बहुविधा भवन्ति । के ते ? *पुग्गलदेस* पुद्गलप्रदेशाः । अत्र पुद्गलद्रव्यप्रदेशविवक्षया प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्याः न च क्षेत्रप्रदेशा इति । कस्मात् ? पुद्गलस्यानन्तक्षेत्र-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रदेशाभावादिति । अथवा पाठान्तरम्— *'पुग्गलु तिविहु पएसु'* । पुद्गलद्रव्ये संख्याता-संख्यातानन्तरूपेण त्रिविधाःप्रदेशाः परमाणवो भवन्तीति ।

अत्र निश्चयेन द्रव्यकर्माभावादमूर्ता मिथ्यात्वरागादिरूपभावकर्मसंकल्पविकल्पाभावात् शुद्धा लोकाकाशप्रमाणेनासंख्येयाः प्रदेशा यस्य शुद्धात्मनः स शुद्धात्मा वीतरागनिर्विकल्प-समाधिपरिणतिकाले साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥२४॥

आगे पंचास्तिकाय को प्रगट करने के लिये कालद्रव्य अप्रदेशी को छोड़कर अन्य पाँच द्रव्यों में से किसके कितने प्रदेश हैं, यह कहते हैं—

हैं नित असंख्यप्रदेश धर्म-अधर्म के इक जीव के ।
नभ के अनन्त प्रदेश बहुविध कहे पुद्गल द्रव्य के ॥२४॥

दोहार्थ— धर्म, अधर्म और एक जीव—ये तीनों ही असंख्यप्रदेशी हैं । आकाश को अनन्तप्रदेशी और पुद्गल के प्रदेश अनेक प्रकार के मानो ।

टीकार्थ— ***धम्माधम्मु*** धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य ***वि एक्कु जिउ*** और एक जीव ***ए जि*** इन तीनों ही को ***असंख्यपदेस*** असंख्यात प्रदेशी ***मुणि*** तुम जानो, ***गयणु*** आकाश ***अणंतपएसु*** अनंतप्रदेशी है, ***पुग्गलदेस*** पुद्गल के प्रदेश ***बहुविह*** बहुत प्रकार के हैं, परमाणु तो एकप्रदेशी है, और स्कंध संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी तथा अनंतप्रदेशी भी होते हैं ।

जगत में धर्मद्रव्य तो एक ही है, वह असंख्यात प्रदेशी है; अधर्मद्रव्य भी एक है, वह भी असंख्यात प्रदेशी है; जीव अनंत हैं, उनमें से प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी है; आकाशद्रव्य एक ही है, वह अनंतप्रदेशी है —ऐसा जानो। पुद्गल एक प्रदेश से लेकर अनंतप्रदेश पर्यन्त है । एक परमाणु तो एक प्रदेशी ही है, परन्तु जैसे-जैसे परमाणु मिलते जाते हैं, वैसे-वैसे प्रदेश भी बढ़ते जाते हैं; वे संख्यात, असंख्यात, अनंत प्रदेश तक जानने; अनंत परमाणु इकट्ठे हों, तब अनंत प्रदेश कहे जाते हैं । अन्य द्रव्यों के तो विस्ताररूप प्रदेश हैं, और पुद्गल के स्कन्धरूप प्रदेश हैं; पुद्गल के कथन में प्रदेश शब्द से परमाणु लेना, क्षेत्र नहीं लेना, पुद्गल का प्रचार लोक में ही है, अलोकाकाश में नहीं है, इसलिए अनंत क्षेत्र-प्रदेश का अभाव होने से क्षेत्र-प्रदेश न जानना । जैसे-जैसे परमाणु मिलते जाते हैं, वैसे-वैसे प्रदेशों की वृद्धि जाननी । इसी दोहा के कथन में पाठांतर *''पुग्गलु तिविहु पएसु''* ऐसा है—उसका अर्थ यह है कि पुद्गल के संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेश परमाणुओं के मेल से जानना चाहिए, अर्थात् एक परमाणु एक प्रदेश, बहुत परमाणु बहु प्रदेश; यही जानना ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सूत्र में शुद्धनिश्चय की अपेक्षा द्रव्यकर्म के अभाव से यह जीव अमूर्तिक है और मिथ्यात्व, रागादिरूप भावकर्म संकल्प-विकल्प के अभाव से शुद्ध है, लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेश वाला है, ऐसा जो निज शुद्धात्मा, वही वीतराग निर्विकल्प समाधिदशा में साक्षात् उपादेय है, यह जानना ।।२४।।

अथ लोके यद्यपि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति द्रव्याणि तथापि निश्चयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण कृत्वा स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति दर्शयति—

।।२५-१४८।।

लोयागासु धरेवि जिय कहियइँ दव्वइँ जाइँ ।
एक्कहिँ मिलियइँ इत्थु जगि सगुणहिँ णिवसहिँ ताइँ ।।

लोकाकाशं धृत्वा जीव कथितानि द्रव्याणि यानि ।
एकत्वे मिलितानि अत्र जगति स्वगुणेषु निवसन्ति तानि ।।२५।।

लोयागासु इत्यादि— *लोयागासु* लोकाकाशं कर्मतापन्नं *धरेवि* धृत्वा मर्यादीकृत्य* *जिय* हे जीव अथवा लोकाकाशमाधारीकृत्वा *ठियाइँ* आधेयरूपेण स्थितानि । कानि स्थितानि ? *कहियइँ दव्वइँ जाइँ* कथितानि जीवादिद्रव्याणि यानि । पुनः कथंभूतानि? *एक्कहिँ मिलियइँ* एकत्वे मिलितानि । *इत्थु जगि* अत्र जगति *सगुणहिँ णिवसहिँ* निश्चयनयेन स्वकीयगुणेषु निवसन्ति *'सगुणहिँ'* तृतीयान्तं करणपदं स्वगुणेष्वधिकरणं कथं जातमिति ? ननु कथितं पूर्वं प्राकृते कारकव्यभिचारो लिङ्गव्यभिचारश्च क्वचिद्भवतीति। कानि निवसन्ति ? *ताइँ* पूर्वोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याणीति ।

तद्यथा— यद्यप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेणाधाराधेयभावेनैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण स्वकीयस्वकीयसामान्यविशेषशुद्धगुणान्न त्यजन्तीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः — हे भगवन् लोकस्तावदसंख्यातप्रदेशः परमागमे भणितः तिष्ठति तत्रासंख्यातप्रदेशलोके प्रत्येकं प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशान्यनन्तजीवद्रव्याणि, तत्र चैकैके जीवद्रव्ये कर्मनोकर्मरूपेणानन्तानि पुद्गलपरमाणुद्रव्याणि च तिष्ठन्ति तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि शेषपुद्गलद्रव्याणि तिष्ठन्ति तानि सर्वाण्यसंख्येयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभन्ते ?—इति पूर्वपक्षः ।

भगवान परिहारमाह— अवगाहनशक्तियोगादिति । तथाहि— यथैकस्मिन् गूढनागरसगद्याणके शतसहस्रलक्षसुवर्णसंख्याप्रमितान्यवकाशं लभन्ते, अथवा यथैकस्मिन् प्रदीपप्रकाशे बहवोऽपि प्रदीपप्रकाशा अवकाशं लभन्ते, अथवा यथैकस्मिन् भस्मघटे जलघटः सम्यगवकाशं लभते, अथवा यथैकस्मिन् उष्ट्रीक्षीरघटे मधुघटः सम्यगवकाशं लभते, अथवा यथैकस्मिन् भूमिगृहे बहवोऽपि पटहजयघण्टादिशब्दाः सम्यगवकाशं

---

* पाठान्तर कृत्य - कृत्वा ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लभन्ते, तथैकस्मिन् लोके विशिष्टावगाहनशक्तियोगात् पूर्वोक्तानन्तसंख्या जीवपुद्गला अवकाशं लभन्ते नास्ति विरोधः इति । तथा चोक्तं जीवानामवगाहनशक्तिस्वरूपं परमागमे—

''एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहिँ अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ।।''[१]

पुनस्तथोक्तं पुद्गलानामवगाहनशक्तिस्वरूपम्—

''ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकाएहिँ सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिँ बादरेहिँ य णंताणं तेहिँ विविहेहिं ।।''[२]

अयमत्र भावार्थः — यद्यप्येकावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि शुद्धनिश्चयेन जीवाः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपं न त्यजन्ति पुद्गलाश्च वर्णादिस्वरूपं न त्यजन्ति शेषद्रव्याणि च स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्ति ।।२५।।

.....

आगे लोक में यद्यपि व्यवहारनय से ये सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाह से स्थित हैं, तो भी निश्चयनय से कोई द्रव्य किसी से नहीं मिलता, और कोई भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है; ऐसा दिखलाते हैं—

सब जीव आदि द्रव्य मिलकर रहें लोकाकाश में ।
पर रहें अपने गुणों में पर से पृथक् इस जगत में ।।२५।।

दोहार्थ— हे जीव ! इस जगत में जो द्रव्य कहे गए हैं, वे परस्पर में मिले हुए तथा लोकाकाश में रहते हुए भी वास्तव में अपने-अपने गुणों में रहते हैं ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ***इत्थु जगि*** इस संसार में ***जाइँ दव्वइँ कहियइँ*** जो द्रव्य कहे गये हैं, ***ताइँ*** वे सब ***लोयागासु धरेवि*** लोकाकाश में स्थित हैं, लोकाकाश तो आधार है, और ये सब आधेय हैं, ***एक्कहिँ मिलियइँ*** ये द्रव्य एक क्षेत्र में मिले हुए रहते हैं, एक क्षेत्रावगाही हैं, तो भी ***सगुणहिँ*** निश्चयनय से अपने-अपने गुणों में ही ***णिवसहिँ*** निवास करते हैं, परद्रव्य से मिलते नहीं हैं ।

यद्यपि उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय की अपेक्षा आधाराधेय भाव से एक क्षेत्रावगाहरूप में स्थित हैं, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा परद्रव्य से मिलनेरूप संकर-दोष से रहित हैं, और अपने-अपने सामान्य गुण तथा विशेष गुणों को नहीं छोड़ते हैं ।

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-१९५ ।
२. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा-६४ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट ने प्रश्न किया कि हे भगवन ! परमागम में लोकाकाश तो असंख्यातप्रदेशी कहा है, उस असंख्यात प्रदेशी लोक में अनंत जीव किसप्रकार समा सकते हैं ? क्योंकि एक-एक जीव के असंख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं, और एक-एक जीव में अनंतानंत पुद्गलपरमाणु कर्म-नोकर्म रूप से लग रहे हैं; उसके सिवाय अनंतगुणें अन्य पुद्गल रहते हैं, —ये द्रव्य असंख्यातप्रदेशी लोक में कैसे समा गये ?

इसका समाधान श्रीगुरु करते हैं—आकाश में अवकाशदान (जगह देने की) शक्ति है, उसके सम्बन्ध से समा जाते हैं । जैसे एक गूढ़ नागरस गुटिका में शत, सहस्र, लक्ष सुवर्ण संख्या आ जाती है; अथवा जैसे एक दीपक के प्रकाश में बहुत दीपकों का प्रकाश जगह पाता है; अथवा जैसे एक राख के घड़े में जल का घड़ा (घड़े भर जल) अच्छी तरह अवकाश पाता है, भस्म में जल शोषित हो जाता है; अथवा जैसे एक ऊँटनी के दूध से भरे घड़े में शहद का घड़ा (घड़े भर शहद) समा जाता है; अथवा जैसे एक भूमिघर में ढोल, घण्टा, जय आदि अनेकों शब्द अच्छी तरह समा जाते हैं; उसीप्रकार एक लोकाकाश में विशिष्ट अवगाहनशक्ति के योग से अनंत जीव और अनन्तानन्त पुद्गल अवकाश पाते हैं, इसमें विरोध नहीं है ।

जीवों में परस्पर अवगाहनशक्ति है, ऐसा कथन परमागम में किया है—*''एगणिगोद''* इत्यादि—इसका अर्थ ऐसा है कि ''एक निगोदिया जीव के शरीर में, जीवद्रव्य के प्रमाण से दिखलाये गये जितने सिद्ध हैं, उन सिद्धों से अनंत गुणे जीव हैं, और निगोदिया का शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग है । जब ऐसे सूक्ष्म शरीर में अनंत जीव समा जाते हैं, तो लोकाकाश में समा जाने में क्या आश्चर्य है ?''

अनंतानंत पुद्गल लोकाकाश में समा रहे हैं, उसकी *''ओगाढ''* इत्यादि गाथा है—उसका अर्थ यह है कि ''सब प्रकार सब जगह यह लोक पुद्गल-कायों से अवगाढ़गाढ़ भरा है, ये पुद्गल-काय अनंत हैं, अनेक प्रकार के भेदों सहित हैं, कोई सूक्ष्म हैं, कोई बादर हैं ।''

तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाह से रहते हैं, तो भी शुद्धनिश्चयनय से जीव केवल-ज्ञानादि अनंतगुणरूप अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं, पुद्गलद्रव्य अपने वर्णादि स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं, और धर्मादि अन्य द्रव्य भी अपने-अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं ॥२५॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ जीवस्य व्यवहारेण शेषपञ्चद्रव्यकृतमुपकारं कथयति, तस्यैव जीवस्य निश्चयेन तान्येव दुःखकारणानि च कथयति—

॥२६-१४९॥

एयइँ दव्वइँ देहियहँ णिय-णिय-कज्जु जणंति ।
चउ-गइ-दुक्खु सहंत जिय तें संसारु भमंति ॥

एतानि द्रव्याणि देहिनां निजनिजकार्यं जनयन्ति ।
चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः तेन संसारं भ्रमन्ति ॥२६॥

एयइँ इत्यादि— *एयइँ* एतानि *दव्वइँ* जीवादन्यद्रव्याणि *देहियहँ* देहिनां संसारिजीवानाम् । किं कुर्वन्ति ? *णियणियकज्जु जणंति* निजनिजकार्यं जनयन्ति येन कारणेन निज-निजकार्यं जनयन्ति । *चउगइदुक्खु सहंत जिय* चतुर्गतिदुःखं सहमानाः सन्तो जीवाः *तें संसारु भमंति* तेन कारणेन संसारं भ्रमन्तीति ।

तथा च— पुद्गलस्तावज्जीवस्य स्वसंवित्तिविलक्षणविभावपरिणामरतस्य व्यवहारेण शरीरवाङ्मनःप्राणापाननिष्पत्तिं करोति, धर्मद्रव्यं चोपचरितासद्भूतव्यवहारेण गतिसहकारित्वं करोति, तथैवाधर्मद्रव्यं स्थितिसहकारित्वं करोति, तेनैव व्यवहारनयेन आकाशद्रव्यमवकाशदानं ददाति, तथैव कालद्रव्यं च शुभाशुभपरिणामसहकारित्वं करोति ।

एवं पञ्चद्रव्याणामुपकारं लब्ध्वा जीवो निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाच्युतः सन् चतुर्गतिदुःखं सहत इति भावार्थः ॥२६॥

.....

आगे जीव का व्यवहारनय से अन्य पाँचों द्रव्य उपकार करते हैं, ऐसा कहते हैं, तथा उसी जीव को निश्चय से वे ही दुःख के कारण हैं; ऐसा कहते हैं—

ये द्रव्य निज-निज कार्य देही के लिए करते सदा ।
उससे चतुर्गति दुःख सहते जीव भव में घूमता ॥२६॥

दोहार्थ— ये द्रव्य, देही जीवों के प्रति अपना-अपना कार्य उत्पन्न करते हैं, उस कारण चारगति के दुःखों को सहते हुए जीव संसार में भटकते हैं ।

टीकार्थ— ***एयइँ*** ये ***दव्वइँ*** द्रव्य ***देहियहँ*** जीवों के प्रति ***णियणियकज्जु*** अपने-अपने कार्य को ***जणंति*** उपजाते हैं—***तें*** इस कारण ***चउगइदुक्खु सहंत जिय*** नरकादि चारों गतियों के दुःखों को सहते हुए जीव ***संसारु*** संसार में ***भमंति*** भटकते हैं ।

ये द्रव्य जीव का जो उपकार करते हैं, उसे दिखलाते हैं—पुद्गल तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मज्ञान से विपरीत विभाव परिणामों में लीन हुए अज्ञानी जीवों के प्रति व्यवहारनय से शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास—इन चारों की उत्पत्ति करता है; अर्थात् मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, रागद्वेषादि विभाव परिणामों के योग से जीव को पुद्गल का सम्बन्ध है, और पुद्गल के सम्बन्ध से ये हैं । धर्मद्रव्य उपचरितासद्भूत व्यवहारनय से गतिसहायी है, अधर्मद्रव्य स्थितिसहकारी है, व्यवहारनय से आकाशद्रव्य अवकाश (जगह) देता है, और कालद्रव्य शुभ-अशुभ परिणामों का सहायी है । इसप्रकार ये पाँच द्रव्य सहकारी हैं ।

इनका सहाय पाकर ये जीव निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय की भावना से रहित भ्रष्ट होते हुए चारों गतियों के दु:खों को सहते हुए संसार में भटकते हैं, यह तात्पर्य हुआ ॥२६॥

अथैवं पञ्चद्रव्याणां स्वरूपं निश्चयेन दु:खकारणं ज्ञात्वा हे जीव निजशुद्धात्मोपलम्भलक्षणे मोक्षमार्गे स्थीयत इति निरूपयति—

॥२७-१५०॥

दुक्खहँ कारणु मुणिवि जिय दव्वहँ एहु सहाउ ।
होयवि मोक्खहँ मग्गि लहु गम्मिज्जइ पर-लोउ ॥

दु:खस्य कारणं मत्वा जीव द्रव्याणां एतत्स्वभावम् ।
भूत्वा मोक्षस्य मार्गे लघु गम्यते परलोक: ॥२७॥

दुक्खहँ कारणु दु:खस्य कारणं ***मुणिवि*** मत्वा ज्ञात्वा ***जिय*** हे जीव । किं दु:खस्य कारणं ज्ञात्वा ? ***दव्वहँ एहु सहाउ*** द्रव्याणामिमं शरीरवाङ्मन:प्राणापाननिष्पत्त्यादिलक्षणं पूर्वोक्तस्वभावम् । एवं पुद्गलादिपञ्चद्रव्यस्वभाव दु:खस्य कारणं ज्ञात्वा किं क्रियते ? ***होयवि*** भूत्वा । क्व ? ***मोक्खहँ मग्गि*** मोक्षस्य मार्गे ***लहु*** लघु शीघ्रं पश्चात् ***गम्मिज्जइ*** गम्यते । क: कर्मतापन्न: ? ***परलोउ*** परलोको मोक्ष इति।

तथाहि— वीतरागसदानन्दैकस्वाभाविकसुखविपरीतस्याकुलत्वोत्पादकस्य दु:खस्य कारणानि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि ज्ञात्वा हे जीव भेदाभेदरत्नत्रयलक्षणे मोक्षस्य* मार्गे स्थित्वा पर: परमात्मा तस्यावलोकनमनुभवनं परमसमरसीभावेन परिणमनं परलोको मोक्षस्तत्र गम्यत इति भावार्थ: ॥२७॥

आगे परद्रव्यों का संबंध निश्चय से दु:ख का कारण है, ऐसा जानकर जीव निज शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष-मार्ग में स्थित हो, ऐसा कहते हैं—

✡ **पाठान्तर - मोक्षस्यमार्गे - मोक्षमार्गे ।**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तू दु:ख कारण जान द्रव्यों के इन्हीं निज भाव को ।
हे जीव ! कर शिवपथ गमन तो शीघ्र पा परलोक को ॥२७॥

दोहार्थ— हे जीव ! तुम्हें, द्रव्यों के इस स्वभाव को दु:ख का कारण जानकर, शीघ्र ही मोक्ष के मार्ग में लगकर परलोक मोक्ष में जाना चाहिए ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***दव्वइँ एहु सहाउ*** परद्रव्यों के ये स्वभाव ***दुक्खहँ*** दु:ख के ***कारणु मुणिवि*** कारण जानकर ***मोक्खहँ मग्गि*** मोक्ष के मार्ग में ***होयवि*** लगकर ***लहु*** शीघ्र ही ***परलोउ गम्मिज्जइ*** उत्कृष्ट लोकरूप मोक्ष में जाना चाहिये ।

पहले कहे गये पुद्गलादि द्रव्यों के सहाय शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास आदि ये सब दु:ख के कारण हैं; क्योंकि वीतराग सदा आनंदरूप एक स्वभाव से उत्पन्न जो अतीन्द्रिय सुख, उससे विपरीत आकुलता को उत्पन्न करने वाले हैं; ऐसा जानकर हे जीव ! तुम भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष के मार्ग में लगकर उत्कृष्ट परमात्मा के अवलोकन, अनुभवनरूप परमसमरसीभाव से परिणमनमय मोक्ष में गमन करो ॥२७॥

अथेदं व्यवहारेण मया भणितं जीवद्रव्यादिश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनमिदानीं सम्यग्ज्ञानं चारित्रं च हे प्रभाकरभट्ट शृणु त्वमिति मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

॥२८-१५१॥

णियमें कहियउ एहु मइँ ववहारेण वि दिट्ठि ।
एवहिं णाणु चरित्तु सुणि जें पावहि परमेट्ठि ॥

नियमेन कथिता एषा मया व्यवहारेणापि दृष्टि: ।
इदानीं ज्ञानं चारित्रं शृणु येन प्राप्नोषि परमेष्ठिनम् ॥२८॥

णियमें नियमेन निश्चयेन ***कहियउ*** कथिता ***एहु मइँ*** एषा कर्मतापन्ना मया । केनैव ? ***ववहारेण वि*** व्यवहारनयेनैव । एषा का ? ***दिट्ठि*** दृष्टि: । दृष्टि: कोऽर्थ: ? सम्यक्त्वम् । ***एवहिं*** इदानीं ***णाणु चरित्तु सुणि*** हे प्रभाकरभट्ट क्रमेण ज्ञानचारित्रद्वयं शृणु । येन श्रुतेन किं भवति ? ***जें पावहि*** येन सम्यग्ज्ञानचारित्रद्वयेन प्राप्नोषि । किं प्राप्नोषि ? ***परमेट्ठि*** परमेष्ठिपदं मुक्तिपदमिति ।

अतो व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानां द्रव्याणां चूलिकारूपेण व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

''परिणाम जीव मुत्तं सपदेसं एय खित्त किरिया य ।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदं इदरम्हि य पवेसो ।।''[१]

परिणाम इत्यादि— *'परिणाम'* परिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपरिणामाभ्यां शेषचत्वारि द्रव्याणि जीवपुद्गलवद्विभावव्यञ्जनपर्यायाभावात् मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामिनि इति । *'जीव'* शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः, व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि ।

'मुत्तं' अमूर्तशुद्धात्मनो विलक्षणा स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरुच्यते तद्भावान्मूर्तः पुद्गलः । जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्तमपि शुद्धनिश्चयनयेनामूर्तम् । धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्तानि । *'सपदेसं'* लोकमात्रप्रमितासंख्येयप्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमादिं कृत्वा पञ्चद्रव्याणि पञ्चास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि कालद्रव्यं पुनर्बहुप्रदेशलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम् । *'एय'* द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति ।

'खेत्त' सर्वद्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्यात् क्षेत्रमाकाशमेकं शेषपञ्चद्रव्याण्यक्षेत्राणि। *'किरिया य'* क्षेत्रात्क्षेत्रान्तरगमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि । *'णिच्चं'* धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यद्यप्यर्थपर्यायत्वेनानित्यानि तथापि मुख्यवृत्त्या विभावव्यञ्जनपर्यायाभावात् नित्यानि, द्रव्यार्थिकनयेन च जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघुपरिणतिरूप[२]स्वभावपर्यायापेक्षया विभावव्यञ्जनपर्यायापेक्षया चानित्ये।

'कारण' पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्तनाकार्याणि कुर्वन्ति इति कारणानि भवन्ति, जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रहं करोति तथापि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम् ।

'कत्ता' शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बन्धमोक्षद्रव्यभावरूपः पुण्यपापघटपटादीनामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणतः सन् पुण्यपापबन्धयोः कर्ता तत्फलभोक्ता च भवति विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन [३]तत्परिणतः सन् मोक्षस्यापि कर्ता तत्फलभोक्ता च । शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति । पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम् । वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव ।

---

१. मूलाचार, अ.७, गाथा-४४; वसुनन्दि श्रावकाचार, गाथा-२३; पंचास्तिकाय संग्रह गाथा २७ के बाद क्षेपक गाथा । २. पाठान्तर - रूप - स्वरूप । ३. पाठान्तर - तत्परिणतः - तु तत्परिणतः।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'सव्वगदं' लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाशं भण्यते धर्माधर्मौ च लोकव्याप्त्यपेक्षया जीवद्रव्यं तु पुनरेकैकजीवापेक्षया लोकपूरणावस्थां विहायासर्वगतं नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवतीति । पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवतीति । कालद्रव्यं पुनरेककालाणुद्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति । *'इदरम्हि य पवेसो'* यद्यपि सर्वद्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यानुप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादिस्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति । तथा चोक्तम्—

''अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगसब्भावं ण विजहंति ॥''[१]

इदमत्र तात्पर्यम्— व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतेषु षड्द्रव्येषु मध्ये वीतरागचिदानन्दैकादिगुणस्वभावं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयम् ॥२८॥

एवमेकोनविंशतिसूत्रप्रमितस्थले निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकत्वेन पूर्वसूत्रत्रयं गतम् । इदं पुनरन्तरं[२] स्थलं चतुर्दशसूत्रप्रमितं षड्द्रव्यध्येयभूतव्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन समाप्तमिति ।

.....

यह मैंने जीवादि द्रव्यों का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन व्यवहार से कहा है; अब आगे, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को हे प्रभाकरभट्ट ! तुम सुनो, ऐसा मन में रखकर यह दोहासूत्र कहते हैं—

व्यवहार से सम्यक्त्व जो मैंने किया उनका कथन ।
अब ज्ञान चारित्र को सुनो जिससे मिले परमेष्ठि पद ॥२८॥

दोहार्थ— मैंने यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप नियम से व्यवहारनय की अपेक्षा कहा है । अब ज्ञान, चारित्र को सुनो, जिससे परमेष्ठी पद प्राप्त करोगे ।

टीकार्थ— हे प्रभाकरभट्ट ! ***मइँ*** मैंने ***ववहारेण वि*** व्यवहार से तुम्हें ***एहु दिट्ठि*** यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप ***णियमैं कहियउ*** नियम से कहा, ***एवहिं*** अब ***णाणु चरित्तु*** ज्ञान और चारित्र को ***सुणि*** सुनो ***जैं*** जिसको धारण करने से ***परमेट्ठि पावहि*** सिद्धपरमेष्ठी के पद को प्राप्त करोगे ।

व्यवहारसम्यक्त्व के कारणभूत छह द्रव्यों का चूलिकारूप से सांगोपांग व्याख्यान करते हैं *''परिणाम''* इत्यादि गाथा से । इसका अर्थ यह है कि ''इन छह द्रव्यों में विभावपरिणामरूप से परिणमन करने वाले जीव और पुद्गल दो

---

१. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा ७ ।
२. पाठान्तर - पुनरन्तरं स्थलं - पुनरन्तरस्थलं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही हैं, अन्य चार द्रव्य अपने स्वभावरूप तो परिणमन करते हैं; परन्तु जीव, पुद्गल के समान विभावव्यंजनपर्याय का अभाव होने से विभावरूप परिणमन नहीं करते हैं, इसलिये मुख्यता से अपरिणामी हैं ।

शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव जो शुद्ध चैतन्यप्राण उनसे जीता है, जीवेगा, पहले जीता था; और व्यवहारनय से इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वासरूप द्रव्यप्राणों से जीता है, जीवेगा, पहले जीता था, इसलिये जीव को ही जीव कहा गया है; अन्य पुद्गलादि पाँच द्रव्य अजीव हैं । स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाली मूर्ति सहित मूर्तिक एक पुद्गलद्रव्य ही है, अन्य पाँच अमूर्तिक हैं । उनमें से धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों तो अमूर्तिक हैं, तथा जीवद्रव्य अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से मूर्तिक भी कहा जाता है; क्योंकि शरीर को धारण कर रहा है; तो भी शुद्धनिश्चयनय से अमूर्तिक ही है ।

लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी जीवद्रव्य आदि पाँच द्रव्य पंचास्तिकाय हैं, वे सप्रदेशी हैं; और कालद्रव्य बहुप्रदेश स्वभाव, कायपना न होने से अप्रदेशी है । धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं; और जीव, पुद्गल, काल ये तीनों अनेक हैं; जीव तो अनंत हैं, पुद्गल अनंतानंत हैं, काल असंख्यात हैं ।

सब द्रव्यों को अवकाश देने में समर्थ एक आकाश ही है, इसलिये आकाश क्षेत्र कहा गया है, शेष पाँच द्रव्य अक्षेत्री हैं । एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन करना, वह हलन-चलनवती क्रिया कही गई है; यह क्रिया जीव, पुद्गल दोनों के ही है; और धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं; जीवों में भी संसारी जीव हलन-चलन वाले हैं, इसलिये क्रियावान हैं, और सिद्धपरमेष्ठी निःक्रिय हैं, उनके हलन-चलन क्रिया नहीं है ।

द्रव्यार्थिकनय से विचार किया जाये तो सभी द्रव्य नित्य हैं; अर्थपर्याय जो षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वभावपर्याय है, उसकी अपेक्षा सब ही अनित्य हैं, तो भी विभावव्यंजनपर्याय जीव और पुद्गल इन दोनों की है, इसलिये इन दोनों को ही अनित्य कहा है, अन्य चारद्रव्य विभाव के अभाव से नित्य ही हैं, इस कारण यह निश्चय से जानना कि चार नित्य हैं, दो अनित्य हैं; तथा द्रव्य की अपेक्षा सब ही नित्य हैं, कोई भी द्रव्य विनश्वर नहीं हैं ।

जीव को पाँचों ही द्रव्य कारणरूप हैं; पुद्गल तो शरीर, वचन, मन श्वासोच्छ्वास आदि का कारण है; धर्म, अधर्मद्रव्य गति, स्थिति के कारण हैं; आकाशद्रव्य अवकाश देने का कारण है, और काल वर्तना का सहायी है । ये

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पाँचों द्रव्य जीव को कारण हैं, परन्तु जीव उनको कारण नहीं है । यद्यपि जीवद्रव्य अन्य जीवों का गुरुशिष्यादिरूप परस्पर उपकार करता है, तो भी पुद्गलादि पाँच द्रव्यों को अकारण है, और ये पाँचों कारण हैं ।

शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से यह जीव यद्यपि बंध-मोक्ष का, द्रव्य-भावरूप पुण्य-पाप का, घट-पट आदि का कर्ता नहीं है; तो भी अशुद्धनिश्चयनय से शुभ-अशुभ उपयोग से परिणत हुआ पुण्य-पाप के बंध का कर्ता होता है, और उनके फल का भोक्ता होता है; तथा विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव रूप निज शुद्धात्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप शुद्धोपयोग से परिणत हुआ मोक्ष का भी कर्ता होता है, और उसके फलरूप अनंतसुख का भोक्ता होता है । इसलिये जीव को कर्ता भी कहा जाता है, और भोक्ता भी कहा जाता है । शुभ, अशुभ, शुद्ध परिणामों का परिणमन ही सब जगह कर्तापना है; और पुद्गलादि पाँच द्रव्यों का अपने-अपने परिणामरूप से परिणमन ही कर्तापना है । वस्तुवृत्ति से पुण्य-पापादि का कर्तापना नहीं है ।

सर्वगतपना लोकालोक-व्यापकता की अपेक्षा आकाश ही में है; धर्मद्रव्य-अधर्मद्रव्य ये दोनों लोकाकाशव्यापी हैं, अलोक में नहीं हैं; और जीवद्रव्य में एक जीव की अपेक्षा केवलसमुद्घात की लोकपूरण अवस्था में लोक में सर्वगतपना है, इसे छोड़कर एक जीव के अन्य अपेक्षा से सर्वगतपना नहीं है; तथा नाना जीवों की अपेक्षा सर्वगतपना ही है । पुद्गलद्रव्य लोकप्रमाण महास्कंध की अपेक्षा सर्वगत है, अन्य पुद्गल की अपेक्षा सर्वगत नहीं है; कालद्रव्य एक कालाणु द्रव्य की अपेक्षा एकप्रदेशगत है, सर्वगत नहीं है; और नाना कालाणु की अपेक्षा लोकाकाश के सब प्रदेशों में कालाणु हैं, इसलिये सब कालाणुओं की अपेक्षा सर्वगत कह सकते हैं । —इसप्रकार नयविवक्षा से सर्वगतपने का व्याख्यान किया । मुख्यवृत्ति से विचार किया जाये, तो सर्वगतपना आकाश में ही है, अथवा ज्ञान की अपेक्षा जीव में भी है । जीव का केवलज्ञान लोकालोक-व्यापक है, इसलिये सर्वगत कहा।

ये सब द्रव्य यद्यपि व्यवहारनय से एक क्षेत्रावगाही होने से परस्पर प्रविष्ट होकर रहते हैं; तो भी निश्चयनय से अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, दूसरे द्रव्य में उनका प्रवेश नहीं है, सभी द्रव्य निज-निज स्वरूप में हैं, पररूप नहीं हैं— कोई किसी का स्वभाव नहीं लेता ।''

ऐसा ही कथन श्रीपंचास्तिकाय में है— *''अण्णोण्णं''* इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि ''यद्यपि ये छहों द्रव्य परस्पर में प्रवेश करते हुए देखे जाते हैं, तो भी कोई किसी में प्रवेश नहीं करता; यद्यपि अन्य को अन्य अवकाश देता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, तो भी अपना-अपना अवकाश आप में ही है, पर में नहीं है; यद्यपि ये द्रव्य हमेशा से मिल रहे हैं, तो भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते ।''

यहाँ तात्पर्य यह है कि व्यवहारसम्यक्त्व के विषयभूत छह द्रव्यों में से वीतराग चिदानंद एक आदि अनंत गुणरूप, शुभ-अशुभ मन-वचन-काय के व्यापार से रहित, निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ध्यान करने योग्य है ॥२८॥

इसप्रकार उन्नीस दोहों के स्थल में निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करने की मुख्यता से तीन दोहा कहे । ऐसे चौदह दोहों युक्त अन्तरस्थलपूर्ण हुआ, जिसमें छहद्रव्यध्येयभूत व्यवहारसम्यक्त्व का मुख्यरूप से व्याख्यान किया ।

अथ संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं सम्यग्ज्ञानं प्रकटयति—

॥२९-१५२॥

जँ जह थक्कउ दव्वु जिय तँ तह जाणइ जो जि ।
अप्पहँ केरउ भावडउ णाणु मुणिज्जहि सो जि ॥

यद् यथा स्थितं द्रव्यं जीव तत् तथा जानाति य एव ।
आत्मनः सम्बन्धी भावः ज्ञानं मन्यस्व स एव ॥२९॥

जँ इत्यादि— *जँ* यत् *जह* यथा *थक्कउ* स्थितं *दव्वु* द्रव्यं *जिय* हे जीव *तँ* तत् *तह* तथा *जाणइ* जानाति *जो जि* य एव । य एव कः ? *अप्पहँ केरउ भावडउ* आत्मनः संबन्धी भावः परिणामः *णाणु मुणिज्जहि* ज्ञानं मन्यस्व जानीहि *सो जि* स एव पूर्वोक्त आत्मपरिणाम इति । तथा च यद् द्रव्यं यथा स्थितं सत्तालक्षणं उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं वा गुणपर्यायलक्षणं वा सप्तभङ्ग्यात्मकं वा तत् तथा जानाति य आत्मसंबन्धी स्वपरपरिच्छेदको भावः परिणामस्तत् सम्यग्ज्ञानं भवति ।

अयमत्र भावार्थः — व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां तत्त्वविचारकाले स्वपरपरिच्छेदकं ज्ञानं भण्यते । निश्चयनयेन पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले बहिरुपयोगो यद्यप्यनीहितवृत्त्या निरस्तस्तथापीहापूर्वकविकल्पाभावाद्गौणत्वमितिकृत्वा स्वसंवेदनज्ञानमेव ज्ञानमुच्यते ॥२९॥

.....

आगे संशय, विमोह, विभ्रम रहित जो सम्यग्ज्ञान है; उसका स्वरूप प्रगट करते हैं—

हैं यथावस्थित द्रव्य सब उनको उसीमय जानना ।
वह आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान ऐसा मानना ॥२९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— हे जीव ! ये द्रव्य जिसरूप में अनादिकाल से स्थित हैं; उन्हें उसी रूप जो जानता है, वही आत्मा का निजस्वरूप सम्यग्ज्ञान है; —ऐसा तुम मानो ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***जँ दव्वु*** ये सब द्रव्य ***जह थक्कइ*** जिसप्रकार अनादिकाल से स्थित हैं, जैसा इनका स्वरूप है,***तँ तह*** उनको वैसा ही संशयादि रहित ***जो जि जाणइ*** जो जानता है, ***सो जि*** वही ***अप्पहँ केरउ भावडउ*** आत्मा का निजस्वरूप ***णाणु*** सम्यग्ज्ञान है, ऐसा ***मुणिज्जहि*** तुम मानो ।

जो द्रव्य है, वह सत्ता लक्षण है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, और सभी द्रव्य गुण-पर्याय को धारण करते हैं, गुण-पर्याय के बिना कोई नहीं हैं । अथवा सब ही द्रव्य सप्तभंगीस्वरूप हैं, ऐसा द्रव्यों का स्वरूप जो नि:संदेह जानता है, स्व और पर को पहिचानता है— ऐसा आत्मा का भाव (परिणाम), वह सम्यग्ज्ञान है।

सारांश यह है कि व्यवहारनय से विकल्प सहित अवस्था में तत्त्व के विचार के समय स्व और पर का जानपना ज्ञान कहा है, और निश्चयनय से वीतराग निर्विकल्प समाधि के समय, यद्यपि अनीहित वृत्ति से बाह्य उपयोग निषिद्ध है, तथापि इच्छा पूर्वक विकल्पों का अभाव होने से गौण किया है, ऐसा होने से केवल स्वसंवेदनज्ञान ही निश्चयसम्यग्ज्ञान कहा गया है । निश्चयसम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण है ॥२९॥

अथ स्वपरद्रव्यं ज्ञात्वा रागादिरूपपरद्रव्यविषयसंकल्पविकल्पत्यागेन स्वस्वरूपे अवस्थानं ज्ञानिनां चारित्रमिति प्रतिपादयति—

॥३०-१५३॥

जाणवि मण्णवि अप्पु परु जो पर-भाउ चएइ ।
सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिँ चरणु हवेइ ॥

ज्ञात्वा मत्वा आत्मानं परं यः परभावं त्यजति ।
स निजः शुद्धः भावः ज्ञानिनां चरणं भवति ॥३०॥

जाणवि इत्यादि—*जाणवि* सम्यग्ज्ञानेन ज्ञात्वा न केवलं ज्ञात्वा *मण्णवि* तत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षणपरिणामेन मत्वा श्रद्धाय । कम् ? *अप्पु परु* आत्मानं च परं च *जो* यः कर्ता *परभाउ* परभावं *चएइ* त्यजति *सो* स पूर्वोक्तः *णिउ* निजः *सुद्धउ भावडउ* शुद्धो भावो *णाणिहिँ चरणु हवेइ* ज्ञानिनां पुरुषाणां चरणं भवतीति ।

तद्यथा— वीतरागसहजानन्दैकस्वभावं स्वद्रव्यं तद्विपरीतं परद्रव्यं च संशयविपर्याया-नध्यवसायरहितेन ज्ञानेन पूर्वं ज्ञात्वा शङ्कादिदोषरहितेन सम्यक्त्वपरिणामेन श्रद्धाय च

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यः कर्ता मायामिथ्यानिदानशल्यप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालत्यागेन निजशुद्धात्मस्वरूपे परमानन्दसुखरसास्वादतृप्तो भूत्वा तिष्ठति स पुरुष एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीति भावार्थः ॥३०॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहार-मोक्षमार्गमुख्यत्वेन सूत्रत्रयं षड्द्रव्यश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राणि चतुर्दश, सम्यग्ज्ञानचारित्रमुख्यत्वेन सूत्रद्वयमिति समुदायेनैकोनविंशतिसूत्रस्थलं समाप्तम्।

आगे निज और परद्रव्य को जानकर रागादिरूप जो परद्रव्य सम्बन्धी संकल्प-विकल्प हैं, उनके त्याग से जो निजस्वरूप में निश्चलता होती है, वही ज्ञानी जीवों का सम्यक्चारित्र है; ऐसा कहते हैं—

जो जान मान सदा स्व-पर परभाव को नित छोड़ता ।
निज शुद्ध भावमयी चरण वह ज्ञानियों का है कहा ॥३०॥

दोहार्थ— आत्मा को और पर को जानकर, मानकर जो परभाव को छोड़ता है, वह ज्ञानियों का निज शुद्धभाव चरण सम्यक्चारित्र है ।

टीकार्थ— सम्यग्ज्ञान से ***अप्पु परु*** आपको और पर को ***जाणवि*** जानकर और सम्यग्दर्शन से ***मण्णवि*** आप और पर की प्रतीति करके, ***जो*** जो ***परभाउ*** परभाव को ***चएइ*** छोड़ता है, ***सो*** वह ***णिउ सुद्धउ भावडउ*** आत्मा का निज शुद्धभाव, ***णाणिहिँ*** ज्ञानी पुरुषों का ***चरणु*** चारित्र ***हवेइ*** है ।

वीतराग सहजानंद अद्वितीय स्वभावमय जो आत्मद्रव्य, उससे विपरीत पुद्गलादि परद्रव्यों को सम्यग्ज्ञान से पहले जाने; वह सम्यग्ज्ञान संशय-विमोह और विभ्रम इन तीनों से रहित है । तथा शंकादि दोषों से रहित जो सम्यग्दर्शन है, उससे आप और पर की श्रद्धा करे, यथार्थ रूप से जानकर प्रतीति करे; और माया-मिथ्या-निदान इन तीन शल्यों को आदि लेकर समस्त चिंता-समूह के त्याग से निज शुद्धात्मस्वरूप में स्थित होता है, वह परम आनंद अतीन्द्रिय सुखरस के आस्वाद से तृप्त हुआ पुरुष ही अभेदनय से निश्चयचारित्र है ॥३०॥

इसप्रकार मोक्ष, मोक्ष का फल, मोक्ष का मार्ग आदि कहने वाले दूसरे महाधिकार में निश्चयव्यवहाररूप निर्वाण के पंथ की मुख्यता से तीन दोहों में व्याख्यान किया, और चौदह दोहों में छह द्रव्य की श्रद्धारूप व्यवहारसम्यक्त्व का व्याख्यान किया, तथा दो दोहों में सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की मुख्यता से वर्णन किया । इसप्रकार उन्नीस दोहों का स्थल पूर्ण हुआ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथानन्तरमभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते, तत्रादौ तावत् रत्नत्रयभक्तभव्यजीवस्य लक्षणं प्रतिपादयति—

॥३१-१५४॥

जो भत्तउ रयणत्तयहँ तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अप्पा मिल्लिवि गुण-णिलउ तासु वि अण्णु ण ज्ञेउ ॥

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं एतत् ।
आत्मानं मुक्त्वा गुणनिलयं तस्यापि अन्यत् न ध्येयम् ॥३१॥

जो इत्यादि— *जो* यः *भत्तउ* भक्तः । कस्य ? *रयणत्तयहँ* रत्नत्रयसंयुक्तस्य *तसु* तस्य जीवस्य *मुणि* मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । किं जानीहि ? *लक्खणु* लक्षणं *एउ* इदमग्रे वक्ष्यमाणम् । इदं किम् ? *अप्पा मिल्लिवि* आत्मानं मुक्त्वा । किंविशिष्टम् ? *गुणणिलउ* गुणनिलयं गुणगृहं *तासु वि* तस्यैव जीवस्य *अण्णु ण ज्ञेउ* निश्चयेनान्यद्बहिर्द्रव्यं ध्येयं न भवतीति ।

तथाहि—व्यवहारेण वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्व-नवपदार्थविषये सम्यक्श्रद्धानज्ञानाहिंसादिव्रतशीलपरिपालनरूपस्य भेदरत्नत्रयस्य निश्चयेन वीतरागसदानन्दैकरूपसुखसुधारसास्वादपरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपस्याभेद-रत्नत्रयस्य च योऽसौ भक्तस्तस्येदं लक्षणं जानीहि । इदं किम् ? यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां चित्तस्थितिकरणार्थं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषकारणं परंपरया शुद्धात्मप्राप्तिहेतुभूतं पञ्चपरमेष्ठिरूपस्तववस्तुस्तवगुणस्तवादिकं वचनेन स्तुत्यं भवति मनसा च तदक्षररूपादिकं प्राथमिकानां ध्येयं भवति, तथापि पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयपरिणतिकाले केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिणतः स्वशुद्धात्मैव ध्येय इति ।

अत्रेदं तात्पर्यम्— योऽसावनन्तज्ञानादिगुणः शुद्धात्मा ध्येयो भणितः स एव निश्चयेनोपादेय इति ॥३१॥

.....

आगे अभेदरत्नत्रय के व्याख्यान की मुख्यता से आठ दोहा-सूत्र कहते हैं। उनमें से पहले रत्नत्रय के भक्त भव्यजीव का लक्षण कहते हैं—

जो रत्नत्रय का भक्त उसका यही लक्षण जानना ।
गुणनिलय आतम छोड़ उसका ध्येय कोई अन्य ना ॥३१॥

दोहार्थ— जो रत्नत्रय का भक्त है उसका यह लक्षण मानो कि उसका गुणों के भंडार अपने आत्मा को छोड़कर अन्य कुछ भी ध्येय नहीं होता है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो जीव ***रयणत्तयहँ भत्तउ*** रत्नत्रय का भक्त है ***तसु*** उसका

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एउ लक्खणु यह लक्षण ***मुणि*** जानना; हे प्रभाकरभट्ट ! रत्नत्रय धारक के ये लक्षण हैं । ***गुणणिलउ*** गुणों के समूह ***अप्पा मिल्लिवि*** आत्मा को छोड़कर ***तासु वि अण्णु*** आत्मा से अन्य बाह्य द्रव्य को ***ण झेउ*** न ध्यावे, निश्चयनय से एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, अन्य नहीं ।

व्यवहारनय से वीतराग-सर्वज्ञ के कहे हुए शुद्धात्मतत्त्व आदि छह द्रव्य,पंच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ (के विषय में सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अहिंसादिव्रत-शील परिपालनरूप भेदरत्नत्रय का और निश्चय से वीतराग सदानन्द एकरूप सुख-सुधारस के आस्वादरूपपरिणत निज शुद्धात्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुचरण रूप अभेदरत्नत्रय का जो वह भक्त है, उसका यह लक्षण जानो ।) आदि का श्रद्धान जानने योग्य है और हिंसादि पाप त्याग करने योग्य हैं, व्रत-शीलादि पालने योग्य हैं, ये लक्षण व्यवहाररत्नत्रय के हैं; इस व्यवहार का नाम भेद है, यह भेदरत्नत्रय आराधन-योग्य है, इसके प्रभाव से निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति है । वीतराग सदा आनंद एक रूप जो निज शुद्धात्मा आत्मिक सुखरूप सुधारस के आस्वाद से परिणत हुआ, उसका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप अभेदरत्नत्रय है, उसका जो भक्त, उसके ये लक्षण हैं, यह जानो । वे कौन से लक्षण हैं—यद्यपि व्यवहारनय से सविकल्प अवस्था में चित्त को स्थिर करने के लिये पंचपरमेष्ठी का स्तवन करता है; पंचपरमेष्ठी का वह स्तवन देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि विभूति का कारण है, और परम्परा से शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति का कारण है; प्रथम अवस्था में भव्यजीवों को पंचपरमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं, उनके आत्मा का स्तवन, गुणों की स्तुति, वचन से उनकी अनेक प्रकार की स्तुति करना, और मन से उनके नाम के अक्षर तथा उनका रूपादिक ध्यान-योग्य है; तो भी पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति के समय, केवलज्ञानादि अनन्तगुणरूप परिणत जो निज शुद्धात्मा, वही आराधन-योग्य है, अन्य नहीं ।

तात्पर्य यह है कि ध्यान करने योग्य या तो निज आत्मा है, या पंचपरमेष्ठी हैं, अन्य नहीं; प्रथम अवस्था में तो पंचपरमेष्ठी का ध्यान करना योग्य है, और निर्विकल्पदशा में निजस्वरूप ही ध्यान योग्य है, निजरूप ही उपादेय है ॥३१॥

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥

— समाधितंत्र, पद्य ४६॥

(नेत्रादि से) दिखाई देने वाले सभी अचेतन हैं, चेतन दिखाई नहीं देता, तब फिर मैं किस पर द्वेष करूँ, और किस पर राग करूँ; अतः मैं मध्यस्थ हूँ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ ये ज्ञानिनो निर्मलरत्नत्रयमेवात्मानं मन्यन्ते शिवशब्दवाच्यं ते मोक्षपदाराधकाः सन्तो निजात्मानं ध्यायन्तीति निरूपयति—

॥३२-१५५॥

जे रयण-त्तउ णिम्मलउ णाणिय अप्पु भणंति ।
ते आराहय सिव-पयहँ णिय-अप्पा झायंति ॥

ये रत्नत्रयं निर्मलं ज्ञानिनः आत्मानं भणन्ति ।
ते आराधकाः शिवपदस्य निजात्मानं ध्यायन्ति ॥३२॥

जे इत्यादि— *जे* ये केचन *रयणत्तउ* रत्नत्रयम् । कथंभूतम् ? *णिम्मलउ* निर्मलं रागादिदोषरहितम् । कथंभूता ये ? *णाणिय* ज्ञानिनः । किं कुर्वन्ति ? *अप्पु भणंति* पूर्वोक्तरत्नत्रयस्वरूपमेवात्मानं, आत्मस्वरूपं कर्मतापन्नं *भणंति* मन्यन्ते *ते आराहय* ते पूर्वोक्ताः पुरुषाः आराधका भवन्ति । कस्य ? *सिवपयहँ* शिवपदस्य शिवशब्दवाच्यमोक्ष-पदस्य । मोक्षपदाराधकाः सन्तः किं कुर्वन्ति ? *णियअप्पा झायंति* निजात्मानं कर्मतापन्नं ध्यायन्ति इति ।

तथा च ये केचन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः परमात्मानं सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षणं निश्चयरत्नत्रयमेवाभेदनयेन निजशुद्धात्मानं मन्यन्ते ते शिवशब्दवाच्यमोक्षपदाराधका भवन्ति। आराधकाः सन्तः किं ध्यायन्ति ? विशुद्धज्ञानदर्शनं स्वशुद्धात्मस्वरूपं निश्चयनयेन ध्यायन्ति भावयन्तीत्यभिप्रायः ॥३२॥

.....

आगे जो ज्ञानी निर्मल रत्नत्रय को ही आत्मस्वरूप मानते हैं, और अपने को ही शिव जानते हैं, वे ही मोक्षपद के आराधक हुए निज आत्मा को ध्याते हैं; ऐसा निरूपण करते हैं—

जो ज्ञानि निर्मल रत्नत्रय को ही कहें निज आतमा ।
वे मोक्ष आराधक सभी ध्याते सदा निज आतमा ॥३२॥

दोहार्थ— जो ज्ञानी निर्मल रत्नत्रय को आत्मारूप कहते हैं, वे मोक्ष पद के आराधक अपने आत्मा का ध्यान करते हैं ।

टीकार्थ— *जे णाणिय* जो ज्ञानी ***णिम्मलउ रयणत्तउ*** निर्मल रागादि दोष रहित रत्नत्रय को ***अप्पु*** आत्मा ***भणंति*** कहते हैं, ***ते*** वे ***सिवपयहँ आराहय*** शिवपद के आराधक हैं, और वे ही ***णिय अप्पा*** मोक्षपद के आराधक हुए अपने आत्मा को ***झायंति*** ध्याते हैं ।

जो कोई वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भेद नय से निजशुद्धात्मरूप मानते हैं, वे शिवशब्द के वाच्य मोक्षपद के आराधक ते हैं । वे ही मोक्षपद के आराधक हुए निश्चयनय से केवल विशुद्धज्ञान-दर्शनमयी त्रशुद्धात्मस्वरूप निजरूप को ही ध्याते हैं, उसी की भावना करते हैं ।।३२।।

अथात्मानं गुणस्वरूपं रागादिदोषरहितं ये ध्यायन्ति ते शीघ्रं नियमेन मोक्षं लभन्त ति प्रकटयति—

।।३३-१५६।।

अप्पा गुणमउ णिम्मलउ अणुदिणु जे झायंति ।
ते पर णियमैं परम-मुणि लहु णिव्वाणु लहंति ।।

आत्मानं गुणमयं निर्मलं अनुदिनं ये ध्यायन्ति ।
ते परं नियमेन परममुनयः लघु निर्वाणं लभन्ते ।।३३।।

अप्पा इत्यादि— *अप्पा* आत्मानं कर्मतापन्नम् । कथंभूतम् ? *गुणमउ* गुणमयं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणनिर्वृत्तम् । पुनरपि कथंभूतम् ? *णिम्मलउ* निर्मलं भावकर्मद्रव्यकर्म-नोकर्ममलरहितं *अणुदिणु* दिनं दिनं प्रति अनुदिनमनवरतमित्यर्थः । इत्थंभूतमात्मानं *जे झायंति* ये केचन ध्यायन्ति *ते पर* ते एव नान्ये *णियमैं* निश्चयेन । किंविशिष्टास्ते? *परममुणि* परममुनयः *लहु* लघु शीघ्रं *लहंति* लभन्ते । किं लभन्ते ? *णिव्वाणु* निर्वाणमिति ।

अत्राह प्रभाकरभट्टः — अत्रोक्तं भवद्भिर्य एव शुद्धात्मध्यानं कुर्वन्ति त एव मोक्षं लभन्ते न चान्ये । *चारित्रसारादौ* पुनर्भणितं द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यात्वा केवलज्ञानमुत्पादयन्तीत्यत्र विषये अस्माकं संदेहोऽस्ति । अत्र श्रीयोगीन्द्रदेवा परिहारमाहुः — तत्र द्रव्यपरमाणुशब्देन, द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वं ग्राह्यं न च पुद्गलद्रव्यपरमाणुः । तथा चोक्तं *सर्वार्थसिद्धिटिप्पणिके*— ''द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वमिति ।''[१]

तद्यथा— द्रव्यमात्मद्रव्यं तस्य परमाणुशब्देन सूक्ष्मावस्था ग्राह्या,सा च रागादि-विकल्पोपाधिरहिता । तस्य सूक्ष्मत्वं कथमिति चेत् ? निर्विकल्पसमाधिविषयत्वेनेन्द्रियमनो-विकल्पातीतत्वात् । भावशब्देन स्वसंवेदनपरिणामः तस्य भावस्य परमाणुशब्देन सूक्ष्मावस्था ग्राह्या । सूक्ष्मा कथमिति चेत् ? वीतरागनिर्विकल्पसमरसीभावविषयत्वेन पञ्चेन्द्रियमनो-विषयातीतत्वादिति ।

पुनरप्याह— इदं परद्रव्यावलम्बनं ध्यानं निषिद्धं किल भवद्भिः निजशुद्धात्मध्यानेनैव मोक्षः कुत्रापि[२] भणितमास्ते ? परिहारमाह— *''अप्पा झायहि णिम्मलउ''*[३] इत्यत्रैव ग्रन्थे निरन्तरं भणितमास्ते, ग्रन्थान्तरे च *समाधिशतकादौ* पुनश्चोक्तं तैरेव *पूज्यपादस्वामिभिः* —

---

१. सर्वार्थसिद्धि, अ.९, सूत्र-४४ की टीका । २. पाठान्तर - कुत्रापि - कुत्र ।
३. प्रस्तुत ग्रंथ, अ.१ दोहा-९७ पृष्ठ १३७ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

*''आत्मानमात्मा आत्मन्येवात्मनासौ क्षणमुपजनयन् स स्वयंभूः प्रवृत्तः''** अस्यार्थः — आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मा कर्ता आत्मन्येवाधिकरणभूते असौ पूर्वोक्तात्मा आत्मना करणभूतेन क्षणमन्तर्मुहूर्तमात्रं उपजनयन् निर्विकल्पसमाधिनाराधयन् स स्वयंभूः प्रवृत्तः सर्वज्ञो जात इत्यर्थः ।

ये च तत्र द्रव्यभावपरमाणुध्येयलक्षणे शुक्लध्याने द्व्यधिकचत्वारिंशद्विकल्पा भणितास्तिष्ठन्ति ते पुनरनीहितवृत्त्या ग्राह्याः । केन दृष्टान्तेनेति चेत् ? यथा प्रथमौपशमिक-सम्यक्त्वग्रहणकाले परमागमप्रसिद्धानधःप्रवृत्तिकरणादिविकल्पान् जीवः करोति न चात्रेहादि-पूर्वकत्वेन स्मरणमस्ति तथात्र शुक्लध्याने चेति ।

इदमत्र तात्पर्यम्— प्राथमिकानां चित्तस्थितिकरणार्थं विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं च परंपरया मुक्तिकारणमर्हदादिपरद्रव्यं ध्येयम्, पश्चात् चित्ते स्थिरीभूते साक्षान्मुक्तिकारणं स्वशुद्धात्मतत्त्वमेव ध्येयं नास्त्येकान्तः, एवं साध्यसाधकभावं ज्ञात्वा ध्येयविषये विवादो न कर्तव्यः इति ॥३३॥

.....

आगे यह व्याख्यान करते हैं कि जो अनन्त गुणरूप, रागादि दोष रहित निज आत्मा को ध्याते हैं, वे निश्चय से शीघ्र ही मोक्ष को पाते हैं—

गुणमयी निर्मल आत्मा का सतत करते ध्यान जो ।
वे परममुनि ही नियम से अतिशीघ्र पाते मोक्ष को ॥३३॥

दोहार्थ— जो गुणमय निर्मल आत्मा का निरंतर ध्यान करते हैं, वे ही परम मुनि नियम से शीघ्र मोक्ष प्राप्त करते हैं।

टीकार्थ— ***जे*** जो पुरुष ***गुणमउ*** केवलज्ञानादि अनन्त गुणरूप ***णिम्मलउ*** भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म मल रहित निर्मल ***अप्पा*** आत्मा को ***अणुदिणु*** निरन्तर ***झायंति*** ध्याते हैं, ***ते पर*** वे ही ***परममुणि*** परममुनि ***णियमें*** नियम से ***णिव्वाणु*** निर्वाण को ***लहु*** शीघ्र ***लहंति*** पाते हैं ।

—यह कथन श्रीगुरु ने किया, तब प्रभाकरभट्ट ने पूछा कि हे प्रभो ! आपने कहा कि जो शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं, वे ही मोक्ष को पाते हैं, दूसरे नहीं। परन्तु चारित्रसारादि ग्रन्थों में ऐसा कहा है कि जो द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु का ध्यान करते हैं, वे केवलज्ञान को पाते हैं । इस विषय में मुझे सन्देह है ।

तब श्रीयोगीन्द्रदेव समाधान करते हैं—द्रव्यपरमाणु से द्रव्य की सूक्ष्मता और भावपरमाणु से भाव की सूक्ष्मता कही गई है । उसमें पुद्गल परमाणु का कथन नहीं है । तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में भी ऐसा ही कथन है—''द्रव्यपरमाणु

---

* संस्कृत सिद्धभक्ति, पद्य-४ का अंश ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से द्रव्य की सूक्ष्मता और भावपरमाणु से भाव की सूक्ष्मता समझना; अन्य द्रव्य का कथन न लेना ।'' यहाँ निज द्रव्य तथा निज गुण-पर्याय का ही कथन है, अन्य द्रव्य का प्रयोजन नहीं है ।

द्रव्य अर्थात् आत्मद्रव्य उसकी सूक्ष्मता वह द्रव्यपरमाणु कहा जाता है । वह रागादि विकल्प की उपाधि से रहित है । उसको सूक्ष्मपना कैसे हो सकता है ? ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया । उसका समाधान इसप्रकार है—निर्विकल्प समाधि का विषय होने के कारण मन, इन्द्रियों के अगोचर होने से सूक्ष्म कहा जाता है । तथा भाव, स्वसंवेदनपरिणाम भी परमसूक्ष्म हैं, वीतराग निर्विकल्प परमसमरसीभावरूप हैं; वे मन और इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं हैं, इसलिये सूक्ष्म हैं ।

ऐसा कथन सुनकर फिर शिष्य ने पूछा कि आपने परद्रव्य के आलम्बनरूप ध्यान का निषेध किया, और निज शुद्धात्मा के ध्यान से ही मोक्ष कहा । ऐसा कथन किस जगह किया है ? इसका समाधान यह है—*''अप्पा झायहि णिम्मलउ*—निर्मल आत्मा को ध्यावो'' ऐसा कथन इस ही ग्रंथ में पहले किया है, और समाधिशतक आदि में भी है । उन्हीं श्रीपूज्यपादस्वामी ने कहा है *''आत्मानम्''* इत्यादि । अर्थात् ''जीवपदार्थ अपने स्वरूप को अपने में ही अपने से एक क्षणमात्र भी निर्विकल्प समाधि से आराधता हुआ वह सर्वज्ञ-वीतराग हो जाता है ।''

जिस शुक्लध्यान में द्रव्यपरमाणु की सूक्ष्मता और भावपरमाणु की सूक्ष्मता ध्यान करने योग्य है, ऐसे शुक्लध्यान में निजवस्तु और निजभाव का ही सहारा है, परवस्तु का नहीं । सिद्धान्त में द्रव्य-भाव परमाणु ध्येय लक्षण शुक्लध्यान के ब्यालीस भेद कहे हैं, वे अवांछीक वृत्ति से गौणरूप जानना, मुख्य वृत्ति से न जानना । उसका दृष्टांत—जैसे उपशमसम्यक्त्व ग्रहण के समय परमागम में प्रसिद्ध जो अध:करणादि भेद हैं, उनको जीव करता है, वे वांछापूर्वक नहीं होते, सहज ही होते हैं; वैसे ही शुक्लध्यान में भी ऐसे ही जानना ।

तात्पर्य यह है कि प्रथम-अवस्था में चित्त को स्थिर करने के लिए और विषय-कषायरूप खोटे ध्यान को रोकने के लिये परम्परा से मुक्ति के कारणरूप अरहंत आदि पंचपरमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं, बाद में चित्त के स्थिर होने पर साक्षात् मुक्ति का कारण जो निज शुद्धात्मतत्त्व है, वही ध्यान योग्य है; यह एकान्त दोष नहीं है । इसप्रकार साध्य-साधकभाव को जानकर ध्यान योग्य वस्तु में विवाद नहीं करना, पंचपरमेष्ठी का ध्यान साधक है, और आत्मध्यान साध्य है; यह नि:संदेह जानना ।।३३।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ सामान्यग्राहकं निर्विकल्पं सत्तावलोकदर्शनं कथयति—

॥३४-१५७॥

सयल-पयत्थहँ जं गहणु जीवहँ अग्गिमु होइ ।
वत्थु-विसेस-विवज्जियउ तं णिय-दंसणु जोइ ॥

सकलपदार्थानां यद् ग्रहणं जीवानां अग्रिमं भवति ।
वस्तुविशेषविवर्जितं तत् निजदर्शनं पश्य ॥३४॥

सयल इत्यादि—*सयलपयत्थहँ* सकलपदार्थानां *जं गहणु* यद् ग्रहणमवलोकनम्। कस्य ? *जीवहँ* जीवस्य अथवा बहुवचनपक्षे *'जीवहँ'* जीवानाम् । कथंभूतमवलोकनम्? *अग्गिमु* अग्रिमं सविकल्पज्ञानात्पूर्वं *होइ* भवति । पुनरपि कथंभूतम् ? *वत्थुविसेसविवज्जियउ* वस्तुविशेषविवर्जितं शुक्लमिदमित्यादिविकल्परहितं *तं* तत्पूर्वोक्तलक्षणं *णियदंसणु* निज आत्मा तस्य दर्शनमवलोकनं *जोइ* पश्य जानीहीति ।

अत्राह प्रभाकरभट्टः — निजात्मा तस्य दर्शनमवलोकनं दर्शनमिति व्याख्यातं भवद्भिरिदं तु सत्तावलोकदर्शनं मिथ्यादृष्टीनामप्यस्ति तेषामपि मोक्षो भवतु ? परिहारमाह— चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन चतुर्धा दर्शनम् । अत्र चतुष्टयमध्ये मानसमचक्षुर्दर्शनमात्मग्राहकं भवति, तच्च मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयजनिततत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यक्त्वाभावात् शुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयमिति श्रद्धानाभावे सति तेषां मिथ्यादृष्टीनां न भवत्येवेति भावार्थः॥३४॥

आगे सामान्य ग्राहक निर्विकल्प सत्तावलोकनरूप दर्शन को कहते हैं—

नित जानने से पूर्व सकल पदार्थ का जो ग्रहण है ।
है रहित वस्तु विशेष से वह जीव का निज दर्श है ॥३४॥

दोहार्थ— ज्ञान के पूर्व, वस्तु के विशेषों से रहित जो सम्पूर्ण पदार्थों का सामान्य ग्रहण, जीवों को होता है, उसे निजदर्शन जानो ।

टीकार्थ— ***जं*** जो ***जीवहँ*** जीवों का ***अग्गिमु*** ज्ञान के पहले ***सयलपयत्थहँ*** सब पदार्थों का ***वत्थुविसेसविवज्जियउ*** यह सफेद है, इत्यादि भेद रहित ***गहणु होइ*** सामान्यरूप देखना है, ***तं*** वह ***णियदंसणु*** निजदर्शन है, ***जोइ*** उसको तुम जानो ।

यहाँ प्रभाकरभट्ट पूछता है कि आपने जो कहा कि निजात्मा को देखना वह दर्शन है । परन्तु ऐसा दर्शन तो मिथ्यादृष्टियों के भी होता है, उनको भी मोक्ष कहना चाहिये ? इसका समाधान—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन —ये दर्शन के चार भेद हैं । इन चारों में, मन से जो देखना है, वह अचक्षुदर्शन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है; जो आँखों से देखना है, वह चक्षुदर्शन है, इत्यादि । इन चारों में से आत्मा का अवलोकन छद्मस्थ-अवस्था में मन से होता है, और वह आत्म-दर्शन मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से होता है । सम्यग्दृष्टि के तो यह दर्शन तत्त्वार्थश्रद्धानरूप होने से मोक्ष का कारण है, जिसमें शुद्ध-आत्म-तत्त्व ही उपादेय है । परन्तु मिथ्यादृष्टियों के तत्त्वश्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व का अभाव होने के कारण 'शुद्धात्म-तत्त्व ही उपादेय है' ऐसा श्रद्धान नहीं होने से आत्मा का दर्शन नहीं होता । मिथ्यादृष्टियों के स्थूलरूप परद्रव्य का देखना-जानना मन और इंद्रियों के द्वारा होता है, वह सम्यग्दर्शन नहीं है, इसलिये मोक्ष का कारण भी नहीं है । सारांश यह है कि उनके तत्त्वार्थश्रद्धान के अभाव से सम्यक्त्व का अभाव है, और सम्यक्त्व के अभाव से मोक्ष का अभाव है ।।३४।।

अथ छद्मस्थानां सत्तावलोकदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवतीति प्रतिपादयति—

।।३५-१५८।।

दंसणपुव्वु हवेइ फुडु जं जीवहँ विण्णाणु ।
वत्थु-विसेसु मुणंतु जिय तं मुणि अविचलु णाणु ।।

दर्शनपूर्वं भवति स्फुटं यत् जीवानां विज्ञानम् ।
वस्तुविशेषं जानन् जीव तत् मन्यस्व अविचलं ज्ञानम् ।।३५।।

दंसण पुव्वु इत्यादि— *दंसणपुव्वु* सामान्यग्राहकनिर्विकल्पसत्तावलोकदर्शनपूर्वकं *हवेइ* भवति *फुडु* स्फुटं *जं* यत् *जीवहँ* जीवानाम् । किं भवति ? *विण्णाणु* विज्ञानम् । किं कुर्वन् सन् ? *वत्थुविसेसु मुणंतु* वस्तुविशेषं वर्णसंस्थानादिविकल्पपूर्वकं जानन् । *जिय* हे जीव । *तं* तत् *मुणि* मन्यस्व जानीहि । किं जानीहि ? *अविचलु णाणु* अविचलं संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं ज्ञानमिति ।

तत्रेदं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं व्याख्यातम् । यद्यपि शुद्धात्मभावनाव्याख्यानकाले प्रस्तुतं न भवति तथापि भणितं भगवता । कस्मादिति चेत् ? चक्षुरचक्षुरवधिकेवलभेदेन दर्शनोपयोगश्चतुर्विधो भवति । तत्र चतुष्टयमध्ये द्वितीयं यदचक्षुर्दर्शनं मानसरूपं निर्विकल्पं यथा भव्यजीवस्य दर्शनमोहचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमक्षयलाभे सति शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपं वीतरागसम्यक्त्वं भवति तथैव च शुद्धात्मानुभूतिस्थिरतालक्षणं वीतरागचारित्रं भवति तदा काले तत्पूर्वोक्तं सत्तावलोकलक्षणं मानसं निर्विकल्पदर्शनं कर्तृ पूर्वोक्तनिश्चयसम्यक्त्व-चारित्रबलेन निर्विकल्पनिजशुद्धात्मानुभूतिध्यानेन सहकारिकारणं भवति पूर्वोक्तभव्यजीवस्य न चाभव्यस्य । कस्मात् ? निश्चयसम्यक्त्वचारित्राभावादिति भावार्थः ।।३५।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे केवलज्ञान के पहले छद्मस्थों को, पहले दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है; और केवली भगवान के दर्शन और ज्ञान एक साथ ही होते हैं, आगे-पीछे नहीं होते; यह कहते हैं—

छद्मस्थ के नित ज्ञान से ही पूर्व हो दर्शन सदा ।
वह ज्ञान अविचल विशेषों से युक्त वस्तु जानता ॥३५॥

दोहार्थ— छद्मस्थ जीवों के जो ज्ञान है, वह नियम से दर्शन पूर्वक ही होता है । हे जीव ! वह अविचल ज्ञान, वस्तु के विशेषों को जानता है— ऐसा मानो।

टीकार्थ— ***जं*** जो ***जीवहँ*** जीवों के ***विण्णाणु*** ज्ञान है, वह ***फुडु*** निश्चय से ***दंसणपुव्वु*** दर्शन के बाद में ***हवेइ*** होता है, ***तं णाणु*** वह ज्ञान ***वत्थुविसेसु मुणंतु*** वस्तु की विस्तीर्णता को जानने वाला है, उस ज्ञान को ***जिय*** हे जीव! ***अविचलु*** संशय, विमोह, विभ्रम से रहित ***मुणि*** तुम जानो ।

जो सामान्य को ग्रहण करे, विशेष न जाने, वह दर्शन है; तथा जो वस्तु का विशेष वर्ण, आकार आदि जाने, वह ज्ञान है; यह दर्शन-ज्ञान का व्याख्यान किया। यद्यपि यह व्यवहारसम्यग्ज्ञान शुद्धात्मा की भावना के व्याख्यान के समय प्रशंसा योग्य नहीं है, तो भी भगवान ने कहा है । क्योंकि चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल के भेद से दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है । उन चार भेदों में दूसरा भेद मनसम्बन्धी निर्विकल्परूप अचक्षुदर्शन जैसा भव्यजीवों के दर्शनमोह, चारित्रमोह के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय के होने पर शुद्धात्मानुभूति-रुचिरूप वीतराग सम्यक्त्व होता है, और उसीप्रकार शुद्धात्मानुभूति में स्थिरतारूप वीतरागचारित्र होता है, उस समय वह पूर्वोक्त सत्ता के अवलोकनरूप मनसम्बन्धी निर्विकल्पदर्शन पूर्वोक्त निश्चय सम्यक्त्व-चारित्र के बल से विकल्प रहित निज शुद्धात्मानुभूति के ध्यान द्वारा भव्य जीव को सहकारी कारण होता है । इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्ज्ञान भव्यजीव के ही होता है, अभव्य के सर्वथा नहीं; क्योंकि अभव्यजीव के निश्चय सम्यक्त्व-चारित्र का अभाव होने से वह मुक्ति का पात्र नहीं है। जो मुक्ति का पात्र होता है, उसी के व्यवहाररत्नत्रय की प्राप्ति होती है । व्यवहाररत्नत्रय परम्परा से मोक्ष का कारण है, और निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मुक्ति का कारण है, ऐसा तात्पर्य हुआ ॥३५॥

जो जीव-काय कहे गए भू आदि थावर त्रस सभी ।
वे जीव से हैं अन्य, उनसे जीव भी है अन्य ही ॥
— प्रवचनसार, गाथा १८२ का हिन्दी पद्य ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ परमध्यानारूढो ज्ञानी समभावेन दुःखं सुखं सहमानः स एवाभेदेन निर्जराहेतुर्भण्यते इति दर्शयति—

॥३६-१५९॥

दुक्खु वि सुक्खु सहंतु जिय णाणिउ झाण-णिलीणु ।
कम्महँ णिज्जर-हेउ तउ बुच्चइ संग-विहीणु ॥

दुःखमपि सुखं सहमानः जीव ज्ञानी ध्याननिलीनः ।
कर्मणः निर्जराहेतुः तपः उच्यते संगविहीनः ॥३६॥

दुक्खु वि इत्यादि— *दुक्खु वि सुक्खु सहंतु* दुःखमपि सुखमपि समभावेन सहमानः सन् *जिय* हे जीव । कोऽसौ कर्ता ? *णाणिउ* वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी । किंविशिष्टः ? *झाणणिलीणु* वीतरागचिदानन्दैकाग्र्यध्याननिलीनो रतः स एवाभेदेन *कम्महँ णिज्जरहेउ बुच्चइ* शुभाशुभकर्मणो निर्जराहेतुरुच्यते न केवलं ध्यानपरिणतपुरुषो निर्जराहेतुरुच्यते *तउ* परद्रव्येच्छानिरोधरूपं बाह्याभ्यन्तरलक्षणं द्वादशविधं तपश्च । किंविशिष्टः स तपोधनस्तत्तपश्च ? *संगविहीणु* संगविहीनो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहित इति।

अत्राह प्रभाकरभट्टः — ध्यानेन निर्जरा भणिता भवद्भिः उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति ध्यानलक्षणं, उत्तमसंहननाभावे कथं ध्यानमिति । भगवानाह— उत्तमसंहननेन यद्ध्यानं भणितं तदपूर्वगुणस्थानादिषूपशमक्षपकश्रेण्योर्यत् शुक्लध्यानं तदपेक्षया भणितम् । अपूर्वगुणस्थानादधस्तनगुणस्थानेषु धर्मध्यानस्य निषेधकं न भवति । तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने ध्यानग्रन्थे—

''यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम् ॥''[१]

किं च— रागद्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यातरूपं स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भणन्ति इदानीं तदभावेऽन्यच्चारित्रमाचरन्तु तपोधनाः । तथा चोक्तं तत्रेदम्—

''चरितारो न सन्त्यद्य यथाख्यातस्य संप्रति ।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥''[२]

पुनश्चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः मोक्षप्राभृते—

''अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाऊण लहहिं इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥''[३]

अयमत्र भावार्थः — यथादित्रिकसंहननलक्षणवीतरागयथाख्यातचारित्राभावेऽपीदानीं शेषसंहननेनापि शेषचारित्रमाचरन्ति तपस्विनः तथा त्रिकसंहननलक्षणशुक्लध्यानाभावेऽपि शेषसंहननेनापि संसारस्थितिच्छेदकारणं परंपरया मुक्तिकारणं च धर्मध्यानमाचरन्तीति॥३६॥

---

१. तत्त्वानुशासन, पद्य-८४ । २. तत्त्वानुशासन, पद्य-८६ । ३. मोक्षपाहुड़, गाथा-७७ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे परमध्यान में आरूढ़ ज्ञानी जीव समभाव से दु:ख-सुख को सहता हुआ, वही अभेदनय से निर्जरा का कारण कहा जाता है, ऐसा दिखाते हैं—

सुख-दु:ख सहते लीन आतमध्यान में जो ज्ञानि हैं ।
वे कर्मनिर्जर-हेतु संगविहीन तप भी कहे हैं ॥३६॥

दोहार्थ— हे जीव ! दु:ख-सुख सहते हुए, ध्यानलीन, संगविहीन ज्ञानी कर्मों की निर्जरा के कारण तप कहलाते हैं ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***णाणिउ*** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी ***झाणणिलीणु*** आत्मध्यान में लीन ***दुक्खु वि सुक्खु*** दु:ख और सुख को ***सहंतु*** समभावों से सहता हुआ अभेदनय से ***कम्महँ णिज्जरहेउ*** शुभ-अशुभ कर्मों की निर्जरा का कारण है, ऐसा भगवान ने ***बुच्चइ*** कहा है, और ***संगविहीणु तउ*** बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह रहित परद्रव्य की इच्छा के निरोधरूप बाह्य-अभ्यन्तर अनशनादि बारह प्रकार के तपरूप भी वह ज्ञानी है ।

यहाँ प्रभाकरभट्ट ने प्रश्न किया कि हे प्रभो ! आपने ध्यान से निर्जरा कही, वह एकाग्र चिन्ता के निरोधरूप ध्यान उत्तम संहनन वाले जीव के होता है; जहाँ उत्तमसंहनन ही नहीं है, वहाँ ध्यान कैसे हो सकता है ?

उसका समाधान श्रीगुरु करते हैं—उत्तम संहनन वाले मुनि के जो ध्यान कहा है, वह अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान आदि उपशम-क्षपकश्रेणी वालों के जो शुक्लध्यान होता है, उसकी अपेक्षा कहा गया है । उपशमश्रेणी वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच इन तीन संहनन वालों के होती है, उनके शुक्लध्यान का पहला पाया (भेद) है, वे ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे आते हैं; और क्षपकश्रेणी एक वज्रवृषभनाराच संहनन वाले के ही होती है, वे आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणी माँड़ते (प्रारम्भ करते) हैं, उनके आठवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का पहला पाया (भेद) होता है; वे आठवें, नववें, दशवें तथा दशवें से बारहवें गुणस्थान में पहुँचते हैं, ग्यारहवें में नहीं, तथा बारहवें में शुक्लध्यान का दूसरा पाया होता है, उसके प्रसाद से केवलज्ञान पाते हैं, और उसी भव में मोक्ष जाते हैं । इसलिये उत्तम संहनन की अपेक्षा शुक्लध्यान का कथन है ।

परन्तु आठवें गुणस्थान से नीचे के चौथे से लेकर सातवें तक शुक्लध्यान नहीं होता, धर्मध्यान छहों संहनन वालों के है, श्रेणी के नीचे धर्मध्यान ही है, उसका निषेध किसी संहनन में नहीं है । ऐसा ही कथन तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में किया है *''यत्पुनः''* इत्यादि । उसका अर्थ ऐसा है कि ''जो वज्रकाय के ही ध्यान होता है, ऐसा आगम का वचन है, वह दोनों श्रेणियों में शुक्लध्यान होने की अपेक्षा है; श्रेणी के नीचे जो धर्मध्यान है, उसका निषेध (न होना) किसी संहनन में नहीं किया है, यह निश्चय से जानना ।''

दूसरी बात यह है कि राग-द्वेष के अभावरूप उत्कृष्ट यथाख्यातस्वरूप स्वरूपाचरण ही निश्चयचारित्र है,वह इस समय पंचमकाल में भरतक्षेत्र में नहीं है, इसलिये साधुजन अन्य चारित्र का आचरण करो । चारित्र के पाँच भेद हैं— सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात । उनमें से इस समय इस क्षेत्र में सामायिक-छेदोपस्थापना ये दो ही चारित्र होते हैं, अन्य नहीं, इसलिये इनको ही आचरो । तत्त्वानुशासन में भी कहा है *''चरितारो''* इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि ''इस समय यथाख्यातचारित्र के आचरण करने वाले मौजूद नहीं हैं, तो क्या हुआ ? अपनी शक्ति के अनुसार तपस्वीजन सामायिक, छेदोपस्थापना का आचरण करो ।''

श्री कुंदकुंदाचार्य ने भी मोक्षपाहुड़ में ऐसा ही कहा है *''अज्जवि''* । उसका तात्पर्य यह है कि ''आज भी इस पंचमकाल में मन, वचन, काय की शुद्धता से आत्मा का ध्यान करके यह जीव इन्द्र पद को पाता है, अथवा लौकांतिकदेव होता है, और वहाँ से च्युत होकर मनुष्यभव धारण करके मोक्ष को पाता है ।''

अर्थात् इस समय पहले के तीन संहनन नहीं हैं, अतः वीतराग यथाख्यात चारित्र का तो अभाव है; परन्तु अर्धनाराच, कीलक, सृपाटिका ये आगे के तीन हैं; इन तीनों से सामायिक, छेदोपस्थापना का आचरण जैसे तपस्वी करते हैं; उसी प्रकार तीन संहनन में होने वाले शुक्लध्यान का अभाव होने पर भी शेष तीन संहनन द्वारा धर्मध्यान का आचरण करो । धर्मध्यान का अभाव छहों संहननों में नहीं है; शुक्लध्यान पहले के तीन संहननों में ही होता है, उनमें भी पहला पाया उपशमश्रेणी संबंधी तीनों संहननों में है, और दूसरा-तीसरा-चौथा पाया प्रथम संहननवाले ही के होता है, ऐसा नियम है । इसलिये अब शुक्लध्यान के अभाव में भी हीन संहनन वाले इस धर्मध्यान का आचरण करो । यह धर्मध्यान परम्परा से मुक्ति का मार्ग है, संसार की स्थिति को छेदने वाला है । जो कोई नास्तिक इस समय धर्मध्यान का अभाव मानते हैं, वे झूठ बोलनेवाले हैं, इस समय धर्मध्यान है; शुक्लध्यान नहीं है ॥३६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ सुखदुःखं सहमानः सन् येन कारणेन समभावं करोति मुनिस्तेन कारणेन पुण्यपापद्वयसंवरहेतुर्भवतीति दर्शयति—

॥३७-१६०॥

बिण्णि वि जेण सहंतु मुणि मणि सम-भाउ करेइ ।
पुण्णहँ पावहँ तेण जिय संवर-हेउ हवेइ ॥

द्वे अपि येन सहमानः मुनिः मनसि समभावं करोति ।
पुण्यस्य पापस्य तेन जीव संवरहेतुः भवति ॥३७॥

बिण्णि वि इत्यादि— *बिण्णि वि* द्वे अपि सुख-दुःखे *जेण* येन कारणेन *सहंतु* सहमानः सन् । कोऽसौ कर्ता ? *मुणि* मुनिः स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानी । *मणि* अविक्षिप्तमनसि। *समभाउ* समभावं सहजशुद्धज्ञानानन्दैकरूपं रागद्वेषमोहरहितं परिणामं कर्मतापन्नं *करेइ* करोति परिणमति *पुण्णहँ पावहँ* पुण्यस्य पापस्य संबन्धी *तेण* तेन कारणेन *जिय* हे जीव *संवरहेउ* संवरहेतुः कारणं *हवेइ* भवतीति ।

अयमत्र तात्पर्यार्थः — कर्मोदयवशात् सुखदुःखे जातेऽपि योऽसौ रागादिरहितमनसि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मसंवित्तिं न त्यजति स पुरुष एवाभेदनयेन द्रव्यभावरूपपुण्यपापसंवरस्य हेतुः कारणं भवतीति ॥३७॥

.....

आगे, जो मुनिराज सुख-दुःख को सहते हुए समभाव रखते हैं, अर्थात् सुख में हर्ष नहीं करते, और दुःख में खेद नहीं करते, जिनके सुख-दुःख दोनों ही समान हैं, वे ही साधु पुण्यकर्म-पापकर्म के संवर के कारण हैं, आने वाले कर्मों को रोकते हैं; ऐसा दिखलाते हैं—

दोनों सहन करते मुनि समभाव मन में नित रखें ।
उससे बनें वे हेतु संवर सदा पुण्य रु पाप के ॥३७॥

दोहार्थ— जिस कारण दोनों को ही सहते हुए ज्ञानी मुनि मन में समभाव धारण करते हैं, अतः हे जीव ! वे पुण्य-पाप के संवर-हेतु हैं ।

टीकार्थ— ***जेण*** जिस कारण ***बिण्णि वि सहंतु*** सुख-दुःख दोनों को ही सहते हुए ***मुणि*** स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानी ***मणि*** निश्चित मन में ***समभाउ*** समभावों को ***करेइ*** धारण करते हैं; अर्थात् राग, द्वेष, मोह रहित स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानानन्द एकस्वरूप परिणमन करते हैं, विभावरूप नहीं परिणमते, ***तेण*** इसी कारण ***जिय*** हे जीव ! ***पुण्णहँ पावहँ संवरहेउ*** वे मुनि सहज में ही पुण्य और पाप इन दोनों के संवर के कारण ***हवेइ*** होते हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कर्म के उदय से सुख-दु:ख उत्पन्न होने पर भी जो मुनीश्वर रागादि रहित मन में शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप अपने निज शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं, वे ही पुरुष अभेदनय से द्रव्य-भावरूप पुण्य-पाप के संवर के कारण हैं ।।३७।।

अथ यावन्तं कालं रागादिरहितपरिणामेन स्वशुद्धात्मस्वरूपे तन्मयो भूत्वा तिष्ठति तावन्तं कालं संवरनिर्जरां करोतीति प्रतिपादयति—

।।३८-१६१।।

अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प-सरूवि णिलीणु ।
संवर-णिज्जर जाणि तुहुँ सयल-वियप्प-विहीणु ।।

तिष्ठति यावन्तं कालं मुनिः आत्मस्वरूपे निलीनः ।
संवरनिर्जरां जानीहि त्वं सकलविकल्पविहीनम् ।।३८।।

अत्थ (च्छ) इ इत्यादि— ***अत्थ (च्छ) इ*** तिष्ठति । किं कृत्वा तिष्ठति ? ***जित्तिउ कालु*** यावन्तं कालं प्राप्य ***मुणि*** मुनिः । क्व तिष्ठति ? ***अप्पसरूवि*** निजशुद्धात्मस्वरूपे । कथंभूतः सन् ? ***णिलीणु*** निश्चयेन लीनो द्रवीभूतो वीतरागनित्यानन्दैकपरमसमरसीभावेन परिणतः हे प्रभाकरभट्ट इत्थंभूतपरिणामपरिणतं तपोधनमेवाभेदेन ***संवरणिज्जर जाणि तुहुँ*** संवरनिर्जरास्वरूपं जानीहि त्वम् । पुनरपि कथंभूतम् ? ***सयलवियप्पविहीणु*** सकलविकल्पहीनं ख्यातिपूजालाभप्रभृतिविकल्पजालावलीरहितमिति । अत्र विशेषव्याख्यानं यदेव पूर्वसूत्रद्वयभणितं तदेव ज्ञातव्यम् । कस्मात् ? तस्यैव निर्जरासंवरव्याख्यानस्योपसंहारोऽयमित्यभिप्रायः ।।३८।।

एवं मोक्षमोक्षमार्गमोक्षफलादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारोक्तसूत्राष्टकेनाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यत्वेन स्थलं समाप्तम् ।

आगे जिस समय जितने कालतक रागादि रहित परिणामों से निज शुद्धात्मस्वरूप में तन्मय हुआ ठहरता है, तब तक संवर और निर्जरा को करता है, ऐसा कहते हैं—

संकल्प और विकल्प बिन जब तक मुनि निजरूप में ।
ही लीन रहते जानना संवर व निर्जर तब उन्हें ।।३८।।

दोहार्थ— संकल्प-विकल्प से रहित मुनि जब तक आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं, तब तुम उन्हें संवर-निर्जरास्वरूप जानो ।

टीकार्थ— ***मुणि*** मुनिराज ***जित्तिउ कालु*** जब तक ***अप्पसरूवि णिलीणु*** आत्मस्वरूप में लीन ***अच्छइ*** रहते हैं, अर्थात् वीतराग नित्यानन्द परम समरसीभाव से परिणत हुए अपने स्वभाव में तल्लीन होते हैं, उस समय हे प्रभाकरभट्ट !

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तुहुँ तुम ***सयलवियप्पविहीणु*** समस्त विकल्प समूहों से रहित अर्थात् ख्याति (अपनी बड़ाई), पूजा (अपनी प्रतिष्ठा), लाभ आदि विकल्प-जालावली से रहित उन मुनि को ***संवरणिज्जर*** संवर-निर्जरा स्वरूप ***जाणि*** जानो । यहाँ पर भावार्थरूप विशेष व्याख्यान जो पहले दो सूत्रों में किया था, वही जानो । इसप्रकार संवर-निर्जरा का व्याख्यान संक्षेपरूप से किया गया है ॥३८॥

इसप्रकार मोक्ष, मोक्ष-मार्ग, मोक्ष-फल आदि का निरूपण करने वाले दूसरे महाधिकार में कहे गए आठ दोहा-सूत्रों से अभेदरत्नत्रय के व्याख्यान की मुख्यता से अन्तरस्थल पूर्ण हुआ ।

अत ऊर्ध्वं चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं परमोपशमभावमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति ।

तथाहि—

॥३९-१६२॥

कम्मु पुरक्किउ सो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।
संगु मुएविणु जो सयलु उवसम-भाउ करेइ ॥

कर्म पुराकृतं स क्षपयति अभिनवं प्रवेशं न ददाति ।
संगं मुक्त्वा यः सकलं उपशमभावं करोति ॥३९॥

कम्मु इत्यादि— ***कम्मु पुरक्किउ*** कर्म पुराकृतं ***सो खवइ*** स एव वीतरागस्वसंवेदन-तत्त्वज्ञानी क्षपयति । पुनरपि किं करोति ? ***अहिणव पेसु ण देइ*** अभिनवं कर्म प्रवेशं न ददाति । स कः ? ***संगु मुएविणु जो सयलु*** संगं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा यः कर्ता समस्तम् । पश्चात्किं करोति ? ***उवसमभाउ करेइ*** जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादि-समताभावलक्षणं समभावं करोति ।

तद्यथा—स एव पुराकृतं कर्म क्षपयति नवतरं संवृणोति य एव बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा सर्वशास्त्रं पठित्वा च शास्त्रफलभूतं वीतरागपरमानन्दैकसुखरसास्वादरूपं समभावं करोतीति भावार्थः । तथाचोक्तम्—

''साम्यमेवादराद्भाव्यं किमन्यैर्ग्रन्थविस्तरैः ।
प्रक्रियामात्रमेवेदं वाङ्मयं विश्वमस्य हि ॥''॥३९॥

आगे चौदह दोहों में परम उपशमभाव की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं—

जो सकल संग विमुक्त हो उपशान्तमय ही परिणमें ।
वे करें पूरव कर्म निर्जर नये का संवर करें ॥३९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— जो सम्पूर्ण परिग्रह छोड़कर परम शान्तभाव रखते हैं, वे पूर्वकृत कर्मों का क्षय करते हैं, और नवीन कर्मों को प्रवेश नहीं देते ।

टीकार्थ— ***सो*** वही वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी ***पुरक्किउ कम्मु*** पूर्व उपार्जित कर्मों का ***खवइ*** क्षय करता है, और ***अहिणव*** नये कर्मों को ***पेसु ण देइ*** प्रविष्ट नहीं होने देता, ***जो*** जो कि ***सयलु*** सब ***संगु*** बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह को ***मुएविणु*** छोड़कर ***उवसमभाव*** परम शान्तभाव को ***करेइ*** करता है; अर्थात् जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दु:ख, शत्रु, मित्र, तृण, कांचन इत्यादि वस्तुओं में एकसा परिणाम रखता है ।

जो मुनिराज सकल परिग्रह को छोड़कर सब शास्त्रों का रहस्य जानके वीतराग परमानन्द एक सुखरस के आस्वादी हुए समभाव रखते हैं, वे ही साधु पूर्व के कर्मों का क्षय करते हैं, और नवीन कर्मों को रोकते हैं । ऐसा ही कथन पद्मनन्दिपच्चीसी में भी है । *''साम्यमेव''* इत्यादि । इसका तात्पर्य यह है कि ''आदर से समभाव को ही धारण करना चाहिये, अन्य ग्रन्थ के विस्तारों से क्या? समस्त ग्रंथ तथा सकल द्वादशांग इस समभावरूप सूत्र की ही टीका है ।''।।३९।।

अथ य: समभावं करोति तस्यैव निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि नान्यस्येति दर्शयति—

।।४०-१६३।।

दंसणु णाणु चरित्तु तसु जो सम-भाउ करेइ ।
इयरहँ एक्कु वि अत्थि णवि जिणवरु एउ भणेइ ।।

दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तस्य य: समभावं करोति ।
इतरस्य एकमपि अस्ति नैव जिनवर: एवं भणति ।।४।।

दंसणु इत्यादि— ***दंसणु णाणु चरित्तु*** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं ***तसु*** निश्चयनयेन तस्यैव भवति । **कस्य ?** ***जो समभाउ करेइ*** य: कर्ता समभावं करोति ***इयरहँ*** इतरस्य समभावरहितस्य ***एक्कु वि अत्थि णवि*** रत्नत्रयमध्ये नास्त्येकमपि ***जिणवरु एउ भणेइ*** जिनवरो वीतराग: सर्वज्ञ एवं भणतीति ।

तथाहि— निश्चयनयेन निज शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तस्यैव निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दमधुररसास्वादोऽयमात्मा निरन्तराकुलत्वोत्पादकत्वात् कटुकरसास्वादा: कामक्रोधादय इति भेदज्ञानं तस्यैव भवति स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वीतरागचारित्रं तस्यैव भवति । तस्य कस्य ? वीतरागनिर्विकल्पपरमसामायिकभावनानुकूलं निर्दोषिपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं य: समभावं करोतीति भावार्थ: ।।४०।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे जो जीव समभाव रखता है, उसी के निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र होता है, अन्य के नहीं, ऐसा दिखलाते हैं—

समभाव धारण करें जो हो ज्ञान दर्शन सत उन्हें ।
चारित्र सम्यक् हो उन्हें ना अन्य के जिनवर कहें ॥४०॥

दोहार्थ— जो समभाव रखते हैं, उनके दर्शन, ज्ञान, चारित्र है; अन्य के एक भी नहीं है—ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ।

टीकार्थ— ***दंसणुणाणुचरित्तु*** सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ***तसु*** उसी के निश्चय से होते हैं, ***जो*** जो ***समभाउ*** समभाव ***करेइ*** करता है, ***इयरहँ*** दूसरे समभाव रहित जीव के ***एक्कु वि*** तीन रत्नों में से एक भी ***णवि अत्थि*** नहीं हैं, ***एउ*** इसप्रकार ***जिणवरु*** जिनेन्द्रदेव ***भणेइ*** कहते हैं ।

निश्चयनय से निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन उस समभाव धारक के होता है; और निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानंद मधुर रस का आस्वाद, उस स्वरूप आत्मा है; तथा निरन्तर आकुलता को उत्पन्न करने वाले होने से काम-क्रोधादि महा कटुक रसरूप अत्यंतविरस हैं, ऐसा भेदज्ञानपूर्वक जानना, वह सम्यग्ज्ञान है, यह भी उसके ही होता है; और स्वरूप के आचरणरूप वीतरागचारित्र भी उसी समभाव को धारण करने वाले के ही होता है । वीतराग, निर्विकल्प, परम सामायिकभाव की भावना के अनुकूल सन्मुख निर्दोषी परमात्मा के यथार्थ श्रद्धान, यथार्थ ज्ञान और स्वरूप में यथार्थ आचरणरूपचारित्र उसी को होता है, जो समभाव धारण करता है; उसी को परमसमाधि की सिद्धि होती है ॥४०॥

अथ यदा ज्ञानी जीव उपशाम्यति तदा संयतो भवति कामक्रोधादिकषायवशं गतः पुनरसंयतो भवतीति निश्चिनोति—

॥४१-१६४॥

जावइँ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ ।
होइ कसायहँ वसि गयउ जीउ असंजदु सोइ ॥

यावत् ज्ञानी उपशाम्यति तावत् सयंतो भवति ।
भवति कषायाणां वशे गतः जीवः असंयतः स एव ॥४१॥

जावइँ इत्यादि— ***जावइँ*** यदा काले ***णाणिउ*** ज्ञानी जीवः ***उवसमइ*** उपशाम्यति ***तामइ*** तदा काले ***संजदु होइ*** संयतो भवति । ***होइ*** भवति ***कसायहँ वसि गयउ***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कषायवशं गतः *जीवः* । कथंभूतो भवति ? *असंजदु* असयंतः । कोऽसौ ? *सोइ* स एव पूर्वोक्तजीव इति ।

अयमत्र भावार्थः — अनाकुलत्वलक्षणस्य स्वशुद्धात्मभावनोत्थपारमार्थिकसुखस्यानुकूलपरमोपशमे यदा ज्ञानी तिष्ठति तदा संयतो भवति तद्विपरीतपरमाकुलत्वोत्पादककामक्रोधादौ परिणतः पुनरसंयतो भवतीति । तथा चोक्तम्—

''अकसायं तु चरित्तं कषायवसगदो असंजदो होदि ।
उवसमइ जम्हि काले तक्काले संजदो होदि ।।''।।४१।।

आगे ऐसा कहते हैं कि जिस समय ज्ञानी जीव शांतभाव को धारण करता है, उसी समय संयमी होता है, तथा जब क्रोधादि कषाय के वश होता है, तब असयंमी होता है—

वह जब कषायें उपशमाता तभी ज्ञानी संयमी ।
हो कषायों के वश यदि तो जान संयम है नहीं ।।४१।।

दोहार्थ— जब ज्ञानी उपशमभाव रखता है, तब वह संयत है । यदि जीव कषायों के वशीभूत है, तो वही असंयत है ।

टीकार्थ— ***जावइँ*** जिस समय ***णाणिउ जीउ*** ज्ञानी जीव ***उवसमइ*** शांतभाव को प्राप्त होता है, ***तामइ*** उस समय ***संजदु होइ*** संयमी होता है, और ***कसायहँ*** क्रोधादि कषायों के ***वसि गयउ*** आधीन हुआ ***सोइ*** वही जीव ***असंजदु*** असंयमी ***होइ*** होता है ।

आकुलता रहित निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुए निर्विकल्प पारमार्थिक सुखों के अनुकूल परम शांतभाव में जिस समय ज्ञानी रहता है, उसी समय संयमी कहलाता है, और आत्मभावना में परम आकुलता के उत्पन्न करने वाले काम-क्रोधादि अशुद्ध भावों रूप परिणमता हुआ जीव असंयमी होता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है 'अकसायं' इत्यादि । अर्थात् ''कषाय का जो अभाव है, वही चारित्र है, इसलिये कषाय के आधीन हुआ जीव असंयमी होता है, और जब कषायों को शांत करता है, तब संयमी कहलाता है।'' ।।४१।।

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुण समिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ।।

—प्रवचनसार, गाथा २६७

हैं पापविरहित सर्व धार्मिक जनों में समभावयुत ।
गुणग्रामसेवि सुमार्ग के हैं पात्र वे नर गुणों युत ।।

पापों से रहित, सभी धार्मिकों में समभाव रखनेवाले, गुणसमूह का सेवन करने वाले वे पुरुष, सुमार्ग के पात्र हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ येन कषाया भवन्ति मनसि तं मोहं त्यजेति प्रतिपादयति—

॥४२-१६५॥

जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्लहि मोहु ।
मोह-कसाय-विवज्जियउ पर पावहि सम-बोहु ॥

येन कषाया भवन्ति मनसि तं जीव मुञ्च मोहम् ।
मोहकषायविवर्जितः परं प्राप्नोषि समबोधम् ॥४२॥

जेण इत्यादि— *जेण* येन वस्तुना वस्तुनिमित्तेन मोहेन वा । किं भवति ? *कसाय हवंति* क्रोधादिकषाया भवन्ति । क्व भवन्ति ? *मणि* मनसि *सो तं जिय* हे जीव *मिल्लहि* मुञ्च । कम् ? तं पूर्वोक्तं *मोहु* मोहं मोहनिमित्तपदार्थं चेति । पश्चात् किं लभते त्वम् ? *मोहकसायविवज्जियउ* मोहकषायविवर्जितः सन् *पर* परं नियमेन *पावहि* प्राप्नोषि कं कर्मतापन्नम् ? *समबोहु* समबोधं रागद्वेषरहितं ज्ञानमिति ।

तथाहि— निर्मोहनिजशुद्धात्मध्यानेन निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्वविपरीतं हे जीव मोहं मुञ्च, येन मोहेन मोहनिमित्तवस्तुना वा निष्कषायपरमात्मतत्त्वविनाशकाः क्रोधादिकषाया भवन्ति पश्चान्मोहकषायाभावे सति रागादिरहितं विशुद्धज्ञानं लभसे त्वमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तम्—

''तं वत्थुं मुत्तव्वं जं पडि उप्पज्जए कसायग्गी ।
तं वत्थुमल्लिएज्जो (तद् वस्तु अंगीकरोति, इति टिप्पणी) जत्थुवसम्मो कसायाणं ॥'' ॥४२॥*

आगे जिस मोह से मन में कषायें होती हैं, उस मोह को तुम छोड़ो ऐसा वर्णन करते हैं—

जिससे कषायी हो हृदय उस मोह को तुम छोड़ दो ।
तो मोह और कषाय बिन समबोध को तुम प्राप्त हो ॥४२॥

दोहार्थ— हे जीव ! जिससे मन में कषायें होती हैं, उस मोह को तुम छोड़ दो । मोहकषाय से रहित होने पर नियम से तुम समबोध प्राप्त करोगे ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***जेण*** जिस मोह से अथवा मोह को उत्पन्न करने वाली वस्तु से ***मणि*** मन में ***कसाय*** कषायें ***हवंति*** होती हैं, ***सो मोहु*** उस मोह को अथवा मोह निमित्तक पदार्थ को ***मिल्लहि*** छोड़ो, ***मोहकसाय-विवज्जियउ*** फिर मोह को छोड़ने से मोह-कषाय रहित हुए तुम ***पर*** नियम से ***समबोहु*** राग-द्वेष रहित ज्ञान को ***पावहि*** प्राप्त करोगे ।

---

* भगवती आराधना, गाथा २६४ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्मोह निज शुद्धात्मा के ध्यान से, निर्मोह निज शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत मोह को हे जीव छोड़ो । जिस मोह से अथवा मोह करने वाले पदार्थ से कषाय रहित परमात्मतत्त्वरूप ज्ञानानंद स्वभाव की विनाशक क्रोधादि कषायें होती हैं, इन्हीं से संसार है; इसलिये मोह-कषाय का अभाव होने पर ही रागादि रहित निर्मल ज्ञान को तुम पा सकोगे । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है—''तं वत्थु'' इत्यादि । अर्थात् ''वह वस्तु मन-वचन-काय से छोड़ देनी चाहिये, जिससे कषायरूपी अग्नि उत्पन्न होती हो; तथा उस वस्तु को अंगीकार करना चाहिये, जिससे कषाय शांत हो ।''

तात्पर्य यह है कि विषयादिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टि पापियों का संग सब प्रकार से मोह-कषाय को उत्पन्न करता है, इससे ही मन में कषायरूपी अग्नि धधकती रहती है, वह सब प्रकार से छोड़ना चाहिये; और सत्संगति तथा शुभ सामग्री (कारण) कषायों को उपशमाती है—कषायरूपी अग्नि को बुझाती है, इसलिये उस संगति आदि को अंगीकार करना चाहिये ।।४२।।

अथ हेयोपादेयतत्त्वं ज्ञात्वा परमोपशमे स्थित्वा येषां ज्ञानिनां स्वशुद्धात्मनि रतिस्त एव सुखिन इति कथयति—

।।४३-१६६।।

तत्तातत्तु मुणेवि मणि जे थक्का सम-भावि ।
ते पर सुहिया इत्थु जगि जहँ रइ अप्प-सहावि ।।

तत्त्वातत्त्वं मत्वा मनसि ये स्थिताः समभावे ।
ते परं सुखिनः अत्र जगति येषां रतिः आत्मस्वभावे ।।४३।।

तत्तातत्तु इत्यादि— ***तत्तातत्तु मुणेवि*** अन्तस्तत्त्वं बहिस्तत्त्वं मत्वा । क्व ? ***मणि*** मनसि ***जे*** ये केचन वीतरागस्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञानिनः ***थक्का*** स्थिता । क्व ? ***समभावि*** परमोपशमपरिणामे ***ते पर*** त एव ***सुहिया*** सुखिनः ***इत्थु जगि*** अत्र जगति । के ते? ***जहँ रइ*** येषां रतिः । क्व ? ***अप्पसहावि*** स्वकीयशुद्धात्मस्वभावे इति ।

तथाहि— यद्यपि व्यवहारेणानादिबन्धनबद्धं तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धरहितं, यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन स्वयंकृतशुभाशुभकर्मफलभोक्ता तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकसुखामृतभोक्ता, यद्यपि व्यवहारेण कर्मक्षयानन्तरं मोक्षभाजनं भवति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सदा मुक्तमेव, यद्यपि व्यवहारेणेन्द्रियजनितज्ञानदर्शनसहितं तथापि निश्चयेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावं, यद्यपि व्यवहारेण स्वोपात्तदेहमात्रं तथापि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशं, यद्यपि व्यवहारेणोपसंहारविस्तारसहितं तथापि मुक्तावस्थायामुपसंहारविस्ताररहितं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चरमशरीरप्रमाणप्रदेशं, यद्यपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तथापि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावमिति निजशुद्धात्मद्रव्यं पूर्वं ज्ञात्वा तद्विलक्षणं परद्रव्यं च निश्चित्य पश्चात् समस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पत्यागेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मतत्त्वे ये रतास्त एव धन्या इति भावार्थः । तथा चोक्तं परमात्मतत्त्वलक्षणे श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—

''नाभावो सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्तैः ।
अस्त्यात्मानादिबद्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी ।
ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरूपसमाहारविस्तारधर्मा ।
*ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुतइतो नान्यथा साध्यसिद्धिः ।।''**।।४३।।

.....

आगे हेयोपादेय तत्त्व को जानकर परम शांतभाव में स्थित होकर जिनके निःकषायभाव हुआ और निजशुद्धात्मा में जिनकी लीनता हुई, वे ही ज्ञानी परम सुखी हैं, ऐसा कथन करते हैं—

जो मान तत्त्वातत्त्व को मन से रहें समभाव में ।
जिनकी रति निजभाव में वे परम सुखमय जगत में ।।४३।।

दोहार्थ— जो तत्त्वातत्त्व को मानकर मन से समभाव में स्थित रहते हैं, जिनकी रति आत्मस्वभाव में है, वे ही जीव इस जगत में सुखी हैं ।

टीकार्थ— ***जे*** जो कोई वीतराग, स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानी जीव ***तत्तातत्तु*** आराधन-योग्य निज पदार्थ और त्यागने-योग्य रागादि सकल विभावों को ***मणि*** मन में ***मुणेवि*** जानकर ***समभावि थक्का*** शांतभाव में स्थित होते हैं, और ***जहँ रइ*** जिनकी लगन ***अप्पसहावि*** निज शुद्धात्म-स्वभाव में हुई है, ***ते पर*** वे ही जीव ***इत्थु जगि*** इस संसार में ***सुहिया*** सुखी हैं ।

यद्यपि यह आत्मा व्यवहारनय की अपेक्षा अनादिकाल से कर्मबंधन में बँधा है; तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश—इन चार प्रकार के बंधनों से रहित है । यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय से अपने उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों के फल का भोक्ता है, तो भी शुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा निज शुद्धात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न हुए वीतराग परमानंद एक सुखरूप अमृत को ही भोगने वाला है । यद्यपि व्यवहारनय से कर्मों का क्षय होने के बाद मोक्ष का पात्र है, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सदा मुक्त ही है । यद्यपि व्यवहारनय से इंद्रियजनित मति आदि क्षायोपशमिकज्ञान तथा चक्षु आदि दर्शन सहित है, तो भी निश्चयनय से सकल विमल केवलज्ञान और

---

* संस्कृत सिद्ध भक्ति, पद्य २ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

केवलदर्शन स्वभाव वाला है । यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा यह जीव नामकर्म से प्राप्त देहप्रमाण है, तो भी निश्चयनय से लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है । यद्यपि व्यवहारनय से प्रदेशों के संकोच-विस्तार सहित है, तो भी सिद्ध-अवस्था में संकोच-विस्तार से रहित चरमशरीरप्रमाण प्रदेश वाला है । यद्यपि पर्यायार्थिकनय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनय से नित्य टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक अखण्ड स्वभाव ध्रुव ही है ।

इसप्रकार पहले निज शुद्धात्मद्रव्य को अच्छी तरह जानकर और आत्मस्वरूप से विपरीत पुद्गलादि परद्रव्यों का भी अच्छी तरह निश्चय करके अर्थात् आपा-पर का निश्चय करके, बाद में समस्त मिथ्यात्व-रागादि विकल्पों को छोड़कर वीतराग चिदानंद एक स्वभाव स्वशुद्धात्मतत्त्व में जो लीन हुए हैं, वे ही धन्य हैं । ऐसा ही कथन परमात्मतत्त्व के लक्षण में श्रीपूज्यपादस्वामी ने किया है, ''नाभाव'' इत्यादि । अर्थात् ''यह आत्मा व्यवहारनय से अनादि का बँधा हुआ है, और अपने किये हुये कर्मों के फल का भोक्ता है, उन कर्मों के क्षय से मोक्षपद का भोक्ता है, ज्ञाता है, देखने वाला है, अपनी देह के प्रमाण है, संसार-अवस्था में प्रदेशों के संकोच-विस्तार को धारण करता है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है, और अपने गुण-पर्याय सहित है । इसप्रकार आत्मा को जानने से ही साध्य की सिद्धि है, अन्य प्रकार से नहीं है ।'' ॥४३॥

अथ योऽसावेवोपशमभाव करोति तस्य निन्दाद्वारेण स्तुति त्रिकलेन कथयति—

॥४४-१६७॥

बिण्णि वि दोस हवंति तसु जो सम-भाउ करेइ ।
बंधु जि णिहणइ अप्पणउ अणु जगु गहिलु करेइ ॥

द्वौ अपि दोषौ भवतः तस्य यः समभावं करोति ।
बन्धं एव निहन्ति आत्मीयं अन्यत् जगद् ग्रहिलं करोति ॥४४॥

बिण्णि वि तिरछा इत्यादि— *बिण्णि वि* द्वावपि । द्वौ कौ ? *दोस* दोषौ *हवंति* भवतः *तसु* तस्य तपोधनस्य *जो समभाउ करेइ* यः समभावं करोति रागद्वेषत्यागं करोति। तौ दोषौ *बंधु जि णिहणंइ* बन्धमेव निहन्ति । कथंभूतं बन्धम् ? *अप्पणउ* आत्मीयं *अणु* पुनः *जगु* जगत् प्राणिगणं *गहिलु करेइ* ग्रहिलं पिशाचसमानं विकलं करोति ।

अयमत्र भावार्थः — समशब्देनात्राभेदनयेन रागादिरहित आत्मा भण्यते, तेन कारणेन योऽसौ समं करोति वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं निजात्मानं परिणमति तस्य दोषद्वयं भवति। कथमिति चेत् ? प्राकृतभाषया बन्धुशब्देन ज्ञानावरणादिबन्धा भण्यन्ते गोत्रं च येन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कारणेनोपशमस्वभावेन परमात्मस्वरूपेण परिणतः सन् ज्ञानावरणादिकर्मबन्धं निहन्ति तेन कारणेन स्तवनं भवति, अथवा येन कारणेन बन्धुशब्देन गोत्रमपि भण्यते तेन कारणेन बन्धुघाती लोकव्यवहारभाषया निन्दापि भवतीति । तथा चोक्तम्—लोकव्यवहारे ज्ञानिनां लोकः पिशाचो भवति लोकस्याज्ञानिजनस्य ज्ञानी पिशाच इति ।।४४।।

आगे जो संयमी परम शांतभाव का ही कर्ता है, उसकी निंदा द्वारा स्तुति तीन गाथाओं में करते हैं—

समभाव जो धारण करे दो दोष होते हैं उसे ।
निजबंध को ही नष्ट करता जगत को पागल करे ।।४४।।

दोहार्थ— जो समभाव करता है उसके दो ही दोष होते हैं— १. वह अपने बंध को नष्ट कर देता है, २. जगत को पागल बना देता है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो साधु ***समभाउ*** राग-द्वेष के त्यागरूप समभाव को ***करेइ*** करता है, ***तसु*** उस तपोधन के ***बिण्णि वि दोस*** दो दोष ***हवंति*** होते हैं । ***अप्पणउ बंधु जि णिहणइ*** एक तो अपने बंध को नष्ट करता है, ***अणु*** दूसरे ***जगु गहिलु करेइ*** जगत के प्राणियों को बावला-पागल बना देता है ।

('सम' शब्द द्वारा यहाँ अभेदनय से रागादि रहित आत्मा कहा गया है, उस कारण जो वह सम करता है, वीतराग चिदानन्द एक स्वभाव निजात्मारूप परिणमित होता है, उसके दो दोष होते हैं) यह निंदा द्वारा स्तुति है । प्राकृत भाषा में बंधु शब्द से ज्ञानावरणादि कर्मबंध भी लिया जाता है, तथा भाई को भी कहते हैं । यहाँ पर बंधु-हत्या निंद्य है, इससे एक तो बंधु-हत्या का दोष आया तथा दूसरा दोष यह है कि जो कोई इनका उपदेश सुनता है, वह वस्त्र-आभूषण का त्याग कर नग्न दिगम्बर हो जाता है । कपड़े उतारकर नंगा हो जाना, उसे लोग गहला-पागल कहते हैं । ये दोनों लोकव्यवहार में दोष हैं, इन शब्दों के ऐसे अर्थ ऊपर से निकाले हैं । परन्तु दूसरे अर्थ में कोई दोष नहीं है, स्तुति ही है । क्योंकि कर्मबंध नाश करने ही योग्य है, तथा जो समभाव का धारक है, वह आप नग्न दिगम्बर हो जाता है, और अन्य को दिगम्बर कर देता है, सो मूढ़ लोग निंदा करते हैं । यह दोष नहीं है गुण ही है । मूढ़ लोगों के जानने में ज्ञानीजन बावले हैं, और ज्ञानियों के जानने में जगत के जन बावले हैं । क्योंकि ज्ञानी जगत से विमुख हैं, तथा जगत ज्ञानियों से विमुख है ।।४४।।

मोहक्खोहविहीणं चारित्तं खलु धम्मो
मोह-क्षोभ से रहित चारित्र वास्तविक धर्म है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥४५-१६८॥

अण्णु वि दोसु हवेइ तसु जो सम-भाउ करेइ ।
सत्तु वि मिल्लिवि अप्पणउ परहँ णिलीणु हवेइ ॥

अन्यः अपि दोषो भवति तस्य यः समभावं करोति ।
शत्रुमपि मुक्त्वा आत्मीयं परस्य निलीनः भवति ॥४५॥

अण्णु वि इत्यादि— ***अण्णु वि*** न केवलं पूर्वोक्त अन्योऽपि ***दोसु*** दोषः ***हवेइ*** भवति ***तसु*** तस्य तपोधनस्य । यः किं करोति? ***जो समभाउ करेइ*** यः कर्ता समभावं करोति । पुनरपि किं करोति? शत्रुमपि मुञ्चति । कथंभूतं शत्रुम्? ***अप्पणउ*** आत्मीयम् । पुनश्च किं करोति? ***परहँ णिलीणु हवेइ*** परस्यापि लीनः अधीनो भवति इति ।

अयमत्र भावार्थः — यो रागादिरहितस्य समभावलक्षणस्य निजपरमात्मनो भावनां करोति स पुरुषः शत्रुशब्दवाच्यं ज्ञानावरणादिकर्मरूपं निश्चयशत्रुं मुञ्चति परशब्दवाच्यं परमात्मानमाश्रयति च तेन कारणेन तस्य स्तुतिर्भवति । अथवा यथा लोकव्यवहारेण बन्धनबद्धं निजशत्रुं मुक्त्वा कोऽपि केनापि कारणेन तस्यैव परशब्दवाच्यस्य शत्रोरधीनो भवति तेन कारणेन स निन्दां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोऽपीति ॥४५॥

आगे समभाव के धारक मुनि की और भी निंदा-स्तुति करते हैं—

समभाव जो करते उन्हें कुछ दूसरे भी दोष हों ।
वे आत्मशत्रु छोड़कर के अन्य के आधीन हों ॥४५॥

दोहार्थ— जो समभाव करते हैं उनके और भी दोष होते हैं । वे अपने शत्रु को छोड़कर भी पर के आधीन हो जाते हैं ।

टीकार्थ— ***जो*** जो ***समभाउ*** समभाव को ***करेइ*** करता है, ***तसु*** उस तपोधन के ***अण्णु वि दोसु*** दूसरा भी दोष ***हवेइ*** है । क्योंकि ***परहँ णिलीणु*** पर के आधीन ***हवेइ*** होता है, और ***अप्पणउ वि*** अपने आधीन भी ***सत्तु*** शत्रु को ***मिल्लिवि*** छोड़ देता है ।

जो तपोधन धन-धान्यादि का राग त्यागकर परम शांतभावरूप निज परमात्मा की भावना करता है, राजा-रंक को समान जानता है, उसके दोष कभी नहीं हो सकता; सदा स्तुति के योग्य है । तो भी शब्द की योजना से निंदा द्वारा स्तुति की गई है, वह इसप्रकार — शत्रु शब्द से कहे गये जो ज्ञानावरणादि कर्म-शत्रु, उनको छोड़कर पर शब्द से कहे गये परमात्मा का आश्रय करता है । इसमें निंदा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्या हुई, बल्कि स्तुति ही हुई । परन्तु लोकव्यवहार में अपने आधीन शत्रु को छोड़कर यदि किसी कारण से पर शब्द से कहे गये शत्रु के आधीन आप होता है, तो लौकिक-निंदा ही प्राप्त करता है; यह शब्द के छल से निंदा-स्तुति की गई । वह शब्द के श्लेष रूप अलंकार कहा गया है ॥४५॥

अथ—

॥४६-१६९॥

अण्णु वि दोसु हवेइ तसु जो समभाउ करेइ ।
वियलु हवेविणु इक्कलउ उप्परि जगहँ चडेइ ॥

अन्यः अपि दोषो भवति तस्य यः समभावं करोति ।
विकलः भूत्वा एकाकी उपरि जगतः आरोहति ॥४६॥

अण्णु वि इत्यादि— ***अण्णु वि*** न केवलं पूर्वोक्तोऽन्योऽपि ***दोसु*** दोषः ***हवेइ*** भवति। ***तसु*** तस्य तपस्विनः । यः किं करोति ? ***जो समभाउ करेइ*** यः कर्ता समभावं करोति। पुनरपि किं करोति ? ***वियलु हवेविणु*** विकलः कलरहितः शरीररहितो भूत्वा ***इक्कलउ*** एकाकी पश्चात् ***उप्परि जगहँ चडेइ*** उपरितनभागे जगतो लोकस्यारोहणं करोतीति ।

अयमत्राभिप्रायः — यः तपस्वी रागादिविकल्परहितस्य परमोपशमरूपस्य निज-शुद्धात्मनो भावनां करोति स कलशब्दवाच्यं शरीरं मुक्त्वा लोकस्योपरि तिष्ठति तेन कारणेन स्तुतिं लभते अथवा यथा कोऽपि लोकमध्ये चित्तविकलो भूतः सन् निन्दां लभते तथा शब्दच्छलेन तपोधनोऽपीति ॥४६॥

आगे पुनः समदृष्टि की निंदा-स्तुति करते हैं—

नित और भी कुछ दोष हों समभाव जो करते उन्हें ।
वे विकल होकर अकेले ही लोक के ऊपर चढ़ें ॥४६॥

दोहार्थ— जो समभाव करते हैं उन्हें अन्य भी दोष होते हैं । वे विकल होकर एकाकी जगत के ऊपर चढ़ते हैं ।

टीकार्थ— ***जो*** जो तपस्वी महामुनि ***समभाउ*** समभाव ***करेइ*** करता है, ***तसु*** उसके ***अण्णु वि*** दूसरा भी ***दोसु*** दोष ***हवेइ*** होता है, वह ***वियलु हवेविणु*** शरीर रहित होकर अथवा बुद्धि, धन आदि से भ्रष्ट होकर ***इक्कलउ*** अकेला ***जगहँ उप्परि*** लोक के शिखर पर अथवा सबके ऊपर ***चडेइ*** चढ़ता है ।

जो तपस्वी रागादि विकल्प रहित परम उपशमभावरूप निज शुद्धात्मा की भावना करता है, उसकी शब्द के छल से तो निंदा है कि वह विकल अर्थात् बुद्धि आदि से भ्रष्ट होकर लोक अर्थात् लोकों के ऊपर चढ़ता है । यह लोक-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निंदा हुई । लेकिन यथार्थ अर्थ ऐसा है कि विकल अर्थात् शरीर से रहित होकर तीन लोक के शिखर (मोक्ष) पर विराजमान हो जाता है । यह स्तुति ही है । क्योंकि जो अनंत सिद्ध हुए, तथा होंगे, वे शरीर रहित निराकार होकर जगत के शिखर पर विराजमान हैं ।।४६।।

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

जा णिसि सयलहँ देहयहँ जोग्गिउ तहिँ जग्गेइ ।
जहिँ पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ ।।१-४।।

या निशा सकलानां देहिनां योगी तस्यां जागर्ति ।
यत्र पुनः जागर्ति सकलं जगत् तां निशां मत्वा स्वपिति ।।१-४।।

जा णिसि **इत्यादि—** ***जा णिसि*** **या वीतरागपरमानन्दैकसहजशुद्धात्मावस्था मिथ्यात्वरागाद्यन्धकारावगुण्ठिता सती रात्रिः प्रतिभाति । केषाम् ?** ***सयलहँ देहियउँ*** **सकलानां स्वशुद्धात्मसंवित्तिरहितानां देहिनाम् ।** ***जोग्गिउ तहिँ जग्गेइ*** **परमयोगी वीतराग-निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरत्नप्रदीपप्रकाशेन मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालान्धकारमपसार्य स तस्यां तु शुद्धात्मना जागर्ति ।** ***जहिँ पुणु जग्गइ सयलु जगु*** **यत्र पुनः शुभाशुभमनोवाक्काय-परिणामव्यापारे परमात्मतत्त्वभावनापराङ्मुखः सन् जगज्जागर्ति स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितः सकलोऽज्ञानी जनः** ***सा णिसि मणिवि सुवेइ*** **तां रात्रिं मत्वा त्रिगुप्तिगुप्तः सन् वीत-रागनिर्विकल्पपरमसमाधियोगनिद्रायां स्वपिति निद्रां करोतीति । अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो भण्यत इति तात्पर्यार्थः ।।१-४।।**

आगे स्थलसंख्या के सिवाय क्षेपक दोहा कहते हैं—

जो रात है संसारियों को वहाँ योगी जागते ।
जिसमें जगें संसारि उसको मान रात्रि सुप्त हैं ।।१-४।।

दोहार्थ— जो सम्पूर्ण शरीरधारियों को रात है, उसमें योगी जाग्रत रहते हैं, और जहाँ सम्पूर्ण जगत जाग्रत रहता है, उसे योगी रात मानकर सोते हैं ।

टीकार्थ— ***जा*** जो ***सयलहँ देहियहँ*** सब संसारी जीवों की ***णिसि*** रात है, ***तहिँ*** उस रात में ***जोग्गिउ*** परम तपस्वी ***जग्गेइ*** जागता है, ***पुणु*** और ***जहिँ*** जिसमें ***सयलु जगु*** सब संसारी जीव ***जग्गइ*** जाग रहे हैं, ***सा*** उस दशा को ***णिसि मणिवि*** योगी रात मानकर ***सुवेइ*** योग निद्रा में सोता है ।

जो जीव वीतराग परमानंदरूप एक सहज शुद्धात्मा की अवस्था से रहित हैं, मिथ्यात्व-रागादि अन्धकार से मंडित हैं—उन्हें वह परमानन्द अवस्था रात्रि के समान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मालूम होती है । कैसे हैं ये जगत के जीव ? आत्म-ज्ञान से रहित हैं, अज्ञानी हैं, और अपने स्वरूप से विमुख हैं, जिनके जाग्रत-दशा नहीं है, अचेत सो रहे हैं । ऐसी रात्रि में वह परमयोगी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूपी रत्नदीप के प्रकाश से मिथ्यात्व-रागादि विकल्प-जालरूप अन्धकार को दूरकर अपने स्वरूप में सावधान होने से सदा जागता है । तथा शुद्धात्मा के ज्ञान से रहित शुभ-अशुभ मन, वचन, काय के परिणमनरूप व्यापारवाले स्थावर-जंगम सकल अज्ञानी जीव परमात्मतत्त्व की भावना से पराङ्मुख हुए विषय-कषायरूप अविद्या में सदा सावधान हैं, जाग रहे हैं; उस अवस्था में उसे विभावपर्याय मानने के कारण वे महामुनि सावधान (जागते) नहीं रहते । इसलिए संसार की दशा में सोते हुए मालूम पड़ते हैं । जिनको आत्मस्वभाव के सिवाय विषय-कषायरूप प्रपंच मालूम भी नहीं है । उस प्रपंच को रात्रि के समान जानकर उसे याद भी नहीं करते; मन, वचन, काय की तीन गुप्ति में अचल हुए वीतराग निर्विकल्प परम समाधिरूप योग-निद्रा में मग्न हो रहे हैं । सारांश यह है कि ध्यानी मुनियों को आत्मस्वरूप ही गम्य है, प्रपंच गम्य नहीं है; और जगत के प्रपंची मिथ्यादृष्टि जीवों को आत्मस्वरूप गम्य नहीं है, अनेक प्रपंचों में (झगड़ों में)लगे हुए हैं । प्रपंच की सावधानी रखने को भूल जाना वही परमार्थ है, तथा बाह्य विषयों में जाग्रत होना ही भूल है ॥९१॥

अथ ज्ञानी पुरुष: परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति दर्शयति—

॥४७-१७०॥

णाणि मुएप्पिणु भाउ समु कित्थु वि जाइ ण राउ ।
जेण लहेसइ णाणमउ तेण जि अप्प-सहाउ ॥

ज्ञानी मुक्त्वा भावं शमं क्वापि याति न रागम् ।
न लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव आत्मस्वभावम् ॥४७॥

णाणि **इत्यादि—** ***णाणि*** **परमात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी** ***मुएप्पिणु*** **मुक्त्वा । कम् ?** ***भाउ*** **भावम् । कथंभूतं भावम् ?** ***समु*** **उपशमं पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषरहितं वीतरागपरमाह्लादसहितम् ।** ***कित्थु वि जाइ ण राउ*** **तं पूर्वोक्तं समभावं मुक्त्वा क्वापि बहिर्विषये रागं न याति न गच्छति । कस्मादिति चेत् ?** ***जेण लहेसइ*** **येन कारणेन लभिष्यति भाविकाले प्राप्स्यति । कम् ?** ***णाणमउ*** **ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्वृत्तं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणं ।** ***तेण जि*** **तेनैव समभावेन** ***अप्पसहाउ*** **निर्दोषिपरमात्मस्वभावमिति ।**

इदमत्र तात्पर्यम्— ज्ञानी पुरुष: शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं समभावं विहाय बहिर्भावे रागं न गच्छति येन कारणेन समभावेन बिना शुद्धात्मलाभो न भवतीति ॥४७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे परमवीतरागरूप समभाव को छोड़कर शरीरादि परद्रव्य में राग नहीं करते, ऐसा दिखलाते हैं—

यह छोड़कर शमभाव ज्ञानी कहीं राग नहीं करे ।
जिससे उसे निज ज्ञानमय आतमस्वभाव सदा मिले ।।४७।।

दोहार्थ— ज्ञानी समभाव को छोड़कर कहीं भी राग नहीं करता है, जिससे उसी से वह ज्ञानमय आत्मस्वभाव प्राप्त करेगा ।

टीकार्थ— ***णाणि*** निज-पर के भेद को जानने वाले ज्ञानी मुनि ***समु भाउ*** समभाव को ***मुएप्पिणु*** छोड़कर ***कित्थु वि*** किसी भी पदार्थ में ***राउ ण जाइ*** राग नहीं करते, ***जेण*** इसी कारण ***तेण जि*** उसी समभाव से ***णाणमउ*** ज्ञानमयी केवलज्ञान पूर्ण ***अप्प सहाउ*** आत्मस्वभाव को ***लहेसइ*** प्राप्त करेंगे।

जो अनन्त सिद्ध हुए, वे समभाव के प्रसाद से हुए हैं, और जो होंगे, वे इसी भाव से होंगे । इसलिए ज्ञानी समभाव के सिवाय अन्य भावों में राग नहीं करते। इस समभाव के बिना अन्य उपाय से शुद्धात्मा का लाभ नहीं है । एक समभाव ही भवसागर से पार होने का उपाय है । समभाव उसे कहते हैं, जो पंचेन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा से रहित वीतराग परमानंदसहित निर्विकल्प निजभाव हो ।।४७।।

अथ ज्ञानी कमप्यन्यं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न निन्दतीति प्रतिपादयति—

।।४८-१७१।।

भणइ भणावह णवि थुणइ णिंदइ णाणि ण कोइ ।
सिद्धिहिँ कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ ।।

भणति भाणयति नैव स्तौति निन्दति ज्ञानी न कमपि ।
सिद्धेः कारणं भावं समं जानन् परं तमेव ।।४८।।

भणइ इत्यादि— ***भणइ*** भणति नैव ***भणावइ*** नैवान्यं भाणयति न भणन्तं प्रेरयति ***णवि थुणइ*** नैव स्तौति ***णिंदइ णाणि ण कोइ*** निन्दति ज्ञानी न कमपि । किं कुर्वन् सन्? ***सिद्धिहिँ कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोइ*** जानन् । कम् ? ***परं*** भावं परिणामम् । कथंभूतम्? ***समु*** समं रागद्वेषरहितम् । पुनरपि कथंभूतं ? कारणम् । कस्याः ? सिद्धेः परं नियमेन ***सोइ*** तमेव सिद्धिकारणं परिणाममिति ।

इदमत्र तात्पर्यम्— परमोपेक्षासंयमभावनारूपं विशुद्धज्ञानदर्शननिजशुद्धात्मतत्त्व-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणं साक्षात्सिद्धिकारणं कारणसमयसारं जानन् त्रिगुप्तावस्थायां अनुभवन् सन् भेदज्ञानी पुरुषः परं प्राणिनं न भणति न प्रेरयति न स्तौति न च निन्दतीति।।४८।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कहते हैं कि ज्ञानीजन समभाव का स्वरूप जानते हुए न किसी से पढ़ते हैं, न किसी को पढ़ाते हैं, न किसी को प्रेरणा करते हैं, न किसी की स्तुति करते हैं, न किसी की निंदा करते हैं—

पढ़ते-पढ़ाते नहीं ना निंदा व स्तुति किसी की ।
शिवहेतु ज्ञानी जानते समभाव रहते वहाँ ही ।।४८।।

दोहार्थ— निर्विकल्प ज्ञानी न तो किसी से पढ़ते हैं और न किसी को पढ़ाते हैं, न किसी की स्तुति करते हैं और न किसी की निंदा करते हैं । मोक्ष के कारणभूत समभाव को जानते हुए वास्तव में उस आत्मा में ही लीन रहते हैं ।

टीकार्थ— ***णाणि*** निर्विकल्प ध्यानी पुरुष ***कोइ ण*** न किसी का ***भणइ*** शिष्य होकर पढ़ते हैं, ***भणावह*** न गुरु होकर किसी को पढ़ाते हैं, ***णवि थुणइ णिंदइ*** न किसी की स्तुति करते हैं, न किसी की निंदा करते हैं, ***सिद्धिहिँ कारणु*** मोक्ष के कारणभूत ***समु भाउ*** एक समभाव को ***परं*** निश्चय से ***जाणंतउ*** जानते हुए ***सोइ*** केवल आत्मस्वरूप में अचल हो रहते हैं, अन्य कुछ भी शुभ-अशुभ कार्य नहीं करते ।

परमोपेक्षा संयम अर्थात् तीन गुप्ति में स्थिर परम समाधि, उसमें आरूढ़ जो परमसंयम, उसकी भावनारूप निर्मल ज्ञानदर्शनस्वभावी निजशुद्धात्मतत्त्व का यथार्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र—वही जिसका लक्षण है, ऐसे मोक्ष का कारण जो कारण समयसार, उसे जानता हुआ, त्रिगुप्तावस्था में अनुभवता हुआ भेदज्ञानी अनुभवी पुरुष, न किसी प्राणी को सिखाता है, न किसी से सीखता है, न स्तुति करता है, न निंदा करता है । उसे शत्रु-मित्र, सुख-दुःख सब एक समान हैं ।।४८।।

अथ बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेच्छायाः पञ्चेन्द्रियविषयभोगाकांक्षादेहमूर्च्छाव्रतादिसंकल्प-विकल्परहितेन निजशुद्धात्मध्यानेन योऽसौ निजशुद्धात्मानं जानाति स परिग्रहविषयदेहव्रताव्रतेषु रागद्वेषौ न करोतीति चतुष्कलं प्रकटयति—

।।४९-१७२।।

गंथहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
गंथहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ।।

ग्रन्थस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
ग्रन्थाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ।।४९।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गंथहँ इत्यादि— *गंथहँ उप्परि* ग्रन्थस्य बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्योपरि अथवा ग्रन्थरचनारूपशास्त्रस्योपरि *परममुणि* परमतपस्वी *देसु वि करइ ण* द्वेषमपि न करोति न *राउ* रागमपि । येन तपोधनेन किं कृतम् । *गंथहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्पसहाउ* ग्रन्थात्सकाशाद्येन विज्ञातो भिन्न आत्मस्वभाव इति ।

तद्यथा— मिथ्यात्वं, स्त्र्यादिवेदकांक्षारूपवेदत्रयं, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं नोकषायषट्कं, क्रोधमानमायालोभरूपं कषायचतुष्टयं चेति चतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहाः, क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डरूपा बाह्यपरिग्रहाः इत्थंभूतान् बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहान् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणे वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाद्भिन्नमात्मानं जानाति स परिग्रहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति । अत्रेदं व्याख्यानं एवं गुणविशिष्टनिर्ग्रन्थस्यैव शोभते न च सपरिग्रहस्येति तात्पर्यार्थः ॥४९॥

आगे बाह्य-अंतरंग परिग्रह की इच्छा से, पाँच इंद्रियों के विषय-भोगों की इच्छा से, देह में ममता, मिथ्यात्व, अव्रत आदि समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित निज शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा जो निज शुद्धात्मा को जानता है, वह परिग्रह में तथा विषय में, देहसंबंधी व्रत-अव्रत में राग-द्वेष नहीं करता, ऐसा चार सूत्रों से प्रगट करते हैं—

है ज्ञात जिनको पृथक् आत्मस्वभाव नित ही ग्रन्थ से ।
वे परममुनि ना राग करते द्वेष ना सब ग्रन्थ से ॥४९॥

दोहार्थ— जिन्होंने जिनवाणी के माध्यम से आत्मा का स्वभाव, सम्पूर्ण पर पदार्थों से पृथक् जान लिया है, वे ग्रन्थ/अंतरंग-बहिरंग परिग्रह के ऊपर राग-द्वेष नहीं करते हैं ।

टीकार्थ— ***गंथहँ उप्परि*** अंतरङ्ग-बाह्य परिग्रह के ऊपर अथवा शास्त्र के ऊपर वे ***परममुणि*** परम तपस्वी ***राउ देसु वि ण करइ*** राग और द्वेष नहीं करते हैं, ***जेण*** जिनने ***अप्पसहाउ*** आत्मा का स्वभाव ***गंथहँ*** ग्रंथ से ***भिण्णउ वियाणियउ*** पृथक् ज्ञात कर लिया है ।

मिथ्यात्व, स्त्री आदि वेद की आकांक्षा रूप तीन वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चौदह अंतरङ्ग परिग्रह और क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भांडरूप दस बाह्य परिग्रह—इसप्रकार चौबीस प्रकार के अभ्यन्तर-बाह्य परिग्रहों को तीन जगत में, तीनों कालों में, मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से छोड़कर और शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर जो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अभ्यन्तर-बाह्य परिग्रहरूप परवस्तु से अपने को भिन्न जानता है, वह परिग्रह के ऊपर राग-द्वेष नहीं करता है ।

यहाँ पर यह व्याख्यान इसप्रकार के गुणों से विशिष्ट निर्ग्रंथ मुनि को ही शोभा देता है, परिग्रहधारी को नहीं शोभा देता है, ऐसा तात्पर्य जानना ।।४९।।

अथ—

।।५०-१७३।।

विसयहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
विसयहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ।।

विषयाणां उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
विषयेभ्यः येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ।।५०।।

विसयहँ **इत्यादि—** ***विसयहँ*** **उप्परि विषयाणामुपरि** ***परममुणि*** **परममुनिः** ***देसु वि करइ ण राउ*** **द्वेषमपि नापि करोति न च रागमपि । येन किं कृतम् ।** ***विसयहँ जेण वियाणियउ*** **विषयेभ्यो येन विज्ञातः । कोऽसौ विज्ञातः ?** ***भिण्णउ अप्पसहाउ*** **आत्मस्वभावः । कथंभूतो ? भिन्न इति ।**

तथा च—द्रव्येन्द्रियाणि भावेन्द्रियाणि द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियग्राह्यान् विषयांश्च दृष्ट-श्रुतानुभूतान् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा निजशुद्धात्म-भावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखामृतरसास्वादेन तृप्तो भूत्वा यो विषयेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मानमनुभवति स मुनिपञ्चेन्द्रियविषयेषु रागद्वेषौ न करोति ।

अत्र यः पञ्चेन्द्रियविषयसुखान्निवर्त्यः स्वशुद्धात्मसुखे तृप्तो भवति तस्यैवेदं व्याख्यानं शोभते न च विषयासक्तस्येति भावार्थः ।।५०।।

आगे विषयों के ऊपर वीतरागता दिखलाते हैं—

है ज्ञात जिनको पृथक् आत्मस्वभाव नित ही विषय से ।
वे परम मुनि ना राग करते द्वेष ना सब विषय से ।।५०।।

दोहार्थ— जिन्हें विषयों से भिन्न आत्मस्वभाव ज्ञात हो गया है, वे परममुनि विषयों पर राग या द्वेष नहीं करते हैं ।

टीकार्थ— ***परममुणि*** वे महामुनि ***विसयहँ उप्परि*** पाँच इन्द्रियों के स्पर्शादि विषयों पर ***राउ वि देसु*** राग और द्वेष ***ण करइ*** नहीं करते, अर्थात् मनोज्ञ विषयों पर राग नहीं करते और अनिष्ट विषयों पर द्वेष नहीं करते, ***जेण*** जिन्होंने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अप्पसहाउ अपना स्वभाव ***विसयहँ*** विषयों से ***भिण्णउ वियाणियउ*** पृथक् समझ लिया है । इसलिये वीतराग दशा धारण कर ली है ।

द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन दोनों से ग्रहण करने योग्य देखे-सुने-अनुभव किये जो रूपादि विषय हैं, उनको मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से छोड़कर और निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग परमानन्द एकरूप अतींद्रियसुखरूपी अमृत रस के आस्वाद से तृप्त होकर, विषयों से भिन्न अपने आत्मा का, जो मुनि अनुभव करते हैं, वे ही विषयों में राग-द्वेष नहीं करते ।

यहाँ पर तात्पर्य यह है कि जो पंचेन्द्रियों के विषय-सुख से निवृत्त होकर निज शुद्ध आत्म-सुख में तृप्त होते हैं, उन्हीं को यह व्याख्यान शोभा देता है, विषयाभिलाषी को नहीं ।।५०।।

अथ—

।।५१-१७४।।

देहहँ उप्परि परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
देहहँ जेण वियाणियउ भिण्णउ अप्प-सहाउ ।।

देहस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
देहाद् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ।।५१।।

देहहँ इत्यादि— *देहहँ उप्परि* देहस्योपरि *परममुणि* परममुनिः *देसु वि करइ ण राउ* द्वेषमपि न करोति न रागमपि । येन किं कृतम् ? *देहहँ जेण वियाणियउ* देहात्सकाशाद्येन विज्ञातः । कोऽसौ ? *भिण्णउ अप्पसहाउ* आत्मस्वभावः । कथंभूतो ? विज्ञातः । तस्माद्देहाद्भिन्न इति । तथाहि—

''सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सुक्खं दुक्खमेव तहा ।।''।।*

इति गाथाकथितलक्षणं दृष्टश्रुतानुभूतं यद्देहजनितसुखं तज्जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैःकृतकारितानुमतैश्च त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखपरिणते निजपरमात्मनि स्थित्वा च य एव देहाद्भिन्नं स्वशुद्धात्मानं जानाति स एव देहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति ।

अत्र य एव सर्वप्रकारेण देहममत्वं त्यक्त्वा देहसुखं नानुभवति तस्यैवेदं व्याख्यानं शोभते नापरस्येति तात्पर्यार्थः ।।५१।।

---

* प्रवचनसार, गाथा ७६ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे साधु देह के ऊपर भी राग-द्वेष नहीं करते, यह दिखाते हैं—

है ज्ञात जिनको पृथक् आत्मस्वभाव नित ही देह से ।
वे परम मुनि ना राग करते द्वेष ना जड़ देह से ।।५१।।

दोहार्थ— जिन्हें शरीर से भिन्न आत्मस्वभाव ज्ञात हो गया है, वे परममुनि शरीर पर राग-द्वेष नहीं करते हैं ।

टीकार्थ— ***परममुणि*** वे महामुनि ***देहहँ उप्परि*** मनुष्यादि शरीर के ऊपर भी ***राउ वि देसु*** राग और द्वेष को ***ण करइ*** नहीं करते अर्थात् शुभ शरीर से राग नहीं करते, अशुभ शरीर से द्वेष नहीं करते, ***जेण*** जिन्होंने ***अप्पसहाउ*** निज स्वभाव ***देहहँ*** देह से ***भिण्णउ वियाणियउ*** भिन्न जान लिया है । देह तो जड़ है, आत्मा चैतन्य है, जड़ चैतन्य का क्या सम्बन्ध ?

इन इन्द्रियों से जो सुख उत्पन्न हुआ है, वह दु:खरूप ही है । ऐसा कथन श्रीप्रवचनसार में किया है । ''सपरं'' इत्यादि । इसका तात्पर्य ऐसा है कि ''जो इन्द्रियों से सुख प्राप्त होता है, वह सुख दु:खरूप ही है; क्योंकि वह सुख परवस्तु है, निजवस्तु नहीं है; बाधा सहित है, निराबाध नहीं है; नाश को लिये हुए है, जिसका नाश हो जाता है; बन्ध का कारण है, और विषम है । —इसलिये इन्द्रियसुख दु:खरूप ही है ।''—ऐसा इस गाथा में जिसका लक्षण कहा गया है, ऐसे देहजनित सुख को तीन लोक, तीन काल में, मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से छोड़कर वीतरागनिर्विकल्पसमाधि के बल से पारमार्थिक आकुलता रहित परमसुख रूप से परिणत निज परमात्मा में स्थित होकर जो महामुनि देह से भिन्न अपने शुद्धात्मा को जानते हैं, वे ही देह के ऊपर राग-द्वेष नहीं करते ।

जो सब प्रकार से देह से निर्ममत्व होकर देह के सुख का अनुभव नहीं करते, उन्हीं के लिए यह व्याख्यान शोभा देता है, देहबुद्धिवालों को नहीं; ऐसा अभिप्राय जानना ।।५१।।

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण ।
सम्मत्त परिणदो पुण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ।।
जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू ।
मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ।।

।।मोक्षपाहुड़ गाथा १४-१५।।

स्वद्रव्य में रत श्रमण नियम से सम्यग्दृष्टि हैं । सम्यक्त्व परिणत वे दुष्ट अष्ट कर्मों को नष्ट करते हैं । जो साधु परद्रव्य में रत हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं । मिथ्यात्व रूप से परिणत वे दुष्ट अष्ट कर्मों से बँधते हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

॥५२-१७५॥

वित्ति-णिवित्तिहिँ परम-मुणि देसु वि करइ ण राउ ।
बंधहँ हेउ वियाणियउ एयहँ जेण सहाउ ॥

वृत्तिनिवृत्त्योः परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।
बन्धस्य हेतुः विज्ञातः एतयोः येन स्वभावः ॥५२॥

वित्तिणिवित्तिहिँ इत्यादि— *वित्तिणिवित्तिहिँ* वृत्तिनिवृत्तिविषये व्रताव्रतविषये *परममुणि* परममुनिः *देसु वि करइ ण राउ* द्वेषमपि न करोति न च रागम् । येन किं कृतम्? *बंधहँ हेउ वियाणियउ* बन्धस्य हेतुर्विज्ञातः । कोऽसौ ? *एयहँ जेण सहाउ* एतयोर्व्रताव्रतयोः स्वभावो येन विज्ञात इति । अथवा पाठान्तरम्— ''*भिण्णउ जेण वियाणियउ एयहँ अप्पसहाउ* भिन्नो येन विज्ञातः । कोऽसौ ? आतमस्वभावः । काभ्याम् ? एताभ्यां व्रताव्रतविकल्पाभ्यां सकाशादिति ।

तथाहि— येन व्रताव्रतविकल्पौ पुण्यपापबन्धकारणभूतौ स शुद्धात्मनि स्थितः सन् व्रतविषये रागं न करोति तथा चाव्रतविषये द्वेषं न करोतीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः— हे भगवन् यदि व्रतस्योपरि रागतात्पर्यं नास्ति तर्हि व्रतं निषिद्धमिति ? भगवानाह— व्रत कोऽर्थः ? सर्वनिवृत्तिपरिणामः । तथा चोक्तम्— *'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्'*[१] अथवा—

''रागद्वेषौ प्रवृत्तः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च बाह्यार्थसंबन्धौ तस्मात्तांस्तु परित्यजेत् ॥''[२]

प्रसिद्धं पुनरहिंसादिव्रतं एकदेशेन व्यवहारेणेति । कथमेकदेशव्रतमिति चेत् ? तथाहि— जीवघाते निवृत्तिर्जीवदयाविषये प्रवृत्तिः, असत्यवचनविषये निवृत्तिः सत्यवचनविषये प्रवृत्तिः अदत्तादानविषये निवृत्तिः दत्तादानविषये प्रवृत्तिरित्यादिरूपेणैकदेशं व्रतम् । रागद्वेषरूपसंकल्पविकल्पकल्लोलमालारहिते त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधौ पुनः शुभाशुभत्यागात्परिपूर्णं व्रतं भवतीति ।

कश्चिदाह— व्रतेन किं प्रयोजनमात्मभावनया मोक्षो भविष्यति ? भरतेश्वरेण किं व्रतं कृतम्, घटिकाद्वयेन मोक्षं गतः इति । अथ परिहारमाह— भरतेश्वरोऽपि पूर्वं जिनदीक्षाप्रस्तावे लोचानन्तरं हिंसादिनिवृत्तिरूपं महाव्रतविकल्पं कृत्वान्तर्मुहूर्ते गते सति दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिविकल्परहिते मनोवचनकायनिरोधलक्षणे निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा पश्चान्निर्विकल्पो जातः । परं किंतु तस्य स्तोककालत्वान्महाव्रतप्रसिद्धिर्नास्ति । अथेदं मतं वयमपि तथा कुर्मोऽवसानकाले । नैव वक्तव्यम् । यद्येकस्यान्धस्य कथंचिन्निधानलाभो जातस्तर्हि किं सर्वेषां भवतीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—

---

१. मोक्षशास्त्र, सप्तम अध्याय, सूत्र १ ।
२. आत्मानुशासन, पद्य २३७ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

''पुव्वमभाविदजोगो मरणे आराहओ जदि वि कोई ।
खन्नगनिधिदिट्ठंतं तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ।।'' ।।५२।।*

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये परमोपशमभावव्याख्यानोपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रैः स्थलं समाप्तम् ।

आगे प्रवृत्ति और निवृत्ति में भी महामुनि राग, द्वेष नहीं करते, ऐसा कहते हैं—

है ज्ञात जिनको भाव ये सब नित्य हेतु बंध के ।
वे परममुनि न करें राग रु द्वेष वृत्ति निवृत्ति से ।।५२।।

दोहार्थ— जिन्हें दोनों का ही स्वभाव बंध के कारणरूप में ज्ञात है, वे परममुनि प्रवृत्ति और निवृत्ति में राग या द्वेष नहीं करते हैं ।

टीकार्थ— ***परममुणि*** महामुनि ***वित्तिणिवित्तिहिँ*** प्रवृत्ति और निवृत्ति में ***राउ वि देसु*** राग और द्वेष को ***ण करइ*** नहीं करते, ***जेण*** जिसने ***एयहँ*** इन दोनों का ***सहाउ*** स्वभाव ***बंधहँ हेउ*** कर्म-बंध का कारण ***वियाणियउ*** जान लिया है ।

व्रत-अव्रत में परममुनि राग-द्वेष नहीं करते जिन्होंने इन दोनों का स्वभाव बन्ध का कारण जान लिया है, अथवा पाठांतर होने से ऐसा अर्थ होता है कि जिन्होंने आत्मा का स्वभाव भिन्न जान लिया है । अपना स्वभाव प्रवृत्ति-निवृत्ति से रहित है, जहाँ व्रत-अव्रत का विकल्प नहीं है, ये व्रत-अव्रत पुण्य-पापरूप बंध के कारण हैं;—ऐसा जिसने जान लिया, वह आत्मा में तल्लीन हुआ, व्रत-अव्रत में राग-द्वेष नहीं करता ।

ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट ने पूछा, हे भगवन यदि व्रत पर राग नहीं करें, तो व्रत क्यों धारण करें ? ऐसे कथन में व्रत का निषेध होता है । तब योगीन्दुदेव कहते हैं कि व्रत का अर्थ यह है कि सब शुभ-अशुभ भावों से निवृत्ति परिणाम होना । ऐसा ही अन्य ग्रंथों में भी ''रागद्वेषौ'' इत्यादि से कहा है । अर्थ यह है कि ''राग और द्वेष दोनों प्रवृत्तियाँ हैं, तथा इनका निषेध वह निवृत्ति है । ये दोनों अपने नहीं हैं, अन्य पदार्थ के संबंध से हैं । इसलिये इन दोनों को छोड़े ।'' अथवा ''हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं''—ऐसा कहा गया है । इसका अर्थ यह है कि ''प्राणियों को पीड़ा देना, झूठ वचन बोलना, परधन हरना, कुशील का सेवन और परिग्रह इनसे विरक्त होना, वही व्रत है ।'' ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध हैं, वे व्यवहारनय से एक देशरूप व्रत हैं । यही दिखलाते हैं—

---

* भगवती आराधना, गाथा २६ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जीवघात से निवृत्ति, जीव दया में प्रवृत्ति; असत्य वचन से निवृत्ति, सत्यवचन प्रवृत्ति; अदत्तादान (चोरी) से निवृत्ति, अचौर्य में प्रवृत्ति—इत्यादि स्वरूप से एक शव्रत कहा जाता है; और राग-द्वेषरूप संकल्प-विकल्पों की कल्लोलों से रहित, न गुप्ति से गुप्त परम समाधि में शुभाशुभ के त्याग से परिपूर्ण व्रत होता है । र्थात् अशुभ की निवृत्ति और शुभ की प्रवृत्ति रूप एक देशव्रत है और शुभ-अशुभ ानों का ही त्याग होना वह पूर्ण व्रत है । इसलिये प्रथम अवस्था में व्रत का निषेध नहीं ;, एक देश व्रत हैं; और पूर्ण अवस्था में सर्वदेश व्रत हैं ।

यहाँ पर कोई यदि प्रश्न करे कि व्रत से क्या प्रयोजन ? आत्मभावना ो ही मोक्ष होता है । भरतजी महाराज ने क्या व्रत धारण किया था ? वे तो ो घड़ी में ही केवलज्ञान पाकर मोक्ष गये । इसका समाधान ऐसा है कि भरतेश्वर ने पहले जिनदीक्षा धारण की, शिर के केशलुञ्चन किये, हिंसादि पापों की निवृत्तिरूप पाँच महाव्रत धारण किए, फिर एक अंतर्मुहूर्त में समस्त विकल्प रहित, मन, वचन, काय रोकने रूप निज शुद्धात्मध्यान में स्थित होकर निर्विकल्प हुए। वे शुद्धात्मा के ध्यान में देखे, सुने और भोगे हुए भोगों की वांछारूप निदान बन्धादि विकल्पों से रहित—ऐसे ध्यान में तल्लीन होकर केवली हुए । जब राज छोड़ा, और मुनि हुए, तभी केवली हुए । भरतेश्वर ने अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त किया, इसलिये महाव्रत की प्रसिद्धि नहीं हुई । इस पर कोई मूर्ख ऐसा विचार करे कि जैसा उनको हुआ, वैसे हम भी अंतिम समय में कर लेंगे; परन्तु ऐसा विचार ठीक नहीं है । यदि किसी एक अन्धे को किसी प्रकार से निधि का लाभ हुआ, तो क्या सभी को ऐसा हो सकता है ? सबको नहीं होता । भरत समान भरत ही हुए । इसलिये अन्य भव्यजीवों को यही योग्य है कि तप-संयम का साधन करना ही श्रेष्ठ है । ऐसा ही ''पुव्वं'' इत्यादि गाथा से दूसरी जगह भी कहा है । अर्थ ऐसा है कि ''जिसने पहले तो योग का अभ्यास नहीं किया, और मरण के समय कभी आराधक हो जाए, तो यह बात ऐसी जानना कि जैसे किसी अन्धे पुरुष को निधि का लाभ हुआ हो । ऐसी बात सब जगह प्रमाण नहीं हो सकती, कभी कहीं पर हो तो हो ।'' ॥५२॥

इसप्रकार मोक्ष, मोक्ष का फल, और मोक्ष के मार्ग को कहने वाले दूसरे महाधिकार में परम उपशांतभाव के व्याख्यान की मुख्यता से अन्तरस्थल में चौदह दोहे पूर्ण हुए ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथानन्तरं निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्याद्युपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा—योऽसौ विभावस्वभावपरिणामौ निश्चयनयेन बन्धमोक्षहेतुभूतौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं करोति न चान्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

॥५३-१७६॥

बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ ।
सो पर मोहिँ करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ ॥

बन्धस्य मोक्षस्य हेतुः निजः यः नैव जानाति कश्चित् ।
स परं मोहेन करोति जीव पुण्यमपि पापमपि द्वे अपि ॥५३॥

बंधहँ इत्यादि— *बंधहँ* बन्धस्य *मोक्खहँ* मोक्षस्य *हेउ* हेतुः कारणम्। कथंभूतम्? *णिउ* निजविभावस्वभावहेतुस्वरूपम्। *जो णवि जाणइ कोइ* यो नैव जानाति कश्चित्। *सो पर* स एव *मोहिँ* मोहेन करइ करोति *जिय* हे जीव *पुण्णु वि पाउ वि* पुण्यमपि पापमपि। कतिसंख्योपेते अपि ? *दोइ* द्वे अपीति।

तथाहि—निजशुद्धात्मानुभूतिरुचिविपरीतं मिथ्यादर्शनं स्वशुद्धात्मप्रतीतिविपरीतं मिथ्याज्ञानं निजशुद्धात्मद्रव्यनिश्चलस्थितिविपरीतं मिथ्याचारित्रमित्येतत्त्रयं कारणं, तस्मात्त्रयाद्विपरीतं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपं मोक्षस्य कारणमिति योऽसौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं निश्चयनयेन हेयमपि मोहवशात्पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं करोतीति भावार्थः ॥५३॥

आगे निश्चयनय से पुण्य-पाप दोनों ही समान हैं, ऐसा उपलक्षण से चौदह दोहों में कहते हैं। वह इसप्रकार जो कोई स्वभावपरिणाम को मोक्ष का कारण और विभावपरिणाम को बंध का कारण, निश्चय से ऐसा भेद नहीं जानता है, वही पुण्य-पाप का कर्ता होता है, अन्य नहीं; ऐसा मन में धारण कर यह सूत्र कहते हैं—

निज भाव और विभाव ही है हेतु मुक्ति बंध का ।
जो नहीं जाने मोह से वह पुण्य पाप करे सदा ॥५३॥

दोहार्थ— अपने विभाव और स्वभाव रूप परिणाम ही क्रमशः बंध-मोक्ष के कारण हैं; हे जीव ! जो कोई ऐसा नहीं जानता, वही मोह से पुण्य और पाप दोनों को ही करता है।

टीकार्थ— ***जो कोइ*** जो कोई जीव ***बंधहँ मोक्खहँ हेउ*** बंध और मोक्ष का कारण ***णिउ*** अपना विभाव और स्वभाव परिणाम है, ऐसा भेद ***णवि जाणइ*** नहीं जानता है, हे जीव ! ***सो पर*** वही ***पुण्णु वि पाउ*** पुण्य और पाप ***वि दोइ*** दोनों को ही ***मोहिँ*** मोह से ***करइ*** करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निज शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप रुचि से विपरीत मिथ्यादर्शन, निज शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप ज्ञान से विपरीत मिथ्याज्ञान, और निज शुद्धात्मद्रव्य में निश्चल स्थिरता से विपरीत मिथ्याचारित्र—इन तीनों को बंध का कारण; और इन तीनों से विपरीत भेदाभेद रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष का कारण है—ऐसा जो नहीं जानता है, वही निश्चयनय से पुण्य-पाप दोनों हेय होने पर भी मोह के वश से पुण्य-पाप का कर्ता होता है । पुण्य को उपादेय करता है, पाप को हेय करता है ॥५३॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतमात्मानं योऽसौ मुक्तिकारणं न जानाति स पुण्यपापद्वयं करोतीति दर्शयति—

॥५४-१७७॥

दंसण-णाण-चरित्तमउ जो णवि अप्पु मुणेइ ।
मोक्खहँ कारणु भणिवि जिय सो पर ताइँ करेइ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रमयं यः नैवात्मानं मनुते ।
मोक्षस्य कारणं भणित्वा जीव स परं ते करोति ॥५४॥

दंसणणाणचरित्त इत्यादि— *दंसणणाणचरित्तमउ* सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयं *जो णवि अप्पु मुणेइ* यः कर्ता नैवात्मानं मनुते जानाति । किं कृत्वा न जानाति ? *मोक्खहँ कारणु भणिवि* मोक्षस्य कारणं भणित्वा मत्वा *जिय* हे जीव *सो पर ताइँ करेइ* स एव पुरुषस्ते पुण्यपापे द्वे करोतीति ।

तथाहि—निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसहजानन्दैकरूपसुखरसास्वादरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तत्रैव स्वशुद्धात्मनि वीतरागसहजानन्दैकस्वसंवेदनपरिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, वीतरागसहजानन्दैकपरमसमरसीभावेन तत्रैव निश्चलस्थिरत्वं सम्यक्चारित्रं, इत्येतैस्त्रिभिः परिणतमात्मानं योऽसौ मोक्षकारणं न जानाति स एव पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं च करोतीति। यस्तु पूर्वोक्तरत्नत्रयपरिणतमात्मानमेव मोक्षमार्गं जानाति तस्य तु सम्यग्दृष्टेर्यद्यपि संसारस्थितिच्छेदकारणेन सम्यक्त्वादिगुणेन परंपरया मुक्तिकारणं तीर्थकरनामकर्मप्रकृत्यादिकमनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति तथाप्यसौ तदुपादेयं न करोतीति भावार्थः ॥५४॥

.....

आगे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप परिणत जो वह आत्मा है, वह ही मुक्ति का कारण है, जो ऐसा भेद नहीं जानता है, वही पुण्य-पाप दोनों करता है, ऐसा दिखलाते हैं—

जो दर्श-ज्ञान-चरित्रमय निज आतमा ना मानता ।
वह मोक्ष कारण मान पुण्य रु पाप ही करता सदा ॥५४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— हे जीव ! जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय आत्मा को नहीं मानता है; वही उन पुण्य-पाप को ही मोक्ष का कारण जानकर करता है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो ***दंसणणाणचरित्तमउ*** सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमयी ***अप्पु*** आत्मा को ***णवि मुणेइ*** नहीं जानता, ***सो पर*** वही ***जिय*** हे जीव! ***ताइँ*** उन पुण्य-पाप दोनों को ***मोक्खहँ कारणु*** मोक्ष का कारण ***भणिवि*** जानकर ***करेइ*** करता है ।

निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग सहजानंद एकरूप सुख स का आस्वाद, उसकी रुचिरूप सम्यग्दर्शन, उसी शुद्धात्मा में वीतराग सहजानंद परिच्छित्तिरूप सम्यग्ज्ञान और वीतरागसहजानंद एक परम समरसीभाव से उसी में निश्चल स्थिरतारूप सम्यक्चारित्र—इन तीनों स्वरूप परिणत हुआ जो आत्मा, उसे जो जीव मोक्ष का कारण नहीं जानता, वह ही पुण्य को उपादेय करता है, और पाप को हेय/त्यागने योग्य करता है । तथा जो सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त रत्नत्रयस्वरूप परिणत हुए आत्मा को ही मोक्ष का मार्ग जानता है, उसके यद्यपि संसार की स्थिति को छेदने के कारणभूत सम्यक्त्वादि गुण से परम्परा से मुक्ति की कारणभूत तीर्थंकर नामक प्रकृति आदि विशिष्ट शुभ पुण्य प्रकृतियों का (कर्मों का) अवांछितवृत्ति से आस्रव/ग्रहण होता है, तो भी वह उन्हें उपादेय नहीं मानता है। कर्मप्रकृतियों को त्यागने योग्य ही समझता है ॥५४॥

अथ योऽसौ निश्चयेन पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स मोहेन मोहितः सन् संसारं परिभ्रमतीति कथयति—

॥५५-१७८॥

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिँ हिंडइ लोइ ॥

यः नैव मन्यते जीवः समाने पुण्यमपि पापमपि द्वे ।
स चिरं दुःखं सहमानः जीव मोहेन हिण्डते लोके ॥५५॥

जो इत्यादि — ***जो णवि मण्णइ*** यः कर्ता नैव मन्यते ***जीउ*** जीवः । किं न मन्यते ? ***समु*** समाने । के ? ***पुण्णु वि पाउ वि दोइ*** पुण्यमपि पापमपि द्वे ***सो*** स जीवः ***चिरु दुक्खु सहंतु*** चिरं बहुतरं कालं दुःखं सहमानः सन् ***जिय*** हे जीव ***मोहिँ हिंडइ लोइ*** मोहेन मोहितः सन् हिण्डते भ्रमति । क्व ? लोके संसारे इति ।

तथा च — यद्यप्यसद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे परस्परभिन्ने भवतस्तथैवाशुद्ध-निश्चयेन भावपुण्यपापे भिन्ने भवतस्तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुण्यपापरहितशुद्धात्मनः

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सकाशाद्विलक्षणे सुवर्णलोहनिगलवद्बन्धं प्रति समाने एव भवतः । एवं नयविभागेन योऽसौ पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स निर्मोहशुद्धात्मनो विपरीतेन मोहेन मोहितः सन् संसारे परिभ्रमति इति ।

अत्राह प्रभाकरभट्टः — तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? भगवानाह— यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा संमतमेव । यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ॥५५॥

.....

आगे जो निश्चयनय से पुण्य-पाप दोनों को समान नहीं मानता, वह मोह से मोहित हुआ संसार में भटकता है, ऐसा कहते हैं—

'हैं पुण्य-पाप समान दोनों' जीव जो माने नहीं ।
वह मोह मोहित दुःख सहता चिर भ्रमण करता यहीं ॥५५॥

दोहार्थ— जो जीव पुण्य-पाप दोनों को समान नहीं मानता है, वह जीव मोह से चिर दुःख सहते हुए लोक में ही घूमता है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो ***जिउ*** जीव ***पुण्णु वि पाउ वि दोउ*** पुण्य और पाप दोनों को ***समु*** समान ***णवि मण्णइ*** नहीं मानता, ***सो*** वह ***जिय*** जीव मोह से ***मोहिँ*** मोहित हुआ, ***चिरु*** बहुत कालतक ***दुक्खु*** दुःख सहता हुआ, ***लोइ*** संसार में ***हिंडइ*** भटकता है ।

यद्यपि असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं, और अशुद्धनिश्चयनय से भावपुण्य और भावपाप ये दोनों भी आपस में भिन्न हैं; तो भी शुद्ध निश्चयनय से पुण्य-पाप रहित शुद्धात्मा से, दोनों ही भिन्न लक्षण वाले बंधरूप होने से दोनों समान ही हैं । जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी—ये दोनों ही बंध की कारण हैं—इससे समान हैं । इसप्रकार नयविभाग से जो पुण्य-पाप दोनों को समान नहीं मानता, वह निर्मोही शुद्धात्मा से विपरीत मोह से मोहित हुआ संसार में भ्रमण करता है ।

ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट कहता है—यदि ऐसा ही है, तो कितने ही पुण्य-पाप दोनों को समान मानकर स्वच्छंद हुए रहते हैं, उन्हें आप दोष क्यों देते हैं ? तब योगीन्दुदेव ने कहा—जब शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप तीन गुप्ति से गुप्त वीतरागनिर्विकल्पसमाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुए पुण्य-पाप को समान जानते हैं, तब तो उचित है । परन्तु जो मूढ़ परमसमाधि को न पाकर भी गृहस्थ-अवस्था

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में दान, पूजा आदि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं, और मुनि पद में छह आवश्यक कर्मों को छोड़ देते हैं, वे दोनों ओर से भ्रष्ट हैं, न तो यती हैं, न श्रावक हैं । वे निंदा योग्य ही हैं । तब उनको दोष ही है, ऐसा जानना ॥५५॥

अथ येन पापफलेन जीवो दुःखं प्राप्य दुःखविनाशार्थं धर्माभिमुखो भवति तत्पापमपि समीचीनमिति दर्शयति—

॥५६-१७९॥

वर जिय पावइँ सुन्दरइँ णाणिय ताइँ भणंति ।
जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु सिवमइँ जाइँ कुणंति ॥

वरं जीव पापानि सुन्दराणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।
जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शिवमतिं यानि कुर्वन्ति ॥५६॥

वर जिय इत्यादि— ***वर जिय*** वरं किंतु हे जीव ***पावइँ सुन्दरइँ*** पापानि सुन्दराणि समीचीनानि भणंति कथयन्ति । के ? ***णाणिय*** ज्ञानिनः तत्त्ववेदिनः । कानि? ***ताइँ*** तानि पूर्वोक्तानि पापानि । कथंभूतानि ? ***जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु सिवमइँ जाइँ कुणंति*** जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शीघ्रं शिवमतिं मुक्तियोग्यमतिं यानि कुर्वन्ति ।

अयमत्राभिप्रायः — यत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं श्रीधर्मं लभते जीवस्तत्पापजनितदुःखमपि श्रेष्ठमिति । कस्मादिति चेत् ? *'आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति'* इति वचनात् ॥५६॥

आगे जिस पाप के फल से यह जीव नरकादि में दुःख पाकर उस दुःख को दूर करने के लिये धर्म के सम्मुख होता है, वह पाप का फल भी श्रेष्ठ (प्रशंसा योग्य) है, ऐसा दिखलाते हैं—

हैं श्रेष्ठ वे सब पाप उनको कहें सुन्दर ज्ञानि भी ।
जो जीव को बहु दुःख दे शिवमति करते शीघ्र ही ॥५६॥

दोहार्थ— हे जीव ! जो जीवों को दुःख उत्पन्न कर शीघ्र ही मोक्ष के लिए प्रयास करने की बुद्धि करते हैं, उन पापों को भी ज्ञानी श्रेष्ठ, सुन्दर कहते हैं ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव, ***जाइँ*** जो पाप के उदय ***जीवहँ*** जीवों को ***दुक्खइँ जणिवि*** दुःख देकर ***लहु*** शीघ्र ही ***सिवमइँ*** मोक्ष जाने योग्य उपायों में बुद्धि ***कुणंति*** कर देते हैं, ***ताइँ पावइँ*** वे पाप भी ***वर सुन्दरइँ*** बहुत अच्छे हैं, ऐसा ***णाणिय*** ज्ञानी ***भणंति*** कहते हैं ।

कोई जीव पाप करके नरक में गया, वहाँ पर महान दुःख भोगे, उससे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किसी समय किसी जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है । क्योंकि उस जगह सम्यक्त्व की प्राप्ति के तीन कारण हैं । पहला तो यह है कि तीसरे नरक तक देवता उसे संबोधने को जाते हैं, सो कभी किसी जीव को धर्म सुनने से सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे; दूसरा कारण—पूर्वभव का स्मरण और तीसरा—नरक की पीड़ा से दु:खी हुआ नरक को महान दु:ख का स्थान जान, नरक के कारण जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह और आरंभादि हैं, उन्हें बुरे जानकर पाप से उदास होवे । तीसरे नरक तक ये तीन कारण हैं । आगे के चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें नरक में देवों का गमन न होने से धर्म-श्रवण तो है नहीं, लेकिन जातिस्मरण है, तथा वेदना से दु:खी होकर पाप से भयभीत होना—ये दो ही कारण हैं। इन कारणों को पाकर किसी जीव के सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है ।

इस नय से कोई भव्यजीव पाप के उदय से खोटी गति में गया, और वहाँ जाकर यदि सुलट जावे, तथा सम्यक्त्व पावे, तो वह कुगति भी बहुत श्रेष्ठ है । यही श्रीयोगीन्दुदेव ने मूल में कहा है—जो पाप जीवों को दु:ख प्राप्त कराकर फिर शीघ्र ही मोक्षमार्ग में उनकी बुद्धि को लगावें, तो वे अशुभ भी अच्छे हैं। तथा अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञान तप से यदि देव भी हुआ और देव से मरकर एकेंद्रिय हुआ, तो वह देव-पर्याय पाना किस काम का ? अज्ञानी के देव-पद पाना भी वृथा है । कभी ज्ञान के प्रसाद से उत्कृष्ट देव होकर, बहुत काल तक सुख भोगकर, देव से मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण कर मोक्ष को पावे, तो उसके समान दूसरा क्या होगा ? नरक से भी निकलकर कोई भव्यजीव मनुष्य होकर महाव्रत धारण करके मुक्ति पावे, तो वह भी अच्छा है । ज्ञानी पुरुष उन पापियों को भी श्रेष्ठ कहते हैं, जो पाप के प्रभाव से दु:ख भोगकर उस दु:ख से डरकर दु:ख के मूलकारण पाप को जानकर उस पाप से उदास होवें, तो वे प्रशंसा करने योग्य हैं; परन्तु पापी जीव प्रशंसा के योग्य नहीं है, क्योंकि पाप-क्रिया हमेशा निंदनीय है । भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूप श्रीवीतरागदेव के धर्म को जो धारण करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं । यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक और दु:खी धारण करे तब भी ठीक । क्योंकि शास्त्र का वचन है कि "कोई महाभाग दु:खी होकर ही धर्म में लवलीन होते हैं ।" ॥५६॥

अत: शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ — *आत्मख्याति, श्लोक ७*

अत: शुद्धनय के आश्रय से पर से भिन्न जो आत्मज्योति प्रगट होती है, वह नवतत्त्वों को प्राप्त होकर भी एकत्व को कभी नहीं छोड़ती ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ निदानबन्धोपार्जितानि पुण्यानि जीवस्य राज्यादिविभूतिं दत्त्वा नारकादिदुःखं जनयन्तीति हेतोः समीचीनानि न भवन्तीति कथयति—

॥५७-१८०॥

मं पुणु पुण्णइँ भल्लइँ णाणिय ताइँ भणंति ।
जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणंति ॥

मा पुनः पुण्यानि भद्राणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।
जीवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु दुःखानि यानि जनयन्ति ॥५७॥

मं पुणु इत्यादि— *मं पुणु* मा पुनः न पुनः *पुण्णइँ भल्लाइँ* पुण्यानि भद्रानि भवन्तीति *णाणिय ताइँ भणंति* ज्ञानिनः पुरुषास्तानि पुण्यानि कर्मतापन्नानि भणन्ति । यानि किं कुर्वन्ति । *जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणंति* यानि पुण्यकर्माणि जीवस्य राज्यानि दत्त्वा लघु शीघ्रं दुःखानि जनयन्ति ।

तद्यथा—निजशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखानुभवविपरीतेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धपूर्वकज्ञानतपोदानादिना यान्युपार्जितानि पुण्यकर्माणि तानि हेयानि । कस्मादिति चेत् ? निदानबन्धोपार्जितपुण्येन भवान्तरे राज्यादिविभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादिदुःखं लभते । रावणादिवत् । तेन कारणेन पुण्यानि हेयानीति । ये पुनर्निदानरहितपुण्यसहिताः पुरुषास्ते भवान्तरे राज्यादिभोगे लब्धेऽपि भोगांस्त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा चोर्ध्वगतिगामिनो भवन्ति बलदेवादिवदिति भावार्थः — तथा चोक्तम्— *''ऊर्ध्वगा बलदेवाः स्युर्निर्निदाना भवान्तरे ।''* इत्यादिवचनात् ॥५७॥

आगे निदानबंध से उपार्जित किये हुए पुण्यकर्म जीव को राज्यादि विभूति देकर नरकादि दुःख उत्पन्न करते हैं, इसलिये अच्छे नहीं हैं ऐसा दिखाते हैं—

ज्ञानी कभी उन पुण्य को कहते नहीं हैं भद्र जो ।
दे राज्य देही को पुनः पैदा करें अति दुःख को ॥५७॥

दोहार्थ— जो जीव को राज्य देकर शीघ्र ही दुःख उत्पन्न करते हैं, उन पुण्यों को ज्ञानी भद्र नहीं कहते हैं ।

टीकार्थ— ***पुणु*** फिर ***ताइँ पुण्णइँ*** वे पुण्य भी ***मं भल्लइँ*** अच्छे नहीं हैं, ***जाइँ*** जो ***जीवहँ*** जीव को ***रज्जइँ देवि*** राज्य देकर ***लहु*** शीघ्र ही नरकादि ***दुक्खहँ*** दुःखों को ***जणंति*** उत्पन्न करते हैं, ऐसा ज्ञानीपुरुष कहते हैं ।

निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग परमानन्द एकरूप अतींद्रियसुख

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के अनुभव से विपरीत जो देखे, सुने, भोगे इन्द्रियों के भोग, उनकी वांछारूप निदानबंधपूर्वक ज्ञान, तप, दान आदि से उपार्जन किये जो पुण्यकर्म हैं, वे हेय हैं; क्योंकि वे निदानबन्ध से उपार्जित किये पुण्यकर्म जीव को दूसरे भव में राजसम्पदा देते हैं । अज्ञानी जीव उस राज्यविभूति को पाकर विषय-भोगों को छोड़ नहीं सकता, उससे नरकादि के दु:ख पाता है, रावण के समान ।—इसलिये पुण्य-कर्म भी हेय हैं ।

और जो निदानबन्ध रहित पुण्यसहित ज्ञानी पुरुष हैं, वे दूसरे भव में राज्यादि भोगों को पाते हैं, तो भी भोगों को छोड़कर जिनराज की दीक्षा धारण करते हैं। धर्म का सेवनकर बलदेव आदि के समान ऊर्ध्वगतिगामी होते हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि ''भवान्तर में निदानबन्ध नहीं करते हुए जो महामुनि हैं, वे महान तपकर स्वर्गलोक जाते हैं । वहाँ से चयकर बलभद्र होते हैं । वे देवों से अधिक सुख भोगकर राज्य का त्याग करके मुनिव्रत धारणकर या तो केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष ही पधारते हैं, या बड़ी ऋद्धि के धारी देव होते हैं, फिर मनुष्य होकर मोक्ष पाते हैं।'' ॥५७॥

अथ निर्मलसम्यक्त्वाभिमुखानां मरणमपि भद्रं, तेन विना पुण्यमपि समीचीनं न भवतीति प्रतिपादयति—

॥५८-१८१॥

वर णिय-दंसण-अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि ।
मा णिय-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ॥

वरं निजदर्शनाभिमुखः मरणमपि जीव लभस्व ।
मा निजदर्शनविमुखः पुण्यमपि जीव करिष्यसि ॥५८॥

वर इत्यादि—*वर णियदंसणअहिमुहउ* वरं किंतु निजदर्शनाभिमुखः सन् *मरणु वि जीव लहेसि* मरणमपि हे जीव ! लभस्व भज । *मा णियदंसणविम्मुहउ* मा पुनर्निजदर्शनविमुखः सन् *पुण्णु वि जीव करेसि* पुण्यमपि हे जीव करिष्यसि ।

तथा च—स्वकीयनिर्दोषिपरमात्मानुभूतिरुचिरूपं त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणनिश्चयचारित्राविनाभूतं वीतरागसंज्ञं निश्चयसम्यक्त्वं भण्यते तदभिमुखः सन् हे जीव मरणमपि लभस्व दोषो नास्ति तेन विना पुण्यं मा कार्षीरिति । अत्र सम्यक्त्वरहिता जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते । सम्यक्त्वसहिताः पुनः पूर्वभवान्तरोपार्जितपापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते येन कारणेन, तेन कारणेन सम्यक्त्वसहितानां मरणमपि भद्रम्। सम्यक्त्वरहितानां च पुण्यमपि भद्रं न भवति । कस्मात् ? तेन निदानबद्धपुण्येन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भवान्तरे भोगान् लब्ध्वा पश्चान्नरकादिकं गच्छन्तीति भावार्थः । तथा चोक्तम् —

''वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः ।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ।।''।।५८।।

आगे ऐसा कहते हैं कि निर्मल सम्यक्त्वधारी जीवों का मरण भी सुखकारी है, उनका मरना अच्छा है, और सम्यक्त्व बिना पुण्य का उदय भी अच्छा नहीं है—

है आत्मदर्शन अभिमुखी का मरण भी नित श्रेष्ठ ही ।
पर आत्मदर्शन से विमुख का पुण्य भी अश्रेष्ठ ही ।।५८।।

दोहार्थ— हे जीव ! आत्मदर्शन के सम्मुख जीव का मरण होना भी श्रेष्ठ है, परन्तु आत्मदर्शन से विमुख जीव का कल्याण पुण्य भी नहीं कर सकेंगे ।

टीकार्थ— ***जीव*** हे जीव ! ***णियदंसणअहिमुहउ*** जो अपने सम्यग्दर्शन के सन्मुख होकर ***मरणु वि*** मरण को भी ***लहेसि वर*** पावे, तो अच्छा है; परन्तु ***जीव*** हे जीव ! ***णियदंसणविम्मुहउ*** अपने सम्यग्दर्शन से विमुख हुआ ***पुण्णु वि*** पुण्य भी ***करेसि*** करे ***मा वर*** तो अच्छा नहीं ।

निर्दोष निज परमात्मा की अनुभूति रुचिरूप तीन गुप्ति से गुप्त लक्षण वाले निश्चयचारित्र का अविनाभावी वीतराग नामक निश्चयसम्यक्त्व कहलाता है, उसके सन्मुख हुआ हे जीव ! यदि मरण भी पावे, तो दोष नहीं; और उस सम्यक्त्व के बिना मिथ्यात्व अवस्था में पुण्य भी करे, तो अच्छा नहीं है । जिस कारण सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य सहित हैं, तो भी पाप जीव कहलाते हैं । तथा जो सम्यक्त्व सहित हैं, वे पहले भव में उपार्जन किये हुए पाप के फल दुःख-दारिद्र भोगते हुए भी पुण्य जीव कहे गये हैं । इसलिये जो सम्यक्त्व सहित हैं, उनका मरना भी अच्छा है, मरकर ऊपर जायेंगे; और जो सम्यक्त्व रहित हैं, उनका पुण्य-कर्म भी प्रशंसा योग्य नहीं है । वे पुण्य के उदय से क्षुद्र देव तथा क्षुद्रमनुष्य होकर संसार-वन में भटकेंगे । यदि पूर्व के पुण्य को यहाँ भोगते हैं, तो तुच्छ फल भोगकर नरक-निगोद में पड़ेंगे । इसलिए मिथ्यादृष्टियों का पुण्य भी भला नहीं है । निदानबंध पुण्य से भवान्तर में भोगों को पाकर पीछे नरक में जायेंगे।

सम्यग्दृष्टि प्रथम मिथ्यात्व अवस्था में किये हुए पापों के फल से दुःख भोगते हैं, लेकिन अब सम्यक्त्व मिला है, इसलिये सदा सुखी ही रहेंगे । आयु के अंत में नरक से निकल कर मनुष्य होकर ऊर्ध्वगति ही पायेंगे, और मिथ्यादृष्टि जो पुण्य के उदय से देव भी हुए हैं, तो भी देवलोक से आकर एकेंद्रिय होंगे । ऐसा दूसरी जगह भी ''वरं'' इत्यादि श्लोक से कहा है कि ''सम्यक्त्व सहित नरक में रहना भी अच्छा है और सम्यक्त्व रहित स्वर्ग में निवास भी शोभा नहीं देता ।'' ।।५८।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ तमेवार्थं पुनरपि द्रढयति—

॥५९-१८२॥

जे णिय-दंसण-अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति ।
तिं विणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति ॥

ये निजदर्शनाभिमुखाः सौख्यमनन्तं लभन्ते ।
तेन विना पुण्यं कुर्वाणा अपि दुःखमनन्तं सहन्ते ॥५९॥

जे णिय इत्यादि—*जे* ये केचन *णियदंसणअहिमुहा* निजदर्शनाभिमुखास्ते पुरुषाः *सोक्खु अणंतु लहंति* सौख्यमनन्तं लभन्ते । अपरे केचन *तिं विणु पुण्णु करंता वि* तेन सम्यक्त्वेन विना पुण्यं कुर्वाणा अपि । *दुक्खु अणंतु सहंति* दुःखमनन्तं सहन्त इति ।

तथाहि—निजशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वाभिमुखा ये ते केचनास्मिन्नेव भवे धर्मपुत्रभीमार्जुनादिवदक्षयसुखं लभन्ते, ये केचन पुनर्नकुलसहदेवादिवत् स्वर्गसुखं लभन्ते। ये तु सम्यक्त्वरहितास्ते पुण्यं कुर्वाणा अपि दुःखमनन्तमनुभवन्तीति तात्पर्यम् ॥५९॥

.....

अब इसी बात को और भी दृढ़ करते हैं —

जो आत्मदर्शन अभिमुखी वे भोगते सुख अनगिनत ।
इसके बिना जो पुण्य करते वे सहें दुख अनगिनत ॥५९॥

दोहार्थ— जो निजदर्शन के सम्मुख हैं, वे अनन्त सुख प्राप्त करते हैं; और उसके बिना पुण्य करते हुए भी अनन्त दुःख सहते हैं ।

टीकार्थ— ***जे*** जो ***णियदंसणअहिमुहा*** आत्मदर्शन के अभिमुख हैं, वे ***अणंतु सोक्खु*** अनन्त सुख को ***लहंति*** पाते हैं, ***तिं विणु*** और जो जीव उससे रहित हैं, ***पुण्णु करंता वि*** वे पुण्य करते हुए भी पुण्य के फल से अल्प सुख पाकर संसार में ***अणंतु दुक्खु*** अनन्त दुःख ***सहंति*** भोगते हैं ।

निज शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति रुचि रूप निश्चयसम्यक्त्व के अभिमुख हुए जो सत्पुरुष हैं, उनमें से कुछ तो उसी भव में युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि के समान अविनाशी सुख पाते हैं, और कितने ही नकुल, सहदेव आदि के समान अहमिंद्र-पद के सुख पाते हैं । तथा जो सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टिजीव हैं वे पुण्य करते हुए मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं, संसारीजीव ही हैं, अनन्त दुःख का ही अनुभव करते हैं, यह तात्पर्य जानना ॥५९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ निश्चयेन पुण्यं निराकरोति—

॥६०-१८३॥

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो ।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥

पुण्येन भवति विभवो विभवेन मदो मदेन मतिमोहः ।
मतिमोहेन च पापं तस्मात् पुण्यं अस्माकं मा भवतु ॥६०॥

पुण्णेण इत्यादि— *पुण्णेण होइ विहवो* पुण्येन विभवो विभूतिर्भवति, *विहवेण मओ* विभवेन मदोऽहंकारो गर्वो भवति, *मएण मइमोहो* विज्ञानाद्यष्टविधमदेन मतिमोहो मतिभ्रंशो विवेकमूढत्वं भवति । *मइमोहेण य पावं* मतिमूढत्वेन पापं भवति, *ता पुण्णं अम्ह मा होउ* तस्मादित्थंभूतं पुण्यं अस्माकं मा भूदिति ।

तथा च—इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति । न च पुनः सम्यक्त्वादिगुणसहितं भरतसगररामपाण्डवादिपुण्यबन्धवत् । यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति तर्हि ते कथं पुण्यभाजनाः सन्तो मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गताः इति भावार्थः । तथा चोक्तं चिरन्तनानां निरहंकारत्वम्—

''सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे,
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिनिर्वृतेः ।
येषां प्रागजनीह तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचराः
चित्रं संप्रति लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ॥'' ॥६०॥*

आगे निश्चय से मिथ्यादृष्टियों के पुण्य का निषेध करते हैं—

हो पुण्य से वैभव विभव से मद मदों से मोहमति ।
हो मोहमति से पाप ऐसे पुण्य हों न मुझे कभी ॥६०॥

दोहार्थ— पुण्य से वैभव होता है वैभव से मद/घमंड होता है, मद से मतिमोह/बुद्धि में भ्रम/अविवेक होता है, मतिमोह से पाप होता है; अतः ऐसे पुण्य हमारे ना हों ।

टीकार्थ— ***पुण्णेण*** पुण्य से घर में ***विहवो*** धन ***होइ*** होता है, और ***विहवेण*** धन से ***मओ*** अभिमान, ***मएण*** मान से ***मइ मोहो य*** बुद्धिभ्रम होता है, ***मइमोहेण*** बुद्धि भ्रम होने से ***पावं*** पाप होता है, ***ता*** इसलिये ऐसा ***पुण्णं*** पुण्य ***अम्ह*** हमारे ***मा होउ*** न हो ।

---

* आत्मानुशासन, पद्य २१८ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भेदाभेदरत्नत्रय की आराधना से रहित, देखे-सुने-अनुभव किये भोगों की वांछारूप निदानबंध के परिणामों सहित जो मिथ्यादृष्टि, संसारी, अज्ञानी जीव है; उसे पहले उपार्जन किये भोगों की वांछारूप पुण्य के फल से प्राप्त हुई घर में सम्पदा होने से अभिमान (घमंड) होता है, अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट कर पाप कमाता है, और पाप से भव-भव में अनंत दु:ख पाता है— इसप्रकार मिथ्यादृष्टियों का पुण्य पाप का ही कारण है ।

जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, सगर, राम, पांडवादि विवेकी जीव हैं, उनको पुण्यबंध अभिमान उत्पन्न नहीं करता, परम्परा से मोक्ष का कारण है । जैसे अज्ञानियों के पुण्य की फल रूप विभूति गर्व की कारण है, वैसे सम्यग्दृष्टियों के नहीं है । वे सम्यग्दृष्टि पुण्य के पात्र हुए चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर मद अहंकारादि विकल्पों को छोड़कर मोक्ष को गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती, बलभद्र पद में भी निरहंकारी रहे । ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रन्थ में श्रीगुणभद्राचार्य ने किया है कि "पहले समय में ऐसे सत्पुरुष हो गये हैं, जिनके वचन में सत्य, बुद्धि में शास्त्र, मन में दया, पराक्रमरूप भुजाओं में शूरवीरता, याचकों में पूर्ण लक्ष्मी का दान और मोक्षमार्ग में गमन होने पर भी वे निरभिमानी हुए, उन्हें किसी गुण का अहंकार नहीं हुआ । उनके नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, परन्तु अब बड़ा आश्चर्य है कि इस पंचमकाल में लेशमात्र भी गुण नहीं हैं, तो भी इनके उद्धतपना है, यानी गुण तो रंचमात्र भी नहीं, और अभिमान में बुद्धि रहती है ।"॥६०॥

अथ देवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यं भवति न च मोक्ष इति प्रतिपादयति—

॥६१-१८४॥

देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ भत्तिए पुण्णु हवेइ ।
कम्म-क्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ संति भणेइ ॥

देवानां शस्त्राणां मुनिवराणां भक्त्या पुण्यं भवति ।
कर्मक्षयः पुनः भवति नैव आर्यः शान्तिः भणति ॥६१॥

देवहँ इत्यादि— *देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ भत्तिए पुण्णु हवेइ* देवशास्त्रमुनीनां भक्त्या पुण्यं भवति *कम्मक्खउ पुणु होइ णवि* कर्म क्षयः पुनर्मुख्यवृत्त्या नैव भवति । एवं कोऽसौ भणति ? *अज्जउ* आर्यः । किं नामा । *सन्ति* शान्तिः *भणेइ* भणति कथयति इति ।

तथाहि—सम्यक्त्वपूर्वकदेवशास्त्रगुरुभक्त्या मुख्यवृत्त्या पुण्यमेव भवति न च मोक्षः । अत्राह प्रभाकरभट्टः — यदि पुण्यं मुख्यवृत्त्या मोक्षकारणं न भवत्युपादेयं च न भवति तर्हि भरतसगररामपाण्डवादयोऽपि निरन्तरं पञ्चपरमेष्ठिगुणस्मरणदानपूजादिना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्भरभक्ताः सन्तः किमर्थं पुण्योपार्जनं कुर्युरिति । भगवानाह— यथा कोऽपि रामदेवादि-पुरुषविशेषो देशान्तरस्थितसीतादिस्त्रीसमीपागतानां पुरुषाणां तदर्थं संभाषणदानसन्मानादिकं करोति तथा तेऽपि महापुरुषाः वीतरागपरमानन्दैकरूपमोक्षलक्ष्मीसुखसुधारसपिपासिताः सन्तः संसारस्थितिविच्छेदकारणं विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठि-संबन्धिगुणस्मरणदानपूजादिकं कुर्युरिति ।

अयमत्र भावार्थः — तेषां पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिपरिणतानां कुटुम्बिनां पलालवदनीहितं पुण्यमास्रवतीति ॥६१॥

.....

आगे देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति द्वारा मुख्यता से पुण्यबंध होता है, मोक्ष नहीं, ऐसा कहते हैं—

हो देव जिनवाणी गुरु की भक्ति से नितपुण्य ही ।
श्री आर्यशान्ति ने कहा क्षयकर्म ना उनसे कभी ॥६१॥

दोहार्थ— श्री देव-शास्त्र और मुनिवरों की भक्ति से पुण्य होता है, कर्मों का क्षय नहीं होता है—ऐसा आर्य शान्ति कहते हैं ।

टीकार्थ— ***देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ*** श्रीवीतरागदेव, द्वादशांग शास्त्र और दिगम्बर साधुओं की ***भत्तिए*** भक्ति करने से ***पुण्णु हवेइ*** मुख्यता से पुण्य होता है, ***पुणु*** लेकिन ***कम्मक्खउ*** तत्काल कर्मों का क्षय ***णवि होइ*** नहीं होता, ऐसा ***अज्जउसंति*** शांति नाम आर्य अथवा कपट रहित संत पुरुष ***भणेइ*** कहते हैं ।

सम्यक्त्वपूर्वक जो देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति करता है, उसको मुख्य रूप से पुण्य ही होता है, मोक्ष नहीं होता है । जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि हैं, उनके भाव-भक्ति तो नहीं है, लौकिक बाहिरी भक्ति होती है, उससे पुण्य का ही बंध है, कर्म का क्षय नहीं है ।

ऐसा कथन सुनकर श्रीयोगीन्दुदेव से प्रभाकरभट्ट ने प्रश्न किया— हे प्रभो, जो पुण्य मुख्यता से मोक्ष का कारण नहीं है, वह तो त्यागने योग्य ही है, ग्रहण योग्य नहीं है; परन्तु यदि ग्रहण योग्य नहीं है; तो भरत, सगर, राम, पांडवादिक महान पुरुषों ने निरंतर पंचपरमेष्ठी के गुणस्मरण क्यों किये ? और दान, पूजादि शुभ क्रियाओं से पूर्ण होकर पुण्य का उपार्जन क्यों किया ?

तब श्रीगुरु ने उत्तर दिया— जैसे परदेश में स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता आदि स्त्री के पास से आये हुए किसी मनुष्य से बातें करता है— उसका सम्मान करता है, दान देता है, ये सब कारण अपनी प्रिया के हैं, कुछ उसके

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रसाद के कारण नहीं हैं । उसीप्रकार वे भरत, सगर, राम, पांडवादि महान पुरुष वीतराग परमानंद एक रूप मोक्ष लक्ष्मी के सुख रूप अमृत-रस के प्यासे हुए संसार की स्थिति को छेदने के लिये, विषय-कषाय से उत्पन्न हुए आर्त-रौद्र खोटे ध्यानों के नाश के कारण श्रीपंचपरमेष्ठी के गुणों का स्मरण करते हैं और दान-पूजादिक करते हैं; परन्तु उनकी दृष्टि केवल निज परिणति पर है, परवस्तु पर नहीं है । पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि शुभ क्रियारूप से परिणत हुए भरत आदि के, बिना चाहे पुण्यप्रकृति का आस्रव होता है । जैसे किसान की दृष्टि अन्न पर है, तृण-भूसादि पर नहीं है । बिना चाहे पुण्य का बंध सहज में ही हो जाता है । वह उनको संसार में नहीं भटका सकता है । वे तो शिवपुरी के ही पात्र हैं ।।६१।।

अथ देवशास्त्रमुनीनां योऽसौ निन्दां करोति तस्य पापबन्धो भवतीति कथयति—

।।६२-१८५।।

देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ जो विद्देसु करेइ ।
णियमैं पाउ हवेइ तसु जें संसारु भमेइ ।।

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां यो विद्वेषं करोति ।
नियमेन पापं भवति तस्य येन संसारं भ्रमति ।।६२।।

देवहँ इत्यादि— *देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ जो विद्देसु करेइ* देवशास्त्रमुनीनां साक्षात्पुण्यबन्धहेतुभूतानां परंपरया मुक्तिकारणभूतानां च योऽसौ विद्वेषं करोति । तस्य किं भवति ? *णियमैं पाउ हवेइ तसु* नियमेन पापं भवति तस्य । येन पापबन्धेन किं भवति ? *जें संसारु भमेइ* येन पापेन संसारं भ्रमतीति ।

तद्यथा— निजपरमात्मपदार्थोपलम्भरुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वकारणस्य तत्त्वार्थश्रद्धान-रूपव्यवहारसम्यक्त्वस्य विषयभूतानां देवशास्त्रयतीनां योऽसौ निन्दां करोति स मिथ्यादृष्टि-र्भवति । मिथ्यात्वेन पापं बध्नाति, पापेन चतुर्गतिसंसारं भ्रमतीति भावार्थः ।।६२।।

आगे देव-शास्त्र-गुरु की जो निंदा करता है, उसके महान पाप का बंध होता है, वह पापी पाप के प्रभाव से नरक-निगोदादि खोटी गति में अनंतकाल तक भटकता है, ऐसा कहते हैं —

जो देव जिनवाणी गुरु से करे नित विद्वेष ही ।
उसके नियम से पाप हो उससे सदा भवभ्रमण ही ।।६२।।

दोहार्थ— श्री देव, शास्त्र, मुनिवरों से जो विद्वेष करता है, उसके नियम से पाप होता है, और उससे वह संसार में भ्रमण करता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***देवहँ सत्थहँ मुणिवरहँ*** वीतरागदेव, जिनसूत्र, और निर्ग्रंथमुनियों से ***जो*** जो जीव ***विद्देसु*** द्वेष ***करेइ*** करता है, ***तसु*** उसके ***णियमें*** निश्चय से ***पाउ*** पाप ***हवेइ*** होता है, ***जें*** जिस पाप के कारण वह जीव ***संसारु*** संसार में ***भमेइ*** भ्रमण करता है । अर्थात् परम्परा से मोक्ष के कारण और साक्षात् पुण्यबंध के कारण जो देव-शास्त्र-गुरु हैं, उनकी जो निंदा करता है, उसके नियम से पाप होता है, पाप से दुर्गति में भटकता है ।

निज परमात्म-पदार्थ की प्राप्ति रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व के कारणभूत तत्त्वार्थश्रद्धानरूप व्यवहारसम्यक्त्व के विषयभूत देव, शास्त्र, निर्ग्रन्थ-गुरुओं की जो निंदा करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है । वह मिथ्यात्व से महान पाप बाँधता है, उस पाप से चतुर्गति संसार में घूमता है ॥६२॥

अथ पूर्वसूत्रद्वयोक्तं पुण्यपापफलं दर्शयति—

॥६३-१८६॥

पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णें अमरु वियाणु ।
मिस्सें माणुस-गइ लहइ दोहि वि खइ णिव्वाणु ॥

पापेन नारकः तिर्यग् जीव पुण्येनामरो विजानीहि ।
मिश्रेण मनुष्यगतिं लभते द्वयोरपि क्षये निर्वाणम् ॥

पावें इत्यादि—***पावें*** पापेन ***णारउ तिरिउ*** नारको भवति तिर्यग्भवति । **कोऽसौ?** ***जिउ*** जीवः ***पुण्णें अमरु वियाणु*** पुण्येनामरो देवो भवतीति विजानीहि । ***मिस्सें माणुसगइ लहइ*** मिश्रेण पुण्यपापद्वयेन मनुष्यगतिं लभते । ***दोहि वि खइ णिव्वाणु*** द्वयोरपि कर्मक्षयेऽपि निर्वाणमिति ।

तद्यथा—सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशाद्विपरीतेन छेदनादिनारक-तिर्यग्गतिदुःखदानसमर्थेन पापकर्मोदयेन नारकतिर्यग्गतिभाजनो भवति जीवः । तस्मादेव शुद्धात्मनो विलक्षणेन पुण्योदयेन देवो भवति । तस्मादेव शुद्धात्मनो विपरीतेन पुण्यपापद्वयेन मनुष्यो भवति । तस्यैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन मुक्तो भवतीति तात्पर्यार्थः । तथा चोक्तम्—

"पावेण णरयतिरियं गम्मइ धम्मेण देवलोयम्मि ।
मिस्सेण माणुसत्तं दोण्हं पि खएण णिव्वाणं ॥" ॥६३॥

आगे पहले दो सूत्रों में कहे गये पुण्य और पाप के फल दिखाते हैं—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हो पाप से नारक पशु यह जीव सुर हो पुण्य से ।
हो उभय से नर, मोक्ष होता है उभय के नाश से ।।६३।।

दोहार्थ— यह जीव पाप से नारकी-पशु, पुण्य से देव, दोनों के मिश्रण से मनुष्यगति प्राप्त करता है, दोनों के ही क्षय में मोक्ष होता है— ऐसा जानो ।

टीकार्थ— ***जिउ*** यह जीव ***पावें*** पाप के उदय से ***णारउ तिरिउ*** नरकगति और तिर्यंचगति पाता है, ***पुण्णें*** पुण्य से ***अमरु*** देव होता है, ***मिस्सें*** पुण्य और पाप दोनों के मेल से ***माणुस गइ*** मनुष्य गति को ***लहइ*** पाता है, और ***दोहि वि खइ*** पुण्य-पाप दोनों के ही नाश होने से ***णिव्वाणु*** मोक्ष पाता है, ऐसा ***वियाणु*** जानो ।

सहज शुद्ध ज्ञानानंद एक स्वभाव परमात्मा से विपरीत, छेदन आदि नारक-तिर्यंचगति के दु:ख देने में समर्थ पापकर्म के उदय से नरक-तिर्यंचगति का पात्र होता है । आत्मस्वरूप से विपरीत शुभ कर्मों के उदय से देव होता है । उसी शुद्धात्मा से विपरीत दोनों के मेल से मनुष्य होता है, और शुद्धात्मस्वरूप से विपरीत इन दोनों पुण्य-पापों के क्षय से निर्वाण मिलता है । मोक्ष का कारण एक शुद्धोपयोग है, वह शुद्धोपयोग विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमय निज शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप है । इसलिये इस शुद्धोपयोग के बिना किसी प्रकार भी मुक्ति नहीं हो सकती, यह सारांश जानो । ऐसा ही सिद्धान्त-ग्रन्थों में भी हर एक जगह कहा गया है । जैसे— "यह जीव पाप से नरक, तिर्यंचगति में जाता है, और धर्म (पुण्य) से देवलोक में जाता है, पुण्य-पाप दोनों के मेल से मनुष्य देह को पाता है, और दोनों के क्षय से मोक्ष पाता है।" ।।६३।।

अथ निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनस्वरूपे स्थित्वा व्यवहारप्रतिक्रमण-प्रत्याख्यानालोचनां त्यजन्तीति त्रिकलेन कथयति—

।।६४-१८७।।

वंदणु णिंदणु पडिकमणु पुण्णहँ कारणु जेण ।
करइ करावइ अणुमणइ एक्कु वि णाणि ण तेण ।।

वन्दनं निन्दनं प्रतिक्रमणं पुण्यस्य कारणं येन ।
करोति कारयति अनुमन्यते एकमपि ज्ञानी न तेन ।।६४।।

वंदणु* इत्यादि—** ***वंदणु णिंदणु पडिकमणु **वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणत्रयम् । किंविशिष्टम् ?**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुण्णहँ कारणु पुण्यस्य कारणं *जेण* येन कारणेन *करइ करावइ अणुमण्णइ* करोति कारयति अनुमोदयति, *एक्कु वि* एकमपि, *णाणि ण तेण* ज्ञानी पुरुषो न तेन कारणेनेति ।

तथाहि— शुद्धनिर्विकल्पपरमात्मतत्त्वभावनाबलेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्मरणरूपाणामतीतरागादिदोषाणां निराकरणं निश्चयप्रतिक्रमणं भवति, वीतरागचिदानन्दैकानुभूतिभावनाबलेन भाविभोगाकांक्षारूपाणां रागादीनां त्यजनं निश्चयप्रत्याख्यानं भण्यते, निजशुद्धात्मोपलम्भबलेन वर्तमानोदयागतशुभाशुभनिमित्तानां हर्षविषादादिपरिणामानां निजशुद्धात्मद्रव्यात् पृथक्करणं निश्चयालोचनमिति । इत्थंभूते निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रये स्थित्वा योऽसौ व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तत्त्रयानुकूलं वन्दननिन्दनादिशुभोपयोगं च त्यजन् स ज्ञानी भण्यते न चान्य इति भावार्थः ॥६४॥

आगे निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चयआलोचनारूप शुद्धोपयोग में ठहरकर व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान और व्यवहार आलोचनारूप शुभोपयोग को छोड़ते हैं, ऐसा कहते हैं —

वन्दन व निन्दन प्रतिक्रमण ये पुण्य के कारण कहे ।
इससे न ज्ञानी करे करवाये ना अनुमोदन करे ॥६४॥

दोहार्थ— पंचपरमेष्ठी आदि की वन्दना, अशुभ कर्म की निंदा, और प्रतिक्रमण आदि ये सभी पुण्य के कारण हैं; इसलिये सम्यग्ज्ञानी इनमें से एक भी न तो करता है, न कराता है और न अनुमोदना करता है ।

टीकार्थ— ***वंदणु*** पंचपरमेष्ठी की वंदना, ***णिंदणु*** अपने अशुभ कर्म की निंदा और ***पडिकमणु*** अपराधों की प्रायश्चित्तादि विधि से निवृत्ति; ये सब ***जेण पुण्णहँ कारणु*** क्यों कि पुण्य के कारण हैं, मोक्ष के कारण नहीं हैं, ***तेण*** इसीलिये पहली अवस्था में पाप को दूर करने के लिये ज्ञानी पुरुष इनको करता है, कराता है और करते हुए को भला जानता है; तो भी निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्था में ***णाणी*** ज्ञानी जीव ***एक्कु वि*** इन तीनों में से एक भी, ***ण करइ*** न तो करता है, ***करावइ*** न कराता है और न ***अणुमण्णइ*** करते हुए को भला जानता है ।

केवल शुद्ध स्वरूप में जिसका चित्त लगा हुआ है, ऐसे निर्विकल्प परमात्मतत्त्व की भावना के बल से देखे, सुने और अनुभव किये भोगों की वांछारूप जो भूतकाल के रागादि दोष, उन्हें दूर करना वह निश्चयप्रतिक्रमण है; वीतराग चिदानन्द एक शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप भावना के बल से होने वाला, आगामी भोगों की वांछारूप रागादिक का त्याग, निश्चयप्रत्याख्यान है; और निज शुद्धात्मा की प्राप्ति के बल से, वर्तमान उदय में आये शुभ-अशुभ के कारण हर्ष-विषादादि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अशुद्ध परिणामों को निज शुद्धात्मद्रव्य से पृथक् करना निश्चयआलोचना है । —इसप्रकार निश्चयप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना में ठहरकर जो कोई व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान, व्यवहार-आलोचना—इन तीनों के अनुकूल वन्दना, निंदा आदि शुभोपयोग को छोड़ता है, वही ज्ञानी कहा जाता है, अन्य नहीं । सारांश यह है कि ज्ञानी जीव पहले तो अशुभ को त्यागकर शुभ में प्रवृत्त होता है, बाद में शुभ को भी छोड़ कर शुद्ध में लग जाता है । पहले किये हुए अशुभ कर्मों की निवृत्ति वह व्यवहार प्रतिक्रमण है, होने वाले अशुभपरिणाम को रोकना वह व्यवहारप्रत्याख्यान है, और वर्तमानकाल में शुभ की प्रवृत्ति अशुभ की निवृत्ति वह व्यवहार-आलोचना है । व्यवहार में तो अशुभ का त्याग, शुभ का अंगीकार होता है, और निश्चय में शुभ-अशुभ दोनों का ही त्याग होता है ।।६४।।

अथ—

।।६५-१८८।।

वंदणु णिंदणु पडिकमणु णाणिहिँ एहु ण जुत्तु ।
एक्कु जि मेल्लिवि णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु ।।

वन्दनं निन्दनं प्रतिक्रमणं ज्ञानिनां इदं न युक्तम् ।
एकमेव मुक्त्वा ज्ञानमयं शुद्धं भावं पवित्रम् ।।६५।।

वंदणु णिंदणु पडिकमणु वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणत्रयम् । ***णाणिहिँ एहु ण जुत्तु*** ज्ञानिनामिदं न युक्तम् । किं कृत्वा ? ***एक्कु जि मेल्लिवि*** एकमेव मुक्त्वा । एक कम् ? ***णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु*** ज्ञानमयं शुद्धभावं पवित्रमिति ।

तथाहि—पञ्चेन्द्रियभोगाकांक्षाप्रभृतिसमस्तविभावरहितः शून्यः केवलज्ञानाद्यनन्तगुण-परमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसहजानन्दपरमसमरसीभाव-लक्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थो योऽसौ ज्ञानमयो भावः तं भावं मुक्त्वाऽन्यद्व्यवहार-प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तदनुकूलं वन्दननिन्दनादिशुभोपयोगविकल्पजालं च ज्ञानिनां युक्तं न भवतीति तात्पर्यम् ।।६५।।

आगे इसी कथन को दृढ़ करते हैं—

इस छोड़कर अतिशुद्ध एक पवित्र ज्ञायक भाव को ।
वन्दन व निन्दन प्रतिक्रमण हैं उचित ना सब ज्ञानि को ।।६५।।

दोहार्थ— एक शुद्ध पवित्र ज्ञानमय भाव को छोड़कर वंदना, निंदा, प्रतिक्रमण—ये ज्ञानियों को उचित नहीं हैं ।

टीकार्थ— ***वंदणु णिंदणु पडिकमणु*** वंदना, निंदा और प्रतिक्रमण ***एहु***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ये तीनों ***णाणिहिँ*** ज्ञानियों को ***ण जुत्तु*** ठीक नहीं हैं, ***एक्कु जि*** एक ***णाणमउ*** ज्ञानमय ***सुद्धउ पवित्तु भाउ*** पवित्र शुद्ध भाव को ***मेल्लिवि*** छोड़कर अर्थात् इसके सिवाय ज्ञानी को कोई कार्य करना योग्य नहीं है ।

पाँच इन्द्रियों के भोगों की वांछा को आदि लेकर सम्पूर्ण विभावों से रहित केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न सहज परमानन्द परमसमरसीभाव, वही हुआ अमृत-रस उसके आस्वाद से भरितावस्थ पूर्ण जो वह ज्ञानमयीभाव है, उसे छोड़कर अन्य व्यवहारप्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना—इन तीनों के अनुकूल वंदन-निंदनादि शुभोपयोग विकल्प-जाल हैं, वे ज्ञानी को करने योग्य नहीं हैं । प्रथम अवस्था में ही उचित हैं, आगे नहीं—ऐसा तात्पर्य है ॥६५॥

अथ—

॥६६-१८९॥

वंदउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु ।
पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मण-सुद्धि ण तासु ॥

वन्दतां निन्दतु प्रतिक्रामतु भावः अशुद्धो यस्य ।
परं तस्य संयमोऽस्ति नैव यस्मात् मनः शुद्धिर्न तस्य ॥६६॥

वंदउ इत्यादि— ***वंदउ णिंदउ पडिकमउ*** वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणं करोतु । ***भाउ असुद्धउ जासु*** भावः परिणामः न शुद्धो यस्य, ***पर*** परं नियमेन ***तसु*** तस्य पुरुषस्य ***संजमु अत्थि णवि*** संयमोऽस्ति नैव । कस्मान्नास्ति ? ***जं*** यस्मात् कारणात् ***मणसुद्धि ण तासु*** मनःशुद्धिर्न तस्येति।

तद्यथा—नित्यानन्दैकरूपस्वशुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षैर्विषयकषायाधीनैः ख्यातिपूजालाभादि-मनोरथशतसहस्रविकल्पजालमालाप्रपञ्चोत्पन्नैरपध्यानैर्यस्य चित्तं रञ्जितं वासितं तिष्ठति तस्य द्रव्यरूपं वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणादिकं कुर्वाणस्यापि भावसंयमो नास्ति इत्यभिप्रायः ॥६६॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयनयेन पुण्यपापद्वयं समानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्दशसूत्रस्थलं समाप्तम् ।

आगे इसी बात को दृढ़ करते हैं—

निज भाव न हों शुद्ध जिसके उसे वन्दन प्रतिक्रमण ।
निंदादि करते हुए भी संयम नहीं मन-शुद्धि बिन ॥६६॥

दोहार्थ— वन्दना, निन्दा, प्रतिक्रमण करते हुए भी जिसके भाव अशुद्ध हैं; उसके नियम से संयम नहीं है, क्योंकि उसके मन-शुद्धि नहीं है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***वंदउ णिंदउ पडिकमउ*** नि:शंक वंदना करो, निंदा करो, प्रतिक्रमणादि करो, ***जासु*** लेकिन जिसके ***असुद्धउभाउ*** जब तक अशुद्ध परिणाम हैं, ***तसु*** उसके ***पर*** नियम से ***संजमु*** संयम ***णवि अत्थि*** नहीं हो सकता, ***जं*** क्योंकि ***तासु*** उसके ***मणसुद्धि ण*** मन की शुद्धता नहीं है । जिसका मन शुद्ध नहीं, उसके संयम कहाँ से हो सकता है ?

नित्यानन्द एकरूप निज शुद्धात्मा की अनुभूति के प्रतिपक्षी (उल्टे) जो विषय-कषाय, उनके आधीन आर्त-रौद्र खोटे ध्यानों से जिसका चित्त रँगा हुआ है, उसके द्रव्यरूप व्यवहार-वंदना, निंदा, प्रतिक्रमणादि क्या कर सकते हैं ? यद्यपि वह बाह्य-क्रिया करता है, तो भी उसके भावसंयम नहीं है । सिद्धान्त में उसे असंयमी कहते हैं । कैसे हैं वे ? आर्त-रौद्र स्वरूप खोटे ध्यान, अपनी बड़ाई, प्रतिष्ठा और लाभादि सैकड़ों मनोरथों के विकल्पों की माला के (पंक्ति के) प्रपंच से उत्पन्न हुए हैं । जब तक ये चित्त में हैं, तब तक बाह्य-क्रिया क्या कर सकती है ? कुछ नहीं कर सकती ॥६६॥

इसप्रकार मोक्ष, मोक्ष-फल, मोक्षमार्गादि का कथन करने वाले दूसरे महा अधिकार में निश्चयनय से पुण्य-पाप दोनों समान हैं, इस व्याख्यान की मुख्यता से चौदह दोहे कहे ।

अथानन्तरं शुद्धोपयोगादिप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकाधिकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्रान्तरस्थलचतुष्टयं भवति । तद्यथा— प्रथमसूत्रपञ्चकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानं करोति, तदनन्तरं पञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानम्, अत ऊर्ध्वं सूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनन्तरं त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं केवल-ज्ञानादिगुणस्वरूपेण सर्वे जीवाः समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

रागादिविकल्पनिवृत्तिस्वरूपशुद्धोपयोगे संयमादयः सर्वे गुणास्तिष्ठन्तीति प्रतिपादयति—

॥६७-१९०॥

सुद्धहँ संजमु सीलु तउ सुद्धहँ दंसणु णाणु ।
सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ॥

शुद्धानां संयमः शीलं तपः शुद्धानां दर्शनं ज्ञानम् ।
शुद्धानां कर्मक्षयो भवति शुद्धो तेन प्रधानः ॥६७॥

सुद्धहँ इत्यादि— ***सुद्धहँ*** शुद्धोपयोगिनां ***संजमु*** इन्द्रियसुखाभिलाषनिवृत्तिबलेन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

षड्जीवनिकायहिंसानिवृत्तिबलेनात्मना आत्मनि संयमनं नियमनं संयमः स पूर्वोक्तः शुद्धोपयोगिनामेव । अथवोपेक्षासंयमापहृतसंयमौ वीतरागसरागापरनामानौ तावपि तेषामेव संभवतः । अथवा सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातभेदेन पञ्चधा संयमः सोऽपि लभ्यते तेषामेव । *सीलु* स्वात्मना कृत्वा स्वात्मनिवृत्तिर्वर्तनं इति निश्चयव्रतं, व्रतस्य रागादिपरिहारेण परिरक्षणं निश्चयशीलं तदपि तेषामेव । *तउ* द्वादशविधतपश्चरणबलेन परद्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा शुद्धात्मनि प्रतपनं विजयनं तप इति । तदपि तेषामेव । *सुद्धहँ* शुद्धोपयोगिनां *दंसणु* छद्मस्थावस्थायां स्वशुद्धात्मनि रुचि रूपं सम्यग्दर्शनं केवलज्ञानोत्पत्तौ सत्यां तस्यैव फलभूतं अनीहितविपरीताभिनिवेशरहितं परिणामलक्षणं क्षायिकसम्यक्त्वं केवलदर्शनं वा तेषामेव । *णाणु* वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं तस्यैव फलभूतं केवलज्ञानं वा *सुद्धहँ* शुद्धोपयोगिनामेव । *कम्मक्खउ* परमात्मस्वरूपोपलब्धिलक्षणो द्रव्यभावनोकर्मक्षयः *हवइ* तेषामेव भवति । *सुद्धउ* शुद्धोपयोगपरिणामस्तदाधारपुरुषो वा *तेण पहाणु* येन कारणेन पूर्वोक्तः संयमादयो गुणाः शुद्धोपयोगे लभ्यन्ते तेन कारणेन स एव प्रधान उपादेयः इति तात्पर्यम् । तथा चोक्तं शुद्धोपयोगफलम्—

''सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सुद्धो णमो तस्स ॥'' ॥६७॥*

आगे शुद्धोपयोग आदि कथन की मुख्यता से इकतालीस दोहों में व्याख्यान करते हैं, वहाँ चार अन्तर स्थल हैं । वे इसप्रकार— प्रथम पाँच सूत्रों द्वारा शुद्धोपयोग का व्याख्यान करते हैं, उसके बाद पंद्रह सूत्रों तक वीतरागस्वसंवेदन ज्ञान की मुख्यता से व्याख्यान है, उससे आगे आठ दोहों में परिग्रहत्याग के व्याख्यान की मुख्यता से कहते हैं, तथा तेरह दोहों में केवलज्ञानादि गुणस्वरूप से सब जीव समान हैं, ऐसा व्याख्यान है । वह इसप्रकार—

अब प्रथम ही रागादि विकल्प की निवृत्तिस्वरूप शुद्धोपयोग में संयमादि सब गुण रहते हैं, ऐसा वर्णन करते हैं—

हों शुद्ध के ही शील संयम तप व दर्शन ज्ञान भी ।
हो शुद्ध के ही कर्म का क्षय अतः शुद्ध प्रधान ही ॥६७॥

दोहार्थ— शुद्ध के संयम, शील, तप होते हैं; शुद्ध के दर्शन, ज्ञान हैं; शुद्ध के कर्मों का क्षय होता है, अतः शुद्ध प्रधान हैं ।

---

* प्रवचनसार, गाथा २७४ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***सुद्धहँ*** शुद्धोपयोगियों के ही ***संजमु सीलु तउ*** पाँच इन्द्रिय-छट्ठे मन को रोकने रूप संयम, शील और तप ***हवइ*** होते हैं, ***सुद्धहँ*** शुद्धों के ही ***दंसणु णाणु*** सम्यग्दर्शन और वीतरागस्वसंवेदन ज्ञान और ***सुद्धहँ*** शुद्धोपयोगियों के ही ***कम्मक्खउ*** कर्मों का नाश ***हवइ*** होता है, ***तेण*** इसलिये ***सुद्धउ*** शुद्धोपयोग ही जगत में ***पहाणु*** मुख्य है ।

पाँच इंद्रिय-छट्ठे मन का रोकना, विषयाभिलाष की निवृत्ति, और छह काय के जीवों की हिंसा से निवृत्ति, उसके बल से आत्मा में संयमन, नियमन, निश्चल रहना, उसका नाम संयम है; वह शुद्धोपयोगियों के होता है । अथवा उपेक्षासंयम अर्थात् तीन गुप्ति में आरूढ़ और अपहृतसंयम अर्थात् पाँच समिति का पालन; अथवा सरागसंयम अर्थात् शुभोपयोगरूप संयम और वीतरागसंयम अर्थात् शुद्धोपयोगरूप परमसंयम; वह उन शुद्ध चेतनोपयोगियों के ही होता है । अथवा सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात के भेद से पाँच प्रकार का संयम है, वह भी उन्हें ही प्राप्त होता है ।

शील अर्थात् अपने से अपने आत्मा में प्रवृत्ति करना यह निश्चयशील, रागादि के त्याग से शुद्ध भाव की रक्षा करना वह भी निश्चयशील है; और देवांगना, मनुष्यनी, तिर्यंचनी, तथा काठ, पत्थर, चित्रामादि की अचेतन स्त्री—ऐसी चार प्रकार की स्त्रियों का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना, वह व्यवहारशील है; ये दोनों शील शुद्ध चित्तवालों के ही होते हैं ।

तप अर्थात् बारह प्रकार का तप, उसके बल से द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप सब वस्तुओं में इच्छा छोड़कर शुद्धात्मा में मग्न रहना, काम-क्रोधादि शत्रुओं के वश में न होना, प्रतापरूप, विजयरूप जितेन्द्रिय रहना तप है, यह तप शुद्ध चित्त वालों के ही होता है ।

दर्शन अर्थात् साधक अवस्था में स्व शुद्धात्मा में रुचिरूप सम्यग्दर्शन और केवली अवस्था में उस सम्यग्दर्शन के फलभूत संशय, विमोह, विभ्रम रहित निज परिणामरूप क्षायिकसम्यक्त्व, केवलदर्शन यह भी शुद्धों के ही होता है ।

ज्ञान अर्थात् वीतराग स्वसंवेदनज्ञान और उसका फलभूत केवलज्ञान वह भी शुद्धोपयोगियों के ही होता है, और कर्मक्षय अर्थात् परमात्मस्वरूप की प्राप्ति लक्षण द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का नाश, वह भी शुद्धोपयोगियों के ही होता है । इसलिये शुद्धोपयोग-परिणाम और उन परिणामों को धारण करने वाला पुरुष ही जगत में प्रधान है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्योंकि संयमादि सब गुण शुद्धोपयोग में ही पाये जाते हैं, इसलिये शुद्धोपयोग के समान अन्य नहीं है, ऐसा तात्पर्य जानना । ऐसा ही अन्य ग्रन्थों में हर एक जगह ''सुद्धस्स'' इत्यादि से कहा गया है । उसका भावार्थ यह है कि ''शुद्धोपयोगी के ही मुनिपद कहा है, और उसी के दर्शन-ज्ञान कहे हैं । उसी के निर्वाण है, और वही शुद्ध अर्थात् रागादि रहित है । उसी को हमारा नमस्कार है ।''।।६७।।

अथ निश्चयेन स्वकीयशुद्धभाव एव धर्म इति कथयति—

।।६८-१९१।।

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु ।
चउ-गइ-दुक्खहँ जो धरइ जीउ पडंतउ एहु ।।

भावो विशुद्धः आत्मीयः धर्मं भणित्वा लाहि ।
चतुर्गतिदुःखेभ्यः यो धरति जीवं पतन्तमिमम् ।।६८।।

भाउ इत्यादि— *भाउ* भावः परिणामः । कथंभूतः ? *विसुद्धउ* विशेषेण शुद्धो मिथ्यात्वरागादिरहितः *अप्पणउ* आत्मीयः *धम्मु भणेविणु लेहु* धर्मं भणित्वा मत्वा प्रगृह्णीथाः। यो धर्मः किं करोति ? *चउगइदुक्खहँ जो धरइ* चतुर्गतिदुःखेभ्यः सकाशात् उद्धृत्य यः कर्ता धरति । कं धरति ? *जीउ पडंतउ एहु* जीवमिमं प्रत्यक्षीभूतं संसारे पतन्तमिति ।

तद्यथा— धर्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते— 'संसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य नरेन्द्रनागेन्द्रदेवेन्द्रवन्द्ये मोक्षपदे धरतीति धर्मः' इति धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य शुद्धपरिणाम एव ग्राह्यः । तस्य तु मध्ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मा अन्तर्भूता लभ्यन्ते । तथा *'अहिंसालक्षणो धर्मः,'* सोऽपि जीवशुद्धभावं विना न संभवति । *'सागारानगारलक्षणो धर्मः'* सोऽपि तथैव *'उत्तमक्षमादिदशविधो धर्मः'* सोऽपि जीवशुद्धभावमपेक्षते । *''सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः''*[१] इत्युक्तं यद्धर्मलक्षणं तदपि तथैव । रागद्वेषमोहरहितः परिणामो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धस्वभाव एव । वस्तुस्वभावो धर्मः सोऽपि तथैव । तथा चोक्तम्— *''धम्मो वत्थुसहावो''*[२] इत्यादि । एवंगुणविशिष्टो धर्मश्चतुर्गतिदुःखेषु पतन्तं जीवं धरतीति धर्मः ।

अत्राह शिष्यः — पूर्वसूत्रे भणितं शुद्धोपयोगमध्ये संयमादयः सर्वे गुणा लभ्यन्ते । अत्र तु भणितमात्मनः शुद्धपरिणाम एव धर्मः, तत्र सर्वे धर्माश्च लभ्यन्ते । को विशेषः ? परिहारमाह— तत्र शुद्धोपयोगसंज्ञा मुख्या, अत्र तु धर्मसंज्ञा मुख्या एतावान् विशेषः । तात्पर्यं तदेव । तेन कारणेन सर्वप्रकारेण शुद्धपरिणाम एव कर्तव्य इति भावार्थः ।।६८।।

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पद्य ३, पूर्वार्द्ध ।
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४७६, प्रथम पाद ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे यह कहते हैं कि निश्चय से अपना शुद्ध भाव ही धर्म है—

जो भाव अपना शुद्धतामय धर्म वह धारण करो ।
वह धरे नित सुखों में दुख-मग्न चतुगति जीव को ।।६८।।

दोहार्थ— जो विशुद्धतामय अपना परिणाम है, उसे धर्म मानकर धारण करो, वह चारगति के दु:खों में पड़े हुए जीव को निकालकर सुख में धरता/रखता है।

टीकार्थ— ***विसुद्धउ भाउ*** मिथ्यात्व-रागादि से रहित शुद्ध परिणाम ही ***अप्पणउ*** अपना है, और अशुद्ध परिणाम अपने नहीं हैं, उस शुद्ध भाव को ही ***धम्मु भणेविणु*** धर्म समझकर ***लेहु*** अंगीकार करो । ***जो*** जो आत्मधर्म ***चउगइ दुक्खहँ*** चारों गतियों के दु:खों से ***पडंतउ*** संसार में पड़े हुए ***एहु जीउ*** इस जीव को ***धरइ*** निकालकर आनंद-स्थान में रखता है ।

धर्म शब्द का शब्दार्थ ऐसा है कि संसार में पड़ते हुए प्राणियों को निकालकर मोक्ष पद में रखे, वह धर्म है; वह मोक्ष-पद देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्रों द्वारा वंदन योग्य है । जो आत्मा का निज स्वभाव है वही धर्म है, उसी में जिनभाषित सब धर्म पाये जाते हैं । जो दयास्वरूप धर्म है, वह भी जीव के शुद्ध भावों के बिना नहीं होता, यति-श्रावक का धर्म भी शुद्ध भावों के बिना नहीं होता; उत्तम क्षमादि दशलक्षणधर्म भी शुद्धभाव बिना नहीं हो सकता, और रत्नत्रयधर्म भी शुद्ध भावों के बिना नहीं हो सकता । ऐसा ही कथन जगह-जगह ग्रंथों में है, ''सद्दृष्टि'' इत्यादि श्लोक से—उसका अर्थ यह है कि ''धर्म के ईश्वर भगवान ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों को धर्म कहा है ।'' जिस धर्म के ये ऊपर कहे गये लक्षण हैं; वह राग, द्वेष, मोह रहित परिणाम-धर्म है, वह जीव का स्वभाव ही है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है । ऐसा दूसरी जगह भी ''धम्मो'' इत्यादि गाथा से कहा है कि ''जो आत्म-वस्तु का स्वभाव है, वह धर्म है;'' उत्तम क्षमादि भावरूप दस प्रकार का धर्म है, रत्नत्रय धर्म है, और जीवों की रक्षा यह धर्म है । यह जिन भाषित धर्म चतुर्गति के दु:खों में पड़ते हुए जीवों का उद्धार करता है ।

यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया कि पहले दोहे में तो आपने शुद्धोपयोग में संयमादि सब गुण कहे, और यहाँ आत्मा का शुद्ध परिणाम ही धर्म कहा है, उसमें धर्म पाये जाते हैं, तो पहले दोहे में और इसमें क्या भेद है ? उसका समाधान करते हैं—पहले दोहे में तो शुद्धोपयोग नाम मुख्य था, और इस दोहे में धर्म नाम मुख्य है । शुद्धोपयोग का ही नाम धर्म है, तथा धर्म का नाम ही शुद्धोपयोग है । शब्द का भेद है, अर्थ का भेद नहीं है । दोनों का तात्पर्य एक है । इसलिए सबतरह शुद्ध परिणाम ही कर्तव्य है, वही धर्म है ।।६८।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ विशुद्धभाव एव मोक्षमार्ग इति दर्शयति—

॥६९-१९२॥

सिद्धिहिँ केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु ।
जो तसु भावहँ मुणि चलइ सो किम होइ विमुक्कु ॥

सिद्धेः संबन्धी पन्थाः भावो विशुद्ध एकः ।
यः तस्माद् भावात् मुनिश्चलति स कथं भवति विमुक्तः ॥६९॥

सिद्धिहिँ इत्यादि— *सिद्धिहिँ केरा* सिद्धेर्मुक्तेः संबन्धी *पंथडा* पन्था मार्गः । कोऽसौ ? *भाउ* भावः परिणामः । कथंभूतः ? *विसुद्धउ* विशुद्धः *एक्कु* एक एवाद्वितीयः । *जो तसु भावहँ मुणि चलइ* यस्तस्माद्भावान्मुनिश्चलति । *सो किम होइ विमुक्कु* स मुनिः कथं मुक्तो भवति न कथमपीति ।

तद्यथा— योऽसौ समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितो जीवस्य शुद्धभावः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गः । यस्तस्मात् शुद्धात्मपरिणामान्मुनिश्च्युतो भवति स कथं मोक्षं लभते किंतु नैव । अत्र येन कारणेन निजशुद्धात्मानुभूतिपरिणाम एव मोक्षमार्गस्तेन कारणेन मोक्षार्थिना स एव निरन्तरं कर्तव्य इति तात्पर्यार्थः ॥६९॥

आगे शुद्ध भाव ही मोक्ष का मार्ग है, यह दिखलाते हैं—

है मोक्ष का पथ एक शुद्ध स्वभावमय परिणाम ही ।
जो रहित हैं उस भाव से वे होंय कैसे मुक्त भी? ॥६९॥

दोहार्थ— मोक्ष का मार्ग एक विशुद्धभाव है, जो मुनि उस भाव से चलित/रहित है, वह मुक्त कैसे हो सकता है ?

टीकार्थ— ***सिद्धिहिँ केरा पंथडा*** मुक्ति का मार्ग ***एक्कु विसुद्धउभाउ*** एक शुद्ध भाव ही है । ***जो मुणि*** जो मुनि ***तसु भावहँ*** उस शुद्ध भाव से ***चलइ*** चलायमान हो जावे, ***सो*** वह ***किम*** कैसे ***विमुक्कु*** मुक्त ***होइ*** हो सकता है ? किसी प्रकार नहीं हो सकता ।

जो समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित जीव का शुद्ध भाव है, वही निश्चयरत्नत्रयस्वरूप मोक्ष का मार्ग है । जो मुनि शुद्धात्मपरिणाम से च्युत हो जाता है, वह कैसे मोक्ष को पा सकता है ? नहीं पा सकता । मोक्ष का मार्ग एक शुद्ध भाव ही है, इसलिये मोक्ष के इच्छुक को वही भाव हमेशा करना चाहिये । (यहाँ जिस कारण निज शुद्धात्मानुभूति परिणाम ही मोक्षमार्ग है, उस कारण मोक्षार्थी द्वारा निरन्तर वह ही किया जाना चाहिए—ऐसा तात्पर्य है ।) ॥६९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ क्वापि देशे गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि चित्तशुद्धिं विना मोक्षो नास्तीति प्रकटयति—

॥७०-१९३॥

जहिँ भावइ तहिँ जाहि जिय जं भावइ करि तं जि ।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहँ सुद्धि ण जं जि ॥

यत्र भाति तत्र याहि जीव यद् भाति कुरु तदेव ।
कथमपि मोक्षः नास्ति परं चित्तस्य शुद्धिर्न यदेव ॥७०॥

जहिँ भावइ इत्यादि— *जहिँ भावइ तहिँ* यत्र देशे प्रतिभाति तत्र *जाहि* गच्छ *जिय* हे जीव । *जं भावइ करि तं जि* यदनुष्ठानं प्रतिभाति कुरु तदेव । *केम्वइ मोक्खु ण अत्थि* कथमपि केनापि प्रकारेण मोक्षो नास्ति *पर* परं नियमेन । कस्मात्? *चित्तहँ सुद्धि ण* चित्तस्य शुद्धिर्न *जं जि* यस्मादेव कारणात् इति ।

तथाहि—ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपदुर्ध्यानैः शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतैर्यावत्कालं चित्तं रञ्जितं मूर्च्छितं तन्मयं तिष्ठति तावत्कालं हे जीव क्वापि देशान्तरं गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि मोक्षो नास्तीति । अत्र कामक्रोधादिभिरपध्यानैर्जीवो भोगानुभवं विनापि शुद्धात्मभावनाच्युतः सन् भावेन कर्माणि बध्नाति तेन कारणेन निरन्तरं चित्तशुद्धिः कर्तव्येति भावार्थः । तथा चोक्तम्—

''कंखिदकलुसिदभूदो हु कामभोगेहिं मुच्छिदो जीवो ।
णवि भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि ॥'' ॥७०॥

आगे यह प्रकट करते हैं कि किसी देश में जाओ, चाहे जो तप करो, तो भी चित्त की शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं है—

तुम जहाँ मन हो वहाँ जाओ जो रुचे वह ही करो ।
तो भी कभी भी चित्त शुद्धि बिना ना शिव प्राप्त हो ॥७०॥

दोहार्थ— हे जीव ! तुम्हें जहाँ अच्छा लगता हो वहाँ जाओ, जो अच्छा लगता हो वह करो; परन्तु जब तक चित्त शुद्धि नहीं है, तब तक किसी भी रूप में मोक्ष नहीं हो सकता ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***जहिँ*** जहाँ ***भावइ*** तेरी इच्छा हो ***तहिँ*** उसी देश में ***जाहि*** जा, और ***जं*** जो ***भावइ*** अच्छा लगे, ***तं जि*** वही ***करि*** कर, ***पर*** लेकिन ***जं जि*** जब तक ***चित्तहँ सुद्धि ण*** मन की शुद्धि नहीं है, तब तक ***केम्वइ*** किसी प्रकार ***मोक्खु ण अत्थि*** मोक्ष नहीं हो सकता ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बड़ाई, प्रतिष्ठा, परवस्तु का लाभ, और देखे, सुने, भोगे हुए भोगों की वांछारूप खोटे ध्यान, जो कि शुद्धात्मानुभूति के शत्रु हैं, इनसे जब तक यह चित्त रँगा हुआ है, अर्थात् विषय-कषायों से तन्मय है, तब तक हे जीव ! किसी देश में जाओ, तीर्थादिकों में भ्रमण करो अथवा चाहे जैसा आचरण करो; तथापि किसी प्रकार मोक्ष नहीं है ।

सारांश यह है कि काम-क्रोधादि खोटे ध्यान से यह जीव भोगों के सेवन के बिना भी शुद्धात्म-भावना से च्युत हुआ, अशुद्ध भावों से कर्मों को बाँधता है । इसलिए हमेशा चित्त की शुद्धता रखनी चाहिये । ऐसा ही कथन दूसरी जगह भी ''कंखिद'' इत्यादि गाथा से किया है— ''इस लोक और परलोक के भोगों का अभिलाषी और कषायों से कालिमारूप हुआ, अवर्तमान विषयों का वांछक और वर्तमान विषयों में अत्यन्त आसक्त हुआ, अति मोहित होने से भोगों को नहीं भोगता हुआ भी अशुद्ध भावों से कर्मों को बाँधता है ।'' ॥७०॥

अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयं कथयति—

॥७१-१९४॥

सुह-परिणामें धम्मु पर असुहें होउ अहम्मु ।
दोहिँ वि एहिँ विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मु ॥

शुभपरिणामेन धर्मः परं अशुभेन भवति अधर्मः ।
द्वाभ्यामपि एताभ्यां विवर्जितः शुद्धो न बध्नाति कर्म ॥७१॥

सुह इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते— *सुहपरिणामें धम्मु पर* शुभपरिणामेन धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्त्या । *असुहें होइ अहम्मु* अशुभपरिणामेन भवत्यधर्मः पापम् । *दोहिँ वि एहिँ विवज्जियउ* द्वाभ्यां एताभ्यां शुभाशुभपरिणामाभ्यां विवर्जितः । कोऽसौ ? *सुद्धु* शुद्धो मिथ्यात्वरागादिरहितपरिणामस्तत्परिणतपुरुषो वा । किं करोति ? *ण बंधइ* न बध्नाति । किम् ? *कम्मु* ज्ञानावरणादिकर्मेति ।

तद्यथा— कृष्णोपाधिपीतोपाधिस्फटिकवदयमात्मा क्रमेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण परिणामत्रयं परिणमति । तेन तु मिथ्यात्वविषयकषायाद्यवलम्बनेन पापं बध्नाति । अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुगुणस्मरणदानपूजादिना संसारस्थितिच्छेदपूर्वकं तीर्थकरनामकर्मादिविशिष्टपुण्यमनीहितवृत्त्या बध्नाति । शुद्धात्मावलम्बनेन शुद्धोपयोगेन तु केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरूपं मोक्षं च लभते इति । अत्रोपयोगत्रयमध्ये मुख्यवृत्त्या शुद्धोपयोग एवोपादेय इत्यभिप्रायः ॥७१॥

एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सूत्रपञ्चकेन शुद्धोपयोगव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमान्तरस्थलं गतम् ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगों को कहते हैं—

हो पुण्य शुभ परिणाम से होता अशुभ से पाप ही ।
शुभ अशुभ विरहित शुद्ध से ना कर्म बन्धन हो कभी ।।७१।।

दोहार्थ— मुख्यता की अपेक्षा शुभ परिणाम से पुण्यरूप व्यवहारधर्म और अशुभ से अधर्म होता है; तथा इन दोनों से रहित शुद्ध परिणाम से कर्मों का बंधन नहीं होता है ।

टीकार्थ— ***सुहपरिणामें*** दान, पूजादि शुभ परिणामों से ***धम्मु*** पुण्यरूप व्यवहारधर्म ***पर*** मुख्यता से ***होउ*** होता है, ***असुहें*** विषय-कषायादि अशुभ परिणामों से ***अहम्मु*** पाप होता है, ***वि*** और ***एहिं दोहिं*** इन दोनों से ***विवज्जियउ*** रहित ***सुद्धु*** मिथ्यात्व-रागादि रहित शुद्ध परिणाम अथवा परिणामधारी पुरुष ***कम्मु*** ज्ञानावरणादि कर्म को ***ण*** नहीं ***बंधइ*** बाँधता ।

जैसे स्फटिकमणि शुद्ध उज्ज्वल है, उसके यदि काला डाँक लगावें, तो काला मालूम होता है, और पीला डाँक लगावें तो पीला भासता है, और यदि कुछ भी न लगावें, तो शुद्ध स्फटिक ही है; उसीप्रकार यह आत्मा क्रम से अशुभ, शुभ, शुद्ध इन परिणामों से परिणत होता है । उनमें से मिथ्यात्व और विषय-कषायादि अशुभ के अवलम्बन से तो पाप को ही बाँधता है, उसके फल से नरक-निगोदादि के दु:खों को भोगता है, और अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु—इन पाँच परमेष्ठियों के गुणस्मरण और दानपूजादि शुभ क्रियाओं से संसार की स्थिति के छेदपूर्वक तीर्थंकर नामकर्म आदि विशिष्ट गुणरूप पुण्यप्रकृतियाँ अवांछिक वृत्ति से बँधती हैं । तथा केवल शुद्धात्मा अवलम्बनरूप शुद्धोपयोग से उसी भव में केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप मोक्ष को पाता है ।

इन तीन प्रकार के उपयोगों में से सर्वथा उपादेय तो शुद्धोपयोग ही है, अन्य नहीं है । और शुभ-अशुभ इन दोनों में से अशुभ तो सब प्रकार से निषिद्ध है, नरक-निगोद का कारण है, किसी प्रकार भी उपादेय नहीं है—हेय है; तथा शुभोपयोग प्रथम अवस्था में उपादेय है, और परम अवस्था में उपादेय नहीं है, हेय है ।।७१।।

इसप्रकार इकतालीस दोहों के महास्थल में पाँच दोहों द्वारा शुद्धोपयोग के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम अन्तरस्थल पूर्ण हुआ ।

अतिशय स्वत: उत्पन्न अनुपम विषयरहित अनन्त है ।
शुद्धोपयोग प्रसिद्ध जीवों के अखण्डित सुक्ख है ।। *—प्रवचनसार, गाथा १३।।*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत ऊर्ध्वं तस्मिन्नेव महास्थलमध्ये पञ्चदशसूत्रपर्यन्तं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानीं-मुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—

॥७२-१९५॥

दाणिँ लब्भइ भोउ पर इंदत्तणु वि तवेण ।
जम्मण-मरण-विवज्जियउ पउ लब्भइ णाणेण ॥

दानेन लभ्यते भोगः परं इन्द्रत्वमपि तपसां ।
जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते ज्ञानेन ॥७२॥

दाणिँ इत्यादि — *दाणिँ लब्भइ भोउ पर* दानेन लभ्यते पञ्चेन्द्रियभोगः परं नियमेन । *इंदत्तणु वि तवेण* इन्द्रत्वमपि तपसा लभ्यते । *जम्मणमरणविवज्जियउ* जन्ममरणविवर्जितं *पउ* पदं स्थानं *लब्भइ* लभ्यते प्राप्यते । केन ? *णाणेण* वीतराग-स्वसंवेदनज्ञानेनेति ।

तथाहि— आहाराभयभैषज्यशास्त्रदानेन सम्यक्त्वरहितेन भोगो लभ्यते । सम्यक्त्वसहितेन तु यद्यपि परंपरया निर्वाणं लभ्यते तथापि विविधाभ्युदयरूपः पञ्चेन्द्रियभोग एव । सम्यक्त्वसहितेन तपसा तु यद्यपि निर्वाणं लभ्यते तथापि देवेन्द्रचक्र-वर्त्यादिविभूतिपूर्वकेणैव । वीतरागस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानेन सविकल्पेन यद्यपि देवेन्द्रचक्र-वर्त्यादिविभूतिविशेषो भवति तथापि निर्विकल्पेन मोक्ष एवेति ।

अत्राह प्रभाकरभट्टः — हे भगवान् यदि विज्ञानमात्रेण मोक्षो भवति तर्हि सांख्यादयो वदन्ति 'ज्ञानमात्रादेव मोक्षः' तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह— अत्र वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानमिति भणितं तिष्ठति तेन वीतरागविशेषणेन चारित्रं लभ्यते सम्यग्विशेषणेन सम्यक्त्वमपि लभ्यते पानकवदेकस्यापि मध्ये त्रयमस्ति । तेषां मते तु वीतरागविशेषणं नास्ति सम्यग्विशेषणं च नास्ति ज्ञानमात्रमेव । तेन दूषणं भवतीति भावार्थः ॥७२॥

.....

आगे पन्द्रह दोहों में वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं—

नित भोग मिलते दान से इन्द्रत्व मिलता तपों से ।
पर जन्म-जरा-मरण रहित पद मिले केवल ज्ञान से ॥७२॥

दोहार्थ— दान से मुख्यतया भोग प्राप्त होते हैं, और तप से इन्द्र पद मिलता है, परन्तु जन्म-मरण से रहित मोक्षपद मात्र ज्ञान से प्राप्त होता है ।

टीकार्थ— ***दाणिं*** दान द्वारा ***पर*** नियम से ***भोउ*** पाँच इंद्रियों के भोग ***लब्भइ*** प्राप्त होते हैं, ***वि*** और ***तवेण*** तप से ***इंदत्तणु*** इंद्र-पद मिलता है, तथा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

णाणेण वीतराग-स्वसंवेदनज्ञान से ***जम्मणमरणविवज्जियउ*** जन्म, जरा, मरण से रहित ***पउ*** मोक्ष-पद ***लब्भइ*** मिलता है ।

आहार, अभय, औषध और शास्त्र— ये चार दान यदि सम्यक्त्व रहित करे, तो इनसे भोगभूमि के भोग प्राप्त करता है, तथा सम्यक्त्व सहित दान करे, तो परम्परा से मोक्ष पाता है । यद्यपि प्रथम अवस्था में देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि की विभूति भी पाता है, तो भी निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञान से मोक्ष ही है ।

यहाँ प्रभाकरभट्ट ने प्रश्न किया कि हे भगवन ! यदि ज्ञानमात्र से ही मोक्ष होता है, तो सांख्यादिक भी ऐसा ही कहते हैं कि 'ज्ञान से ही मोक्ष है,' उनको क्यों दूषण देते हैं ? तब श्रीगुरु ने कहा— इस जिनशासन में वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान कहा गया है, सो 'वीतराग' कहने से वीतरागचारित्र आ जाता है, और 'सम्यक्' पद कहने से सम्यक्त्व भी आ जाता है । जैसे एक चूर्ण में अथवा पाक में अनेक औषधियाँ आ जाती हैं, परन्तु वस्तु एक ही कहलाती है; उसीप्रकार वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान कहने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों आ जाते हैं । सांख्यादिक के मत में वीतराग विशेषण नहीं है, और सम्यक् विशेषण नहीं है, केवल ज्ञानमात्र ही है, अतः वह मिथ्याज्ञान है, इसलिये दूषण देते हैं, यह जानना ॥७२॥

अथ तमेवार्थं विपक्षदूषणद्वारेण द्रढयति—

॥७३-१९६॥

देउ णिरंजणु इउँ भणइ णाणिँ मुक्खु ण भंति ।
णाण-विहीणा जीवडा चिरु संसारु भमंति ॥

देवः निरञ्जन एवं भणति ज्ञानेन मोक्षो न भ्रान्तिः ।
ज्ञानविहीना जीवाः चिरं संसारं भ्रमति ॥७३॥

देउ इत्यादि— देउ देवः; किंविशिष्टः ? *णिरंजणु* निरञ्जनः अनन्तज्ञानादिगुण-सहितोऽष्टादशदोषरहितश्च *इउँ भणइ* एवं भणति । एवं किम् ? *णाणिं मुक्खु* वीतराग-निर्विकल्पस्वसंवेदनरूपेण सम्यग्ज्ञानेन मोक्षो भवति । *ण भंति* न भ्रांतिः संदेहो नास्ति। *णाणविहीणा जीवडा* पूर्वोक्तस्वसंवेदनज्ञानेन विहीना जीवा *चिरु संसारु भमंति* चिरं बहुतरं कालं संसारं परिभ्रमन्ति इति ।

अत्र वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमध्ये यद्यपि सम्यक्त्वादित्रयमस्ति तथापि सम्यग्ज्ञानस्यैव मुख्यता । ''विवक्षितो मुख्य''* इति वचनादिति भावार्थः ॥७३॥

---

* बृहत् स्वयंभू स्तोत्र, श्रेयांसनाथ स्तवन, पद्य३, प्रथम पादांश ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे इसी अर्थ को विपक्ष में दूषण देकर दृढ़ करते हैं—

कहते निरंजन देव मुक्ति ज्ञान से ही भ्रान्ति ना ।
जो ज्ञान विरहित जीव वह चिरकाल भव में घूमता ।।७३।।

दोहार्थ— निरंजन वीतराग सर्वज्ञ देव ऐसा कहते हैं कि ज्ञान से मोक्ष होता है—इसमें संदेह नहीं है, ज्ञानविहीन जीव चिरकाल तक संसार में भटकते हैं ।

टीकार्थ— ***णिरंजणु*** अनन्त ज्ञानादि गुण सहित और अठारह दोष रहित, जो ***देउ*** सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं, वे ***इउँ*** ऐसा ***भणइ*** कहते हैं कि ***णाणिँ*** वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञान से ही ***मुक्खु*** मोक्ष है, इसमें ***ण भंति*** संदेह नहीं है । और ***णाण-विहीणा*** स्वसंवेदनज्ञान से रहित ***जीवडा*** जीव, ***चिरु*** बहुत कालतक ***संसारु भमंति*** संसार में भटकते हैं ।

यहाँ वीतरागस्वसंवेदनज्ञान में यद्यपि सम्यक्त्वादि तीनों हैं, तो भी मुख्यता सम्यग्ज्ञान की ही है । क्योंकि श्रीजिनवचन में ऐसा कथन किया है कि ''जिसका कथन किया जावे, वह मुख्य होता है, अन्य गौण होता है'', ऐसा जानना ।।७३।।

अथ पुनरपि तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकाभ्यां निश्चिनोति—

।।७४-१९७।।

णाण-विहीणहँ मोक्ख-पउ जीव म कासु वि जोइ ।
बहुएँ सलिल-विरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ ।।

ज्ञानविहीनस्य मोक्षपदं जीव मा कस्यापि अद्राक्षीः ।
बहुना सलिलविलोडितेन करः चिक्कणो न भवति ।।७४।।

णाण इत्यादि— ***णाणविहीणहँ*** ख्यातिपूजालाभादिदुष्टभावपरिणतचित्तं मम कोऽपि न जानातीति मत्वा वीतरागपरमानन्दैकसुखरसानुभवरूपं चित्तशुद्धिमकुर्वाणस्य बहिरङ्गबकवेषेण लोकरञ्जनं मायास्थानं तदेव शल्यं तत्प्रभृतिसमस्तविकल्पकल्लोलमालात्यागेन निजशुद्धात्मसंवित्तिनिश्चयेन संज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन बिना ***मोक्खपउ*** मोक्षपदं स्वरूपं ***जीव*** हे जीव ***म कासु वि जोइ*** मा कस्याप्यद्राक्षीः । दृष्टान्तमाह— ***बहुएँ सलिलविरोलियइँ*** बहुनापि सलिलेन मथितेन ***करु*** करो हस्तः ***चोप्पडउ ण होइ*** चिक्कनःस्निग्धो न भवतीति ।

अत्र यथा बहुतरमपि सलिले मथितेऽपि हस्तः स्निग्धो न भवति, तथा वीतरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन ज्ञानेन बिना बहुनापि तपसा मोक्षो न भवतीति तात्पर्यम् ।।७४।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे फिर भी इसी कथन को दृष्टांत और दार्ष्टांत से निश्चित करते हैं —

हो ज्ञान विरहित किसी को भी मोक्ष पद मिलता नहीं ।
ज्यों बहुत जल के बिलोने से कर कभी चिकना नहीं ।।७४।।

दोहार्थ— हे जीव ! ज्ञानविहीन किसी का भी मोक्ष मत देखो, उसे कभी भी मोक्ष नहीं मिलेगा । जैसे बहुत अधिक जल के बिलोडन से भी कभी भी कर/हाथ चिकना नहीं होता है ।

टीकार्थ— ***णाणविहीणहँ*** जो सम्यग्ज्ञान से रहित मलिन चित्त है, अर्थात् अपनी बड़ाई, प्रतिष्ठा, लाभादि दुष्ट भावों से जिसका चित्त परिणत हुआ है, और मन में ऐसा जानता है कि हमारी दुष्टता को कोई नहीं जान सकता; ऐसा समझकर वीतराग परमानंद एक सुखरस के अनुभवरूप चित्त की शुद्धि नहीं करता, तथा बाहर से बगुला के समान भेष मायाचाररूप, लोकरंजन के लिये धारण किया है, यही सत्य है, इसी भेष से हमारा कल्याण होगा इत्यादि अनेक विकल्पों की कल्लोलों से अपवित्र है, ऐसे ***कासु वि*** किसी अज्ञानी के ***मोक्खपउ*** मोक्ष-पदवी ***जीव*** हे जीव ! ***म जोइ*** मत देखो अर्थात् बिना सम्यग्ज्ञान के मोक्ष नहीं होता । उसका दृष्टांत कहते हैं— ***बहुएँ*** बहुत ***सलिलविरोलियइँ*** पानी के मथने से भी ***करु*** हाथ ***चोप्पडउ*** चिकना ***ण होइ*** नहीं होता, क्योंकि जल में चिकनापन है ही नहीं ।

जैसे जल में चिकनाई नहीं है, वैसे बाहिरी भेष में सम्यग्ज्ञान नहीं है । सम्यग्ज्ञान के बिना महान तप करो, तो भी मोक्ष नहीं होता । क्योंकि सम्यग्ज्ञान का लक्षण वीतराग शुद्धात्मा की अनुभूति है, वही मोक्ष का मूल है । वह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनादि से भिन्न नहीं है, तीनों एक हैं ।।७४।।

अथ निश्चयनयेन यन्निजात्मबोधज्ञानबाह्यं ज्ञानं तेन प्रयोजनं नास्तीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

।।७५-१९८।।

जं णिय-बोहहँ बाहिरउ णाणु वि कज्जु ण तेण ।
दुक्खहँ कारण, जेण तउ जीवहँ होइ खणेण ।।

यत् निजबोधाद्बाह्यं ज्ञानमपि कार्यं न तेन ।
दुःखस्य कारणं येन तपः जीवस्य भवति क्षणेन ।।७५।।

जं इत्यादि— ***जं*** यत् ***णियबोहहँ बाहिरउ*** दानपूजातपश्चरणादिकं कृत्वापि दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षावासितचित्तेन रूपलावण्यसौभाग्यबलदेववासुदेवकामदेवेन्द्रादि-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पदप्राप्तिरूपभाविभोगाशाकरणं यन्निदानबन्धस्तदेव शल्यं तत्प्रभृतिसमस्तमनोरथविकल्पज्वाला-वलीरहितत्वेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मावबोधो निजबोधः तस्मान्निजबोधाद्बाह्यम् । *णाणु वि कज्जु ण तेण* शास्त्रादिजनितं ज्ञानमपि यत्तेन कार्यं नास्ति । कस्मादिति चेत् ? *दुक्खहँ कारणु* दुःखस्य कारणं *जेण* येन कारणेन *तउ* वीतरागस्वसंवेदनरहितं तपः *जीवहँ* जीवस्य *होइ* भवति *खणेण* क्षणमात्रेण कालेनेति ।

अत्र यद्यपि शास्त्रजनितं ज्ञानं स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितं तपश्चरणं च मुख्यवृत्त्या पुण्यकारणं भवति तथापि मुक्तिकारणं न भवतीत्यभिप्रायः ॥७५॥

.....

आगे निश्चयनय से आत्मज्ञान से बहिर्मुख जो बाह्य पदार्थों का ज्ञान है, उससे प्रयोजन नहीं सधता, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर कहते हैं —

है ज्ञान जो निजबोध बिन वह कार्यकारी है नहीं ।
उससे बनें तप आदि सब ही दुःख कारण शीघ्र ही ॥७५॥

दोहार्थ— आत्मज्ञान से रहित जो भी ज्ञान है, उससे (सुख सम्बन्धी) कुछ भी कार्य नहीं होता है; क्योंकि उससे जीव का तप भी शीघ्र ही दुःख का कारण हो जाता है ।

टीकार्थ— ***जं*** जो ***णियबोहहँ*** आत्मज्ञान से ***बाहिरउ*** बाहर ***णाणु वि*** शास्त्र आदि का ज्ञान भी है, ***तेण*** उस ज्ञान से ***कज्जु ण*** कुछ काम नहीं, ***जेण*** क्योंकि ***तउ*** वीतरागस्वसंवेदनज्ञान रहित तप ***खणेण*** शीघ्र ही ***जीवहँ*** जीव को ***दुक्खहँ कारणु*** दुःख का कारण ***होइ*** होता है ।

निदानबंध आदि तीन शल्यों को आदि ले समस्त विषयाभिलाषरूप मनोरथों के विकल्पजालरूपी अग्नि की ज्वालाओं से रहित जो निज सम्यग्ज्ञान है, उससे रहित बाह्य पदार्थों का शास्त्र द्वारा ज्ञान है, उससे कुछ काम नहीं । कार्य तो एक निज आत्मा को जानने से है । यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया कि निदानबंध रहित आत्मज्ञान आपने बतलाया, उसमें निदानबंध किसे कहते हैं ? उसका समाधान—देखे, सुने और भोगे हुए इन्द्रियों के भोगों से जिसका चित्त रंग रहा है, ऐसा अज्ञानी जीव रूप-लावण्य-सौभाग्य का अभिलाषी वासुदेव, चक्रवर्ती पद के भोगों की वांछा करे, दान-पूजा-तपश्चरणादि से भोगों की अभिलाषा करे, वह निदानबंध है, यह बड़ी शल्य (काँटा) है ।

इस शल्य से रहित जो आत्मज्ञान, उसके बिना शब्द-शास्त्रादि का ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है । क्योंकि वीतरागस्वसंवेदनज्ञान रहित तप भी दुःख का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कारण है । ज्ञानरहित तप से जो संसार की सम्पदायें मिलती हैं,वे क्षणभंगुर हैं। इसलिये यह निश्चय हुआ कि आत्मज्ञान से रहित जो शास्त्र ज्ञान और तपश्चरणादि हैं; उनसे मुख्यता से पुण्य का बंध होता है । उस पुण्य के प्रभाव से जगत की विभूति पाता है, वह क्षणभंगुर है । इसलिये अज्ञानियों का तप और श्रुत यद्यपि पुण्य का कारण है, तो भी मोक्ष का कारण नहीं है ।।७५।।

अथ येन मिथ्यात्वरागादिवृद्धिर्भवति तदात्मज्ञानं न भवतीति निरूपयति—

।।७६-१९९।।

तं णिय-णाणु जि होइ ण वि जेण पवड्ढइ राउ ।
दिणयर-किरणहँ पुरउ जिय किं विलसइ तम-राउ ।।

तत् निजज्ञानमेव भवति नापि येन प्रवर्धते रागः ।
दिनकरकिरणानां पुरतः जीव किं विलसति तमोरागः ।।७६।।

तं इत्यादि— *तं* तत् *णियणाणु जि होइ णवि* निजज्ञानमेव न भवति वीतराग-नित्यानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वपरिज्ञानमेव न भवति । येन ज्ञानेन किं भवति ? *जेण पवड्ढइ* येन प्रवर्धते । कोऽसौ ? *राउ* शुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानन्दप्रति-बन्धकपञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषरागः । अत्र दृष्टान्तमाह— *दिणयरकिरणहँ पुरउ जिय* दिनकरकिरणानां पुरतो हे जीव *किं विलसइ* किं विलसति किं शोभते अपितु नैव। कोऽसौ ? *तमराउ* तमोरागस्तमोव्याप्तरिति ।

अत्रेदं तात्पर्यम्—यस्मिन् शास्त्राभ्यासज्ञाने जातेऽप्यनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखप्रति-पक्षभूता आकुलत्वोत्पादका रागादयो वृद्धिं गच्छन्ति तन्निश्चयेन ज्ञानं न भवति । कस्मात् ? विशिष्टमोक्षफलाभावादिति ।।७६।।

आगे जिससे मिथ्यात्व-रागादि की वृद्धि हो, वह आत्मज्ञान नहीं है, ऐसा निरूपण करते हैं—

निज ज्ञान ही वह एक जिससे बढ़ें रागादि नहीं ।
क्या सूर्यकिरण समक्ष तम-विस्तार टिक सकता कभी ? ।।७६।।

दोहार्थ— वह निज ज्ञान ही एकमात्र ऐसा है जिससे रागादि नहीं बढ़ते हैं । हे जीव ! क्या कभी सूर्य किरणों के सामने अंधकार का विस्तार हो सकता है ? नहीं ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***तं*** वह ***णियणाणु जि*** वीतराग नित्यानंद एक अखंडस्वभाव परमात्मतत्त्व का परिज्ञान ही ***णवि*** नहीं ***होइ*** है, ***जेण*** जिससे ***राउ***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परद्रव्य में प्रीति ***पवड्ढउ*** बढ़े, ***दिणयरकिरणहँ पुरउ*** सूर्य की किरणों के आगे ***तमराउ*** अन्धकार का विस्तार ***किं विलसइ*** कैसे शोभायमान हो सकता है ? नहीं हो सकता ।

शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग परम आनंद, उसके शत्रु पंचेन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा जिसमें हो, वह निज (आत्म) ज्ञान नहीं है। अज्ञान ही है । जिस जगह वीतरागभाव है, वही सम्यग्ज्ञान है ।

इसी बात को दृष्टांत देकर दृढ़ करते हैं, सो सुनो—हे जीव ! जैसे सूर्य के प्रकाश के आगे अन्धेरा शोभा नहीं देता, वैसे ही आत्मज्ञान में विषयों की अभिलाषा (इच्छा) नहीं शोभती । यह निश्चय से जानना ।

शास्त्र का ज्ञान होने पर भी यदि निराकुलता न हो, और आकुलता को उत्पन्न करने वाले आत्मीक-सुख के वैरी रागादिक वृद्धि को प्राप्त हों, तो वह ज्ञान किस काम का ? ज्ञान तो वह है, जिससे आकुलता मिट जावे । इससे यह निश्चय हुआ कि बाह्य पदार्थों का ज्ञान मोक्ष-फल के अभाव से कार्यकारी नहीं है ।।७६।।

अथ ज्ञानिनां निजशुद्धात्मस्वरूपं विहाय नान्यत्किमप्युपादेयमिति दर्शयति—

।।७७-२००।।

अप्पा मिल्लिवि णाणियहँ अण्णु ण सुंदरु वत्थु ।
तेण ण विसयहँ मणु रमइ जाणंतहँ परमत्थु ।।

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानिनां अन्यन्न सुन्दरं वस्तु ।
तेन न विषयेषु मनो रमते जानतां परमार्थम् ।।७७।।

अप्पा इत्यादि — ***अप्पा मिल्लिवि*** शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मपदार्थं मुक्त्वा ***णाणियहँ*** ज्ञानिनां मिथ्यात्वरागादिपरिहारेण निजशुद्धात्मद्रव्यपरिज्ञानपरिणतानां ***अण्णु ण सुंदरु वत्थु*** अन्यन्न सुन्दरं समीचीनं वस्तु प्रतिभाति येन कारणेन, ***तेण ण विसयहँ मणु रमइ*** तेन कारणेन शुद्धात्मोपलब्धिप्रतिपक्षभूतेषु पञ्चेन्द्रियविषयरूपकामभोगेषु मनो न रमते । किं कुर्वताम् ? ***जाणंतहँ*** जानतां ***परमत्थु*** वीतरागसहजानन्दैकपारमार्थिकसुखाविनाभूतं परमात्मानमेवेति तात्पर्यम् ।।७७।।

आगे ज्ञानी जीवों को निज शुद्धात्मभाव के बिना अन्य कुछ भी आदर करने योग्य नहीं है, ऐसा दिखलाते हैं—

निज आतमा को छोड़ कोई अन्य सुन्दर है नहीं ।
परमार्थ ज्ञानी इसलिए रमते विषय में भी नहीं ।।७७।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— आत्मा को छोड़कर अन्य कोई वस्तु सुन्दर नहीं है, इसलिए परमार्थ को जानने वाले ज्ञानियों का मन विषयों में नहीं रमता है ।

टीकार्थ— ***अप्प*** आत्मा को ***मिल्लिवि*** छोड़कर ***णाणियहँ*** ज्ञानियों को ***अण्णु वत्थु*** अन्य वस्तु ***सुन्दरु ण*** अच्छी नहीं लगती, ***तेण*** इसलिये ***परमत्थु जाणंतहँ*** परमात्म-पदार्थ जाननेवालों का ***मणु*** मन ***विसयहँ*** विषयों में ***ण रमइ*** नहीं लगता ।

मिथ्यात्व, रागादिक को छोड़ने से निज शुद्धात्मद्रव्य के यथार्थ ज्ञान द्वारा जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे ज्ञानियों को शुद्ध-बुद्ध एक परम स्वभाव परमात्मा को छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं भासती । इसीलिये उनका मन कभी विषय-वासना में नहीं रमता । ये विषय कैसे हैं ? शुद्धात्मा की प्राप्ति के शत्रु हैं, भव-भ्रमण के कारण हैं, काम-भोगरूप पाँच इन्द्रियों के विषयों में मूढ़ जीवों का ही मन रमता है, सम्यग्दृष्टि का मन नहीं रमता । कैसे हैं सम्यग्दृष्टि; जिन्होंने वीतराग सहजानन्द एक अखंड सुख में तन्मय परमात्मतत्त्व को जान लिया है । इसलिये यह निश्चय हुआ कि जो विषय-वासना के अनुरागी हैं, वे अज्ञानी हैं; और जो ज्ञानीजन हैं, वे विषय-विकार से सदा विरक्त ही हैं ॥७७॥

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति—

॥७८-२०१॥

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लग्गइ अण्णु ।
मरगउ जें परियाणियउ तहुँ कच्चें कउ गण्णु ॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं चित्ते न लगति अन्यत् ।
मरकतः येन परिज्ञातः तस्य काचेन कुतो गणना ॥७८॥

अप्पा इत्यादि— ***अप्पा मिल्लिवि*** आत्मानं मुक्त्वा । कथंभूतम् ? ***णाणमउ*** ज्ञानमयं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणमयं ***चित्ति*** मनसि ***ण लग्गइ*** न लगति न रोचते न प्रतिभाति । किम् ? ***अण्णु*** निजपरमात्मस्वरूपादन्यत् । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह—***मरगउ जें परियाणियउ*** मरकतरत्नविशेषो येन परिज्ञातः । ***तहुँ*** तस्य रत्नपरीक्षापरिज्ञानसहितस्य पुरुषस्य ***कच्चें कउ गण्णु*** काचेन किं गणनं किमपेक्षा तस्येत्यभिप्रायः ॥७८॥

आगे इसी कथन को दृष्टांत से दृढ़ करते हैं —

अब छोड़ आतम ज्ञानमय मन अन्य में लगता नहीं ।
मरकतमणि है ज्ञात जिसको काँच वह गिनता नहीं ॥७८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— ज्ञानियों के मन में ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर अन्य कुछ अच्छा नहीं लगता है, जिसने मरकत मणि जान ली है, उसे काँच से क्या प्रयोजन है?

टीकार्थ— ***णाणमउ अप्पा*** केवलज्ञानादि अनंतगुणमयी आत्मा को ***मिल्लिवि*** छोड़कर ***अण्णु*** दूसरी वस्तु ***चित्ति*** ज्ञानियों के मन में ***ण लग्गइ*** नहीं रुचती। उसका दृष्टांत यह है कि ***जें*** जिसने ***मरगउ*** मरकतमणि ***परियाणियउ*** जान लिया, ***तहुँ*** उसको ***कच्चें*** काँच से ***कउ गण्णु*** क्या प्रयोजन है ?

जिसने रत्न पा लिया, उसे काँच के टुकड़ों की क्या आवश्यकता है ? उसी प्रकार जिसका चित्त आत्मा में लग गया, उसे दूसरे पदार्थों की वांछा नहीं रहती ॥७८॥

अथ कर्मफलं भुञ्जानः सन् योऽसौ रागद्वेषं करोति स कर्म बध्नातीति कथयति—

॥७९-२०२॥

भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु मोहइँ जो जि करेइ ।
भाउ असुंदरु सुंदरु वि सो पर कम्मु जणेइ ॥

भुञ्जानोऽपि निजकर्मफलं मोहेन य एव करोति ।
भावं असुन्दरं सुन्दरमपि स परं कर्म जनयति ॥७९॥

भुंजंतु वि इत्यादि— *भुंजंतु वि* भुञ्जानोऽपि । किम् ? *णियकम्मफलु* वीतराग-परमाह्लादरूपशुद्धात्मानुभूतिविपरीतं निजोपार्जितं शुभाशुभकर्मफलं *मोहइँ* निर्मोहशुद्धात्मप्रति-कूलमोहोदयेन *जो जि करेइ* य एव पुरुषः करोति । कम् ? *भाउ* भावं परिणामम्। किं विशिष्टम् ? *असुंदरु सुंदरु वि* अशुभं शुभमपि *सो पर* स एव भावः *कम्मु जणेइ* शुभाशुभं कर्म जनयति ।

अयमत्र भावार्थः — उदयागते कर्मणि योऽसौ स्वस्वभावच्युतः सन् रागद्वेषौ करोति स एव कर्म बध्नाति ॥७९॥

.....

आगे कर्म-फल को भोगता हुआ जो राग-द्वेष करता है, वह कर्मों को बाँधता है, ऐसा कहते हैं—

निज कर्मफल को भोगते भी जो करे नित मोह से ।
परिणाम सुन्दर असुन्दर वह बँधे ही नित कर्म से ॥७९॥

दोहार्थ— जो अपने कर्मफल को भोगते हुए मोह से सुन्दर-असुन्दर शुभाशुभ भाव ही करता है, वह मात्र कर्म का ही बंध करता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जो जि*** जो जीव ***णियकम्मफलु*** अपने कर्मों के फल को ***भुंजंतु वि*** भोगता हुआ भी ***मोहइँ*** मोह से ***असुंदरु सुंदरु वि*** भले और बुरे ***भाउ*** परिणाम को ***करेइ*** करता है, ***सो*** वह ***पर*** केवल ***कम्मु जणेइ*** कर्म को उत्पन्न करता है ।

वीतराग परम आह्लादरूप शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत जो अशुद्ध रागादिक विभाव उनसे उपार्जित किये गये शुभ-अशुभ कर्म, उनके फल को भोगता हुआ जो अज्ञानी जीव मोह के उदय से हर्ष-विषाद भाव करता है, वह नये कर्मों का बंध करता है । सारांश यह है कि जो निज स्वभाव से च्युत हुआ उदय में आये हुए कर्मों में राग-द्वेष करता है, वही कर्मों को बाँधता है ॥७९॥

अथ उदयागते कर्मानुभवे योऽसौ रागद्वेषौ न करोति स कर्म न बध्नातीति कथयति —

॥८०-२०३॥

भुंजंतु वि णिय-कम्म-फलु जो तहिँ राउ ण जाइ ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ ॥

भुञ्जानोऽपि निजकर्मफलं यः तत्र रागं न याति ।
स नैव बध्नाति कर्म पुनः संचितं येन विलीयते ॥८०॥

भुंजंतु वि इत्यादि— ***भुंजंतु वि*** भुञ्जानोऽपि । किम् ? **णियकम्मफलु निजकर्मफलं निजशुद्धात्मोपलम्भाभावेनोपार्जितं पूर्वं यत् शुभाशुभं कर्म तस्य *फलं जो* यो जीवः *तहिँ* तत्र कर्मानुभवप्रस्तावे *राउ ण जाइ* रागं न गच्छति वीतरागचिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृततृप्तः सन् रागद्वेषौ न करोति *सो* सः जीवः *णवि बंधइ* नैव बध्नाति । किं न बध्नाति ? *कम्मु* ज्ञानावरणादि कर्म *पुणु* पुनरपि । येन कर्मबन्धाभावपरिणामेन किं भवति ? *संचिउ जेण विलाइ* पूर्वसंचितं कर्म येन वीतरागपरिणामेन विलयं विनाशं गच्छतीति ।**

अत्राह प्रभाकरभट्टः — कर्मोदयफलं भुञ्जानोऽपि ज्ञानी कर्मणापि न बध्यते इति सांख्यादयोऽपि वदन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह— ते निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्रनिरपेक्षा वदन्ति तेन कारणेन तेषां दूषणमिति तात्पर्यम् ॥८०॥

आगे जो उदय-प्राप्त कर्मों में राग-द्वेष नहीं करता, वह कर्मों को भी नहीं बाँधता, ऐसा कहते हैं—

निज कर्मफल को भोगते भी जो करे ना राग को ।
उनमें वही बँधता नहीं व बँधे कर्म भी नष्ट हों ॥८०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— जो अपने कर्मफल को भोगते हुए भी उसमें राग नहीं करता है, वह कर्म को नहीं बाँधता है, तथा जिससे संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

टीकार्थ— ***णियकम्मफलु*** अपने बाँधे हुए कर्मों के फल को ***भुंजंतु वि*** भोगता हुआ भी ***तहिँ*** उस फल के भोगने में ***जो*** जो जीव ***राउ*** राग-द्वेष को ***ण जाइ*** प्राप्त नहीं होता, ***सो*** वह ***पुणु कम्मु*** फिर कर्म को ***णवि*** नहीं ***बंधइ*** बाँधता, ***जेण*** जिस कर्मबंधाभाव परिणाम से ***संचिउ*** पहले बाँधे हुए कर्म भी ***विलाइ*** नष्ट हो जाते हैं ।

निज शुद्धात्मज्ञान के अभाव से उपार्जित किये जो शुभ-अशुभ कर्म, उनके फल को भोगता हुआ भी वीतराग चिदानंद एक परमस्वभावरूप शुद्धात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न अतीन्द्रियसुखरूप अमृत से तृप्त हुआ जो रागी-द्वेषी नहीं होता, वह जीव फिर ज्ञानावरणादि कर्मों को नहीं बाँधता है, और नये कर्मों के बंध का अभाव होने से प्राचीन कर्मों की निर्जरा ही होती है । यह संवरपूर्वक निर्जरा ही मोक्ष का मूल है ।

ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट ने प्रश्न किया कि हे प्रभो! ''कर्म के फल को भोगता हुआ भी ज्ञान से नहीं बँधता'' ऐसा सांख्य आदिक भी कहते हैं; उनको आप दोष क्यों देते हैं ? उसका समाधान श्रीगुरु करते हैं—हम तो आत्मज्ञान-संयुक्त ज्ञानी जीवों की अपेक्षा से कहते हैं, वे ज्ञान के प्रभाव से कर्म-फल भोगते हुए भी राग-द्वेष भाव नहीं करते, इसलिये उनके नये बंध का अभाव है; और जो मिथ्यादृष्टि ज्ञानभाव से बाह्य पूर्वोपार्जितकर्म-फल को भोगते हुए रागी-द्वेषी होते हैं, उनके अवश्य बंध होता है । सांख्य इसप्रकार नहीं कहता, वह वीतरागचारित्र से रहित कथन करता है । इसलिये उन सांख्यादिकों को दूषण दिया जाता है—यह तात्पर्य जानना ॥८०॥

अथ यावत्कालमणुमात्रमपि रागं न मुञ्चति तावत्कालं कर्मणा न मुच्यते इति प्रतिपादयति—

॥८१-२०४॥

जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जाम ण मिल्लइ एत्थु ।
सो णवि मुच्चइ ताव जिय जाणंतु वि परमत्थु ॥

यः अणुमात्रमपि रागं मनसि यावत् न मुञ्चति अत्र ।
स नैव मुच्यते तावत् जीव जानन्नपि परमार्थम् ॥८१॥

जो इत्यादि— ***जो*** यः कर्ता ***अणुमेत्तु*** वि अणुमात्रमपि सूक्ष्ममपि ***राउ*** रागं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वीतरागसदानन्दैकशुद्धात्मनो विलक्षणं पञ्चेन्द्रियविषयसुखाभिलाषरागं *मणि* मनसि *जाम ण मिल्लइ* यावन्तं कालं न मुञ्चति *एत्थु* अत्र जगति *सो णवि मुच्चइ* स जीवो नैव मुच्यते ज्ञानावरणादिकर्मणा *ताव* तावन्तं कालं *जिय* हे जीव ! किं कुर्वन्नपि ? *जाणंतु वि* वीतरागानुष्ठानरहितः सन् शब्दमात्रेण जानन्नपि । कं जानन् ? *परमत्थु* परमार्थशब्द-वाच्यनिजशुद्धात्मतत्त्वमिति ।

अयमत्र भावार्थः — निजशुद्धात्मस्वभावज्ञानेऽपि शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणवीतराग-चारित्रभावनां बिना मोक्षं न लभत इति ॥८१॥

.....

आगे जब तक परमाणुमात्र भी राग को नहीं छोड़ता, उन्हें धारण करता है, तब तक कर्मों से नहीं छूटता, ऐसा कथन करते हैं—

अणुमात्र भी रागादि जब तक नहीं मन से छोड़ता ।
तब भले हो परमार्थ ज्ञाता पर न पाता शिव दशा ॥८१॥

दोहार्थ— यहाँ जब तक जो अणुमात्र भी राग मन से नहीं छोड़ता है, तब तक हे जीव ! परमार्थ को जानते हुए भी वह मुक्त नहीं हो पाता ।

टीकार्थ— ***जो*** जो जीव ***अणुमेत्तु वि*** थोड़ा भी ***राउ*** राग ***मणि*** मन में से ***जाम*** जबतक ***एत्थु*** इस संसार में ***ण मिल्लइ*** नहीं छोड़ देता है, ***ताव*** तब तक ***जिय*** हे जीव, ***परमत्थु*** निज शुद्धात्मतत्त्व को ***जाणंतु वि*** शब्द से केवल जानता हुआ भी ***सो णवि*** वह नहीं ***मुच्चइ*** मुक्त होता ।

जो वीतराग सदा आनंद एकरूप शुद्धात्मभाव से रहित पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छा रखता है, मन में थोड़ा सा भी राग रखता है, वह आगमज्ञान से आत्मा को शब्दमात्र जानता हुआ भी वीतरागचारित्र की भावना के बिना मोक्ष को नहीं पाता ॥८१॥

अथ निर्विकल्पात्मभावनाशून्यः शास्त्रं पठन्नपि तपश्चरणं कुर्वन्नपि परमार्थं न वेत्तीति कथयति—

॥८२-२०५॥

बुज्झइ सत्थइँ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ ।
ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥

बुध्यते शास्त्राणि तपः चरति परं परमार्थं न वेत्ति ।
तावत् न मुच्यते यावत् नैव एनं परमार्थं मनुते ॥८२॥

बुज्झइ इत्यादि—***बुज्झइ*** बुध्यते । कानि ? ***सत्थइँ*** शास्त्राणि न केवलं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शास्त्राणि बुध्यते *तउ चरइ* तपश्चरति *पर* परं किंतु *परमत्थु* ण वेइ परमार्थं न वेत्ति न जानाति । कस्मान्न वेत्ति ? यद्यपि व्यवहारेण परमात्मप्रतिपादकशास्त्रेण ज्ञायते तथापि निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन परिच्छिद्यते । यद्यप्यनशनादिद्वादशविधतपश्चरणेन बहिरङ्गसहकारिकारणभूतेन साध्यते तथापि निश्चयेन निर्विकल्पशुद्धात्मविश्रान्तिलक्षणवीतराग-चारित्रसाध्यो योऽसौ परमार्थशब्दवाच्यो निजशुद्धात्मा तत्र निरन्तरानुष्ठानाभावात् *ताव ण मुंचइ* तावन्तं कालं न मुच्यते । केन ? कर्मणा *जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ* यावन्तं कालं नैवैनं पूर्वोक्तलक्षणं परमार्थं मनुते जानाति श्रद्धत्ते सम्यगनुभवतीति ।

इदमत्र तात्पर्यम्—यथा प्रदीपेन विवक्षितं वस्तु निरीक्ष्य गृहीत्वा च प्रदीपस्त्यज्यते तथा शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादकशास्त्रेण शुद्धात्मतत्त्वं ज्ञात्वा गृहीत्वा च प्रदीपस्थानीयः शास्त्रविकल्पस्त्यज्यत इति ॥८२॥

.....

आगे जो निर्विकल्प आत्म-भावना से शून्य है, वह शास्त्र को पढ़ता हुआ भी तथा तपश्चरण करता हुआ भी परमार्थ को नहीं जानता है, ऐसा कहते हैं—

सब शास्त्र जाने तप तपे पर जानता परमार्थ ना ।
जब तक न तब तक मुक्ति ना है सत्य यह ही मानना ॥८२॥

दोहार्थ— शास्त्र जानता हो, तप तपता हो; तथापि जब तक पूर्वकथित परमार्थ को नहीं जानता है, उसे नहीं मानता है, तब तक वह मुक्त नहीं हो पाता है ।

टीकार्थ— ***सत्थइँ*** शास्त्रों को ***बुज्झइ*** जानता है, ***तउ चरइ*** और तपस्या करता है, ***पर*** लेकिन ***परमत्थु*** परमात्मा को ***ण वेइ*** नहीं जानता है,***पर*** और जब तक ***इहु*** पूर्व कहे हुए ***परमत्थु*** परमात्मा को ***णवि मुणेइ*** नहीं जानता, या अच्छी तरह अनुभव नहीं करता है, ***ताव*** तब तक ***ण मुंचइ*** नहीं छूटता ।

यद्यपि व्यवहारनय से आत्मा अध्यात्मशास्त्रों से जाना जाता है, तो भी निश्चयनय से वीतरागस्वसंवेदनज्ञान ही से जानने योग्य है; यद्यपि बाह्य सहकारीकारण अनशनादि बारह प्रकार के तप से साधा जाता है, तो भी निश्चयनय से निर्विकल्पवीतरागचारित्र ही से आत्मा की सिद्धि है । जिस वीतरागचारित्र का शुद्धात्मा में विश्राम होना ही लक्षण है, उस वीतरागचारित्र के बिना आगमज्ञान से तथा बाह्य तप से आत्मज्ञान की सिद्धि नहीं है । जब तक निज शुद्धात्मतत्त्व के स्वरूप का आचरण नहीं है, तब तक कर्मों से नहीं छूट सकता । यह निःसन्देह जानना कि जब तक परमतत्त्व को न जाने, न श्रद्धा करे, न अनुभवे, तब तक कर्मबन्ध से नहीं छूटता । इससे यह निश्चय हुआ कि कर्मबंध से छूटने का कारण एक आत्मज्ञान ही है । शास्त्र का ज्ञान भी आत्मज्ञान के लिए ही किया जाता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है । जैसे दीपक से वस्तु को देखकर वस्तु को उठा लेते हैं, और दीपक को छोड़ देते हैं; उसीप्रकार शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश करने वाले अध्यात्मशास्त्र से शुद्धात्मतत्त्व को जानकर उस शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव करना चाहिए, और शास्त्र का विकल्प छोड़ना चाहिये । शास्त्र तो दीपक के समान हैं, तथा आत्मवस्तु रत्न के समान है ॥८२॥

अथ योऽसौ शास्त्रं पठन्नपि विकल्पं न मुञ्चति निश्चयेन देहस्थं शुद्धात्मानं न मन्यते स जडो भवतीति प्रतिपादयति—

॥८३-२०६॥

सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु ।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥

शास्त्रं पठन्नपि भवति जडः यः न हन्ति विकल्पम् ।
देहे वसन्तमपि निर्मलं नैव मन्यते परमात्मानम् ॥८३॥

सत्थु इत्यादि— ***सत्थु पढंतु वि*** शास्त्रं पठन्नपि ***होइ जडु*** स जडो भवति य:किं करोति ? ***जो ण हणेइ वियप्पु*** यः कर्ता शास्त्राभ्यासफलभूतस्य रागादिविकल्परहितस्य निजशुद्धात्मस्वभावस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वरागादिविकल्पं न हन्ति । न केवलं विकल्पं न हन्ति । ***देहि वसंतु वि*** देहे वसन्तमपि ***णिम्मलउ*** निर्मलं कर्ममलरहितं ***णवि मण्णइ*** नैव मन्यते न श्रद्धत्ते । कम् ? ***परमप्पु*** निजपरमात्मानमिति ।

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा त्रिगुप्तिगुप्तसमाधिं कृत्वा च स्वयं भावनीयम् । यदा तु त्रिगुप्तिगुप्तसमाधिं कर्तुं नायाति तदा विषयकषायवञ्चनार्थं शुद्धात्मभावनास्मरणदृढीकरणार्थं च बहिर्विषये व्यवहारज्ञानवृद्ध्यर्थं च परेषां कथनीयं किंतु तथापि परप्रतिपादनव्याजेन मुख्यवृत्त्या स्वकीयजीव एव संबोधनीयः । कथमिति चेत् ? इदमनुपपन्नमिदं व्याख्यानं न भवति मदीयमनसि यदि समीचीनं न प्रतिभाति तर्हि त्वमेव स्वयं किं न भावयसीति तात्पर्यम् ॥८३॥

.....

आगे जो शास्त्र को पढ़ करके भी विकल्प को नहीं छोड़ता, और निश्चय से शुद्धात्मा को नहीं मानता, देहरूपी देवालय में विराजमान शुद्धात्मदेव का ध्यान नहीं करता है, वह मूर्ख है, ऐसा कहते हैं—

शास्त्र पढ़ भी जड़ रहे यदि निर्विकल्प नहीं बने ।
तो वह न माने विर्निमल परमातमा तन में रहे ॥८३॥

दोहार्थ— शास्त्र पढ़ते हुए भी जो विकल्प नष्ट नहीं कर पाता, वह जड़ मूर्ख है । वह शरीर में रहते हुए भी निर्मल परमात्मा को नहीं मानता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जो*** जो जीव ***सत्थु*** शास्त्र ***पढंतु वि*** पढ़ता हुआ भी ***वियप्पु*** विकल्प दूर ***ण हणेइ*** नहीं करता, वह ***जड होइ*** मूर्ख है । जो विकल्प नहीं मिटाता, वह ***देहि*** शरीर में ***वसंतु वि*** रहते हुए भी ***णिम्मलउ परमप्पु*** निर्मल परमात्मा को ***णवि मण्णइ*** नहीं मानता है ।

शास्त्र के अभ्यास का तो फल यह है कि रागादि विकल्पों को दूर करना, और निज शुद्धात्मा का ध्यान करना । इसलिए इस व्याख्यान को जानकर तीन गुप्ति में अचल हो परमसमाधि में आरूढ़ होकर निजस्वरूप का ध्यान करना। लेकिन जब तक तीन गुप्तियाँ न हों, परमसमाधि न आये, तब तक विषय-कषायों को हटाने के लिये, शुद्धात्मभावना के स्मरण को दृढ़ करने के लिए परजीवों को धर्मोपदेश देना, परन्तु उसमें भी पर को उपदेश के बहाने मुख्यता से अपने जीव ही को संबोधित करना है । वह इसप्रकार है कि पर को उपदेश देते हुए अपने को समझावे । जो मार्ग दूसरों से छुड़ावे, वह आप कैसे करे ? इससे मुख्य संबोधन अपना ही है । परजीवों को ऐसा ही उपदेश है कि यह बात मेरे मन में अच्छी नहीं लगती, अत: तुम्हें भी भली नहीं लगती होगी, तुम भी अपने मन में विचार करो ॥८३॥

अथ बोधार्थं शास्त्रं पठन्नपि यस्य विशुद्धात्मप्रतीतिलक्षणो बोधो नास्ति स मूढो भवतीति प्रतिपादयति—

॥८४-२०७॥

बोह-णिमित्तें सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु ।
तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूढु ण तत्थु ॥

बोधनिमित्तेन शास्त्रं किल लोके पठ्यते अत्र ।
तेनापि बोधो न यस्य वरः स किं मूढो न तथ्यम् ॥८४॥

बोह **इत्यादि—बोधनिमित्तेन किल शास्त्रं लोके पठ्यते अत्र तेनैव कारणेन बोधो न यस्य कथंभूतः ? वरो विशिष्टः । स किं मूढो न भवति किंतु भवत्येव तथ्यमिति ।**

तद्यथा— अत्र यद्यपि लोकव्यवहारेण कविगमकवादिवाग्मित्वादिलक्षणशास्त्रजनितो बोधो भण्यते तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशकाध्यात्मशास्त्रोत्पन्नो वीतरागस्वसंवेदनरूपः स एव बोधो ग्राह्यो न चान्यः । तेनानुबोधेन विना शास्त्रे पठितेऽपि मूढो भवतीति । अत्र यः कोऽपि परमात्मबोधजनकमल्पशास्त्रं ज्ञात्वापि वीतरागभावनां करोति स सिद्ध्यतीति । तथा चोक्तम्—

''वीरा वेरग्गपरा थोवं पि हु सिक्खिऊण सिज्झंति ।
ण हु सिज्झंति विरागेण विणा पढिदेसु वि सव्वसत्थेसु ॥''

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परं किन्तु—

''अक्खरडा जोयंतु ठिउ अप्पि ण दिण्णउ चित्तु ।
कणविरहियउ पलालु जिमु पर संगहिउ बहुत्तु ।।''✡

इत्यादि पाठमात्रं गृहीत्वा परेषां बहुशास्त्रज्ञानिनां दूषणा न कर्तव्या । तैर्बहुश्रुतैरप्यन्येषामल्पश्रुततपोधनानां दूषणा न कर्तव्या । कस्मादिति चेत् । दूषणे कृते सति परस्परं रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति तेन ज्ञानतपश्चरणादिकं नश्यतीति भावार्थः ।।८४।।

.....

आगे ज्ञान के लिए शास्त्र को पढ़ते हुए भी जिसे आत्म-ज्ञान नहीं, वह मूर्ख है, ऐसा कथन करते हैं—

निज बोध पाने के लिए जिन शास्त्र पढ़ता लोक यह ।
पर नहीं उससे बोध हो तो मूर्ख ही वह तथ्य यह ।।८४।।

दोहार्थ— वास्तव में इस लोक में ज्ञान के लिए ही शास्त्र पढ़े जाते हैं; जिसे उससे भी उत्कृष्ट ज्ञान नहीं हुआ, क्या वह मूर्ख नहीं है ? मूर्ख ही है; यह तथ्य है ।

टीकार्थ— ***इत्थु लोइ*** इस लोक में ***किल*** नियम से ***बोह णिमित्तें*** ज्ञान के निमित्त ***सत्थु*** शास्त्र ***पढिज्जइ*** पढ़े जाते हैं, ***तेणवि*** परन्तु शास्त्र के पढ़ने से भी ***जासु*** जिसको ***वरु बोहु ण*** उत्तम ज्ञान नहीं हुआ, ***सो*** वह ***किं*** क्या ***मूढु ण*** मूर्ख नहीं है ? ***तत्थु*** मूर्ख ही है इसमें संदेह नहीं ।

इस लोक में यद्यपि लोक व्यवहार से नवीन कविता का कर्ता कवि, प्राचीन काव्यों की टीका का कर्ता गमक, जिससे वाद में कोई न जीत सके ऐसा वादित्व, और श्रोताओं के मन को अनुरागी करने वाला शास्त्र का वक्ता होनेरूप वाग्मित्व, इत्यादि लक्षणों वाला शास्त्रजनित ज्ञान होता है; तो भी निश्चयनय से वीतरागस्वसंवेदनरूप ज्ञान की ही अध्यात्म-शास्त्रों में प्रशंसा की गयी है । इसलिये स्वसंवेदनज्ञान के बिना शास्त्रों के पढ़े हुए भी मूर्ख हैं । और जो कोई परमात्मज्ञान को उत्पन्न करने वाले छोटे-थोड़े शास्त्रों को भी जानकर वीतराग-स्वसंवेदनज्ञान की भावना करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं । ऐसा ही कथन ग्रन्थों में हर एक जगह किया है कि ''वैराग्य में लगे हुए जो मोहशत्रु को जीतने वाले हैं, वे थोड़े शास्त्रों को ही पढ़कर सुधर जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं, और वैराग्य के बिना सब शास्त्रों को पढ़ते हुए भी मुक्त नहीं होते—यह निश्चय जानना'' ।

परन्तु यह कथन अपेक्षा से है । इस बहाने से शास्त्र पढ़ने का अभ्यास नहीं छोड़ना, और जो विशेष शास्त्र के पाठी हैं, उनको दूषण न देना । ''जो

✡ दोहा पाहुड़, ८४

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शास्त्र के अक्षर बता रहा है, और आत्मा में चित्त नहीं लगाता, वह ऐसा जानना कि जैसे किसी ने कण रहित बहुत भूसे का ढेर कर लिया हो, वह किसी काम का नहीं है'' । —इत्यादि पीठिकामात्र सुनकर जो विशेष शास्त्रज्ञ हैं, उनकी निंदा नहीं करना; और जो बहुश्रुत हैं, उनको भी अल्प शास्त्रज्ञों की निंदा नहीं करना चाहिए । क्योंकि पर के दोष ग्रहण करने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, उससे ज्ञान और तप का नाश होता है, यह निश्चय से जानना ॥८४॥

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरहितानां तीर्थभ्रमणेन मोक्षो न भवतीति कथयति—

॥८५-२०८॥

तित्थइँ तित्थु भमंताहँ मूढहँ मोक्खु ण होइ ।
णाण-विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ॥

तीर्थं तीर्थं भ्रमतां मूढानां मोक्षो न भवति ।
ज्ञानविवर्जितो येन जीव मुनिवरो भवति न स एव ॥८५॥

तीर्थं तीर्थं प्रति भ्रमतां मूढात्मनां मोक्षो न भवति । कस्मादिति चेत् ? ज्ञानविवर्जितो येन कारणेन हे जीव मुनिवरो न भवति स एवेति ।

तथाहि—निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमाह्लादस्यन्दिसुन्दरानन्दरूपनिर्मलनीरपूर-प्रवाहनिर्झरज्ञानदर्शनादिगुणसमूहचन्दनादिद्रुमवनराजितं देवेन्द्रचक्रवर्तिगणधरादिभव्यजीवतीर्थ-यात्रिकसमूहश्रवणसुखकरदिव्यध्वनिरूपराजहंसप्रभृतिविविधपक्षिकोलाहलमनोहरं यदर्हद्वीत-रागसर्वज्ञस्वरूपं तदेव निश्चयेन गङ्गादितीर्थं न लोकव्यवहारप्रसिद्धं गङ्गादिकम्।

परमनिश्चयेन तु जिनेश्वरपरमतीर्थसदृशं संसारतरणोपायकारणभूतत्वाद्वीतरागनिर्विक-ल्पपरमसमाधिरतानां निजशुद्धात्मतत्त्वस्मरणमेव तीर्थं, व्यवहारेण तु तीर्थकरपरमदेवादिगुण-स्मरणहेतुभूतं मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धकारणं तन्निर्वाणस्थानादिकं च तीर्थमिति । अयमत्र भावार्थः — पूर्वोक्तं निश्चयतीर्थं श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरहितानामज्ञानिनां शेषतीर्थं मुक्तिकारणं न भवतीति ॥८५॥

आगे वीतरागस्वसंवेदनज्ञान से रहित जीवों को तीर्थ-भ्रमण करने से भी मोक्ष नहीं है, ऐसा कहते हैं—

तीर्थ तीर्थ परिभ्रमण से मूढ शिव पाता नहीं ।
निज ज्ञान वर्जित जीव जो वह मुनिवर होता नहीं ॥८५॥

दोहार्थ— तीर्थों-तीर्थों पर घूमने वाले मूढ़ों की मुक्ति नहीं होती है । हे जीव ! क्योंकि जो ज्ञान से रहित हैं, वे मुनिवर हो ही नहीं सकते ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***तित्थइँ तित्थु*** तीर्थ तीर्थ ***भमंताहँ*** प्रति भ्रमण करने वाले ***मूढहँ*** मूर्खों की ***मोक्खु*** मुक्ति ***ण होइ*** नहीं होती, ***जिय*** हे जीव, ***जेण*** क्योंकि जो ***णाणविवज्जियउ*** ज्ञानरहित हैं, ***सोइ*** वही ***मुणिवरु ण होइ*** मुनीश्वर नहीं हैं, संसारी हैं । मुनीश्वर तो वे ही हैं, जो समस्त विकल्पजालों से रहित होकर अपने स्वरूप में रमें, वे ही मोक्ष पाते हैं ।

निर्दोष परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनन्दरूप निर्मल जल, उसे धारण करने वाले और ज्ञान-दर्शनादि गुणों के समूहरूपी चंदनादि वृक्षों के वनों से शोभित तथा देवेन्द्र, चक्रवर्ती, गणधरादि भव्यजीवरूपी तीर्थ-यात्रियों के कानों को सुखकारी, ऐसी दिव्यध्वनि से शोभायमान और अनेक मुनिजनरूपी राजहंसों को आदि लेकर नाना प्रकार के पक्षियों के शब्दों से महामनोहर जो अरहंत वीतराग-सर्वज्ञ, वे ही निश्चय से महातीर्थ हैं, उनके समान अन्य तीर्थ नहीं हैं। वे ही संसार से तारने के कारण परमतीर्थ हैं । जो परम समाधि में लीन महामुनि हैं, उनके वे ही तीर्थ हैं ।

परम निश्चय से (जिनेश्वररूप परम तीर्थ के समान, संसार से पार होने के उपाय का कारणभूत होने से, वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि में रत जीवों को निजशुद्धात्मतत्त्व का स्मरण तीर्थ है ।) निज शुद्धात्मतत्त्व के ध्यान के समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है; और व्यवहारनय से तीर्थंकर परम देवादि के गुणस्मरण के कारण मुख्यता से शुभ बंध के कारण ऐसे जो कैलाश, सम्मेदशिखर आदि निर्वाणस्थान हैं, वे भी व्यवहारमात्र तीर्थ कहे हैं । जो तीर्थ-तीर्थ प्रति भ्रमण करे, और निज तीर्थ का जिसके श्रद्धान, परिज्ञान, आचरण नहीं हो, वह अज्ञानी है। उसको तीर्थ भ्रमण से मोक्ष नहीं हो सकता ॥८५॥

अथ ज्ञानिनां तथैवाज्ञानिनां च यतीनामन्तरं दर्शयति—

॥८६-२०९॥

णाणिहिँ मूढइँ मुणिवरहँ अंतरु होइ महंतु ।
देहु वि मिल्लइ णाणियउ जीवहँ भिण्णु मुणंतु ॥

ज्ञानिनां मूढानां मुनिवराणां अन्तरं भवति महत् ।
देहमपि मुञ्चति ज्ञानी जीवाद्भिन्नं मन्यमानः ॥८६ ॥

ज्ञानिनां मूढानां च मुनिवराणां अन्तरं विशेषो भवति । कथंभूतम् ? महत् ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कस्मादिति चेत् ? देहमपि मुञ्चति । कोऽसौ ? ज्ञानी । किं कुर्वन् सन् ? जीवात्सकाशाद्भिन्नं मन्यमानो जानन् इति ।

तथा च—वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी पुत्रकलत्रादिबर्हिद्रव्यं तावद्दूरे तिष्ठतु शुद्धबुद्धैकस्वभावात् स्वशुद्धात्मस्वरूपात्सकाशात् पृथग्भूतं जानन् स्वकीयदेहमपि त्यजति । मूढात्मा पुनः स्वीकरोति इति तात्पर्यम् ॥८६॥

एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये पञ्चदशसूत्रैर्वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमुख्यत्वेन द्वितीयमन्तरस्थलं समाप्तम् ।

.....

आगे ज्ञानी और अज्ञानी यतियों में बहुत बड़ा भेद दिखलाते हैं—

है ज्ञानियों व मूढ-मुनियों में महा अन्तर कहा ।
ज्ञानी स्वयं से भिन्न तन को मान तन भी छोड़ता ॥८६॥

दोहार्थ— ज्ञानियों और मूढ़ मुनियों में महान अन्तर है । ज्ञानी तो शरीर को भी जीव से भिन्न मानकर उसे छोड़ देते हैं।

टीकार्थ— ***णाणिहिँ*** सम्यग्दृष्टी भावलिंगी ***मूढड़*** मिथ्यादृष्टी द्रव्यलिंगी ***मुणिवरहँ*** मुनियों में ***महंतु अंतरु*** बड़ा भारी भेद ***होइ*** है । ***णाणियउ*** ज्ञानी मुनि तो ***देहु वि*** शरीर को भी ***जीवहँ भिण्णु*** जीव से पृथक् ***मुणंतु*** जानकर ***मिल्लइ*** छोड़ देते हैं, अर्थात् शरीर का भी ममत्व छोड़ देते हैं, तो फिर पुत्र, स्त्री आदि का तो क्या कहना है ? ये तो प्रत्यक्ष ही पृथक् हैं और द्रव्यलिंगीमुनि लिंग (भेष) में आत्म-बुद्धि रखता है ।

वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी महामुनि मन, वचन, काय—इन तीनों से अपने को भिन्न जानते हैं; द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मादिक से जिन्हें ममता नहीं है; पिता, माता, पुत्र, कलत्रादि की तो बात अलग रहे, जो अपने आत्म-स्वभाव से निज देह को भी पृथक् जानते हैं । जिनका परवस्तु में आत्मभाव नहीं है । और मूढात्मा परभावों को अपने जानता है । यही ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर है । पर को अपना मानें वह बँधता है, और न मानें वह मुक्त होता है; यह निश्चय से जानना ॥८६॥

इसप्रकार इकतालीस दोहों वाले महास्थल के मध्य में पन्द्रह दोहों द्वारा वीतरागस्वसंवेदनज्ञान की मुख्यता से दूसरा अन्तरस्थल समाप्त हुआ ।

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो दु सुग्गई होई । —*मोक्षपाहुड़, गाथा १६*
परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति (चतुर्गति) तथा स्वद्रव्य से सुगति (मुक्ति) होती है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तदनन्तरं तत्रैव महास्थलमध्ये सूत्राष्टकपर्यन्तं परिग्रहत्यागव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयमन्तरस्थलं प्रारभ्यते ।

तद्यथा—

॥८७-२१०॥

लेणहँ इच्छइ मूढु पर भुवणु वि एहु असेसु ।
बहुविह-धम्म-मिसेण जिय दोहिँ वि एहु विसेसु ॥

लातुं इच्छति मूढः परं भुवनमपि एतद् अशेषम् ।
बहुविधधर्ममिषेण जीव द्वयोः अपि एष विशेषः ॥८७॥

लातुं ग्रहीतुं इच्छति । कोऽसौ ? मूढो बहिरात्मा । परं कोऽर्थः ? नियमेन । किम्? भुवनमप्येतत्तु अशेषं समस्तम् । केन कृत्वा ? बहुविधधर्ममिषेण व्याजेन । हे जीव! द्वयोरप्येष विशेषः । कयोर्द्वयोः ? पूर्वोक्तसूत्रकथितज्ञानिजीवस्यात्र सूत्रोक्तपुनरज्ञानिजीवस्य च ।

तथाहि—वीतरागसहजानन्दैकसुखास्वादरूपः स्वशुद्धात्मैव उपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तस्यैव परमात्मनः समस्तमिथ्यात्वरागाद्यास्रवेभ्यः पृथग्रूपेण परिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं, तत्रैव रागादिपरिहाररूपेण निश्चलचित्तवृत्तिः सम्यक्चारित्रम् इत्येवं निश्चय-रत्नत्रयस्वरूपं तत्रयात्मकमात्मानमरोचमानस्तथैवाजानन्नभावयंश्च मूढात्मा । किं करोति? समस्तं जगद्धर्मव्याजेन ग्रहीतुमिच्छति, पूर्वोक्तज्ञानी तु त्यक्तुमिच्छतीति भावार्थः ॥८७॥

.....

अब परिग्रहत्याग के व्याख्यान को आठ दोहों में कहते हैं—

है चाहता लेना सकल जग मूढ़ बहुविध धर्म से ।
ज्ञानी नहीं कुछ चाहते इनमें यही अन्तर रहे ॥८७॥

दोहार्थ— मूढ़ अनेक प्रकार के धर्म के बहाने वास्तव में सम्पूर्ण जगत को ही लेना चाहता है और ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता—यही दोनों में अन्तर है।

टीकार्थ— ***दोहिँ वि*** ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनों में ***एहु विसेसु*** इतना ही भेद है कि ***मूढु*** अज्ञानीजन ***बहुविहधम्ममिसेण*** अनेक प्रकार के धर्म के बहाने ***एहु असेसु*** इस समस्त ***भुवणु वि*** जगत को ही ***पर*** नियम से ***लेणहँ इच्छइ*** लेने की इच्छा करता है, अर्थात् सब संसार के भोगों की इच्छा करता है, तपश्चरणादि कायक्लेश से स्वर्गादि सुखों को चाहता है; और ज्ञानीजन कर्मों के क्षय के लिये तपश्चरणादि करता है, भोगों का अभिलाषी नहीं है ।

वीतराग सहजानंद एक अखंडसुख के आस्वादरूप जो शुद्धात्मा, वही आराधन-योग्य है, ऐसी रुचि, सम्यग्दर्शन; समस्त मिथ्यात्व-रागादि आस्रव से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भिन्नरूप उसी परमात्मा का ज्ञान, सम्यग्ज्ञान; और उसी में निश्चल चित्त की वृत्ति, सम्यक्चारित्र;—यह निश्चयरत्नत्रयरूप शुद्धात्मा की रुचि जिसके नहीं है ऐसा मूढ़जन आत्मा को नहीं जानता हुआ, नहीं अनुभवता हुआ जगत के समस्त भोगों को धर्म के बहाने से लेना चाहता है । ज्ञानीजन समस्त भोगों से उदास हैं, जो विद्यमान भोग थे, वे सब छोड़ दिये और आगामी वाँछा नहीं है—ऐसा जानना ॥८७॥

अथ शिष्यकरणाद्यनुष्ठानेन पुस्तकाद्युपकरणेनाज्ञानी तुष्यति, ज्ञानी पुनर्बन्धहेतुं जानन् सन् लज्जां करोतीति प्रकटयति—

॥८८-२११॥

चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिँ तूसइ मूढु णिभंतु ।
एयहिँ लज्जइ णाणियउ बंधहँ हेउ मुणंतु ॥

शिष्यार्जिकापुस्तकैः तुष्यति मूढो निर्भ्रान्तः ।
एतैः लज्जते ज्ञानी बन्धस्य हेतुं जानन् ॥८८॥

शिष्यार्जिकादीक्षादानेन पुस्तकप्रभृत्युपकरणैश्च तुष्यति संतोषं करोति । कोऽसौ? मूढः । कथंभूतः ? निर्भ्रान्तः । एतैर्बहिर्द्रव्यैर्लज्जां करोति । कोऽसौ ? ज्ञानी । किं कुर्वन्नपि ? पुण्यबन्धहेतुं जानन्नपि ।

तथा च—पूर्वसूत्रोक्तसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं निजशुद्धात्मस्वभावमश्रद्दधानो विशिष्टभेदज्ञानेनाजानंश्च तथैव वीतरागचारित्रेणाभावयंश्च मूढात्मा । किं करोति ? पुण्यबन्धकारणमपि जिनदीक्षादानादिशुभानुष्ठानं पुस्तकाद्युपकरणं वा मुक्तिकारणं मन्यते। ज्ञानी तु यद्यपि साक्षात्पुण्यबन्धकारणं मन्यते परंपरया मुक्तिकारणं च तथापि निश्चयेन मुक्तिकारणं न मन्यते इति तात्पर्यम् ॥८८॥

आगे शिष्यों का करना, पुस्तकादि का संग्रह करना, इन बातों से अज्ञानी प्रसन्न होता है; और ज्ञानीजन इन्हें बंध के कारण जानता हुआ इनसे रागभाव नहीं करता; इनके संग्रह में लज्जावान होता है, ऐसा प्रगट करते हैं—

हों मूढ ही संतुष्ट शिष्या शिष्य पुस्तक आदि में ।
पर ज्ञानि इनको बंध कारण मान लज्जा ही करें ॥८८॥

दोहार्थ— मूढ निःसंदेह शिष्य, शिष्या, पुस्तक आदि से संतुष्ट होता है; परन्तु बंध के कारण जानता हुआ ज्ञानी इनसे लज्जित होता है।

टीकार्थ— ***मूढु*** अज्ञानीजन ***चेल्लाचेल्लीपुत्थियहिँ*** चेला, चेली, पुस्तकादि से ***तूसइ*** हर्षित होता है, ***णिभंतु*** इसमें कुछ संदेह नहीं है; और ***णाणी*** ज्ञानीजन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एयहिँ इन बाह्य पदार्थों से ***लज्जइ*** लज्जित होता है, क्योंकि इन सभी को ***बंधहँ हेउ*** बंध का कारण ***मुणंतु*** जानता है ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप निज शुद्धात्मस्वभाव की श्रद्धा न करता हुआ, विशिष्ट भेदज्ञान द्वारा न जानता हुआ, और वीतरागचारित्र द्वारा अनुभव न करता हुआ जो मूढ़ात्मा है, वह पुण्यबंध के कारणभूत जिनदीक्षा, दानादि शुभ आचरण और पुस्तकादि उपकरण को मुक्ति के कारण मानता है; और ज्ञानीजन इनको साक्षात् पुण्यबंध के कारण जानता है, परम्परा से मुक्ति के कारण मानता है । यद्यपि व्यवहारनय से बाह्य सामग्री को धर्म का साधन जानता है, तो भी ऐसा मानता है कि निश्चयनय से ये मुक्ति के कारण नहीं हैं ॥८८॥

अथ चट्टपट्टकुण्डिकाद्युपकरणैर्मोहमुत्पाद्य मुनिवराणां उत्पथे पात्यते (?) इति प्रतिपादयति—

॥८९-२१२॥

चट्टहिँ पट्टहिँ कुंडियहिँ चेल्ला-चेल्लियएहिँ ।
मोहु जणेविणु मुणिवरहँ उप्पहि पाडिय तेहिँ ॥

चट्टैः पट्टैः कुण्डिकाभिः शिष्यार्जिकाभिः ।
मोहं जनयित्वा मुनिवराणां उत्पथे पातितास्तैः ॥८९॥

चट्टपट्टकुण्डिकाद्युपकरणैः शिष्यार्जिकापरिवारैश्च कर्तृभूतैर्मोहं जनयित्वा । केषाम्? मुनिवराणां, पश्चादुन्मार्गे पातितास्ते तु तैः ।

तथाहि— तथा कश्चिदजीर्णभयेन विशिष्टाहारं त्यक्त्वा लङ्घनं कुर्वन्नास्ते पश्चादजीर्णप्रतिपक्षभूतं किमपि मिष्टौषधं गृहीत्वा जिह्वालाम्पट्येनौषधेनापि अजीर्णं करोत्यज्ञानी इति; न च ज्ञानीति । तथा कोऽपि तपोधनो विनीतवनितादिकं मोहभयेन त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा च शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनीरोगत्वप्रतिपक्षभूतमजीर्णरोगस्थानीयं मोहमुत्पाद्यात्मनः । किं कृत्वा ? किमप्यौषधस्थानीयमुपकरणादिकं गृहीत्वा । कोऽसावज्ञानी न तु ज्ञानीति ।

इदमत्र तात्पर्यम्—परमोपेक्षासंयमधरेण शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतः सर्वोऽपि तावत्परिग्रहस्त्याज्यः । परमोपेक्षासंयमाभावे तु वीतरागशुद्धात्मानुभूतिभावसंयमरक्षणार्थं विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तपःपर्यायशरीरसहकारिभूतमन्नपानसंयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिकं किमपि गृह्णाति तथापि ममत्वं न करोतीति । तथा चोक्तम्—

''रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो, मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाधनेषु ।
धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं पीत्वौषधं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम्॥' ॥८९॥*

---

* आत्मानुशासन, पद्य २२८ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे कमंडलु, पीछी, पुस्तकादि उपकरण और शिष्यादि का संघ—ये मुनियों को मोह उत्पन्न कराके खोटे मार्ग में गिरा देते हैं; ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

पीछी कमण्डलु शास्त्र शिष्या शिष्य उपकरणादि ये ।
उन मुनिवरों को मोह पैदा करा उत्पथ गिराते ॥८९॥

दोहार्थ— पीछी, कमण्डलु, पुस्तक, शिष्य, शिष्यायें—ये मुनिवरों को मोह उत्पन्न कराके उत्पथ कुमार्ग में गिरा देते हैं।

टीकार्थ— ***चट्टहिँ पट्टहिँ कुंडियहिँ*** पीछी, कमंडलु, पुस्तक और ***चेल्लाचेल्लियएहिँ*** मुनि-श्रावकरूप चेला, अर्जिका-श्राविका इत्यादि चेली—ये संघ ***मुणिवरहँ*** मुनिवरों को ***मोहु जणेविणु*** मोह उत्पन्न कराके ***तेहिँ*** वे ***उप्पहि*** उन्मार्ग में खोटे मार्ग में ***पाडिय*** डाल देते हैं ।

जैसे कोई अजीर्ण के भय से मनोज्ञ आहार को छोड़कर लंघन करता है, पीछे अजीर्ण दूर करने वाली कोई मीठी औषधि लेकर, जिह्वा लंपटी होकर मात्रा से अधिक लेकर, औषधि का ही अजीर्ण करता है । उसीप्रकार अज्ञानी कोई द्रव्यलिंगी यती विनयवान पतिव्रता स्त्री आदि को मोह के डर से छोड़कर,जिनदीक्षा लेकर अजीर्ण समान मोह दूर करने के लिये वैराग्य धारण करके,औषधि समान जो उपकरणादि, उनको ही ग्रहण कर उन्हीं का अनुरागी प्रेमी हो जाता है, उनकी वृद्धि से सुख मानता है, वह औषधि का ही अजीर्ण करता है । मात्रा प्रमाण औषधि ले, तो वह रोग को हर सके । यदि औषधि का ही अजीर्ण करे—मात्रा से अधिक ले, तो रोग नहीं जाता, उलटे रोग की वृद्धि ही होती है—यह नि:संदेह जानना ।

इससे यह निश्चित हुआ, जो परमोपेक्षासंयम अर्थात् निर्विकल्प परमसमाधिरूप तीन गुप्तिमयी परम शुद्धोपयोगरूप संयम धारक हैं, उन्हें शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत सब ही परिग्रह त्याग योग्य हैं । शुद्धोपयोगी मुनियों को कुछ भी परिग्रह नहीं है और जिनके परमोपेक्षा संयम नहीं है, लेकिन व्यवहार संयम है,उनके भावसंयम की रक्षा के निमित्त हीन संहनन होने पर उत्कृष्ट शक्ति के अभाव से यद्यपि तप के साधनभूत शरीर की रक्षा के निमित्त अन्न-जल का ग्रहण होता है, उस अन्न-जल के लेने से मल-मूत्रादि की बाधा भी होती है, इसलिये शौच का उपकरण कमंडलु, संयमोपकरण पीछी, और ज्ञानोपकरण पुस्तक—इन्हें ग्रहण करते हैं; तो भी इनमें ममता नहीं है, प्रयोजनमात्र प्रथम अवस्था में धारण करते हैं ।

ऐसा दूसरी जगह ''रम्येषु'' इत्यादि से कहा है कि ''मनोज्ञ स्त्री आदिक वस्तुओं में जिसने मोह तोड़ दिया है, ऐसे महामुनि संयम के साधन पुस्तक, पीछी,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कमंडलु आदि उपकरणों में वृथा मोह को कैसे कर सकते हैं ? कभी नहीं कर सकते । जैसे कोई बुद्धिमान पुरुष रोग के भय से अजीर्ण को दूर करना चाहे और अजीर्ण के दूर करने के लिये औषधि का सेवन करे, तो क्या मात्रा से अधिक ले सकता है ? ऐसा कभी नहीं करेगा, मात्राप्रमाण ही लेगा ।।८९।।

अथ केनापि जिनदीक्षां गृहीत्वा शिरोलुञ्चनं कृत्वापि सर्वसंगपरित्यागमकुर्वतात्मा वञ्चित इति निरूपयति—

।।९०-२१३।।

केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण ।
सयल वि संग ण परिहरिय जिणवर-लिंगधरेण ।।

केनापि आत्मा वञ्चितः शिरो लुञ्चित्वा क्षारेण ।
सकला अपि संगा न परिहृता जिनवरलिङ्गधरेण ।।९०।।

केनाप्यात्मा वञ्चितः । किं कृत्वा ? शिरोलुञ्चनं कृत्वा । केन ? भस्मना। कस्मादिति चेत् ? यतः सर्वेऽपि संगा न परिहृताः । कथंभूतेन भूत्वा ? जिनवरलिङ्गधारकेणेति।

तद्यथा— वीतरागनिर्विकल्पनिजानन्दैकरूपसुखरसास्वादपरिणतपरमात्मभावनास्वभावेन तीक्ष्णशस्त्रोपकरणेन बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहकांक्षारूपप्रभृतिसमस्तमनोरथकल्लोलमालात्यागरूपं मनोमुण्डनं पूर्वमकृत्वा जिनदीक्षारूपं शिरोमुण्डनं कृत्वापि केनाप्यात्मा वञ्चितः । कस्मात्? सर्वसंगपरित्यागाभावादिति ।

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दपरिग्रहं कृत्वा तु जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च दृष्टश्रुतानुभूतनिःपरिग्रहशुद्धात्मानुभूति-विपरीतपरिग्रहकाङ्क्षास्त्वं त्यजेत्यभिप्रायः ।।९०।।

आगे ऐसा कहते हैं, जिसने जिनदीक्षा धारण कर केशों का लोंच किया, और सकल परिग्रह का त्याग नहीं किया, उसने अपने आत्मा ही को वंचित किया—

नित राख से सिर-लोंच भी जिनभेषधारक किसी ने ।
पर सकल परिग्रह नहीं छोड़ा ठगा आतम उसी ने ।।९०।।

दोहार्थ— किसी ने जिनवर का भेष/नग्न-दिगम्बर दीक्षा धारणकर, भस्म से शिर के केशों का लुंचन करके भी, यदि सम्पूर्ण परिग्रह नहीं छोड़ा; तो उसने अपना आत्मा ही ठगा है ।

टीकार्थ— ***केणवि*** जिस किसी ने ***जिणवरलिंगधरेण*** जिनवर का भेष धारण करके ***छारेण*** भस्म से ***सिरु*** शिर के केश ***लुंचिवि*** लोंच किये/उखाडे,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लेकिन ***सयल वि संग*** सब परिग्रह ***ण परिहरिय*** नहीं छोड़े, उसने अपने ***अप्पउ*** आत्मा को ही ***वंचियउ*** ठग लिया ।

वीतराग निर्विकल्प निजानंद एक अखंडरूप सुखरस के आस्वादरूप परिणत परमात्मा की भावना रूपी तीक्ष्ण शस्त्र से बाहर के और अन्दर के परिग्रहों की वाञ्छा आदि समस्त मनोरथों की कल्लोल मालाओं के त्यागरूप मन का मुण्डन पहले नहीं कर, जिनदीक्षारूप शिरोमुण्डन करके भी, सब परिग्रह का त्याग नहीं किया होने से उसने अपना आत्मा ठगा है ।

ऐसा कथन समझकर, निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न, वीतराग परम आनंदस्वरूप को अंगीकार करके तीनों काल, तीनों लोक में भी मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा देखे, सुने, अनुभवे परिग्रह की वांछा सर्वथा त्याग देनी चाहिये । ये परिग्रह शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत हैं ॥९०॥

अथ ये सर्वसंगपरित्यागरूपं जिनलिङ्गं गृहीत्वापीष्टपरिग्रहान् गृह्णन्ति ते छर्दिं कृत्वा पुनरपि गिलन्ति तामिति प्रतिपादयति—

॥९१-२१४॥

जे जिण-लिंगु धरेवि मुणि इट्ठ-परिग्गह लेंति ।
छद्दि करेविणु ते जि जिय सा पुणु छद्दि गिलंति ॥

ये जिनलिङ्गं धृत्वापि मुनय इष्टपरिग्रहान् लान्ति ।
छर्दिं कृत्वा ते एव जीव तां पुनः छर्दिं गिलन्ति ॥९१॥

ये कैचन जिनलिङ्गं गृहीत्वापि मुनयस्तपोधना इष्टपरिग्रहान् लान्ति गृह्णन्ति । ते किं कुर्वन्ति ? छर्दिं कृत्वा त एव हे जीव तां पुनश्छर्दिं गिलन्तीति ।

तथाहि— गृहस्थापेक्षया चेतनपरिग्रहः पुत्रकलत्रादिः, सुवर्णादिः पुनरचेतनः, साभरणवनितादि पुनर्मिश्रः; तपोधनापेक्षया छात्रादिः सचित्तः, पिच्छकमण्डल्वादिः पुनरचित्तः, उपकरणसहितश्छात्रादिस्तु मिश्रः; अथवा मिथ्यात्वरागादिरूपः सचित्तः, द्रव्यकर्मनोकर्मरूपः पुनरचित्तः, द्रव्यकर्मभावकर्मरूपस्तु मिश्रः; वीतरागत्रिगुप्तसमाधिस्थ-पुरुषापेक्षया सिद्धरूपः सचित्तः, पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपः पुनरचित्तः, गुणस्थानमार्गणास्थानजीव-स्थानादिपरिणतः संसारी जीवस्तु मिश्रश्चेति— एवंविधबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितं जिनलिङ्गं गृहीत्वापि ये शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणमिष्टपरिग्रहं गृह्णन्ति ते छर्दिताहारग्राहकपुरुषसदृशा भवन्तीति भावार्थः । तथा चोक्तम्—

''त्यक्त्वा स्वकीयपितृमित्रकलत्रपुत्रान्, सक्तोऽन्यगेहवनितादिषु निर्मुमुक्षुः ।
दोर्भ्यां पयोनिधिसमुद्गतनक्रचक्रं, प्रोत्तीर्य गोष्पदजलेषु निमग्नवान् सः ॥'' ॥९१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे जो सर्वसंग के त्यागरूप जिनमुद्रा को ग्रहण कर फिर परिग्रह को धारण करता है, वह वमन करके पीछे निगलता है, ऐसा कथन करते हैं—

जो ग्रहण कर जिनलिंग को भी इष्ट परिग्रह जोड़ते ।
वे वमन करके भी पुनः उस वमन को ही निगलते ॥९१॥

दोहार्थ— जो मुनि जिनलिंग को धारण करके भी इष्ट परिग्रह ग्रहण करते हैं, हे जीव ! वे वमन कर पुनः उसी वमन को निगलते हैं ।

टीकार्थ— ***जे*** जो ***मुणि*** मुनि ***जिणलिंगु*** जिनलिंग को ***धरेवि*** ग्रहणकर भी ***इट्ठपरिग्गह*** इच्छित परिग्रहों को ***लेंति*** ग्रहण करते हैं, ***जिय*** हे जीव! ***ते जि*** वे ही ***छद्दि करेविणु*** वमन करके ***पुणु*** फिर ***सा छद्दि*** उस वमन को ***गिलंति*** निगलते हैं ।

परिग्रह के तीन भेदों में गृहस्थ की अपेक्षा चेतन परिग्रह पुत्र-कलत्रादि, अचेतन परिग्रह आभरणादि, और मिश्र परिग्रह आभरण सहित स्त्री-पुत्रादि; साधु की अपेक्षा सचित परिग्रह शिष्यादि, अचित्त परिग्रह पीछी-कमंडलु-पुस्तकादि, और मिश्र परिग्रह पीछी-कमंडलु-पुस्तकादि सहित शिष्यादि; अथवा साधु के भावों की अपेक्षा सचित्त परिग्रह मिथ्यात्व-रागादि, अचित्त परिग्रह द्रव्यकर्म-नोकर्म, और मिश्र परिग्रह द्रव्यकर्म-भावकर्म दोनों मिले हुए; अथवा वीतराग त्रिगुप्ति में लीन ध्यानी पुरुष की अपेक्षा सचित्त परिग्रह सिद्ध परमेष्ठीरूप, अचित्त परिग्रह पुद्गलादि पाँच द्रव्यरूप, और मिश्र परिग्रह गुणस्थान-मार्गणास्थान-जीवसमासादिरूप परिणत संसारीजीव— इसप्रकार बाहर के और अंदर के परिग्रह से रहित जिनलिंग को ग्रहण कर भी जो अज्ञानी शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत इष्ट परिग्रह को ग्रहण करते हैं, वे वमन करके पुनः उसे ग्रहण करने वालों के समान निंदा के योग्य होते हैं ।

ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि "जो जीव अपने माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र आदि को छोड़कर पर के घर और पुत्रादिक में मोह करते हैं, अर्थात् अपना परिवार छोड़कर शिष्य-शाखाओं में राग करते हैं, वे भुजाओं से समुद्र को तैरकर गाय के खुर से बने हुए गड्ढे के जल में डूबते हैं; कैसा है समुद्र, जिसमें जलचरों के समूह प्रगट हैं, ऐसे अथाह समुद्र को तो बाहों से तिर जाता है, लेकिन गाय के खुर के जल में डूबता है । यह बड़ा अचंभा है । घर का ही संबंध छोड़ दिया तो पराये पुत्रों से क्या राग करना ? नहीं करना ।" ॥९१॥

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् । —*पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १०० का*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ ये ख्यातिपूजालाभनिमित्तं शुद्धात्मानं त्यजन्ति ते लोहकीलनिमित्तं देवं देवकुलं च दहन्तीति कथयति—

॥९२-२१५॥

लाहहँ कित्तिहि कारणिण जे सिव-संगु चयंति ।
खीला-लग्गिवि ते वि मुणि देउलु देउ डहंति ॥

लाभस्य कीर्तेः कारणेन ये शिवसंगं त्यजन्ति ।
कीलानिमित्तं तेऽपि मुनयः देवकुलं देवं दहन्ति ॥९२॥

लाभकीर्तिकारणेन ये केचन शिवसंगं शिवशब्दवाच्यं निजपरमात्मध्यानं त्यजन्ति ते मुनयस्तपोधनाः । किं कुर्वन्ति ? लोहकीलिकाप्रायं निःसारेन्द्रियसुखनिमित्तं देवशब्दवाच्यं निजपरमात्मपदार्थं दहन्ति देवकुलशब्दवाच्यं दिव्यपरमौदारिकशरीरं च दहन्तीति । कथमिति चेत् ? यदा ख्यातिपूजालाभार्थं शुद्धात्मभावनां त्यक्त्वा वर्तन्ते तदा ज्ञानावरणादिकर्मबन्धो भवति तेन ज्ञानावरणकर्मणा केवलज्ञानं प्रच्छाद्यते केवलदर्शनावरणेन केवलदर्शनं प्रच्छाद्यते वीर्यान्तरायेण केवलवीर्यं प्रच्छाद्यते मोहोदयेनानन्तसुखं च प्रच्छाद्यत इति । एवंविधानन्तचतुष्टयस्यालाभे परमौदारिकशरीरं च न लभन्त इति । यदि पुनरनेकभवे परिच्छेद्यं कृत्वा शुद्धात्मभावनां करोति तदा संसारस्थितिं छित्त्वाऽद्यकालेऽपि स्वर्गं गत्वागत्य शीघ्रं शाश्वतसुखं प्राप्नोतीति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम्—

''सग्गो तवेण सव्वो वि पावए किं तु झाणजोएण ।
जो पावइ सो पावइ परलोके सासयं सोक्खं ॥'' ॥९२॥*

आगे जो अपनी प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा और परवस्तु के लाभ—इन तीनों के लिए आत्मध्यान छोड़ते हैं, वे लोहे के कीले के लिए देव तथा देवालय को जलाते हैं—

जो लाभ कीर्ति के लिए ही छोड़ते शिवसंग को ।
वे मुनि कीला हेतु दहते देवघर व देव को ॥९२॥

दोहार्थ— जो लाभ, कीर्ति के लिए शिवसंग परमात्मा का ध्यान छोड़ते हैं, वे मुनि भी कीले के लिए देवकुल/मंदिर या देव को जलाते हैं ।

टीकार्थ— ***जे*** जो कोई ***लाहहँ*** लाभ ***कित्तिहि कारणिण*** और कीर्ति के कारण ***सिवसंगु*** परमात्मा के ध्यान को ***चयंति*** छोड़ देते हैं, ***ते वि मुणि*** वे ही मुनि ***खीला लग्गिवि*** लोहे के कीले के लिए अर्थात् कीले के समान असार

---

* अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़, गाथा २३ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इंद्रिय-सुख के निमित्त **देउलु** मुनिपद योग्य शरीररूपी देवस्थान को तथा **देउ** आत्मदेव को ***डहंति*** भव की आताप से भस्म कर देते हैं ।

जिस समय ख्याति, पूजा, लाभ के अर्थ शुद्धात्मा की भावना को छोड़कर अज्ञान भावों में प्रवृत्त होते हैं, उस समय ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होता है। उस ज्ञानावरणादि कर्म से ज्ञानादि गुण का आवरण होता है । केवलज्ञानावरण से केवलज्ञान ढँक जाता है, मोह के उदय से अनंतसुख, वीर्यांतराय के उदय से अनंतबल और केवलदर्शनावरण से केवलदर्शन आच्छादित होता है । इसप्रकार अनंतचतुष्टय का आवरण हो रहा है । उस अनंतचतुष्टय के अलाभ में परमौदारिक शरीर को नहीं पाता, क्योंकि जो उसी भव से मोक्ष जाता है, उसी के परमौदारिक शरीर होता है । इसलिये यदि कोई समभाव में शुद्धात्मा की भावना करे, तो अभी स्वर्ग में जाकर पीछे विदेहों में मनुष्य होकर मोक्ष पाता है ।

ऐसा ही कथन दूसरी जगह शास्त्रों में लिखा है कि "तप से स्वर्ग तो सभी पाते हैं, परन्तु जो कोई ध्यान के योग से स्वर्ग पाता है, वह परभव में अविनाशी सुख को पाता है । अर्थात् स्वर्ग से आकर मनुष्य होकर मोक्ष पाता है, उसी का स्वर्ग पाना सफल है, और जो कोरे तप से स्वर्ग पाकर फिर संसार में घूमता है, उसका स्वर्ग पाना वृथा है।" ॥९२॥

अथ यो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहेणात्मानं महान्तं मन्यते स परमार्थं न जानातीति दर्शयति—

॥९३-२१६॥

अप्पउ मण्णइ जो जि मुणि गरुयउ गंथहि तत्थु ।
सो परमत्थे जिणु भणइ णवि बुज्झइ परमत्थु ॥

आत्मानं मन्यते य एव मुनिः गुरुकं ग्रन्थैः तथ्यम् ।
स परमार्थेन जिनो भणति नैव बुध्यते परमार्थम् ॥९३॥

आत्मानं मन्यते य एव मुनिः । कथंभूतं मन्यते ? गुरुकं महान्तम् । कैः ? ग्रन्थैर्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहैस्तथ्यं सत्यं स पुरुषः परमार्थेन वस्तुवृत्त्या नैव बुध्यते परमार्थमिति जिनो वदति ।

तथाहि— निर्दोषिपरमात्मविलक्षणैः पूर्वसूत्रोक्तसचित्ताचित्तमिश्रपरिग्रहैर्ग्रन्थरचना-रूपशब्दशास्त्रैर्वा आत्मानं महान्तं मन्यते यः स परमार्थशब्दवाच्यं वीतरागपरमानन्दैकस्वभावं परमात्मानं न जानातीति तात्पर्यम् ॥९३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे जो बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से अपने को महंत मानता है, वह परमार्थ को नहीं जानता, ऐसा दिखलाते हैं—

जो परिग्रह से ही स्वयं को बढ़ा मानें नित मुनि ।
परमार्थ से जिन कहें वे परमार्थ को जानें नहीं ॥९३॥

दोहार्थ— जो मुनि परिग्रह से ही स्वयं को महान मानता है, वह वास्तव में परमार्थ को नहीं जानता है—ऐसा जिनेन्द्र भगवान परमार्थ से कहते हैं ।

टीकार्थ— ***जो जि*** जो ***मुणि*** मुनि ***गंथहि*** परिग्रह से ***अप्पउ*** अपने को ***गरुयउ*** महंत ***मण्णइ*** मानता है, अर्थात् परिग्रह से ही गौरव जानता है, ***तत्थु*** निश्चय से ***सो*** वही पुरुष ***परमत्थे*** वास्तव में ***परमत्थु*** परमार्थ को ***णवि बुज्झइ*** नहीं जानता, ऐसा जिनेश्वरदेव कहते हैं ।

निर्दोष परमात्मा से पराङ्मुख जो पूर्वसूत्र में कहे गये सचित्त-अचित्त-मिश्र परिग्रह हैं, उनसे अपने को महंत मानता है, ग्रन्थरचना रूप शब्द शास्त्रों द्वारा मैं बहुत पढ़ा हूँ, ऐसा जिसे अभिमान है, वह परमार्थ अर्थात् वीतराग परमानंद एक स्वभाव निज आत्मा को नहीं जानता, आत्मज्ञान से रहित है, यह निःसंदेह जानो ॥९३॥

ग्रन्थेनात्मानं महान्तं मन्यमानः सन् परमार्थं कस्मान्न जानातीति चेत्—

॥९४-२१७॥

बुज्झंतहँ परमत्थु जिय गुरु लहु अत्थि ण कोइ ।
जीवा सयल वि बंभु परु जेण वियाणइ सोइ ॥

बुध्यमानानां परमार्थं जीव गुरुः लघुः अस्ति न कोऽपि ।
जीवाः सकला अपि ब्रह्म परं येन विजानाति सोऽपि ॥९४॥

बुध्यमानानाम् । कम् ? परमार्थम्, हे जीव ! गुरुत्वं लघुत्वं वा नास्ति । कस्मान्नास्ति ? जीवाः सर्वोऽपि परमब्रह्मस्वरूपाः । तदपि कस्मात् ? येन कारणेन ब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्तात्मा केवलज्ञानेन सर्वं जानाति यथा तथा निश्चयनयेन सोऽप्येको विवक्षितो जीवः संसारी सर्वं जानातीत्यभिप्रायः ॥९४॥

एवमेकचत्वारिंशत्सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परिग्रहपरित्यागव्याख्यानमुख्यतया सूत्राष्टकेन तृतीयमन्तरस्थलं समाप्तम् ।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि जो ग्रंथ से अपने को महंत मानता है, वह परमार्थ को क्यों नहीं जानता ? इसका समाधान आचार्य करते हैं—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परमार्थ ज्ञायक जीव को कोई गुरु-लघुमय नहीं ।
वह नियम से यह जानता सब जीव हैं नित ब्रह्म ही ।।९४।।

दोहार्थ— हे जीव ! परमार्थ जानने वाले को कोई भी बड़ा, छोटा नहीं है, क्योंकि सभी जीव परमब्रह्ममय हैं—वह ऐसा ही जानता है।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***परमत्थु*** परमार्थ ***बुज्झंतहँ*** समझने वालों को ***कोइ*** कोई जीव, ***गुरुलहु*** बड़ा-छोटा ***ण अत्थि*** नहीं है, ***सयलवि*** सभी ***जीवा*** जीव ***परुबंभु*** परमब्रह्मस्वरूप हैं, ***जेण*** क्योंकि निश्चयनय से ***सोइ*** वह सम्यग्दृष्टि एक समान ही ***वियाणइ*** सबको जानता है ।

जो परमार्थ को नहीं जानता, वह परिग्रह से गुरुता समझता है, और परिग्रह के न होने से लघुपना जानता है, यही भूल है । यद्यपि गुरुता-लघुता कर्म के आवरण से जीवों में पायी जाती है, तो भी शुद्धनय से सब समान हैं, तथा ब्रह्म अर्थात् सिद्धपरमेष्ठी केवलज्ञान से सबको जानते हैं, सबको देखते हैं, उसीप्रकार निश्चयनय से सम्यग्दृष्टि सब जीवों को शुद्धरूप ही देखता है ।।९४।।

इसप्रकार इकतालीस दोहों के महास्थल में परिग्रह त्याग के व्याख्यान की मुख्यता से आठ दोहों का तीसरा अंतरस्थल पूर्ण हुआ ।

अत ऊर्ध्वं त्रयोदशसूत्रपर्यन्तं शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिगुणैः समानास्तेन कारणेन षोडशवर्णिकासुवर्णवद्भेदो नास्तीति प्रतिपादयति ।

तद्यथा—

।।९५-२१८।।

जो भत्तउ रयणत्तयहँ तसु मुणि लक्खणु एउ ।
अच्छउ कहिँ वि कुडिल्लियइ सो तसु करइ ण भेउ ।।

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्व लक्षणं इदम् ।
तिष्ठतु कस्यामपि कुड्यां स तस्य करोति न भेदम् ।।९५।।

जो इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते— *जो* यः *भत्तउ* भक्तः । कस्य? *रयणत्तयहँ* रत्नत्रयस्य *तसु* तस्य पुरुषस्य *मुणि* मन्यस्व जानीहि । किम् ? *लक्खणु एउ* लक्षणं इदं प्रत्यक्षीभूतम् । इदं किम् ? *अच्छउ कहिँ वि कुडिल्लियइ* तिष्ठतु कस्यामपि कुड्यां शरीरे *सो तसु करइ ण भेउ* स ज्ञानी तस्य जीवस्य देहभेदेन भेदं न करोति ।

तथाहि— योऽसौ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी निश्चयस्य निश्चयरत्नत्रयलक्षणपरमात्मनो वा भक्तः तस्येदं लक्षणं जानीहि । हे प्रभाकरभट्ट ! क्वापि देहे तिष्ठतु जीवस्तथापि शुद्ध-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चयेन षोडशवर्णिकासुवर्णवत्केवलज्ञानादिगुणैर्भेदं न करोतीति । अत्राह प्रभाकरभट्टः — हे भगवन् जीवानां यदि देहभेदेन भेदो नास्ति तर्हि यथा केचन वदन्त्येक एव जीवस्तन्मतमायातम् । भगवानाह—शुद्धसंग्रहनयेन सेनावनादिवज्जात्यपेक्षया भेदो नास्ति व्यवहारनयेन पुनर्व्यक्त्यपेक्षया वने भिन्नभिन्नवृक्षवत् सेनायां भिन्नभिन्नहस्त्यश्वादिवद्भेदोऽस्तीति भावार्थः ।।९५।।

आगे तेरह दोहों तक शुद्ध निश्चय से सब जीव केवलज्ञानादिगुण से समान हैं, इसलिये सोलहवान सुवर्ण के समान भेद नहीं है, सब जीव समान हैं, ऐसा निश्चय करते हैं। वह इसप्रकार—

जो रत्नत्रय का भक्त उसका यही लक्षण जानना ।
वह किसी भी तन में रहे पर जीव सम ही मानता ।।९५।।

दोहार्थ— जो रत्नत्रय का भक्त है उसका यह लक्षण मानना कि वह किसी भी शरीर में रहे, पर उससे आत्मा के भेद नहीं करता ।

टीकार्थ— ***जो*** जो मुनि ***रयणत्तहँ*** रत्नत्रय की ***भत्तउ*** आराधना करने वाला है, ***तसु*** उसका ***एउ लक्खणु*** यह लक्षण ***मुणि*** जानना कि ***कहि वि कुडिल्लियइ*** किसी भी शरीर में जीव ***अच्छउ*** रहे, ***सो*** वह ज्ञानी ***तसु भेउ*** उस जीव का भेद ***ण करेइ*** नहीं करता । अर्थात् देह के भेद से गुरुता-लघुता का भेद करता है, परन्तु ज्ञानदृष्टि से सबको समान देखता है ।

वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी निश्चयरत्नत्रय लक्षण परमात्मा का अथवा उसके आराधक का यह लक्षण प्रभाकरभट्ट तुम निःसंदेह जानो कि किसी भी शरीर में कर्म के उदय से जीव रहे, परंतु निश्चय से शुद्ध-बुद्ध ही है । जैसे सोने में वान-भेद हैं, वैसे जीवों में वान-भेद नहीं है, केवलज्ञानादि अंनत गुणों से सब जीव समान हैं ।

ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट ने प्रश्न किया, हे भगवन् ! यदि जीवों में देह के भेद से भेद नहीं है, सब समान हैं; तब जो वेदान्ती एक ही आत्मा मानते हैं, उन्हें आप क्यों दोष देते हैं ? तब श्रीगुरु उसका समाधान करते हैं कि शुद्धसंग्रहनय से सेना एक ही कही जाती है, लेकिन सेना में अनेक हैं, तो भी ऐसा कहते हैं कि सेना आयी, सेना गयी; उसीप्रकार जाति की अपेक्षा से जीवों में भेद नहीं हैं, सब एक जाति हैं, और व्यवहारनय से व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं, अनंत जीव हैं, एक नहीं हैं । जैसे वन एक कहा जाता है, और वृक्ष भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार जाति से जीवों में एकता है, लेकिन द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं; तथा जैसे सेना एक है, परन्तु हाथी-घोड़े-रथ-सुभट अनेक हैं; उसीप्रकार जीवों में जानना ।।९५।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ त्रिभुवनस्थजीवानां मूढा भेदं कुर्वन्ति, ज्ञानिनस्तु भिन्नभिन्नसुवर्णानां षोडशवर्णिकैकत्ववत्केवलज्ञानलक्षणेनैकत्वं जानन्तीति दर्शयति—

॥९६-२१९॥

जीवहँ तिहुयण-संठियहँ मूढा भेउ करंति ।
केवल-णाणिं णाणि फुडु सयलु वि एक्कु मुणंति ॥

जीवानां त्रिभुवनसंस्थितानां मूढा भेदं कुर्वन्ति ।
केवलज्ञानेन ज्ञानिनः स्फुटं सकलमपि एकं मन्यन्ते ॥९६॥

जीवहँ इत्यादि— *जीवहँ तिहुयणसंठियहँ* श्वेतकृष्णरक्तादिभिन्नभिन्नवस्त्रैर्वेष्टितानां षोडशवर्णिकानां भिन्नभिन्नसुवर्णानां यथा व्यवहारेण वस्त्रवेष्टनभेदेन भेदः तथा त्रिभुवनसंस्थितानां जीवानां व्यवहारेण भेदं दृष्ट्वा निश्चयनयेनापि *मूढा भेउ करंति* मूढात्मानो भेदं कुर्वन्ति । *केवलणाणिं* वीतरागसदानन्दैकसुखाविनाभूतकेवलज्ञानेन *वीतरागस्वसंवेदेन *णाणि* ज्ञानिनः *फुडु* स्फुटं निश्चितं *सयलु वि* समस्तमपि जीवराशिं *एक्कु मुणंति* संग्रहनयेन समुदायं प्रत्येकं मन्यन्त इति अभिप्रायः ॥९६॥

.....

आगे तीन लोक में रहने वाले जीवों का अज्ञानी भेद करते हैं;परन्तु ज्ञानी सोलहवान वाले सुवर्ण में एकत्व के समान, केवलज्ञान लक्षण से एकत्व जानते हैं, जीवपने से कोई कम-बढ़ नहीं हैं; कर्म के उदय से शरीर-भेद है, परन्तु द्रव्य से सब समान हैं । जैसे सोने में वान-भेद है, वैसे ही पर के संयोग से भेद ज्ञात होता है, तो भी सुवर्णपने से सब समान हैं, ऐसा दिखलाते हैं—

त्रयलोक स्थित जीवगण में मूढ़ करते भेद हैं ।
पर ज्ञानि मानें ज्ञान से सब जीव एक समान हैं ॥९६॥

दोहार्थ— तीन लोक में स्थित जीवों में मूढ़ ही भेद करते हैं, ज्ञानी तो केवल ज्ञान से वास्तव में सभी को एक समान मानते हैं ।

टीकार्थ— ***तिहुयणसंठियहँ*** तीन भुवन में रहने वाले ***जीवहँ*** जीवों का ***मूढा*** मूर्ख ही ***भेउ*** भेद ***करंति*** करते हैं, और ***णाणी*** ज्ञानी जीव ***केवलणाणिं*** केवल ज्ञान से ***फुडु*** प्रगट ***सयलु वि*** सब जीवों को ***एक्कु मुणंति*** समान जानते हैं।

व्यवहारनय से सोलहवान के सुवर्ण भिन्न-भिन्न वस्त्रों में लपेटें तो वस्त्र के भेद से भेद है, परन्तु सुवर्णपने से भेद नहीं है; उसीप्रकार तीन लोक में विद्यमान

✡ पाठान्तर - वीतरागस्वसंवेदेन णणी ज्ञानिनः - णाणी वीतरागस्वसंवेदेन ज्ञानिनः ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जीवों का व्यवहारनय से शरीर के भेद से भेद है, परन्तु जीवपने से भेद नहीं है । देह का भेद देखकर मूढ़ जीव भेद मानते हैं, और वीतराग स्वसंवेदनज्ञानी जीवपने से सब जीवों को समान मानता है । सभी जीव केवलज्ञानवेलि के कन्द सुख-पंक्ति हैं, कोई कम-बढ़ नहीं हैं ॥९६॥

अथ केवलज्ञानादिलक्षणेन शुद्धसंग्रहनयेन सर्वे जीवाः समाना इति कथयति–

॥९७-२२०॥

जीवा सयल वि णाणमय जम्मण-मरण-विमुक्क ।
जीव-पएसहिँ सयल सम सयल वि सगुणहिँ एक्क ॥

जीवाः सकला अपि ज्ञानमया जन्ममरणविमुक्ताः ।
जीवप्रदेशैः सकलाः समाः सकला अपि स्वगुणैरेके ॥९७॥

जीवा इत्यादि– *जीवा सयल वि णाणमय* व्यवहारेण लोकालोकप्रकाशकं निश्चयेन स्वशुद्धात्मग्राहकं यत्केवलज्ञानं तज्ज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण केवलज्ञानावरणेन झंपितं तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयेन तदावरणाभावात् पूर्वोक्तलक्षणकेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वात्सर्वेऽपि जीवा ज्ञानमयाः *जम्मणमरणविमुक्क* व्यवहारनयेन यद्यपि जन्ममरणसहितास्तथापि निश्चयेन वीतरागनिजानन्दैकरूपसुखामृतमयत्वादनाद्यनिधनत्वाच्च शुद्धात्मस्वरूपाद्विलक्षणस्य जन्ममरणनिर्वर्तकस्य कर्मण उदयाभावाज्जन्ममरणविमुक्ताः । *जीवपएसहिँ सयलसम* यद्यपि संसारावस्थायां व्यवहारेणोपसंहारविस्तारयुक्तत्वाद्देहमात्रा मुक्तावस्थायां तु किंचिदूनचरमशरीरप्रमाणास्तथापि निश्चयनयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वहानिवृद्ध्यभावात् स्वकीयस्वकीयजीवप्रदेशैः सर्वे समानाः । *सयल वि सगुणहिँ एक्क* यद्यपि व्यवहारेणाव्याबाधानन्तसुखादिगुणाः संसारावस्थायां कर्मझंपितास्तिष्ठन्ति, तथापि निश्चयेन कर्माभावात् सर्वेऽपि स्वगुणैरेकप्रमाणा इति ।

.....

आगे केवलज्ञानादि लक्षण शुद्धसंग्रहनय की अपेक्षा सब जीव समान हैं, ऐसा कहते हैं—

हैं जीव सब ही ज्ञानमय विरहित जनम-मरणादि से ।
हैं प्रदेशों से भी सभी सम सम सदा स्वगुणों से ॥९७॥

दोहार्थ— सभी जीव ज्ञानमय, जन्म-मरण रहित हैं, अपने-अपने प्रदेशों की अपेक्षा भी सभी जीव समान हैं, तथा अपने गुणों की अपेक्षा भी सभी एक समान हैं ।

टीकार्थ— ***सयलवि*** सभी ***जीवा*** जीव ***णाणमय*** ज्ञानमयी हैं, और ***जम्मणमरणविमुक्क*** जन्म-मरण से रहित हैं, ***जीवपएसहिँ*** अपने-अपने प्रदेशों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से ***सयल सम*** सब समान हैं, ***वि*** और ***सयल*** सब जीव ***सगुणहिँ एक्क*** अपने केवलज्ञानादि गुणों से समान हैं ।

व्यवहार से लोक-अलोक का प्रकाशक और निश्चयनय से निज शुद्धात्मद्रव्य को ग्रहण करने वाला जो केवलज्ञान, वह यद्यपि व्यवहारनय से केवलज्ञानावरणकर्म से ढँका हुआ है, तो भी शुद्ध निश्चय से केवलज्ञानावरण का अभाव होने के कारण केवलज्ञानस्वभाव से सभी जीव केवलज्ञानमयी हैं । यद्यपि व्यवहारनय से सब संसारी जीव जन्म-मरण सहित हैं, तो भी निश्चयनय से वीतराग निजानंद एकरूप अतीन्द्रिय सुखमयी हैं, जिनकी आदि भी नहीं और अन्त भी नहीं ऐसे हैं; शुद्धात्मस्वरूप से विपरीत जन्म-मरण को उत्पन्न करने वाले जो कर्म, उनके उदय के अभाव से जन्म-मरण रहित हैं । यद्यपि संसारअवस्था में व्यवहारनय से प्रदेशों के संकोच-विस्तार को धारण करते हुए देहप्रमाण हैं, और मुक्त-अवस्था में चरम शरीर से कुछ कम देहप्रमाण हैं, तो भी निश्चयनय से लोकाकाश प्रमाण असंख्यातप्रदेशी हैं, हानि-वृद्धि न होने से अपने प्रदेशों की अपेक्षा सब समान हैं, और यद्यपि व्यवहारनय से संसार-अवस्था में इन जीवों के अव्याबाध, अनन्त सुखादिगुण कर्मों से ढँके हुए हैं, तो भी निश्चयनय की अपेक्षा कर्म के अभाव से सभी जीव गुणों में समान हैं ।

ऐसा जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप है, वही उपादेय है, ध्यान करने योग्य है ।।९७।।

अथ जीवानां ज्ञानदर्शनलक्षणं प्रतिपादयति—

।।९८-२२१।।

जीवहँ लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसण-णाणु ।
तेण ण किज्जइ भेउ तहँ जइ मणि जाउ विहाणु ।।

जीवानां लक्षणं जिनवरैः भाषितं दर्शनं ज्ञानं ।
तेन न क्रियते भेदः तेषां यदि मनसि जातो विभातः ।।९८।।

जीवहँ इत्यादि— ***जीवहँ लक्खणु जिणवरहि भासिउ दंसणणाणु*** यद्यपि व्यवहारेण संसारावस्थायां मत्यादिज्ञानं चक्षुरादिदर्शनं जीवानां लक्षणं भवति तथापि निश्चयेन केवलदर्शनं केवलज्ञानं च लक्षणं भाषितम् । कैः ? जिनवरैः । ***तेण ण किज्जइ भेउ तहँ*** तेन कारणेन व्यवहारेण देहभेदेऽपि केवलज्ञानदर्शनरूपनिश्चयलक्षणेन तेषां न क्रियते भेदः । यदि किम् ? ***जइ मणि जाउ विहाणु*** यदि चेन्मनसि वीतराग-निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानादित्योदयेन जातः । कोऽसौ ? प्रभातसमय इति ।

अत्र यद्यपि षोडशवर्णिकालक्षणं बहूनां सुवर्णानां मध्ये समानं तथाप्येकस्मिन्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सुवर्णे गृहीते शेषसुवर्णानि सहैव नायान्ति । कस्मात् ? भिन्नभिन्नप्रदेशत्वात् । तथा यद्यपि केवलज्ञानदर्शनलक्षणं समानं सर्वजीवानां तथाप्येकस्मिन् विवक्षितजीवे पृथक्कृते शेषजीवा सहैव नायान्ति । कस्मात् ? भिन्नभिन्नप्रदेशत्वात् । तेन कारणेन ज्ञायते यद्यपि केवलज्ञानदर्शनलक्षणं समानं तथापि प्रदेशभेदोऽस्तीति भावार्थः ॥९८॥

आगे जीवों का ज्ञान-दर्शन लक्षण कहते हैं—

नित जिनवरों ने कहा दर्शन-ज्ञान लक्षण जीव का ।
इससे न करना भेद उनमें उदय है यदि ज्ञान का ॥९८॥

दोहार्थ— जिनवरों ने जीव का लक्षण दर्शन-ज्ञान कहा है; इसलिए यदि तुम्हारे मन में ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हुआ है, तो उनमें भेद मत करो ।

टीकार्थ— ***जीवहँ लक्खणु*** जीवों का लक्षण ***जिणवरहि*** जिनेन्द्रदेव ने ***दंसणणाणु*** दर्शन और ज्ञान ***भासिउ*** कहा है, ***तेण*** इसलिए ***तहँ*** उन जीवों में ***भेउ*** भेद ***ण किज्जइ*** मत करो, ***जइ*** यदि ***मणि*** तेरे मन में ***विहाणु जाउ*** ज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो गया है; अर्थात् हे शिष्य! तुम सबको समान जानो ।

यद्यपि व्यवहारनय से संसारी अवस्था में मत्यादि ज्ञान और चक्षुरादि दर्शन जीव के लक्षण कहे हैं, तो भी निश्चयनय से केवल दर्शन-केवल ज्ञान ये ही लक्षण हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है । इसलिये व्यवहारनय की अपेक्षा देह-भेद से भेद होने पर भी केवल ज्ञान-दर्शनरूप निजलक्षण से सब समान हैं, कोई भी बड़ा-छोटा नहीं है । यदि तुम्हारे मन में वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप सूर्य का उदय हुआ है, और मोह-निद्रा के अभाव से आत्म-बोधरूप प्रभात हुआ है, तो तुम सभी को समान देखो । जैसे यद्यपि सोलहवानी के सोने सब समान वृत्त हैं, तो भी उन सुवर्ण-राशियों में से एक सुवर्ण को ग्रहण किया, तो उसको ग्रहण करने से सब सुवर्ण साथ नहीं आते, क्योंकि सबके प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार यद्यपि केवल ज्ञान-दर्शन लक्षण से सब जीव समान हैं, तो भी एक जीव का ग्रहण करने से सबका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि प्रदेश सबके भिन्न-भिन्न हैं। इससे यह निश्चय हुआ कि यद्यपि केवल ज्ञान-दर्शन लक्षण से सब जीव समान हैं, तो भी प्रदेश सबके पृथक्-पृथक् हैं, यह तात्पर्य जानना ॥९८॥

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिन्नं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥

—प्रवचनसार, गाथा १३

शुद्धोपयोग से प्रसिद्ध जीवों के अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अखण्डित सुख होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ शुद्धात्मनां जीवजातिरूपेणैकत्वं दर्शयति—

॥९९-२२२॥

बंभहँ भुवणि वसंताहँ जे णवि भेउ करंति ।
ते परमप्प-पयासयर जोइय विमलु मुणंति ॥

ब्रह्मणां भुवने वसतां ये नैव भेदं कुर्वन्ति ।
ते परमात्मप्रकाशकराः योगिन् विमलं मन्यन्ते ॥९९॥

बंभहँ इत्यादि— *बंभहँ* ब्रह्मणः शुद्धात्मनः । किं कुर्वतः ? *भुवणि वसंताहँ* भुवने त्रिभुवने वसंतः तिष्ठतः *जे णवि भेउ करंति* ये नैव भेदं कुर्वन्ति । केन ? शुद्धसंग्रहनयेन *ते परमप्पपयासयर* ते ज्ञानिनः परमात्मस्वरूपस्य प्रकाशकाः सन्त *जोइय* हे योगिन् अथवा बहुवचनेन हे योगिनः । किं कुर्वन्ति ? *विमलु मुणंति* विमलं संशयादिरहितं शुद्धात्मस्वरूपं मन्यन्ते जानन्तीति ।

तद्यथा— यद्यपि जीवराश्यपेक्षया तेषामेकत्वं भण्यते तथापि व्यक्त्यपेक्षया प्रदेशभेदेन भिन्नत्वं नगरस्य गृहादिपुरुषादिभेदवत् । कश्चिदाह— यथैकोऽपि चन्द्रमा बहुजलघटेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यते तथैकोऽपि जीवो बहुशरीरेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यत इति । परिहारमाह—बहुषु जलघटेषु चन्द्रकिरणोपाधिवशेन जलपुद्गला एव चन्द्राकारेण परिणता न चाकाशस्थचन्द्रमाः ।

अत्र दृष्टान्तमाह— यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणानां पुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणमन्ति न च देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणमति । यदि परिणमति तदा दर्पणस्थं मुखप्रतिबिम्बं चेतनत्वं प्राप्नोति, न च तथा, तथैकचन्द्रमा अपि नानारूपेण न परिणमतीति । किं च न चैको ब्रह्मनामा कोऽपि दृश्यते प्रत्यक्षेण यश्चन्द्रवन्नानारूपेण भविष्यति इत्यभिप्रायः ॥९९॥

.....

आगे जाति के कथन से सब जीवों की एक जाति है, परन्तु द्रव्य अनंत हैं, ऐसा दिखलाते हैं—

जो जगत स्थित जीवगण में भेदभाव करें नहीं ।
वे परम आत्मप्रकाशकर नित मानते निज विमल ही ॥९९॥

दोहार्थ— जो जगत में स्थित जीवों में भेद नहीं करते हैं, हे योगी ! वे परमात्मप्रकाशकर विमल आत्मा मानते हैं ।

टीकार्थ— जो ***भेउ*** भेद ***णवि*** नहीं ***करंति*** करते हैं, ***ते*** वे ***परमप्पपयासयर*** परमात्मा का प्रकाश करने वाले ***जोइय*** योगी, ***विमलु*** अपने निर्मल आत्मा को ***मुणंति*** जानते हैं । इसमें संदेह नहीं है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यद्यपि जीव-राशि की अपेक्षा जीवों की एकता है, तो भी प्रदेशभेद से प्रगटरूप सब पृथक्-पृथक् हैं । जैसे वृक्ष जाति से वृक्षों का एकपना है, तो भी सब वृक्ष पृथक्-पृथक् हैं, और पहाड़-जाति से सब पहाड़ों का एकत्व है, तो भी सब पृथक्-पृथक् हैं; तथा रत्न-जाति से रत्नों का एकत्व है, परन्तु सब रत्न पृथक्-पृथक् हैं; घट-जाति की अपेक्षा सब घटों का एकपना है, परन्तु सब पृथक्-पृथक् हैं; और पुरुष-जाति से सबकी एकता है, परन्तु सब अलग-अलग हैं; उसीप्रकार जीव-जाति की अपेक्षा सब जीवों का एकपना है, तो भी प्रदेशों के भेद से सब ही जीव पृथक्-पृथक् हैं ।

इस पर कोई परवादी प्रश्न करता है कि जैसे एक ही चन्द्रमा जल से भरे बहुत घड़ों में पृथक्-पृथक् भासित होता है; उसीप्रकार एक ही जीव बहुत शरीरों में भिन्न-भिन्न भास रहा है । उसका श्रीगुरु समाधान करते हैं—बहुत जल के घड़ों में चन्द्रमा की किरणों की उपाधि से जल-जाति के पुद्गल ही चन्द्रमा के आकार रूप परिणत हो गये हैं, लेकिन आकाश में स्थित चन्द्रमा तो एक ही है, चन्द्रमा तो बहुत स्वरूप नहीं हो गया ।

उनका दृष्टांत देते हैं—जैसे किसी देवदत्तनामक पुरुष के मुख की उपाधि से अनेक प्रकार के दर्पणों से शोभायमान काँच के महल में काँचरूप पुद्गल ही अनेक मुख के आकार परिणत हुए हैं, कुछ देवदत्त का मुख अनेकरूप नहीं परिणत हुआ है, मुख एक ही है । यदि कदाचित् देवदत्त का मुख अनेक रूप परिणमन करे, तो दर्पण में विद्यमान मुखों के प्रतिबिम्ब चेतन हो जावें । परन्तु चेतन नहीं होते, जड़ ही रहते हैं; उसीप्रकार एक चन्द्रमा भी अनेकरूप नहीं परिणमता । वे जलरूप पुद्गल ही चन्द्रमा के आकार में परिणत हो जाते हैं । इसलिए ऐसा निश्चय समझना कि जो कोई ऐसा कहते हैं कि एक ही ब्रह्म के नानारूप दिखाई देते हैं । उनका यह कहना ठीक नहीं है; जीव पृथक्-पृथक् ही हैं ॥९९॥

अथ सर्वजीवविषये समदर्शित्वं मुक्तिकारणमिति प्रकटयति—

॥१००-२२३॥

राय-दोस बे परिहरिवि जे सम जीव णियंति ।
ते सम-भावि परिट्ठिया लहु णिव्वाणु लहंति ॥

रागद्वेषौ द्वौ परिहृत्य ये समान् जीवान् पश्यन्ति ।
ते समभावे प्रतिष्ठिताः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥१००॥

राय **इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते—** ***रायदोस बे परिहरिवि*** **वीतरागनिजानन्दैकस्वरूपस्वशुद्धात्मद्रव्यभावनाविलक्षणौ रागद्वेषौ परिहृत्य** ***जे*** **ये केचन**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम जीव णियंति सर्वसाधारणकेवलज्ञानदर्शनलक्षणेन समानान् सदृशान् जीवान् निर्गच्छन्ति ~~passe~~ **ते ते पुरुषाः । कथंभूताः ? समभावि परिट्ठिया जीवितमरणलाभालाभसुख-दुःखादिसमताभावनारूपे समभावे प्रतिष्ठिताः सन्तः लहु णिव्वाणु लहंति लघु शीघ्रं आत्यन्तिकस्वभावैकाचिन्त्याद्भुतकेवलज्ञानादिगुणास्पदं निर्वाणं लभन्त इति ।**

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषौ त्यक्त्वा च शुद्धात्मानुभूतिरूपा समभावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥१००॥

आगे ऐसा कहते हैं कि सब ही जीव द्रव्य से तो पृथक्-पृथक् ही हैं, परन्तु जाति से एक हैं, और गुणों की अपेक्षा समान हैं, ऐसी धारणा करना मुक्ति का कारण है—

जो छोड़ राग रु द्वेष को सब जीवगण सम देखते ।
समभाव में हों प्रतिष्ठित शिव शीघ्र पाते सदा वे ॥१००॥

दोहार्थ— राग-द्वेष दोनों को छोड़कर जो सभी जीवों को समान देखते हैं, समभाव में प्रतिष्ठित वे शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

टीकार्थ— ***जे*** जो ***रायदोस बे*** राग और द्वेष को ***परिहरिवि*** दूर करके ***जीव सम*** सब जीवों को समान ***णियंति*** जानते हैं, ***ते*** वे साधु ***समभावि*** समभाव में ***परिट्ठिया*** विराजमान ***लहु*** शीघ्र ही ***णिव्वाणु*** मोक्ष को ***लहंति*** पाते हैं ।

वीतराग निजानंद एकस्वरूप जो निज शुद्ध आत्मद्रव्य, उसकी भावना से विमुख जो राग-द्वेष, उन्हें छोड़कर जो महान पुरुष केवल ज्ञान-दर्शन लक्षण से सब ही जीवों को समान गिनते हैं, वे पुरुष समभाव में स्थित शीघ्र ही शिवपुर को पाते हैं । समभाव का लक्षण ऐसा है कि जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःखादि सबको समान जानें । जो अनन्त सिद्ध हुए और होवेंगे, यह सब समभाव का प्रभाव है । समभाव से मोक्ष मिलता है । कैसा है वह मोक्षस्थान जो अत्यंत अद्भुत एक अचिंत्य केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का स्थान है ।

यहाँ यह व्याख्यान जानकर राग-द्वेष को छोड़कर शुद्धात्मा के अनुभवरूप जो समभाव, उसका सेवन सदा करना चाहिए । यही इस ग्रंथ का अभिप्राय है ॥१००॥

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥ —*मोक्षपाहुड़, गाथा-१०४*

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु रूप पाँच परमेष्ठी आत्मा की ही अवस्थायें हैं, अतः मुझे आत्मा ही शरण है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ सर्वजीवसाधारणं केवलज्ञानदर्शनलक्षणं प्रकाशयति—

॥१०१-२२४॥

जीवहँ दंसणु णाणु जिय लक्खणु जाणइ जो जि ।
देह-विभेएँ भेउ तहँ णाणि कि मण्णइ सो जि ॥

जीवानां दर्शनं ज्ञानं जीव लक्षणं जानाति य एव ।
देहविभेदेन भेदं तेषां ज्ञानी किं मन्यते तमेव ॥१०१॥

जीवहँ इत्यादि— *जीवहँ* जीवानां *दंसणु णाणु* जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तद्रव्य-गुणपर्यायाणां क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन परिच्छित्तिसमर्थं विशुद्धदर्शनं ज्ञानं च । *जिय* हे जीव *लक्खणु जो जि* लक्षणं जानाति य एव *देहविभेएँ भेउ तहँ* देहविभेदेन भेदं तेषां जीवानां, देहोद्भवविषयसुखरसास्वादविलक्षणशुद्धात्मभावनारहितेन जीवेन यान्युपार्जितानि कर्माणि तदुदयेनोत्पन्नेन देहभेदेन जीवानां भेदं *णाणि कि मण्णइ* वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी किं मन्यते? नैव । कम् ? *सो जि* तमेव पूर्वोक्तं देहभेदमिति ।

अत्र ये केचन ब्रह्माद्वैतवादिनो नानाजीवान्न मन्यन्ते तन्मतेन विवक्षितैकजीवस्य जीवितमरणसुखदुःखादिके जाते सर्वजीवानां तस्मिन्नेव क्षणे जीवितमरणसुखदुःखादिकं प्राप्नोति । कस्मादिति चेत् ? एकजीवत्वादिति । न च तथा दृश्यते इति भावार्थः ॥१०१॥

.....

आगे सब जीवों में केवलज्ञान और केवलदर्शन साधारण लक्षण हैं, इनके बिना कोई जीव नहीं है । ये गुण शक्तिरूप सब जीवों में पाये जाते हैं, ऐसा कहते हैं—

जो जीव दर्शन-ज्ञान लक्षण जीव के हैं जानता ।
वह ज्ञानि देह विभेद से क्या भेद उनमें मानता? ॥१०१॥

दोहार्थ— हे जीव ! जो जीवों के दर्शन-ज्ञान लक्षण ही जानता है, वह ज्ञानी शरीर की विभिन्नता से क्या उनमें भेद मानता है ? नहीं मानता है ।

टीकार्थ— ***जीवहँ*** जीवों के ***दंसणुणाणु*** दर्शन और ज्ञान ***लक्खणु*** निज लक्षण को ***जो जि*** जो कोई ***जाणइ*** जानता है, ***जिय*** हे जीव ! ***सोजि णाणि*** वही ज्ञानी ***देहविभेएँ*** देह के भेद से ***तहँ भेउ*** उन जीवों के भेद को ***किं मण्णइ*** क्या मान सकता है ? नहीं मान सकता ।

तीन लोक और तीन कालवर्ती समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक ही समय में जानने में समर्थ जो केवलदर्शन-केवलज्ञान है, उसे निज लक्षणरूप जो कोई जानता है, वही सिद्ध-पद पाता है । जो ज्ञानी अच्छी तरह इन निज लक्षणों को जान लेता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, वह देह के भेद से जीवों का भेद नहीं मान सकता । अर्थात् देह से उत्पन्न जो विषय-सुख, उनके रस के आस्वाद से विमुख शुद्धात्मा की भावना से रहित जो जीव, उसने उपार्जित किये जो ज्ञानावरणादिकर्म, उनके उदय से उत्पन्न हुए देहादिक के भेद से जीवों का भेद, वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी कदापि नहीं मान सकता । देह में भेद हुआ तो क्या ? गुण से सब समान हैं, और जीव-जाति से एक हैं ।

यहाँ पर कोई ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती नाना जीवों को नहीं मानते हैं, वे एक ही जीव मानते हैं, उनकी यह बात अप्रमाण है । उनके मत में एक ही जीव के मानने से बड़ा भारी दोष होता है । वह इसप्रकार है कि एक जीव के जीने, मरने, सुख, दु:खादि के होने पर सब जीवों के उसी समय जीना, मरना, सुख, दु:खादि होना चाहिये, क्योंकि उनके मत में वस्तु एक है । परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता । इसलिये उनका वस्तु एक मानना वृथा है, ऐसा जानो ।।१०१।।

अथ जीवानां निश्चयनयेन योऽसौ देहभेदेन भेदं करोति स जीवानां दर्शनज्ञान-चारित्रलक्षणं न जानातीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति—

।।१०२-२२५।।

देह-विभेयइँ जो कुणइ जीवहँ भेउ विचित्तु ।
सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ दंसणु णाणु चरित्तु ।।

देहविभेदेन यः करोति जीवानां भेदं विचित्रम् ।
स नैव लक्षणं मनुते तेषां दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।।१०२।।

देह इत्यादि— *देहविभेयइँ* देहममत्वमूलभूतानां ख्यातिपूजालाभस्वरूपादीनां अपध्यानानां विपरीतस्य स्वशुद्धात्मध्यानस्याभावे यानि कृतानि कर्माणि तदुदयजनितेन देहभेदेन *जो कुणइ* यः करोति । कम् ? *जीवहँ भेउ विचित्तु* जीवानां भेदं विचित्रं नरनारकादिदेहरूपं, *सो णवि लक्खणु मुणइ तहँ* स नैव लक्षणं मनुते तेषां जीवानाम् । किंलक्षणम् ? *दंसणु णाणु चरित्तु* सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमिति ।

अत्र निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणानां जीवानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यचाण्डालादि-देहभेदं दृष्ट्वा रागद्वेषौ न कर्तव्याविति तात्पर्यम् ।।१०२।।

अब निश्चयनय से जो देह के भेद से जीवों में भेद करता है, वह जीवों के दर्शन-ज्ञान-चारित्र लक्षण को नहीं जानता है; यह अभिप्राय मन में रखकर व्याख्यान करते हैं—

जो देह के बहुभेद से जीवों में भेद विचित्र ही ।
करता न माने जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी ही ।।१०२।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— जो शरीर के अनेक भेदों से जीवों के अनेकों भेद करता है, वह उनका दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय लक्षण नहीं मानता है ।

टीकार्थ— ***जो*** जो ***देहविभेयइँ*** शरीरों के भेद से ***जीवहँ*** जीवों का ***विचित्तु*** नानारूप ***भेउ*** भेद ***कुणइ*** करता है, ***सो*** वह ***तहँ*** उन जीवों का ***दंसणु णाणु चरित्तु*** दर्शन-ज्ञान-चारित्र ***लक्खणु*** लक्षण ***णवि मुणइ*** नहीं जानता अर्थात् उसको गुणों की परीक्षा (पहिचान) नहीं है ।

देह के ममत्व के मूल कारण ख्याति-पूजा और लाभरूप जो आर्त-रौद्रस्व प खोटे ध्यान, उनसे विपरीत निज शुद्धात्मा का ध्यान, उसके अभाव से इस जीव द्वारा उपार्जित किये जो शुभ-अशुभ कर्म, उनके उदय से उत्पन्न जो शरीर है, उसके भेद से भेद मानता है, उसको दर्शनादि गुण गम्य नहीं हैं । यद्यपि पाप के उदय से नरक-योनि, पुण्य के उदय से देवों का शरीर और शुभाशुभ मिश्र से नर-देह तथा मायाचार से पशु का शरीर मिलता है अर्थात् इन शरीरों के भेदों से जीवों की अनेक चेष्टायें देखी जाती हैं; परन्तु दर्शन-ज्ञान लक्षण से सब समान हैं । उपयोग लक्षण के बिना कोई जीव नहीं है । इसलिये ज्ञानीजन सबको समान जानते हैं ।

निश्चयनय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीवों के लक्षण हैं, ऐसा जानकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चांडालादि देह के भेद देखकर राग-द्वेष नहीं करना चाहिये। सब जीवों से मैत्रीभाव करना यही तात्पर्य है ॥१०२॥

अथ शरीराणि बादरसूक्ष्माणि विधिवशेन भवन्ति न च जीवा इति दर्शयति—

॥१०३-२२६॥

अंगइँ सुहुमइँ बादरइँ विहि-वसिँ होंति जे बाल ।
जिय पुणु सयल वि तित्तडा सव्वत्थ वि सय-काल ॥

अङ्गानि सूक्ष्माणि बादराणि विधिवशेन भवन्ति ये बालाः ।
जीवाः पुनः सकला अपि तावन्तः सर्वत्रापि सदाकाले ॥१०३॥

अंगइँ इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते— *अंगइँ सुहुमइँ बादरइँ* अङ्गानि सूक्ष्मबादराणि जीवानां *विहिवसिँ होंति* विधिवशाद्भवन्ति अङ्गोद्भवपञ्चेन्द्रिय-विषयकांक्षामूलभूतानि दृष्टश्रुतानुभूतभोगवाञ्छारूपनिदानबन्धादीनि यान्यपध्यानानि, तद्विलक्षणा यासौ स्वशुद्धात्मभावना तद्रहितेन जीवेन यदुपार्जितं विधिसंज्ञं कर्म तद्वशेन भवन्त्येव। न केवलमङ्गानि भवन्ति *जे बाल* ये बालवृद्धादिपर्यायाः तेऽपि विधिवशेनैव । अथवा संबोधनं हे बाल अज्ञान ! *जिय पुणु सयल वि तित्तडा* जीवाः पुनः सर्वेऽपि तत्प्रमाणा द्रव्यप्रमाणं प्रत्यनन्ताः, क्षेत्रापेक्षयापि पुनरेकैकोऽपि जीवो यद्यपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रस्तथापि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः । क्व ? *सव्वत्थ वि* सर्वत्र लोके । न केवलं लोके *सयकाल* सर्वत्र कालत्रये तु ।

अत्र जीवानां बादरसूक्ष्मादिकं व्यवहारेण कर्मकृतभेदं दृष्ट्वा विशुद्धदर्शनज्ञानलक्षणापेक्षया निश्चयनयेन भेदो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ।।१०३।।

आगे सूक्ष्म-बादर शरीर जीवों के कर्म के सम्बंध से होते हैं । सूक्ष्म-बादर, स्थावर-जंगम ये सब शरीर के भेद हैं; जीव तो चिद्रूप है, सब भेदों से रहित है, ऐसा दिखलाते हैं—

हैं सूक्ष्म बादर आदि सब ही भेद कर्मोदय जनित ।
हैं जीव तो सर्वत्र सब ही काल उतने ही कथित ।।१०३।।

दोहार्थ— जो सूक्ष्म-बादर शरीर और बालक आदि भेद हैं, वे सब कर्मजनित हैं; जीव तो सभी, सब जगह, सदैव उतने ही हैं ।

टीकार्थ— ***सुहुमइँ*** सूक्ष्म ***बादरइँ*** और बादर ***अंगइँ*** शरीर ***जे*** तथा जो ***बाल*** बाल, वृद्ध, तरुणादि अवस्थायें ***विहिवसिँ*** कर्मों से ***होंति*** होती हैं, ***पुणु*** और ***जिय*** जीव तो ***सयलवि*** सभी ***सव्वत्था*** सब जगह ***सयकालवि*** और सब काल में ***तित्तडा*** उतने प्रमाण ही अर्थात् असंख्यातप्रदेशी ही है ।

जीवों के शरीर व बाल-वृद्धादि अवस्थायें कर्मों के उदय से होती हैं । अर्थात् अंगों से उत्पन्न हुए जो पंचेंद्रियों के विषय, उनकी वांछा जिनका मूल कारण है; ऐसे देखे, सुने, भोगे हुए भोगों की वांछारूप निदान बंधादि खोटे ध्यान; उनसे विलक्षण जो शुद्धात्मा की भावना, उससे रहित इस जीव द्वारा उपार्जित शुभाशुभ कर्मों के योग से ये चतुर्गति के शरीर होते हैं, और बाल-वृद्धादि अवस्थायें होती हैं । ये अवस्थायें कर्मजनित हैं, जीव की नहीं हैं । हे अज्ञानी जीव ! यह बात तुम निःसंदेह जानो । ये सभी जीव द्रव्य-प्रमाण से अनंत हैं, क्षेत्र की अपेक्षा एक-एक जीव यद्यपि व्यवहारनय से अपने मिले हुए देह के प्रमाण है, तो भी निश्चयनय से लोकाकाशप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है । सब लोक में सब काल में जीवों का यही स्वरूप जानना ।

बादर-सूक्ष्मादि भेद कर्मजनित होना समझकर, जीवों के भेद मत जानो । विशुद्ध ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा सब ही जीव समान हैं, कोई भी जीव दर्शन-ज्ञान रहित नहीं है, ऐसा जानना ।।१०३।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ जीवानां शत्रुमित्रादिभेदं यः न करोति स निश्चयनयेन जीवलक्षणं जानातीति प्रतिपादयति—

॥१०४-२२७॥

सत्तु वि मित्तु वि अप्पु परु जीव असेसु वि एइ ।
एक्कु करेविणु जो मुणइ सो अप्पा जाणेइ ॥

शत्रुरपि मित्रमपि आत्मा परः जीवा अशेषा अपि एते ।
एकत्वं कृत्वा यो मनुते स आत्मानं जानाति ॥१०४॥

सत्तु वि इत्यादि—*सत्तु वि* शत्रुरपि *मित्तु वि* मित्रमपि *अप्पु परु* आत्मा परोऽपि *जीव असेसु वि* जीवा अशेषा अपि *एइ* एते प्रत्यक्षीभूताः *एक्कु करेविणु जो मुणइ* एकत्वं कृत्वा यो मनुते शत्रुमित्रजीवितमरणलाभादिसमताभावनारूपवीतरागपरमसामायिकं कृत्वा योऽसौ जीवानां शुद्धसंग्रहनयेनैकत्वं मन्यते *सो अप्पा जाणेइ* स वीतरागसहजानन्दैकस्वभावं शत्रुमित्रादिविकल्पकल्लोलमालारहितमात्मानं जानातीति भावार्थः ॥१०४॥

आगे जो जीवों में शत्रु-मित्रादि भेद नहीं करता, वह निश्चय से जीव का लक्षण जानता है, ऐसा कहते हैं—

अपने पराये शत्रु मित्रादि सभी चेतनमयी ।
हैं एक सम जो मानता है जानता आतम वही ॥१०४॥

दोहार्थ— शत्रु भी, मित्र भी, स्व और पर रूप ये सभी जीव एक समान हैं—ऐसा जो मानता है, वह आत्मा को जानता है ।

टीकार्थ— ***एइ असेसु वि*** ये सभी ***जीव*** जीव हैं, उनमें से ***सत्तुवि*** कोई एक किसी का शत्रु भी है, ***मित्तुवि*** मित्र भी है, ***अप्पु*** अपना है, और ***परु*** दूसरा है—ऐसा व्यवहार से जानकर ***जो*** जो ज्ञानी ***एक्कु करेविणु*** निश्चय से एकपना करके अर्थात् सबमें समदृष्टि रखकर ***मुणइ*** समान मानता है ***सो*** वही ***अप्पा*** आत्मा के स्वरूप को ***जाणइ*** जानता है ।

इन संसारी जीवों में शत्रु आदि अनेक भेद दिखाई देते हैं, परंतु जो ज्ञानी सबको एक दृष्टि से देखता है—समान जानता है । शत्रु, मित्र, जीवित, मरण, लाभ, अलाभ आदि सभी में समभावरूप, वीतराग परमसामायिकचारित्र के प्रभाव से जो जीवों को शुद्ध संग्रहनय से जानता है, सबको समान मानता है, वही अपने निज स्वरूप को जानता है । जो निजस्वरूप, वीतराग सहजानन्द एक स्वभावमय है तथा शत्रु, मित्र आदि विकल्प-जाल से रहित है, ऐसे निजस्वरूप को समताभाव के बिना नहीं जान सकता ॥१०४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ योऽसौ सर्वजीवान् समानान्न मन्यते तस्य समभावो नास्तीत्यावेदयति–

॥१०५-२२८॥

जो णवि मण्णइ जीव जिय सयल वि एक्क-सहाव ।
तासु ण-थक्कइ भाउ समु भव-सायरि जो णाव ॥

यो नैव मन्यते जीवान् जीव सकलानपि एकस्वभावान् ।
तस्य न तिष्ठति भावः समः भवसागरे यः नौ ॥१०५॥

जो णवि इत्यादि—*जो णवि मण्णइ* यो नैव मन्यते । कान् ? *जीव* जीवान् *जिय* हे जीव ! कतिसंख्योपेतान् ? *सयल वि* समस्तानपि । कथंभूतान्न मन्यते ?

एक्कसहाव वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा सकलविमलकेवलज्ञानादिगुणैर्निश्चयेनैकस्वभावान् । *तासु ण थक्कइ भाउ समु* तस्य न तिष्ठति समभावः । कथंभूतः? *भवसायरि जो णाव* संसारसमुद्रे यो नावस्तरणोपायभूता नौरिति ।

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषमोहान् मुक्त्वा च परमोपशमभावरूपे शुद्धात्मनि स्थातव्यमित्यभिप्रायः ॥१०५॥

.....

आगे जो सब जीवों को समान नहीं मानता, उसके समभाव नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—

जो नहीं मानें जीव सब ही एक से स्व भावमय ।
वह नहीं पाता भाव सम जो भवोदधि में नाव सम ॥१०५॥

दोहार्थ— जो सम्पूर्ण जीवों को एक स्वभाव वाला नहीं मानता है, उसके हे जीव! भवसागर से पार होने के लिए नाव के समान समभाव नहीं रहता है ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ! ***जो*** जो ***सयलवि*** सभी ***जीव*** जीवों को ***एक्कसहाव*** एक स्वभाववाले ***णवि मण्णइ*** नहीं जानता, ***तासु*** उस अज्ञानी के ***समुभाउ*** समभाव ***ण थक्कइ*** नहीं रहता, ***जो*** जो सवभाव ***भवसायरि*** संसार-समुद्र के तैरने को ***णाव*** नाव के समान है ।

जो अज्ञानी सब जीवों को समान नहीं मानता, अर्थात् वीतराग निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर सबको समान दृष्टि से नहीं देखता, सकल ज्ञायक परम निर्मल केवलज्ञानादि गुणों की अपेक्षा निश्चयनय से सब जीव एक से हैं, ऐसी जिसे श्रद्धा नहीं है, उसके समभाव नहीं उत्पन्न हो सकता । ऐसा निस्सन्देह जानो । कैसा है समभाव ? जो संसार-समुद्र से तारने के लिये जहाज के समान है ।

यहाँ ऐसा व्याख्यान जानकर राग-द्वेष-मोह को तजकर परमशान्तभावरूप शुद्धात्मा में लीन होना योग्य है ॥१०५॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ जीवानां योऽसौ भेदः स कर्मकृत इति प्रकाशयति—

॥१०६-२२९॥

जीवहँ भेउ जि कम्म-किउ कम्मु वि जीउ ण होइ ।
जेण विभिण्णउ होइ तहँ कालु लहेविणु कोइ ॥

जीवानां भेद एव कर्मकृतः कर्म अपि जीवो न भवति ।
येन विभिन्नः भवति तेभ्यः कालं लब्ध्वा कमपि ॥१०६॥

जीवहँ इत्यादि—*जीवहँ* जीवानां *भेउ जि* भेद एव *कम्मकिउ* निर्भेदशुद्धात्मविलक्षणेन कर्मणा कृतः, *कम्मु वि जीउ ण होइ* ज्ञानावरणादिकर्मैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं जीवस्वरूपं न भवति । कस्मान्न भवतीति चेत् ? *जेण विभिण्णउ होइ तहँ* येन कारणेन विभिन्नो भवति तेभ्यः कर्मेभ्यः । किं कृत्वा ? *कालु लहेविणु कोइ* वीतराग-परमात्मानुभूतिसहकारिकारणभूतं कमपि कालं लब्ध्वेति ।

अयमत्र भावार्थः — टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकशुद्धजीवस्वभावाद्विलक्षणं मनोज्ञामनोज्ञस्त्री-पुरुषादिजीवभेदं दृष्ट्वा रागाद्यपध्यानं न कर्तव्यमिति ॥१०६॥

.....

आगे जीवों में जो भेद हैं, वे सब कर्मजनित हैं, ऐसा प्रगट करते हैं—

नित जीव के सब भेद कर्मज कर्म जीव हुआ नहीं ।
इससे समय पा जीव उनसे भिन्न होता शीघ्र ही ॥१०६॥

दोहार्थ— जीवों के सम्पूर्ण ही भेद कर्मकृत हैं, उनमें कर्म भी जीव नहीं हुआ है; जिससे किसी समय को पाकर जीव उनसे पृथक् हो जाता है ।

टीकार्थ— ***जीवहँ*** जीवों में ***भेउ*** नर-नारकादि भेद ***कम्मकिउ जि*** कर्मों से ही किया गया है, और ***कम्मु वि*** कर्म भी ***जीउ*** जीव ***ण होइ*** नहीं हो सकता । ***जेण*** क्योंकि वह जीव ***कोई*** किसी ***कालु*** समय को ***लहेविणु*** पाकर ***तहँ*** उन कर्मों से ***विभिण्णउ*** पृथक् ***होइ*** हो जाता है ।

कर्म शुद्धात्मा से पृथक् हैं, शुद्धात्मा भेद-कल्पना से रहित है । ये शुभाशुभकर्म जीव के स्वरूप नहीं हैं, जीव का स्वरूप तो निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वभाव है । अनादिकाल से यह जीव अपने स्वरूप को भूल रहा है, इसलिये रागादि अशुद्धोपयोग से कर्म को बाँधता है । कर्म का बन्ध अनादिकाल का है। इस कर्मबन्ध से कोई एक जीव वीतराग परमात्मा की अनुभूति के सहकारी कारणरूप जो सम्यक्त्व की उत्पत्ति का समय, उसको पाकर उन कर्मों से पृथक् हो जाता है । कर्मों से छूटने का यही उपाय है, जब जीव के भवस्थिति समीप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(अल्प) रही हो, तभी सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, और सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, तभी कर्म-कलंक से छूट सकता है ।

तात्पर्य यह है कि टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक शुद्ध स्वभाव से विलक्षण स्त्री-पुरुषादि शरीर के भेदों को देखकर रागादि खोटे ध्यान नहीं करना चाहिये ।।१०६।।

अतः कारणात् शुद्धसंग्रहेण भेदं मा कार्षीरिति निरूपयति—

।।१०७-२३०।।

एक्कु करे मण बिण्णि करि मं करि वण्ण-विसेसु ।
इक्कइँ देवइँ जेँ वसह तिहुयणु एहु असेसु ।।

एकं कुरु मा द्वौ कुरु मा कुरु वर्णविशेषम् ।
एकेन देवेन येन वसति त्रिभुवनं एतद् अशेषम् ।।१०७।।

एक्कु करे इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते— *एक्कु करे* सेनावनादि-वज्जीवजात्यपेक्षया सर्वमेकं कुरु । *मण बिण्णि करि* मा द्वौ कार्षीः । *मं करि वण्णविसेसु* मनुष्यजात्यपेक्षया ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिवर्णभेदं मा कार्षीः, यतः कारणात् *इक्कइँ देवइँ* एकेन देवेन अभेदनयापेक्षया शुद्धैकजीवद्रव्येण *जेँ* येन कारणेन *वसइ* वसति । किं कर्तृ ? *तिहुयणु* त्रिभुवनं त्रिभुवनस्थो जीवराशिः *एहु* एषः प्रत्यक्षीभूतः। कतिसंख्योपेतः ? *असेसु* अशेषं समस्त इति । त्रिभुवनग्रहणेन इह त्रिभुवनस्थो जीवराशिर्गृह्यते इति तात्पर्यम् ।

तथाहि— लोकस्तावदयं सूक्ष्मजीवैर्निरन्तरं भृतस्तिष्ठति । बादरैश्चाधारवशेन क्वचित् क्वचिदेव त्रसैः क्वचिदपि । तथा ते जीवाः शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शक्त्यपेक्षया केवलज्ञानादिगुणरूपास्तेन कारणेन स एव जीवराशिः यद्यपि व्यवहारेण कर्मकृतस्तिष्ठति तथापि निश्चयनयेन शक्तिरूपेण परमब्रह्मस्वरूपमिति भण्यते, परमविष्णुरिति भण्यते, परमशिव इति च । तैनेव कारणेन स एव जीवराशिः केचन परब्रह्ममयं जगद्वदन्ति, केचन परमविष्णुमयं वदन्ति, केचन पुनः परमशिवमयमिति च ।

अत्राह शिष्यः — यद्येवंभूतं जगत्संमतं भवतां तर्हि परेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिः । परिहारमाह—यदि पूर्वोक्तनयविभागेन केवलज्ञानादिगुणापेक्षया वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण मन्यन्ते तदा तेषां दूषणं नास्ति, यदि पुनरेकः पुरुषविशेषो व्यापी जगत्कर्ता ब्रह्मादिनामास्तीति मन्यन्ते तदा तेषां दूषणम् । कस्माद् दूषणमिति चेत् ? प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितत्वात् साधकप्रमाणप्रमेयचिन्ता तर्के विचारिता तिष्ठत्यत्र तु नोच्यते अध्यात्मशास्त्रत्वादित्यभिप्रायः ।।१०७।।

इति षोडशवर्णिकासुवर्णदृष्टान्तेन केवलज्ञानादिलक्षणेन सर्वे जीवाः समाना भवन्तीति व्याख्यानमुख्यतया त्रयोदशसूत्रैरन्तरस्थलं गतम् ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये चतुर्भिरन्तरस्थलैः शुद्धोपयोगवीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिग्रहत्यागसर्वजीवसमानताप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकचत्वारिंशत्सूत्रैर्महास्थलं समाप्तम् ।

आगे ऐसा कहते हैं कि तुम शुद्ध संग्रहनय से जीवों में भेद मत करो—

नित एक करना दो नहीं करना न वर्ण विशेष भी ।
नित सकल जग में देव सम रहते सदा सब जीव भी ।।१०७।।

दोहार्थ— तुम एक करो/सभी जीवों को स्वभाव दृष्टि से देखो, राग-द्वेष—दो मत करो, वर्ण भेद भी मत करो; क्योंकि ये सभी एक देव के समान तीन लोक में रहते हैं ।

टीकार्थ— ***एक्कु करे*** हे आत्मन् तुम जाति की अपेक्षा सब जीवों को एक जानो, ***मण बिण्णि करि*** इसलिये राग और द्वेष मत करो, ***वण्णविसेसु*** मनुष्य जाति की अपेक्षा ब्राह्मणादि वर्ण-भेद को भी ***मं करि*** मत करो, ***जें*** क्योंकि ***इक्कइँ देवइँ*** अभेदनय से शुद्ध आत्मा के समान ***एहु असेसु*** ये सब ***तिहुयणु*** तीन लोक में रहने वाली जीव-राशि ***वसइ*** ठहरी हुई है, अर्थात् जीवपने से सब एक हैं ।

सब जीवों की एक जाति है । जैसे सेना और वन एक हैं, वैसे जाति की अपेक्षा सब जीव एक हैं । नर, नारकादि भेद और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्ण-भेद सब कर्मजनित हैं, अभेदनय से सब जीवों को एक जानो । अनंत जीवों से यह लोक भरा हुआ है ।

उस जीव राशि में भेद ऐसे हैं—पृथ्वीकायसूक्ष्म, जलकायसूक्ष्म, अग्निकायसूक्ष्म, वायुकायसूक्ष्म, नित्यनिगोदसूक्ष्म, इतरनिगोदसूक्ष्म—इन छह प्रकार के सूक्ष्म जीवों से तो यह लोक निरन्तर भरा हुआ है, सब जगह इस लोक में सूक्ष्म जीव हैं। और पृथ्वीकायबादर, जलकायबादर, अग्निकायबादर, वायुकायबादर, नित्यनिगोदबादर, इतरनिगोदबादर, और प्रत्येकवनस्पति—ये जहाँ आधार है, वहाँ हैं । सो कहीं पाये जाते हैं, कहीं नहीं पाये जाते, परन्तु ये भी बहुत जगह हैं । इसप्रकार स्थावर तो तीनों लोक में पाये जाते हैं ।

दोइन्द्रिय, तीनेन्द्रिय, चारेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच ये मध्यलोक में ही पाये जाते हैं, अधोलोक-ऊर्ध्वलोक में नहीं । उसमें से दोइन्द्रिय, तीनेन्द्रिय, चारेन्द्रिय, जीव कर्मभूमि में ही पाये जाते हैं, भोगभूमि में नहीं । भोगभूमि में गर्भज पंचेंद्रिय सैनी थलचर या नभचर ये दोनों जाति-तिर्यंच हैं । मनुष्य मध्यलोक में ढाई द्वीप में पाये जाते हैं, अन्य जगह नहीं । देवलोक में स्वर्गवासी देव-देवी पाये जाते हैं, अन्य पंचेन्द्रिय

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नहीं । पाताललोक में ऊपर के भाग में भवनवासी देव तथा व्यंतरदेव और नीचे के भाग में सात नरकों के नारकी पंचेन्द्रिय हैं, अन्य कोई नहीं; और मध्यलोक में भवनवासी, व्यंतरदेव तथा ज्योतिषीदेव ये तीन जाति के देव और तिर्यंच पाये जाते हैं;—इसप्रकार त्रसजीव किसी जगह हैं, किसी जगह नहीं हैं। इसप्रकार यह लोक जीवों से भरा हुआ है । सूक्ष्मस्थावर से तो लोक का कोई भाग खाली नहीं है, सब जगह सूक्ष्मस्थावर भरे हुए हैं ।

ये सभी जीव शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से शक्ति की अपेक्षा केवलज्ञानादि गुणरूप हैं । इसलिये यद्यपि यह जीव-राशि व्यवहारनय से कर्माधीन है, तो भी निश्चयनय से शक्तिरूप परमब्रह्मस्वरूप है। इन जीवों को ही परमविष्णु कहते हैं, परमशिव कहते हैं । यही अभिप्राय लेकर कोई एक ब्रह्ममयी जगत कहते हैं, कोई एक विष्णुमयी कहते हैं, कोई एक शिवमयी कहते हैं ।

यहाँ पर शिष्य ने प्रश्न किया कि आप भी जीवों को परब्रह्म मानते हैं, तथा परमविष्णु, परमशिव मानते हैं, तो अन्यमतवालों को क्यों दूषण देते हैं? उसका समाधान—हम तो पूर्वोक्त नयविभाग से केवलज्ञानादि गुण की अपेक्षा वीतराग-सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से जीवों को ऐसा मानते हैं, इसलिए दूषण नहीं है । इसप्रकार वे नहीं मानते हैं; वे एक कोई पुरुष जगत का कर्ता-हर्ता मानते हैं; इसलिये उनको दूषण दिया जाता है, क्योंकि यदि कोई एक शुद्ध-बुद्ध-नित्य मुक्त है, तो उस शुद्ध-बुद्ध को कर्ता-हर्तापना हो ही नहीं सकता । इच्छा है वह मोह की प्रकृति है, भगवान मोह से रहित हैं, इसलिये कर्ता-हर्ता नहीं हो सकते । कर्ता-हर्ता मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है । हम तो जीव-राशि को परमब्रह्म मानते हैं, उसी जीवराशि से लोक भरा हुआ है । अन्यमती ऐसा मानते हैं कि एक ही ब्रह्म अनंतरूप हो रहा है । यदि वही एक सबरूप हो रहा हो, तो नरक-निगोद स्थान को कौन भोगे ? इसलिये जीव अनंत हैं । इन जीवों को ही परमब्रह्म, परमशिव कहते हैं;— ऐसा तुम निश्चय से जानो ।।१०७।।

इसप्रकार सोलहवानी सोने के दृष्टान्त द्वारा केवलज्ञानादि लक्षण से सब जीव समान हैं, इस व्याख्यान की मुख्यता से तेरह दोहा-सूत्र कहे ।

इसप्रकार मोक्ष, मोक्षफल और मोक्षमार्ग आदि इन तीनों को कहनेवाले दूसरे महाधिकार में चार अन्तरस्थलों द्वारा इकतालीस दोहों का महास्थल समाप्त हुआ। इसमें शुद्धोपयोग, वीतरागस्वसंवेदनज्ञान, परिग्रह-त्याग और सब जीव समान हैं, ये कथन किया।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चूलिका-व्याख्यानम्

अत ऊर्ध्वं *'परु जाणंतु वि'* इत्यादि सप्ताधिकशतसूत्रपर्यन्ते स्थलसंख्याबहिर्भूतान् प्रक्षेपकान् विहाय चूलिकाव्याख्यानं करोति इति—

॥१०८-२३१॥

परु जाणंतु वि परम-मुणि पर-संसग्गु चयंति ।
पर-संगइँ परमप्पयहँ लक्खहँ जेण चलंति ॥

परं जानन्तोऽपि परममुनयः परसंसर्गं त्यजन्ति ।
परसंगेन परमात्मनः लक्ष्यस्य येन चलन्ति ॥१०८॥

परु जाणंतु वि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते— *परु जाणंतु वि* परद्रव्यं जानन्तोऽपि । के ते ? *परममुणि* वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरताः परममुनयः । किं कुर्वन्ति ? *परसंसग्गु चयंति* परसंसर्गं त्यजन्ति निश्चयेनाभ्यन्तरे रागादिभावकर्मज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्मशरीरादिनोकर्म च बहिर्विषये मिथ्यात्वरागादिपरिणतासंवृतनोऽपि परद्रव्यं भण्यते। तत्संसर्गं परिहरन्ति । यतः कारणात् *परसंसग्गइँ* (?) पूर्वोक्तबाह्याभ्यन्तरपरद्रव्यसंसर्गेण *परमप्पयहँ* वीतरागनित्यानन्दैकस्वभावपरमसमरसीभावपरिणतपरमात्मतत्त्वस्य । कथंभूतस्य? *लक्खहँ* लक्ष्यस्य ध्येयभूतस्य धनुर्विद्याभ्यासप्रस्तावे लक्ष्यरूपस्यैव *जेण चलंति* येन कारणेन चलन्ति त्रिगुप्तिसमाधेः सकाशात् च्युता भवन्तीति ।

अत्र परमध्यानविघातकत्वान्मिथ्यात्वरागादिपरिणामस्तत्परिणतः पुरुषरूपो वा पर-संसर्गस्त्यजनीय इति भावार्थः ॥१०८॥

.....

आगे ***'पर जाणंतु वि'*** इत्यादि एक सौ सात दोहा पर्यंत तीसरा महाधिकार कहते हैं, उसी में ग्रंथ समाप्त करते हैं—

पर जानते ही परममुनि संसर्ग पर छोडें सदा ।
पर संग से परमातमा का ध्यान विचलित हो सदा ॥१०८॥

दोहार्थ— परममुनि पर जानते हुए ही पर का संसर्ग छोड़ देते हैं, क्योंकि संसर्ग से लक्ष्यभूत परमात्मा का ध्यान विचलित हो जाता है।

टीकार्थ— ***परममुणि*** परममुनि ***परु जाणंतु वि*** उत्कृष्ट आत्मद्रव्य को जानते हुए भी ***परसंसग्गु*** परद्रव्य जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म उसके सम्बन्ध को ***चयंति*** छोड़ देते हैं । ***जेण*** क्योंकि ***परसंगइँ*** परद्रव्य के सम्बन्ध से ***लक्खहँ*** ध्यान करने योग्य जो ***परमप्पयहँ*** परमपद, उससे ***चलंति*** चलायमान हो जाते हैं।

शुद्धोपयोगी मुनि वीतराग स्वसंवेदनज्ञान में लीन हुए परद्रव्यों के साथ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्बंध छोड़ देते हैं । अंदर के विकार रागादि भावकर्म और बाहर के शरीरादि ये सब परद्रव्य कहे जाते हैं । वे मुनिराज एक आत्मभाव के सिवाय सब परद्रव्य का संसर्ग छोड़ देते हैं । तथा रागी, द्वेषी, मिथ्यात्वी, असंयमी जीवों का सम्बंध छोड़ देते हैं । इनके संसर्ग से परमपद जो वीतराग नित्यानंद एक अमूर्तस्वभाव परमसमरसीभावरूप परमात्मतत्त्व ध्यान-योग्य है, उससे चलायमान हो जाते हैं, अर्थात् तीन गुप्तिरूप परमसमाधि से रहित हो जाते हैं ।

यहाँ पर परमध्यान के घातक मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध परिणाम तथा रागी-द्वेषी पुरुषों का संसर्ग सर्वथा त्याग करना चाहिये, यह सारांश है ॥१०८॥

अथ तमेव परद्रव्यसंसर्गत्यागं कथयति—

॥१०९-२३२॥

जो सम-भावहँ बाहिरउ तिं सहुं मं करि संगु ।
चिंता-सायरि पडहि पर अण्णु वि डज्झइ अंगु ॥

यः समभावाद् बाह्यः तेन सह मा कुरु संगम् ।
चिंतासागरे पतसि परं अन्यदपि दह्यते अङ्गः ॥१०९॥

जो इत्यादि— ***जो*** यः कोऽपि ***समभावहँ बाहिरउ*** जीवितमरणलाभालाभादिसमभावानुकूलविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपसमभावबाह्यः । ***तिं सहुं मं करि संगु*** तेन सह संसर्गं मा कुरु हे आत्मन् । यतः किम् ? ***चिंतासायरि पडहि*** रागद्वेषादिकल्लोलरूपे चिन्तासमुद्रे पतसि । ***पर*** परं नियमेन । ***अण्णु वि*** अन्यदपि दूषणं भवति । किम् ? ***डज्झइ*** दह्यते व्याकुलं भवति । किं दह्यते ? ***अंगु*** शरीरं इति ।

अयमत्र भावार्थः — वीतरागनिर्विकल्पसमाधिभावनाप्रतिपक्षभूतरागादिस्वकीयपरिणाम एव निश्चयेन पर इत्युच्यते । व्यवहारेण तु मिथ्यात्वरागादिपरिणतपुरुषः सोऽपि कथंचित्, नियमो नास्तीति ॥१०९॥

आगे उन्हीं परद्रव्यों के संबंध को छोड़ने का कथन करते हैं—

समभाव से जो बाह्य उनका संग ना करना कभी ।
वे गिराते चिंतोदधि में जलाते नित तनु भी ॥१०९॥

दोहार्थ— जो समभाव से बाह्य हैं, उनके साथ संसर्ग मत करो, उनका संसर्ग तुम्हें चिंतारूपी समुद्र में गिराएगा, इसके अतिरिक्त शरीर भी दाह को प्राप्त होगा ।

टीकार्थ— ***जो*** जो कोई ***समभावहँ*** समभाव अर्थात् निजभाव से ***बाहिरउ*** बाह्य पदार्थ हैं, ***तिं सहुं*** उनके साथ ***संगु*** संग ***म करि*** मत करो । क्योंकि उनके

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साथ संग करने से ***चिंतासायरि*** चिंतारूपी समुद्र में ***पडहि*** पड़ोगे, ***पर*** केवल ***अण्णु वि*** और भी ***अंगु*** शरीर ***डज्झइ*** दाह को प्राप्त होगा, अर्थात् अंदर से जलता रहेगा ।

जीवित, मरण, लाभ, अलाभादि में तुल्यभाव, उसके संमुख जो निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वभाव परमात्मद्रव्य, उसका सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप निजभाव, उसरूप समभाव से पृथक् जो कोई पदार्थ हैं, उनका संग छोड़ दो; क्योंकि उनके संग से चिंतारूपी समुद्र में गिर पड़ोगे । जो समुद्र राग-द्वेषरूपी कल्लोलों से व्याकुल है । उनके संग से मन में चिंता उत्पन्न होगी, और शरीर में दाह होगा।

यहाँ तात्पर्य यह है कि वीतराग निर्विकल्प परमसमाधि की भावना से विपरीत जो रागादि स्वकीय अशुद्ध परिणाम, वे ही परद्रव्य कहे जाते हैं, और व्यवहारनय से मिथ्यात्वी, रागी-द्वेषी पुरुष पर कहे गये हैं । इन सबकी संगति सर्वदा दु:ख देने वाली है, किसी प्रकार सुखदायी नहीं है, ऐसा निश्चय है ॥१०९॥

अथैतदेव परसंसर्गदूषणं दृष्टान्तेन समर्थयति—

॥११०-२३३॥

भल्लाहँ वि णासंति गुण जहँ संसग्गु खलेहिं ।
वइसाणरु लोहहँ मिलिउ तँ पिट्टियइ घणेहिं ॥

भद्राणामपि नश्यन्ति गुणाः येषां संसर्गं खलैः ।
वैश्वानरो लोहेन मिलितः तेन पिट्टयते घनैः ॥११०॥

भल्लाहँ वि इत्यादि— ***भल्लाहँ वि*** भद्राणामपि स्वस्वभावसहितानामपि ***णासन्ति गुण*** नश्यन्ति परमात्मोपलब्धिलक्षणगुणाः । येषां किम् ? ***जहँ संसग्गु*** येषां संसर्गः। कैः सह ? ***खलेहिँ*** परमात्मपदार्थप्रतिपक्षभूतैर्निश्चयनयेन स्वकीयबुद्धिदोषरूपैः रागद्वेषादि-परिणामैः खलैर्दुष्टैर्व्यवहारेण तु मिथ्यात्वरागादिपरिणतपुरुषैः । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह— ***वइसाणरु लोहहँ मिलिउ*** वैश्नानरो लोहमिलितः । ***तँ*** तेन कारणेन ***पिट्टियइ घणेहिँ*** पिट्टनक्रियां लभते । कैः ? घनैरिति ।

अत्रानाकुलत्वसौख्यविघातको येन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धाद्यपध्यान-परिणाम एव परसंसर्गस्त्याज्यः । व्यवहारेण तु परपरिणतपुरुष इत्यभिप्रायः ॥११०॥

आगे परद्रव्य का संसर्ग महान दु:खरूप है, यह कथन दृष्टांत से दृढ़ करते हैं—

हों भलों के भी नष्ट सब गुण खलों के संसर्ग से ।
नित लोह के संसर्ग से ज्यों आग पिटती घनों से ॥११०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— दुष्टों के साथ जिनका संसर्ग है, उन भद्रों/विवेकियों के भी गुण नष्ट हो जाते हैं; जैसे लोहे से मिल जाने पर अग्नि भी घनों से पीटी जाती है ।

टीकार्थ— ***खलेहिँ*** दुष्टों के साथ ***जहँ*** जिनका ***संसग्गु*** संबंध है, ***भल्लाहँ वि*** उससे उन विवेकी जीवों के भी ***गुण*** सत्य-शीलादि गुण ***णासंति*** नष्ट हो जाते हैं; ***वइसाणरु*** जैसे आग ***लोहहँ*** लोहे से ***मिलिउ*** मिल जाती है, ***तँ*** तभी ***घणेहिँ*** घनों से ***पिट्टियइ*** पीटी-कूटी जाती है ।

विवेकी जीवों के शीलादि गुण मिथ्यादृष्टि रागी-द्वेषी अविवेकी जीवों की संगति से नष्ट हो जाते हैं । अथवा आत्मा के निजगुण मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध भावों के संबंध से मलिन हो जाते हैं । जैसे अग्नि लोहे के संग में पीटी-कूटी जाती है । यद्यपि आग को घन कूट नहीं सकता, परंतु लोहे की संगति से अग्नि भी कूटने में आती है; उसीप्रकार दोषों के संग से गुण भी मलिन हो जाते हैं।

यह कथन जानकर आकुलता रहित सुख के घातक देखे-सुने-अनुभव किये भोगों की वांछारूप निदानबंध आदि खोटे परिणामरूपी दुष्टों की संगति नहीं करना; अथवा अनेक दोषों से सहित रागी-द्वेषी जीवों की भी संगति कभी नहीं करना, यह तात्पर्य है ॥११०॥

अथ मोहपरित्यागं दर्शयति—

॥१११-२३४॥

जोइय मोहु परिच्चयहि मोहु ण भल्लउ होइ ।
मोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥

योगिन् मोहं परित्यज मोहो न भद्रो भवति ।
मोहासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥१११॥

जोइय इत्यादि— ***जोइय*** हे योगिन् ***मोहु परिच्चयहि*** निर्मोहपरमात्मस्वरूपभावना-प्रतिपक्षभूतं मोहं त्यज । कस्मात् ? ***मोहु ण भल्लइ होइ*** मोहो भद्रः समीचीनो न भवति । तदपि कस्मात् ? ***मोहासत्तउ सयलु जगु*** मोहासक्तं समस्तं जगत् निर्मोह-शुद्धात्मभावनारहितं ***दुक्खु सहंतउ जोइ*** अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविलक्षण-माकुलत्वोत्पादकं दुःखं सहमानं पश्येति ।

अत्रास्तां तावद्बहिरङ्गपुत्रकलत्रादौ पूर्वं परित्यक्ते पुनर्वासनावशेन स्मरणरूपो मोहो न कर्तव्यः । शुद्धात्मभावनास्वरूपं तपश्चरणं तत्साधकभूतशरीरं तस्यापि स्थित्यर्थमशन-पानादिकं यद्गृह्यमाणं तत्रापि मोहो न कर्तव्य इति भावार्थः ॥१११॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे मोह का त्याग करना दिखलाते हैं—

हे योगि ! मोह कदापि अच्छा नहीं इससे छोड़ दो ।
हैं मोह से आसक्त सब जग दुःख सहते देख लो ॥१११॥

दोहार्थ— हे योगी ! मोह कभी भी अच्छा नहीं होता, अतः तुम मोह छोड़ दो । मोह से आसक्त सम्पूर्ण जगत को दुःख सहते हुए ही देखो ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी ! तुम ***मोहु*** मोह को ***परिच्चयहि*** पूर्णतया छोड़ दो, क्योंकि ***मोहु*** मोह ***भल्लइ ण होइ*** अच्छा नहीं होता है, ***मोहासत्तउ*** मोह से आसक्त ***सयलु जगु*** सब जगत-जीवों को ***दुक्खु सहंतउ*** क्लेश भोगते हुए ***जोइ*** देखो ।

जो आकुलता रहित है, वह सुख है; जो आकुलता सहित है, वह दुःख है, उस दुःख का मूल मोह है । मोही जीवों को दुःख सहित देखो । वह मोह परमात्मस्वरूप की भावना का प्रतिपक्षी दर्शनमोह-चारित्रमोहरूप है । इसलिये तुम उसको छोड़ो । पुत्र, स्त्री आदिक में तो मोह की बात दूर ही रहे, यह तो प्रत्यक्ष त्यागने योग्य ही है; और विषय-वासना के वश देह आदि परवस्तुओं का रागरूप मोह-जाल है, वह भी सर्वथा त्यागना चाहिये । अंतर-बाह्य मोह का त्यागकर सम्यक् स्वभाव अंगीकार करना। शुद्धात्मा की भावनारूप तपश्चरण के साधक शरीर की स्थिति के लिये अन्न-जलादिक लिये जाते हैं, तो भी विशेष राग न करना, राग रहित नीरस आहार लेना चाहिये ॥१११॥

अथ स्थलसंख्याबहिर्भूतमाहारमोहविषयनिराकरणसमर्थनार्थं प्रक्षेपकत्रयमाह; तद्यथा—

काऊण णग्गरूवं बीभस्सं दड्ढ-मडय-सारिच्छं ।
अहिलससि किं ण लज्जसि भिक्खाए भोयणं मिट्ठं ॥२-५॥

कृत्वा नग्नरूपं बीभत्सं दग्धमृतकसदृशम् ।
अभिलषसि किं न लज्जसे भिक्षायां भोजनं मिष्टम् ॥२॥

काऊण इत्यादि—***काऊण*** कृत्वा । किम् ? ***णग्गरूवं*** नग्नरूपं निर्ग्रन्थं जिनरूपम्। कथंभूतम् ? ***बीभत्थं*** (च्छं ?) भयानकम् । पुनरपि कथंभूतम् ? ***दड्ढमडयसारिच्छं*** दग्धमृतकसदृशम् । एवंविधं रूपं धृत्वा हे तपोधन ***अहिलससि*** अभिलाषं करोषि ***किं ण लज्जसि*** लज्जां किं न करोषि । किं कुर्वाणः सन् ? ***भिक्खाए भोयणं मिट्ठं*** भिक्षायां भोजनं मृष्टं इति मन्यमानः सन्निति ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्रावकेण तावदाहाराभयभैषज्यशास्त्रदानं तात्पर्येण दातव्यम् । आहारदानं येन दत्तं तेन शुद्धात्मानुभूतिसाधकं बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं द्वादशविधं तपश्चरणं दत्तं भवति। शुद्धात्मभावनालक्षणसंयमसाधकस्य देहस्यापि स्थितिः कृता भवति । शुद्धात्मोपलंभप्राप्तिरूपा भवान्तरगतिरपि दत्ता भवति । यद्यप्येवमादिगुणविशिष्टं चतुर्विधदानं श्रावकाः प्रयच्छन्ति तथापि निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकतपोधनेन बहिरङ्गसाधनीभूतमाहारादिकं किमपि गृह्णतापि स्वस्वभावप्रतिपक्षभूतो मोहो न कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥२॥

आगे स्थलसंख्या के सिवाय जो तीन प्रक्षेपक दोहे हैं, उनके द्वारा आहार का मोह निवारण करते हैं, वह इसप्रकार—

कर नग्नता जो भयानक है दग्धमृतक समान ही ।
पर चाहता रस मधुर भोजन लाज क्यों आती नहीं ? ॥२॥

दोहार्थ— वीभत्स दग्ध मृतक समान नग्नरूप धारण करके भिक्षा में मिष्ट भोजन की अभिलाषा करते हुए तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती है ?

टीकार्थ— ***बीभस्सं*** भयानक, देह के मैल से युक्त, ***दड्ढमडयसारिच्छं*** जले हुए मुरदे के समान रूपरहित, ***णग्गरूवं*** वस्त्र रहित नग्नरूप को ***काऊण*** धारण करके हे साधु, तुम ***भिक्खाए*** पर के घर भिक्षा को घूमते हुए उस भिक्षा में ***मिट्ठं भोयणं*** स्वादयुक्त आहार की ***अहिलससि*** इच्छा करते हो, तो तुम ***किं ण लज्जसि*** क्यों नहीं शरमाते हो ? यह बड़ा आश्चर्य है ।

पराये घर भिक्षा को जाते मिष्ट आहार की इच्छा धारण करते हो, इसकी तुम्हें लाज नहीं आती ? इसलिये आहार का राग छोड़ो। अल्प और नीरस आहार, उत्तम कुलीन श्रावक के घर साधु को लेना योग्य है । मुनि को राग-भाव रहित आहार लेना चाहिये । स्वादिष्ट सुंदर आहार का राग करना योग्य नहीं है । और श्रावक को भी यही उचित है कि भक्ति-भाव से मुनि को निर्दोष आहार देवें, जिसमें अभक्ष्य का दोष न लगे; और आहार के समय ही आहार में मिली हुई निर्दोष औषधि दे, शास्त्रदान करे, मुनियों का भय दूर करे, उपसर्ग निवारण करे — यही गृहस्थ को योग्य है ।

जिस गृहस्थ ने यती को आहार दिया, उसने तपश्चरण दिया; क्योंकि संयम का साधन शरीर है, और शरीर की स्थिति अन्न-जल से है । आहार के ग्रहण करने से तपस्या की वृद्धि होती है । इसलिये आहार का दान तप का दान है। यह तप-संयम शुद्धात्मा की भावनारूप है, और यह अंतर-बाह्य बारह प्रकार का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तप शुद्धात्मा की अनुभूति का साधक है । तप-संयम का साधन दिगम्बर का शरीर है । इसलिये आहार देने वाले ने यती के देह की रक्षा की, आहार देने वाले ने शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष दिया; क्योंकि मोक्ष का साधन मुनिव्रत है, और मुनिव्रत का साधन शरीर है, तथा शरीर का साधन आहार है । इसप्रकार अनेक गुणों को उत्पन्न करने वाला आहारादि चार प्रकार का दान श्रावक भक्ति से देता है, तो भी निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय के आराधक योगीश्वर महातपोधन आहार को ग्रहण करते हुए भी राग नहीं करते हैं । राग-द्वेष-मोहादि परिणाम निजभाव के शत्रु हैं, यह सारांश हुआ ॥२॥

अथ—

जइ इच्छसि भो साहू बारह-विह-तवहलं महा-विउलं ।
तो मण-वयणे काए भोयण-गिद्धी विवज्जेसु ॥३-६॥

यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलं महद्विपुलम् ।
ततः मनोवचनयोः काये भोजनगृद्धिं विवर्जयस्व ॥३॥

जइ इच्छसि **यदि इच्छसि भो साधो द्वादशविधतपःफलम् । कथंभूतम् ? महद्विपुलं स्वर्गापवर्गरूपं ततः कारणात् वीतरागनिजानन्दैकसुखरसास्वादानुभवेन तृप्तो भूत्वा मनोवचनकायेषु भोजनगृद्धिं वर्जय इति तात्पर्यम् ॥३॥**

आगे फिर से भोजन की लालसा का त्याग कराते हैं—

हे साधु ! चाहो यदि बारहविध तपों का विपुल फल ।
तो मन वचन व काय से आहार-गृद्धि छोड़ अब ॥३॥

दोहार्थ— हे साधु ! यदि बारह प्रकार के तपों का विपुल फल चाहते हो तो मन, वचन, कायपूर्वक भोजन सम्बन्धी आसक्ति छोड़ दो।

टीकार्थ— ***भो साहू*** हे योगी, ***जइ*** यदि तुम ***बारहविहतवहलं*** बारह प्रकार तप का फल ***महाविउलं*** बड़ा भारी स्वर्ग-मोक्ष ***इच्छसि*** चाहते हो, ***तो*** तो वीतराग निजानंद एक सुखरस का आस्वाद, उसके अनुभव से तृप्त हुआ ***मणवयणे*** मन, वचन और ***काए*** काय से ***भोयणगिद्धी*** भोजन की लोलुपता का ***विवज्जेसु*** त्याग कर दो । —यह सारांश है ॥३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जे सरसिं संतुट्ठ-मण विरसि कसाउ वहंति ।
ते मुणि भोयण-घार गणि णवि परमत्थु मुणंति ।।४-७।।

ये सरसेन संतुष्टमनसः विरसे कषायं वहन्ति ।
ते मुनयः भोजनगृद्धाः गणय नैव परमार्थं मन्यन्ते ।।४।।

जे इत्यादि— *जे सरसिं संतुट्ठमण* ये केचन सरसेन सरसाहारेण संतुष्टमनसः *विरसि कसाउ वहंति* विरसे विरसाहारे सति कषायं वहन्ति कुर्वन्ति ते ते पूर्वोक्ताः *मुणि* मुनयस्तपोधनाः *भोयणघार गणि* भोजनविषये गृद्धसदृशान् गणय मन्यस्व जानीहि। इत्थंभूताः सन्तः *णवि परमत्थु मुणंति* नैव परमार्थं मन्यन्ते जानन्तीति ।

अयमत्र भावार्थः — गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वकेण परंपरया मोक्षं लभन्ते । कस्मात् स एव परमो धर्म इति चेत् ? निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति । शुद्धोपयोगपरमधर्मरतैस्तपोधनैस्त्वन्नपानादिविषये मानापमानसमतां कृत्वा यथालाभेन संतोषः कर्तव्य इति ।।४।।

.....

और भी कहा है—

जो सरस में संतुष्ट मन करते कषायें विरस में ।
ना मानते परमार्थ वे भोजन में गृद्ध समान हैं ।।४-७।।

दोहार्थ— जो स्वादिष्ट सरस आहार से मन को संतुष्ट और नीरस आहार में कषायें करते हैं; वे मुनि भोजन में गीध के समान समझे जाते हैं । वे परमार्थ को नहीं मानते हैं ।

टीकार्थ—*जे* जो योगी ***सरसिं*** स्वादिष्ट आहार से ***संतुट्ठमण*** हर्षित होते हैं, और ***विरसि*** नीरस आहार में ***कसाउ*** क्रोधादि कषाय ***वहंति*** करते हैं, ***ते मुणि*** वे मुनि ***भोयणघार*** भोजन के विषय में गृद्धपक्षी के समान हैं, ऐसा तुम ***गणि*** समझो । वे ***परमत्थु*** परमतत्त्व को ***णवि मुणंति*** नहीं समझते हैं ।

जो कोई वीतराग के मार्ग से विमुख हुए योगी रस सहित स्वादिष्ट आहार से खुश होते हैं, कभी किसी के घर छह रसयुक्त आहार मिलने से मन में हर्षित होते हैं, आहार देने वाले से प्रसन्न होते हैं; यदि किसी के घर रस रहित भोजन मिला तो कषाय करते हैं, उस गृहस्थ को बुरा समझते हैं, वे तपोधन नहीं हैं, भोजन के लोलुपी हैं, गृद्धपक्षी के समान हैं; ऐसे लोलुपी यती देह में अनुरागी होते हैं, परमात्म-पदार्थ को नहीं जानते । गृहस्थों को तो दानादिक ही बड़े धर्म

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं । यदि सम्यक्त्व सहित दानादि करें तो परम्परा से मोक्ष पाते हैं । क्योंकि श्रावक का दानादिक ही परमधर्म है । वह इसप्रकार—

ये गृहस्थ-लोग हमेशा विषय-कषाय के आधीन हैं, इससे इनके आर्त-रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण निश्चय रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो इनके अवकाश नहीं है, अर्थात् गृहस्थों के शुभोपयोग की ही मुख्यता है । और शुद्धोपयोगी मुनि इनके घर आहार लेवें, तो इसके समान अन्य क्या? श्रावक का तो यही बड़ा धर्म है कि यती, अर्जिका, श्रावक, श्राविका इन सबको विनयपूर्वक आहार दे । और यती का यही धर्म है कि अन्न-जलादि में राग न करे और मान-अपमान में समताभाव रक्खे । गृहस्थ के घर निर्दोष आहारादिक जैसा मिले वैसा लेवें; चाहे चावल मिले, चाहे अन्य कुछ मिले, जो मिले उसमें हर्ष-विषाद न करे । दूध, दही, घी, मिष्ठान्न—इनमें इच्छा न करे । यही जिनमार्ग में यती की रीति है ॥४॥

अथ शुद्धात्मोपलम्भाभावे सति पञ्चेन्द्रियविषयासक्तजीवानां विनाशं दर्शयति—

॥११२-२३५॥

रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहि णासंति ।
अलिउल गंधइँ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ॥

रूपे पतङ्गाः शब्दे मृगाः गजाः स्पर्शैः नश्यन्ति ।
अलिकुलानि गन्धेन मत्स्याः रसे किं अनुरागं कुर्वन्ति ॥११२॥

रूवि इत्यादि— रूपे समासक्ताः पतङ्गाः शब्दे मृगा गजाः स्पर्शैः गन्धेनालिकुलानि मत्स्या रसासक्ता नश्यन्ति यतः कारणात् ततः कारणात्कथं तेषु विषयेष्वनुरागं कुर्वन्तीति ।

तथाहि— पञ्चेन्द्रियविषयाकांक्षाप्रभृतिसमस्तापध्यानविकल्पै रहितः शून्यः स्पर्शनादीन्द्रियकषायातीतनिर्दोषिपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन पूर्णकलशवद्भरितावस्थः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकः शुद्धोपयोगस्वभावो योऽसावेवंभूतः कारणसमयसारः तद्भावनारहिता जीवाः पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषवशीकृता नश्यन्तीति ज्ञात्वा कथं तत्रासक्तिं गच्छन्ति ते विवेकिन इति ।

अत्र पतङ्गादय एकैकविषयासक्ता नष्टाः, ये तु पञ्चेन्द्रियविषयमोहितास्ते विशेषेण नश्यन्तीति भावार्थः ॥११२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे शुद्धात्मा की प्राप्ति के अभाव में जो विषयी जीव पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हैं, उनका अकाज (विनाश) होता है, ऐसा दिखलाते हैं—

आसक्त गज स्पर्श रस से मीन गंध भ्रमर सदा ।
मृग शब्द रंग से पतंगे हा नष्ट तब अनुराग क्या?॥११२॥

दोहार्थ— हाथी स्पर्श, मत्स्य रस, भ्रमर गंध, पतंगा रूप और मृग शब्द मयी विषयों में आसक्त होने से नष्ट हो जाते हैं—ऐसा जानकर क्या विवेकी इनमें अनुराग करते हैं ? नहीं ।

टीकार्थ— ***रूवि*** रूप में लीन हुए ***पयंगा*** पतंगे दीपक में जलकर मर जाते हैं, ***सद्दि*** शब्द विषय में लीन ***मय*** हिरण व्याध के बाणों से मारे जाते हैं, ***गय*** हाथी ***फासहि*** स्पर्श विषय के कारण गड्ढे में पड़कर बाँधे जाते हैं, ***गंधइँ*** सुगन्ध की लोलुपता से ***अलिउल*** भौंरे काँटों में या कमल में दबकर प्राण छोड़ देते हैं और ***रसि*** रस के लोभी ***मच्छ*** मच्छ ***णासंति*** धीवर के जाल में पड़कर मारे जाते हैं । एक-एक विषय-कषाय में आसक्त हुए जीव नाश को प्राप्त होते हैं, तो पंचेन्द्रिय का कहना ही क्या है ? ऐसा जानकर विवेकी जीव विषयों में ***किं*** क्या ***अणुराउ*** प्रीति ***करंति*** करते हैं ? कभी नहीं करते ।

पंचेन्द्रिय के विषयों की इच्छा आदि जो सब खोटे ध्यान, वे ही हुए विकल्प, उनसे रहित, विषय-कषाय रहित जो निर्दोष परमात्मा, उसके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप जो निर्विकल्प समाधि, उससे उत्पन्न वीतराग परम आह्लाद एकरूप सुख-अमृत, उस रस के स्वाद से पूर्ण कलश के समान भरा हुआ जो केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार, उसको उत्पन्न करने वाला जो शुद्धोपयोगरूप कारण समयसार, उसकी भावना से रहित संसारीजीव विषयों के अनुरागी पाँच इन्द्रियों के लोलुपी भव-भव में नाश पाते हैं—ऐसा जानकर इन विषयों में विवेकी कैसे राग को प्राप्त होवें ? कभी विषयाभिलाषी नहीं होते ।

पतंगादिक एक-एक विषय में लीन हुए नष्ट हो जाते हैं, लेकिन जो पाँच इन्द्रियों के विषयों में मोहित हैं, वे वीतराग चिदानन्दस्वभाव परमात्मतत्त्व का सेवन न करते हुए, उसे न जानते हुए और उसकी भावना न भाते हुए अज्ञानी जीव मिथ्या मार्ग की वांछा करते हुए, कुमार्ग की रुचि रखते हुए, नरकादि गति में घानी में पिलना, करोंत से विदरना और शूली पर चढ़ना इत्यादि अनेक दु:खों को देहादिक की प्रीति से भोगते हैं । ये अज्ञानी जीव वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधि से पराङ्मुख हैं, जिनके चित्त चंचल हैं, कभी निश्चल चित्त से निजरूप को नहीं ध्याते हैं; और जो पुरुष स्नेह से रहित हैं, वीतरागनिर्विकल्प समाधि में लीन हैं, वे ही लीलामात्र में संसार को तैर जाते हैं ॥११२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ लोभकषायदोषं दर्शयति—

॥११३-२३६॥

जोइय लोहु परिच्चयहि लोहु ण भल्लउ होइ ।
लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥

योगिन् लोभं परित्यज लोभो न भद्रः भवति ।
लोभासक्तं सकलं जगत् दुःखं सहमानं पश्य ॥११३॥

हे योगिन् लोभं परित्यज । कस्मात् ? लोभो भद्रः समीचीनो न भवति । लोभासक्तं समस्तं जगद् दुःखं सहमानं पश्येति । तथाहि—लोभकषायविपरीतात् परमात्मस्वभावाद्विपरीतं लोभं त्यज हे प्रभाकरभट्ट ! यतः कारणात् निर्लोभपरमात्मभावना-रहिता जीवा दुःखमुपभुञ्जानास्तिष्ठन्तीति तात्पर्यम् ॥११३॥

आगे लोभकषाय का दोष कहते हैं—

हे योगि! छोड़ो लोभ लोभ भला कभी होता नहीं ।
सब लोभ में आसक्त जग जन सदा सहते दुःख ही ॥११३॥

दोहार्थ— हे योगी ! लोभ को छोड़ो; लोभ कभी भी अच्छा नहीं होता है । लोभ में आसक्त सम्पूर्ण जगत को दुःख सहते हुए देखो ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी, तुम ***लोहु*** लोभ को ***परिच्चयहि*** छोड़ो, ***लोहु*** यह लोभ ***भल्लइ ण होइ*** अच्छा नहीं है, क्योंकि ***लोहासत्तउ*** लोभ में फँसे हुए ***सयलु जगु*** सम्पूर्ण जगत को ***दुक्खु सहंतउ*** दुःख सहते हुए ***जोइ*** देखलो।

लोभकषाय से रहित जो परमात्मस्वभाव, उससे विपरीत जो इसभव-परभव का लोभ, धन-धान्यादि का लोभ, उसे तुम छोड़ो; क्योंकि लोभी जीव भव-भव में दुःख भोगते हैं, ऐसा तुम देख रहे हो ॥११३॥

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥

—*प्रवचनसार, गाथा १६३*

तन-धन व सुख-दुख मित्र-अरि जन, जीव के ये ध्रुव नहीं ।
इस जीव को ध्रुव एक है उपयोगमय निज जीव ही ॥

तन, धन, सुख, दुःख, शत्रु, मित्र—ये कोई भी जीव के लिए ध्रुव नहीं हैं, उपयोग स्वरूप आत्मा ही इसके लिए ध्रुव है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथामुमेव लोभकषायदोषं दृष्टान्तेन समर्थयति—

॥११४-२३७॥

तलि अहिरणि वरि घणवडणु संडस्सय लुंचोडु ।
लोहहँ लग्गिवि हुयवहहँ पिक्खु पडंतउ तोडु ॥

तले अधिकरणं उपरि घनपातनं संदशकलुञ्चनम् ।
लोहं लगित्वा हुतवहस्य पश्य पतत् त्रोटनम् ॥११४॥

तले अधस्तनभागेऽधिकरणसंज्ञोपकरणं उपरितनभागे घनघातपातनं तथैव संडसक-संज्ञेनोपकरणेन लुञ्चनमाकर्षणम् । केन ? लोहपिण्डनिमित्तेन । कस्य ? हुतभुजोऽग्नेः त्रोटनं खण्डनं पतन्तं पश्येति ।

अयमत्र भावार्थः — यथा लोहपिण्डसंसर्गादग्निरज्ञानिलोकपूज्या प्रसिद्धा देवता पिट्टनक्रियां लभते तथा लोभादिकषायपरिणतिकारणभूतेन पञ्चेन्द्रियशरीरसंबन्धेन निर्लोभपरमात्मतत्त्वभावनारहितो जीवो घनघातस्थानीयानि नारकादिदुःखानि बहुकालं सहत इति ॥११४॥

आगे लोभकषाय के दोष को दृष्टांत से पुष्ट करते हैं—

अधिकरण तल में ऊर्ध्व से घनपात कर्षण संडासी ।
से पतन टूटन सहे अग्नि संगति कर लोह की ॥११४॥

दोहार्थ— लोहे के साथ लगकर अग्नि नीचे अहरन (नहाई), ऊपर से घन की चोट, संडासी से खींचा जाना, टूटना, गिरना इत्यादि सहन करती है— यह देखो।

टीकार्थ— ***लोहहँ लग्गिवि*** जैसे लोहे का संबंध पाकर ***हुयवहहँ*** अग्नि ***तलि*** नीचे रक्खे हुए ***अहिरणि*** अहरन (नहाई) के ***वरि*** ऊपर ***घणवडणु*** घन की चोट, ***संडस्सय लुंचोडु*** संडासी से खेंचना, ***पडंतउ तोडु*** चोट लगने से टूटना—इत्यादि दुःखों को सहती है, ऐसा ***पिक्खु*** देखो ।

लोहे की संगति से अज्ञानी लोक में प्रसिद्ध देवता अग्नि दुःख भोगती है, यदि लोहे का सम्बन्ध न करे तो इतने दुःख क्यों भोगे; अर्थात् जैसे अग्नि लोहपिंड के सम्बन्ध से दुःख भोगती है, उसीप्रकार लोह अर्थात् लोभ के कारण परमात्मतत्त्व की भावना से रहित मिथ्यादृष्टि जीव, घनघात के समान, नरकादि दुःखों को बहुत काल तक भोगता है ॥११४॥

सगदव्वमुपादेयं — अपने लिए एकमात्र अपना आत्मा ही उपादेय है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ स्नेहपरित्यागं कथयति--

॥११५-२३८॥

जोइय णेहु परिच्चयहि णेहु ण भल्लउ होइ ।
णेहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ॥

योगिन् स्नेहं परित्यज स्नेहो न भद्रो भवति ।
स्नेहासक्तं सकलं जगद् दुःखं सहमानं पश्य ॥११५॥

रागादिस्नेहप्रतिपक्षभूते वीतरागपरमात्मपदार्थध्याने स्थित्वा शुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीतं हे योगिन् स्नेहं परित्यज । कस्मात् ? स्नेहो भद्रः समीचीनो न भवति । तेन स्नेहेनासक्तं सकलं जगन्निःस्नेहशुद्धात्मभावनारहितं विविधशारीरमानसरूपं बहुदुःखं सहमानं पश्येति। अत्र भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गं मुक्त्वा तत्प्रतिपक्षभूते मिथ्यात्वरागादौ स्नेहो न कर्तव्य इति तात्पर्यम् । उक्तं च—

''तावदेव सुखी जीवो यावन्न स्निह्यते क्वचित् ।
स्नेहानुविद्धहृदयं दुःखमेव पदे पदे ॥'' ॥११५॥

आगे स्नेह का त्याग दिखलाते हैं—

हे योगि ! छोड़ स्नेह स्नेह कभी भला होता नहीं ।
स्नेह में आसक्त जग-जन सदा सहते दुःख ही ॥११५॥

दोहार्थ— हे योगी ! स्नेह को छोड़ो स्नेह कभी भी अच्छा नहीं होता। स्नेह में आसक्त सम्पूर्ण जगत दुःख सहते हुए देखो ।

टीकार्थ— ***जोइय णेहु*** हे योगी ! रागादि रहित वीतराग परमात्मपदार्थ के ध्यान में ठहरकर ज्ञान के वैरी स्नेह को ***परिच्चयहि*** छोड़ो ***णेहु*** क्योंकि स्नेह ***भल्लउ ण होइ*** अच्छा नहीं है, ***णेहासत्तउ*** स्नेह में लगे हुए ***सयलु जगु*** समस्त संसारीजीव ***दुक्खु संहतउ*** अनेक प्रकार शरीर और मन के दुःख सह रहे हैं, उनको तुम ***जोइ*** देखो । ये संसारीजीव स्नेह रहित शुद्धात्मतत्त्व की भावना से रहित हैं, इसलिए नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं । दुःख का मूल एक देहादिक का स्नेह ही है ।

यहाँ भेदाभेदरत्नत्रयरूप मोक्ष के मार्ग से विमुख होकर मिथ्यात्व-रागादि में स्नेह नहीं करना, यह सारांश है । क्योंकि ऐसा कहा भी है कि ''जब तक यह जीव जगत से स्नेह न करे, तब तक सुखी है, और जो स्नेह सहित हैं, जिनका मन स्नेह से बँध रहा है, उनको हर जगह दुःख ही है।'' ॥११५॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ स्नेहदोषं दृष्टान्तेन द्रढयति—

॥११६-२३९॥

जलसिंचणु पय-णिद्दलणु पुणु पुणु पीलण-दुक्खु ।
णेहहँ लग्गिवि तिल-णियरु जंति सहंतउ पिक्खु ॥

जलसिञ्चनं पादनिर्दलनं पुनःपुनः पीडनदुःखम् ।
स्नेहं लगित्वा तिलनिकरं यन्त्रेण सहमानं पश्य ॥११६॥

जलसिंचनं पादनिर्दलनं पुनः पुनः पीडनदुःखं स्नेहनिमित्तं तिलनिकरं यन्त्रेण सहमानं पश्येति । अत्र वीतरागचिदानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वमसेवमाना अजानन्तो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबलेन निश्चलचित्तेनाभावयन्तश्च जीवा मिथ्यामार्गं रोचमानाः पञ्चेन्द्रियविषयासक्ताः सन्तो नरनारकादिगतिषु यन्त्रपीडनक्रकचविदारणशूलारोहणादि-नानादुःखं सहन्त इति भावार्थः ॥११६॥

.....

आगे स्नेह का दोष दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं—

जल सींच पैरों से कुचल पानी में पुनि-पुनि पेलना ।
स्नेहयुत तिल-निकर को तुम यंत्र पीड़ित देखना ॥११६॥

दोहार्थ— स्नेह के साथ लगकर तिल समूह को तुम पानी में भीगते, पैरों से कुचलते, बार-बार घानी में पिलते दु:ख सहते हुए देखो ॥११६॥

टीकार्थ— ***तिलणियरु*** तिलों का समूह ***णेहहँ लग्गिवि*** स्नेह (चिकनाई) के सम्बन्ध से ***जलसिंचणु*** जल से भीगने, ***पयणिद्दलणु*** पैरों से खुँदने (रोंदने/कुचलने), ***जंति*** घानी में ***पुणु पुणु*** बार-बार ***पीलणदुक्खु*** पिलने का दुख ***सहंतउ*** सहता है; उसे ***पिक्खु*** देखो ।

जैसे स्नेह (चिकनाई, तेल) का सम्बन्ध होने से तिल घानी में पेले जाते हैं, उसीप्रकार वीतराग चिदानन्द एक स्वभाव परमात्मतत्त्व का सेवन न करते हुए उसे न जानते हुए, वीतराग निर्विकल्प समाधि के बल युक्त निश्चल चित्त से उसकी भावना न करते हुए जीव मिथ्यामार्ग में रुचि रखते हुए पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त होते हुए, मनुष्य, नारक आदि गतियों में यंत्र पीड़न, क्रकचविदारण, शूलारोहण आदि अनेक दु:खों को सहते हैं—यह भावार्थ है ॥११६॥

आलंवणं च मे आदा — मुझे मेरा आत्मा ही आलम्बन (परम शरणभूत) है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उक्तं च—

॥११७-२४०॥

ते चिय धण्णा ते चिय सप्पुरिसा ते जियंतु जिय-लोए ।
वोद्दह-दहम्मि पडिया तरंति जे चेव लीलाए ॥

ते चैव धन्याः ते चैव सत्पुरुषाः ते जीवन्तु जीवलोके ।
यौवनद्रहे पतिताः तरन्ति ये चैव लीलया ॥११७॥

ते चैव धन्यास्ते चैव सत्पुरुषास्ते जीवन्तु जीवलोके । ते के ? वोद्दहशब्देन यौवनं स एव द्रहो महाह्रदस्तत्र पतिताः सन्तस्तरन्ति ये चैव । कया ? लीलयेति । अत्र विषयाकांक्षारूपस्नेहजलप्रवेशरहितेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रामूल्यरत्नभाण्डपूर्णेन निजशुद्धात्मभावनापोतेन यौवनमहाह्रदं ये तरन्ति त एव धन्यास्त एव सत्पुरुषा इति तात्पर्यम् ॥११७॥

इस विषय में कहा भी है—

वे धन्य वे ही सत्पुरुष जीवित हैं वे ही लोक में ।
जो तरुणता सर में न गिरते तैर जाते सहज में ॥११७॥

दोहार्थ— वे ही धन्य हैं, वे ही सत्पुरुष हैं, वे ही जीव लोक में जीवित हैं, जो यौवनरूपी तालाब में गिर, लीला मात्र में ही तैर जाते हैं ।

टीकार्थ— ***ते चिय धण्णा*** वे ही धन्य हैं, ***ते चिय सप्पुरिसा*** वे ही सज्जन हैं, और ***ते*** वे ही जीव ***जियलोए*** इस जीवलोक में ***जियंतु*** जीवित हैं, ***जे चेव*** जो ***बोद्दहदहम्मि*** जवान अवस्थारूपी बड़े भारी तालाब में ***पडिया*** पड़े हुए विषय-रस में नहीं डूबते, ***लीलाए*** लीला मात्र में ही ***तरंति*** तैर जाते हैं। वे ही प्रशंसा योग्य हैं ।

यहाँ विषय-वांछारूप जो स्नेह-जल, उसके प्रवेश से रहित जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नों से भरा निज शुद्धात्मभावनारूपी जहाज, उससे यौवन अवस्थारूपी महान तालाब को तैर जाते हैं, वे ही सत्पुरुष हैं, वे ही धन्य हैं; यह सारांश जानना ॥११७॥

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥ *—प्रवचनसार, गाथा ६७*

यदि प्राणी की दृष्टि ही अंधकारनाशक हो, तो दीपक से कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता; उसी प्रकार जहाँ आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमन करता है, वहाँ विषय क्या कर सकते है ? कुछ भी नहीं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किं बहुना विस्तरेण—

॥११८-२४१॥

मोक्खु जि साहिउ जिणवरहिँ छंडिवि बहु-विहु रज्जु ।
भिक्ख-भरोडा जीव तुहुँ करहि ण अप्पउ कज्जु ॥

मोक्षःएव साधितः जिनवरैः त्यक्त्वा बहुविधं राज्यम् ।
भिक्षाभोजन जीव त्वं करोषि न आत्मीयं कार्यम् ॥११८॥

मोक्खु जि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते— ***मोक्खु जि साहिउ*** मोक्ष एव साधितः निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्यात्मन आत्यन्तिकस्वाभाविकज्ञानादिगुणास्पदमवस्थान्तरं मोक्षः स साधितः । कैः ? ***जिणवरहिँ*** जिनवरैः । किं कृत्वा ? ***छंडिवि*** *त्यक्त्वा* । किम् ? ***बहुविहुरज्जु*** सप्ताङ्गं राज्यम् । केन ? भेदाभेदरत्नत्रयभावनाबलेन। एवं ज्ञात्वा ***भिक्खभरोडा जीव*** भिक्षाभोजन हे जीव ***तुहुँ*** त्वं ***करहि ण अप्पउ कज्जु*** किं न करोषि आत्मीयं कार्यमिति ।

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च विशिष्टतपश्चरणं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥११८॥

.....

बहुत विस्तार से क्या लाभ है ? आगे मोक्ष के कारणभूत वैराग्य को दृढ़ करते हैं—

सब जिनवरों ने विविध वैभव छोड़ साधा मोक्ष को ।
हे जीव ! भिक्षाभोजि तू क्यों न करें निज कार्य को? ॥११८॥

दोहार्थ— जिनवरों ने बहुविध राज्य छोड़कर मोक्ष ही साधा है । हे भिक्षा से भोजन करने वाले जीव ! तुम अपना कार्य नहीं करोगे ?

टीकार्थ— ***जिणवरहिँ*** जिनेश्वरदेव ने ***बहुविहु*** अनेक प्रकार का ***रज्जु*** राज्य का विभव ***छंडिवि*** छोड़कर ***मोक्खु जि*** मोक्ष का ही ***साहिउ*** साधन किया, परन्तु ***जीव*** हे जीव ! ***भिक्खभरोडा*** भिक्षा से भोजन करने वाले ***तुहुँ*** तुम ***अप्पउ कज्जु*** अपने आत्मा का कल्याण ***ण करहि*** नहीं करते ।

समस्त कर्ममल-कलंक से रहित जो आत्मा, उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुणों का स्थान तथा संसार-अवस्था से अन्य अवस्था का होना, वह मोक्ष कहा जाता है; उसी मोक्ष को वीतरागदेव ने राज्यविभूति छोड़कर सिद्ध किया । राज्य के सात अंग हैं—राजा, मंत्री, सेना आदि । ये जहाँ पूर्ण हों, वह उत्कृष्ट राज्य कहलाता है, वह राज्य तीर्थंकरदेव का है, उसको छोड़ने में वे तीर्थंकर देरी नहीं करते । लेकिन तुम निर्धन होकर आत्म-कल्याण नहीं करते । तुम माया-जाल को छोड़कर महान पुरुषों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के समान आत्मकार्य करो। उन महान पुरुषों ने भेदाभेदरत्नत्रय की भावना के बल से निजस्वरूप को जानकर विनाशीक राज्य छोड़ा, अविनाशी राज्य के लिये उद्यमी हुए।

यहाँ पर ऐसा व्याख्यान समझकर बाह्याभ्यंतर परिग्रह का त्याग करना, तथा वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर विशिष्ट तपश्चरण करना, यह सारांश हुआ ॥११८॥

अथ हे जीव त्वमपि जिनभट्टारकवदष्टकर्मनिर्मूलनं कृत्वा मोक्षं गच्छेति संबोधयति—

॥११९-२४२॥

पावहि दुक्खु महंतु तुहुँ जिय संसारि भमंतु ।
अट्ठ वि कम्मइँ णिद्दलिवि वच्चहि मुक्खु महंतु ॥

प्राप्नोषि दुःखं महत् त्वं जीव संसारे भ्रमन् ।
अष्टापि कर्माणि निर्दल्य व्रज मोक्षं महान्तम् ॥११९॥

पावहि इत्यादि— ***पावहि दुक्खु महंतु*** प्राप्नोषि दुःखं महद्रूपं ***तुहुँ*** त्वं ***जिय*** हे जीव । किं कुर्वन् ? ***संसारि भमंतु*** निश्चयेन संसारविपरीतशुद्धात्मविलक्षणं द्रव्यक्षेत्र-कालभवभावपञ्चभेदभिन्नं संसारं भ्रमन् । तस्मात्किं कुरु ? ***अट्ठ वि कम्मइँ णिद्दलिवि*** शुद्धात्मोपलम्भबलेनाष्टापि कर्माणि निर्मूल्य ***वच्चहि*** व्रज । कम् ? ***मुक्खु*** स्वात्मोपलब्धिलक्षणं मोक्षम् । तथा चोक्तम्— *'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः।** कथंभूतं मोक्षम् ? ***महंतु*** केवलज्ञानादिमहागुणयुक्तत्वान्महान्तमित्यभिप्रायः ॥११९॥

आगे हे जीव ! तुम भी श्रीजिनराज के समान आठ कर्मों का नाशकर मोक्ष को जाओ, ऐसा समझाते हैं—

हे जीव ! भव में घूमते तू महादुख ही पायगा ।
अतएव आठों कर्म क्षय कर महापदवी मोक्ष पा ॥११९॥

दोहार्थ— हे जीव ! तुम संसार में घूमते हुए महान दुःख प्राप्त करोगे, अतः आठों ही कर्म नष्ट कर सर्वश्रेष्ठ मोक्ष प्राप्त करो ।

टीकार्थ— ***जीव*** हे जीव ! ***तुहुँ*** तुम ***संसारि*** संसार-वन में ***भमंतु*** भटकते हुए ***महंतु दुक्खु*** महान दुःख ***पावहि*** पाओगे, इसलिए ***अट्ठवि कम्मइँ*** ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मों को ***णिद्दलिवि*** नष्ट कर, ***महंतु मुक्खु*** सबसे श्रेष्ठ मोक्ष को ***वच्चहि*** जाओ ।

---

* संस्कृत सिद्धभक्ति, पद्य १, तृतीय पाद ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चय की अपेक्षा संसार से रहित जो शुद्धात्मा, उससे पृथक् जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार के परावर्तनस्वरूप संसार, उसमें भटकते हुए चारों गतियों के दु:ख पाओगे, निगोद राशि में अनंतकाल तक रुलोगे; इसलिए आठ कर्मों का क्षय करके शुद्धात्मा की प्राप्ति के बल से रागादिक का नाश कर निर्वाण को जाओ । कैसा है वह निर्वाण? जो निजस्वरूप की प्राप्ति वही जिसका स्वरूप है, और जो सबमें श्रेष्ठ है, केवल-ज्ञानादि महान गुणों से सहित है; जिसके समान दूसरा कोई नहीं है ॥११९॥

अथ यद्यप्यल्पमपि दु:खं सोढुमसमर्थस्तथापि कर्माणि किमिति करोषीति शिक्षां प्रयच्छति—

॥१२०-२४३॥

जिय अणु-मित्तु वि दुक्खडा सहण ण सक्कहि जोइ ।
चउ-गइ-दुक्खहँ कारणइँ कम्मइँ कुणहि किं तोइ ॥

जीव अणुमात्राण्यपि दु:खानि सोढुं न शक्नोषि पश्य ।
चतुर्गतिदु:खानां कारणानि कर्माणि करोषि किं तथापि ॥१२०॥

जिय **इत्यादि—** ***जिय*** **हे मूढजीव** ***अणुमित्तु वि*** **अणुमात्राण्यपि । कानि ?** ***दुक्खडा*** **दु:खानि** ***सहण ण सक्कहि*** **सोढुं न शक्नोषि** ***जोइ*** **पश्य । यद्यपि** ***चउगइदुक्खहँ कारणइँ*** **परमात्मभावनोत्पन्नतात्त्विकवीतरागनित्यानन्दैकविलक्षणानां नारकादिदु:खानां कारणभूतानि** ***कम्मइँ कुणहि किं*** **कर्माणि करोषि ? किमर्थं ?** ***तोइ*** **यद्यपि दु:खानीष्टानि न भवन्ति तथापि इति ।**

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा कर्मास्रवप्रतिपक्षभूतरागादिविकल्परहिता निजशुद्धात्मभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥१२०॥

आगे यदि थोड़े दु:ख भी सहने को असमर्थ हो तो ऐसे काम क्यों करते हो कि जिससे अनन्तकाल तक दु:ख तुम भोगो, ऐसी शिक्षा देते हैं—

हे जीव ! दुख अति अल्प भी तू सहन कर सकता नहीं ।
तब करे तू क्यों चार गति मय दु:खकारण कर्म ही ?॥१२०॥

दोहार्थ— हे जीव ! देखो !! तुम परमाणु मात्र भी दु:ख सहन करने में समर्थ नहीं हो; तब फिर चारगति सम्बन्धी दु:खों के कारणभूत कर्म क्यों करते हो ?

टीकार्थ— ***जीव*** हे मूढ़जीव ! तुम ***अणुमित्तु वि*** परमाणुमात्र (अल्प) भी ***दुक्खडा*** दु:ख ***सहण*** सहने को ***ण सक्कहि*** समर्थ नहीं हो, ***जोइ*** देखो !

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तोड़ तो फिर ***चउगइदुक्खहँ*** चार गतियों के दु:ख के ***कारणइँ कम्मइँ*** कारण जो कर्म हैं, उन्हें ***किं कुणहि*** क्यों करते हो ?

परमात्मा की भावना से उत्पन्न तत्त्वरूप वीतराग नित्यानन्द परम स्वभाव, उससे भिन्न जो नरकादिक के दु:ख, उनके कारण कर्म ही हैं । यदि दु:ख तुम्हें अच्छे नहीं लगते, दु:खों को अनिष्ट जानते हो तो दु:ख के कारण कर्मों का क्यों उपार्जन करते हो ? मत करो ।

यहाँ पर ऐसा व्याख्यान जानकर, कर्मों के आस्रव से रहित तथा रागादि विकल्प-जालों से रहित, जो निज शुद्धात्मा की भावना, वही करना चाहिए, ऐसा तात्पर्य जानना ॥१२०॥

अथ बहिर्व्यासंगासक्तं जगत् क्षणमप्यात्मानं न चिन्तयतीति प्रतिपादयति—

॥१२१-२४४॥

धंधइ पडियउ सयलु जगु कम्मइँ करइ अयाणु ।
मोक्खहँ कारणु एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ॥

धान्धे (?) पतितं सकलं जगत् कर्माणि करोति अज्ञानि ।
मोक्षस्य कारणं एकं क्षणं नैव चिन्तयति आत्मानम् ॥१२१॥

धंधइ इत्यादि— ***धंधइ*** धान्धे मिथ्यात्वविषयकषायनिमित्तोत्पन्ने दुर्ध्यानार्तरौद्रव्यासंगे ***पडियउ*** पतितं व्यासक्तम् । किम् ? ***सयलु जगु*** समस्तं जगत्, शुद्धात्मभावनापराङ्मुखो मूढप्राणिगण: ***कम्मइँ करइ*** कर्माणि करोति । कथंभूतं जगत् ? ***अयाणु*** विशिष्ट-भेदज्ञानरहितं ***मोक्खहँ कारणु*** अनन्तज्ञानादिस्वरूपमोक्षकारणं ***एक्कु खणु*** एकक्षणमपि ***णवि चिंतइ*** नैव ध्यायति । कम् ? ***अप्पाणु*** वीतरागपरमाह्लादरसास्वादपरिणतं स्वशुद्धात्मानमिति भावार्थ: ॥१२१॥

आगे बाहर के परिग्रह में लीन हुए जगत के प्राणी क्षणमात्र भी आत्मा का चिंतवन नहीं करते, ऐसा कहते हैं—

धंधे पड़ा सारा जगत करता करम अज्ञान से ।
पर मोक्ष कारण आत्म-चिंतन एक क्षण भी ना करे ॥१२१॥

दोहार्थ— धन्धे में पड़ा/उलझा सम्पूर्ण जगत अज्ञानी कर्मों को करता है, परन्तु मोक्ष के कारणभूत आत्मा का एक क्षण भी चिंतन नहीं करता है ॥१२१॥

टीकार्थ— जगत के ***धन्धइ पडियउ*** धंधे में पड़ा हुआ ***सयलु जगु*** सब

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जगत ***अयाणु*** अज्ञानी हुआ ***कम्मइँ*** ज्ञानावरणादि आठों कर्मों को ***करइ*** करता है, परन्तु ***मोक्खहँ कारणु*** मोक्ष के कारणभूत ***अप्पाणु*** शुद्ध आत्मा का ***एक्कु खणु णवि चिंतइ*** एक क्षण भी चिन्तवन नहीं करता ।

भेदविज्ञान से रहित ये मूढ़ प्राणी शुद्धात्मा की भावना से पराङ्मुख हैं, इसलिए शुभाशुभ कर्मों का ही बंध करते हैं, और अनंतज्ञानादिस्वरूप मोक्ष के कारणभूत वीतराग परमानन्दरूप निजशुद्धात्मा का एकक्षण भी विचार नहीं करते। सदा ही आर्त-रौद्र ध्यान में लग रहे हैं; ऐसा सारांश है ॥१२१॥

अथ तमेवार्थं द्रढयति—

॥१२२-२४५॥

जोणि-लक्खइँ परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।
पुत्त-कलत्तहिँ मोहियउ जाव ण णाणु महंतु ॥

योनिलक्षाणि परिभ्रमति आत्मा दुःखं सहमानः ।
पुत्रकलत्रैः मोहितः यावन्न ज्ञानं महत् ॥१२२॥

जोणि इत्यादि— ***जोणिलक्खइँ परिभमइ*** चतुरशीतियोनिलक्षाणि परिभ्रमति । **कोऽसौ ?** ***अप्पा*** बहिरात्मा । किं कुर्वन् ? ***दुक्खु*** सहंतु निजपरमात्मतत्त्वध्यानोत्पन्नवीतराग-सदानन्दैकरूपव्याकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षणं शारीरमानसदुःखं सहमानः । कथंभूतः सन् ? ***पुत्तकलत्तहिँ मोहियउ*** निजपरमात्मभावनाप्रतिपक्षभूतैः पुत्रकलत्रैः मोहितः । किंपर्यन्तम् ? ***जाव ण*** यावत्कालं न । किम् ? ***णाणु*** ज्ञानम् । किं विशिष्टम् ? ***महंतु*** महतो मोक्षलक्षणस्यार्थस्य साधकत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं महदित्युच्यते । तेन कारणेन तदेव निरन्तरं भावनीयमित्यभिप्रायः ॥१२२॥

आगे उसी बात को दृढ़ करते हैं—

नित दुःख सहता आतमा लख-योनियों में घूमता ।
पुत्रादि से मोहित हुआ जब तक न आतमज्ञान पा ॥१२२॥

दोहार्थ— जब तक श्रेष्ठ आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक यह आत्मा पुत्र,स्त्री आदि में मोहित हुआ दुःख सहता हुआ चौरासी लाख योनियों में घूमता फिरता है ।

टीकार्थ— ***जाव*** जब तक ***महंतु णाणु ण*** सबसे श्रेष्ठ ज्ञान नहीं है, तब तक ***अप्पा*** यह जीव ***पुत्तकलत्तहिँ मोहियउ*** पुत्र, स्त्री आदि से मोहित हुआ ***दुक्खु सहंतु*** अनेक दुःखों को सहता हुआ ***जोणिलक्खइँ*** चौरासी लाख योनियों में ***परिभमइ*** भटकता फिरता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह जीव चौरासीलाख योनियों में अनेक प्रकार के ताप सहता हुआ भटक रहा है, निज परमात्मतत्त्व के ध्यान से उत्पन्न वीतराग परम आनन्दरूप निर्व्याकुल अतीन्द्रिय सुख से विमुख शरीर तथा मन सम्बन्धी नाना प्रकार के सुख-दु:खों को सहता हुआ भ्रमण करता है । निज परमात्मा की भावना के शत्रु जो देहसम्बन्धी माता, पिता, भ्राता, मित्र, पुत्र-कलत्रादि; उनसे मोहित है, तब तक अज्ञानी है; वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान से रहित है । प्रयोजन का साधक होने से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान ही महान कहलाता है, वह ज्ञान मोक्ष का साधन है, ज्ञान ही से मोक्ष की सिद्धि होती है । इसलिये हमेशा ज्ञान की ही भावना करना चाहिये ॥१२२॥

अथ हे जीव गृहपरिजनशरीरादिममत्वं मा कुर्विति संबोधयति—

॥१२३-२४६॥

जीव म जाणहि अप्पणउँ घरु परियणु तणु इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिँ दिट्ठु ॥

जीव मा जानीहि आत्मीयं गृहं परिजनं तनुः इष्टम् ।
कर्मायत्तं कृत्रिमं आगमे योगिभिः दृष्टम् ॥१२३॥

जीव इत्यादि—***जीव म जाणहि*** हे जीव मा जानीहि ***अप्पणउँ*** आत्मीयम्। किम्? ***घरु परियणु तणु इट्ठु*** गृहं परिजनं शरीरमिष्टमित्रादिकम् । कथंभूतमेतत् ? ***कम्मायत्तउ*** शुद्धचेतनास्वभावादमूर्तात्परमात्मनः सकाशाद्विलक्षणं यत्कर्म तदुदयेन निर्मितत्वात् कर्मायत्तम्। पुनरपि कथंभूतम् ? ***कारिमउ*** अकृत्रिमात् टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विपरीतत्वात् कृत्रिमं विनश्वरम् । इत्थंभूतं ***दिट्ठु*** दृष्टम् । कैः ? ***जोइहिँ*** परमज्ञानसंपन्नदिव्ययोगिभिः। क्व दृष्टम् ? ***आगमि*** वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमे इति।

अत्रेदमध्रुवव्याख्यानं ज्ञात्वा ध्रुवे स्वशुद्धात्मस्वभावे स्थित्वा गृहादिपरद्रव्ये ममत्वं न कर्तव्यमिति भावार्थः ॥१२३॥

.....

आगे हे जीव! तुम घर, परिवार और शरीरादि का ममत्व मत करो, ऐसा समझाते हैं—

हे जीव ! जानो नहीं अपने घर कुटुम तन इष्ट को ।
ये सभी कर्माधीन नश्वर देख आगम योगि को ॥१२३॥

दोहार्थ— हे जीव ! घर, परिवार, शरीर, इष्ट मित्रादि को अपने मत जानो; ये कर्माधीन, विनाशीक हैं—ऐसा आगम में योगियों ने दिखाया है ।

टीकार्थ— ***जीवपरु*** हे जीव ! तुम ***परियणु तणु इट्ठु अप्पणउँ*** घर, परिवार, शरीर और मित्रादि को अपने ***म जाणहि*** मत जानो, क्योंकि ***आगमि***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परमागम में ***जोइहिँ*** योगियों ने ऐसा ***दिट्ठु*** दिखलाया है कि ये ***कम्मायत्तउ*** कर्मों के आधीन हैं, और ***कारिमउ*** विनाशीक हैं ।

ये घर आदि, शुद्ध चेतनस्वभाव अमूर्तिक निज आत्मा से भिन्न जो शुभाशुभ कर्म, उसके उदय से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये कर्माधीन हैं; और विनश्वर होने से शुद्धात्मद्रव्य से विपरीत हैं; शुद्धात्मद्रव्य किसी का बनाया हुआ नहीं है, इसलिये अकृत्रिम है, अनादिसिद्ध है, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है, जो टाँकी से गढ़ा हुआ न हो, बिना ही गढ़ी पुरुषाकार अमूर्तिकमूर्ति है—ऐसे आत्मस्वरूप से ये देहादि भिन्न हैं, ऐसा सर्वज्ञकथित परमागम में परमज्ञान के धारी योगीश्वरों ने देखा है ।

यहाँ पर पुत्र, मित्र, स्त्री, शरीर आदि सबको अनित्य जानकर नित्यानंदरूप निज शुद्धात्म-स्वभाव में स्थित होकर गृहादि परद्रव्य में ममता नहीं करना—यह भावार्थ है ॥१२३॥

अथ गृहपरिवारादिचिन्तया मोक्षो न लभ्यत इति निश्चिनोति—

॥१२४-२४७॥

मुक्खु ण पावहि जीव तुहुँ घरु परियणु चिंतंतु ।
तो वरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंतु ॥

मोक्षं न प्राप्नोषि जीव त्वं गृहं परिजनं चिन्तयन् ।
ततः वरं चिन्तय तपः एव तपः प्राप्नोषि मोक्षं महान्तम् ॥१२४॥

मुक्खु इत्यादि—***मुक्खु*** कर्ममलकलङ्करहितं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं मोक्षं ***ण पावहि*** न प्राप्नोषि न केवलं मोक्षं निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च ***जीव*** हे मूढ जीव ***तुहुँ*** त्वम् । किं कुर्वन् सन् ? ***घरु परियणु चिंतंतु*** गृहपरिवारादिकं परद्रव्यं चिन्तयन् सन् ***तो*** ततः कारणात् ***वरि*** वरं किंतु ***चिंतहि*** चिन्तय ध्याय । किम् ? ***तउ जि तउ*** तपस्तप एव विचिन्तय नान्यत् । तपश्चरणचिन्तनात् किं फलं भवति ? ***पावहि*** प्राप्नोषि । कम् ? ***मोक्खु*** पूर्वोक्तलक्षणं मोक्षम् । कथंभूतं ? ***महंतु*** तीर्थकर-परमदेवादिमहापुरुषैराश्रितत्वान्महान्तमिति ।

अत्र बहिर्द्रव्येच्छानिरोधेन वीतरागतात्त्विकानन्दपरमात्मरूपे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा गृहादिममत्वं त्यक्त्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥१२४॥

आगे घर, परिवारादि की चिन्ता से मोक्ष नहीं मिलता, ऐसा निश्चय करते हैं—

हे जीव ! घर परिवार चिंतन से न मुक्ति पायगा ।
इसलिये कर चिंतन परमतप महामुक्ति पायगा ॥१२४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— हे जीव ! तुम घर, परिवार की चिन्ता करते हुए मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते; इसलिए उत्कृष्ट तप ही तप चिंतन करो, जिससे महा मोक्ष प्राप्त करोगे।

टीकार्थ— ***जीव*** हे जीव ! ***तुहुँ*** तुम ***परु परियणु*** घर, परिवार आदि की ***चिंतंतु*** चिन्ता करते हुए ***मोक्खु*** मोक्ष कभी ***ण*** नहीं ***पावहि*** पा सकते, ***तो*** इसलिये ***वरि*** उत्तम ***तउ जि तउ*** तप ही तप का बारम्बार ***चिंतहि*** चिन्तवन करो, क्योंकि तप से ही श्रेष्ठ मोक्ष सुख को पा सकोगे ।

तुम गृहादि परवस्तुओं का चिन्तवन करते हुए कर्म-कलंक रहित केवलः नादि अनन्तगुण सहित मोक्ष को नहीं पाओगे, और मोक्ष का मार्ग जो निश्चयव्यवहार-रत्नत्रय उसको भी नहीं पाओगे । इन गृहादि के चिंतवन से भव-वन में भ्रमण करोगे । इसलिये इनका चिंतवन तो मत करो; लेकिन बारह प्रकार के तप का चिन्तवन करो । इसी से मोक्ष पाओगे । वह मोक्ष तीर्थंकर परमदेवाधिदेव महापुरुषों से आश्रित है, इसलिये सबसे उत्कृष्ट है । मोक्ष के समान अन्य पदार्थ नहीं ।

यहाँ परद्रव्य की इच्छा को रोककर वीतराग परम आनन्दरूप जो परमात्मस्वरूप उसके निर्विकल्पसमाधि/ध्यान में स्थित होकर घर, परिवारादिक का ममत्व छोड़कर, एक केवल निजस्वरूप की भावना करना—यह तात्पर्य है । आत्म-भावना के सिवाय अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है ॥१२४॥

अथ जीवहिंसादोषं दर्शयति—

॥१२५-२४८॥

मारिवि जीवहँ लक्खडा जं जिय पाउ करीसि ।
पुत्त-कलत्तहँ कारणइँ तं तुहुँ एक्कु सहीसि ॥

मारयित्वा जीवानां लक्षाणि यत् जीव पापं करिष्यसि ।
पुत्रकलत्राणां कारणेन तत् त्वं एकः सहिष्यसे ॥१२५॥

मारिवि इत्यादि— *मारिवि जीवहँ लक्खडा* रागादिविकल्परहितस्य स्वस्वभावना-लक्षणस्य शुद्धचैतन्यप्राणस्य निश्चयेनाभ्यन्तरं वधं कृत्वा बहिर्भागे चानेकजीवलक्षाणाम्। केन हिंसोपकरणेन ? *पुत्तकलत्तहँ कारणइँ* पुत्रकलत्रममत्वनिमित्तोत्पन्नदृष्टश्रुतानुभूत-भोगाकांक्षास्वरूपतीक्ष्णशस्त्रेण । *जं जिय पाउ करीसि* हे जीव यत्पापं करिष्यसि *तं तुहुँ एक्कु सहीसि* तत्पापफलं त्वं कर्ता नरकादिगतिष्वेकाकी सन् सहिष्यसे हि ।

अत्र रागाद्यभावो निश्चयेनाहिंसा भण्यते । कस्मात् ? निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणस्य रक्षाकारणत्वात्, रागाद्युत्पत्तिस्तु निश्चयहिंसा । तदपि कस्मात् ? निश्चयशुद्धप्राणस्य हिंसाकारणत्वात् । इति ज्ञात्वा रागादिपरिणामरूपा निश्चयहिंसा त्याज्येति भावार्थः ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तथा चोक्तं निश्चयहिंसालक्षणम्—

''रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेति देसियं समए ।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।''* ।।१२५।।

आगे जीवहिंसा का दोष दिखलाते हैं—

तू जीव लाखों मार करके पाप जो भी करेगा ।
पुत्रादि हेतु, जीव पर उसको अकेला सहेगा ।।१२५।।

दोहार्थ— हे जीव ! पुत्र, स्त्री आदि के लिए लाखों जीवों को मारकर जो तुम पाप करोगे; उसे तुम अकेले ही सहोगे ।

टीकार्थ— ***लक्खडा*** लाखों ***जीवहँ*** जीवों को ***मारिवि*** मारकर ***जिय*** हे जीव! ***जं*** जो ***पाउ करीसि*** तुम पाप करोगे, ***पुत्तकलत्तहँ कारणइँ*** पुत्र,स्त्री आदि के कारण; ***तं तुहुँ*** उसके फल को ***एक्कु सहीसि*** तुम अकेले सहोगे ।

हे जीव! तुम पुत्रादि कुटुम्ब के लिये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहादि अनेक प्रकार के पाप करते हो, तथा अन्तरंग में रागादि विकल्प रहित ज्ञानादि शुद्धचैतन्य प्राणों का घात करते हो, अपने प्राण रागादिक मैल से मैले करते हो, और बाह्य में अनेक जीवों की हिंसा करके अशुभ कर्मों का उपार्जन करते हो, उनका फल तुम नरकादि गति में अकेले सहोगे । कुटुम्ब के लोग कोई भी तुम्हारे दु:ख को बाँटने वाले नहीं हैं, तुम ही सहोगे ।

श्रीजिनशासन में हिंसा दो प्रकार की है । एक आत्मघात, दूसरी परघात। उनमें से मिथ्यात्व, रागादि के निमित्त से देखे, सुने, भोगे हुए भोगों की वांछारूप जो तीक्ष्ण शस्त्र, उससे अपने ज्ञानादि प्राणों का घात होना वह निश्चयहिंसा है, रागादि की उत्पत्ति वह निश्चय हिंसा है; क्योंकि इन विभावों से निज भाव घाते जाते हैं;—ऐसा जानकर रागादि परिणामरूप निश्चय हिंसा का त्याग करना । यही निश्चयहिंसा आत्मघात है ।

और प्रमाद के योग से अविवेकी होकर एकेंद्रिय दोइंद्रिय तीनेंद्रिय चारेंद्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों का घात करना, वह परघात है । जब इसने परजीव का घात करने का विचार किया, तब इसके परिणाम मलिन हुए, और भावों की मलिनता ही निश्चयहिंसा है, इसलिये परघातरूप हिंसा आत्मघात का कारण है । जो हिंसक जीव है, वह परजीवों का घातकर अपना घात करता है । यह स्वदया-परदया का स्वरूप जानकर हिंसा का सर्वथा त्याग करना । हिंसा के समान अन्य पाप नहीं है ।

---

* कषायपाहुड़ , जयधवल में उद्धृत ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निश्चयहिंसा का स्वरूप सिद्धांत में दूसरी जगह ऐसा कहा है कि ''रागादि का अभाव वही शास्त्र में अहिंसा कही है, और रागादि की उत्पत्ति वही हिंसा है; ऐसा कथन जिनशासन में जिनेश्वर देव ने दिखलाया है'' अर्थात् जो रागादि का अभाव वह स्वदया और जो प्रमादरहित विवेकरूप करुणाभाव वह परदया है । यह स्वदया-परदया धर्म का मूलकारण है । जो पापी हिंसक होगा, उसके परिणाम निर्मल नहीं हो सकते, ऐसा निश्चय है, परजीव-घात तो उसकी आयु के अनुसार है, परन्तु इसने जब परघात का विचार किया तब आत्मघाती हो ही गया ॥१२५॥

अथ तमेव हिंसादोषं द्रढयति—

॥१२६-२४९॥

मारिवि चूरिवि जीवडा जं तुहुँ दुक्खु करीसि ।
तं तह पासि अणंत-गुण अवसइँ जीव लहीसि ॥

मारयित्वा चूर्णयित्वा जीवान् यत् त्वं दुःखं करिष्यसि ।
तत्तदपेक्षया अनन्तगुणं अवश्यमेव जीव लभसे ॥१२६॥

मारिवि इत्यादि— *मारिवि* बहिर्विषये अन्यजीवान् प्राणिप्राणवियोगलक्षणेन मारयित्वा *चूरिवि* हस्तपादाद्येकदेशच्छेदरूपेण चूरयित्वा । कान् ? *जीवडा* जीवान् निश्चयेनाभ्यन्तरे तु मिथ्यात्वरागादिरूपतीक्ष्णशस्त्रेण शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयप्राणांश्च *जं तुहुँ दुक्खु करीसि* यद्दुःखं त्वं कर्ता करिष्यसि तेषु पूर्वोक्तस्वपरजीवेषु *तं तह पासि अणंतगुण* तद्दुःखं तदपेक्षया अनन्तगुणं *अवसइँ* अवश्यमेव *जीव* हे मूढजीव *लहीसि* प्राप्नोषीति ।

अत्रायं जीवो मिथ्यात्वरागादिपरिणतः पूर्वं स्वयमेव निजशुद्धात्मप्राणं हिनस्ति बहिर्विषये अन्यजीवानां प्राणघातो भवतु मा भवतु नियमो नास्ति । परघातार्थं तप्तायःपिण्डग्रहणेन स्वहस्तदाहवत् इति भावार्थः । तथा चोक्तम्—

''स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान् ।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥''॥१२६॥

आगे उसी हिंसा के दोष की फिर से निंदा करते हैं, और दयाधर्म को दृढ़ करते हैं—

यदि मारकर या चूर जीवों को दुखी तू करेगा ।
तो नियम से उससे अनन्तगुणा अधिक दुख सहेगा ॥१२६॥

दोहार्थ— हे जीव ! यदि तुम जीवों को मारकर या चूरकर दुःखी करोगे; तो उसकी अपेक्षा अनन्तगुणा दुःख अवश्य ही प्राप्त करोगे ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जीव*** हे जीव! ***जं*** जो ***तुहुँ*** तुम ***जीवडा*** परजीवों को ***मारिवि*** मारकर, ***चूरिवि*** चूरकर ***दुक्खु करीसि*** दु:खी करोगे, ***तं*** उसका फल ***तह पासि*** उसकी अपेक्षा ***अणंतगुण*** अनंतगुणा ***अवसइँ लहीसि*** निश्चय से पाओगे ।

निर्दयी होकर अन्य जीवों के प्राण हरना, परजीवों का शस्त्रादि से घात करना, वह मारना है; और हाथ-पैर आदि से, तथा लाठी आदि से परजीवों को काटना, एकदेश मारना, वह चूरना है; यह हिंसा ही महा पाप का मूल है । निश्चयनय से अभ्यन्तर में मिथ्यात्व, रागादिरूप तीक्ष्ण शस्त्रों से शुद्धात्मानुभूतिरूप अपने निश्चय प्राणों को हत रहा है, क्लेशरूप करता है, उसका फल अनंत दु:ख अवश्य सहेगा । इसलिये हे मूढ़ जीव! परजीवों को मत मारो, मत चूरो, अपने भाव हिंसारूप मत करो, उज्ज्वल भाव रखो । यदि तुम जीवों को दु:ख दोगे, तो निश्चय से अनंतगुणा दु:ख पाओगे ।

यहाँ सारांश यह है—यह जीव मिथ्यात्व, रागादिरूप परिणत हुआ पहले तो अपने भावप्राणों का नाश करता है, परजीव का घात तो हो या न हो; परजीव का घात तो उसकी आयु पूर्ण हो गई हो, तब होता है, अन्यथा नहीं; परन्तु इसने जब परघात का विचार किया, तब यह आत्मघाती हो गया । जैसे गरम लोहे का गोला पकड़ने से अपने हाथ तो निस्संदेह जल जाते हैं । इससे यह निश्चय हुआ कि जो परजीवों पर खोटे भाव करता है, वह आत्मघाती है ।

ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि "जो आत्मा कषायवाला है, निर्दयी है, वह पहले तो आप ही अपने से अपना घात करता है, इसलिये आत्मघाती है, पीछे परजीव का घात हो, या न हो । जीव की आयु शेष रही हो, तो यह नहीं मार सकता, परंतु इसने मारने के भाव किये, इस कारण निस्संदेह हिंसक हो गया, और जब हिंसा के भाव हुए, तब यह कषायवान हुआ । कषायवान होना ही आत्मघात है ।" ॥१२६॥

अथ जीववधेन नरकगतिस्तद्रक्षणे स्वर्गो भवतीति निश्चिनोति—

॥१२७-२५०॥

जीव वहंतहँ णरय-गइ अभय-पदाणें सग्गु ।
बे पह जवला दरिसिया जहिँ रुच्चइ तहिँ लग्गु ॥

जीवं घ्नतां नरकगति: अभयप्रदानेन स्वर्ग: ।
द्वौ पन्थानौ समीपौ दर्शितौ यत्र रोचते तत्र लग ॥१२७॥

जीव वहंतहँ इत्यादि— ***जीव वहंतहँ*** निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणामरूपं वधं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेणेन्द्रियबलायु:प्राणापानविनाशरूपमन्यजीवानां च वधं कुर्वतां

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

णरयगइ नरकगतिर्भवति ***अभयपदाणें*** निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनपरिणाम-रूपमभयप्रदानं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदानं परजीवानां च कुर्वतां ***सग्गु*** स्वस्याभयप्रदानेन मोक्षो भवत्यन्यजीवानामभयप्रदानेन स्वर्गश्चेति ***बे पह जवला दरिसिया*** एवं द्वौ पन्थानौ समीपे दर्शितौ । ***जहिँ रुच्चइ तहिँ लग्गु*** हे जीव यत्र रोचते तत्र लग्नो भव त्वमिति ।

कश्चिदज्ञानी प्राह— प्राणा जीवादभिन्ना भिन्ना वा, यद्यभिन्नाः तर्हि जीववत्प्राणानां विनाशो नास्ति, अथ भिन्नास्तर्हि प्राणवधेऽपि जीवस्य वधो नास्त्यनेन प्रकारेण जीवहिंसैव नास्ति कथं जीववधे पापबन्धो भविष्यतीति ? परिहारमाह— कथंचिद्भेदाभेदः।

तथाहि— स्वकीयप्राणे हृते सति दुःखोत्पत्तिदर्शनाद्व्यवहारेणाभेदः सैव दुःखोत्पत्तिस्तु हिंसा भण्यते ततश्च पापबन्धः । यदि पुनरेकान्तेन देहात्मनोर्भेद एव तर्हि यथा परकीयदेहघाते दुःखं न भवति तथा स्वदेहघातेऽपि दुःखं न स्यान्न च तथा । निश्चयेन पुनर्जीवि गतेऽपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता पापबन्धोऽपि न च निश्चयेन इति ? सत्यमुक्तं त्वया, व्यवहारेण पापं तथैव नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेति । तदिष्टं भवतां चेत्तर्हि हिंसां कुरुत यूयमिति ॥१२७॥

आगे जीवहिंसा का फल नरकगति है, और रक्षा करने से स्वर्ग होता है, ऐसा निश्चय करते हैं—

हो नरक प्राणीघात से हो स्वर्ग अभयप्रदान से ।
दो पंथ अपने पास हैं जा वहाँ जो तुझको रुचे ॥१२७॥

दोहार्थ— जीवों के घात से नरकगति और अभय देने से स्वर्ग—इसप्रकार दो मार्ग अपने पास दिखाये गये हैं; उनमें से जहाँ तुम्हारी रुचि हो, वहाँ लगो।

टीकार्थ— ***जीववहंतहँ*** जीवों को मारने वाले की ***णरयगइ*** नरकगति होती है, ***अभयपदाणें*** अभयदान देने से ***सग्गु*** स्वर्ग होता है, ***बे पह*** ये दोनों मार्ग ***जवला*** अपने पास ***दरिसिया*** दिखलाये हैं, ***जहिँ रुच्चइ*** जिसमें तुम्हारी रुचि हो, ***तहिँ लग्गु*** उसी में तुम लग जाओ ।

निश्चय से मिथ्यात्व, विषय, कषाय, परिणामरूप निजघात और व्यवहारनय से परजीवों के इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वासरूप प्राणों का विनाश, उसरूप परप्राणघात—इन प्राणघातियों के नरकगति होती है । हिंसक जीव नरक ही के पात्र हैं । निश्चयनय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन परिणामरूप जो निजभावों को अभयदानरूप निज जीव की रक्षा और व्यवहारनय से परप्राणियों के प्राणों की रक्षारूप अभयदान—यह स्वदया-परदयास्वरूप अभयदान है, उसे करने वालों को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वर्ग-मोक्ष होता है, इसमें संदेह नहीं है । इनमें से जो अच्छा प्रतीत हो, उसे करो—ऐसी श्रीगुरु ने आज्ञा की ।

ऐसा कथन सुनकर कोई अज्ञानी जीव तर्क करता है कि ये प्राण जीव से पृथक् हैं, या नहीं ? यदि जीव से पृथक् नहीं हैं, तो जैसे जीव का नाश नहीं है, वैसे प्राणों का भी नाश नहीं हो सकता ? और यदि पृथक् अर्थात् जीव से सर्वथा भिन्न हैं, तो इन प्राणों का नाश नहीं हो सकता—इसप्रकार जीवहिंसा है ही नहीं, तब आप जीवहिंसा में पाप क्यों मानते हैं ?

इसका समाधान—ये इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास प्राण जीव से किसी अपेक्षा अभिन्न हैं, भिन्न नहीं हैं; किसी अपेक्षा भिन्न हैं—ये दोनों प्रामाणिक हैं। अब अभेद कहते हैं, सो सुनो ! अपने प्राणों का घात होने पर जो व्यवहारनय से दु:ख की उत्पत्ति, वह हिंसा है, उसी से पाप का बंध होता है । यदि इन प्राणों को सर्वथा पृथक् ही मानें, देह और आत्मा का सर्वथा भेद ही जानें, तो जैसे पर के शरीर का घात होने पर दु:ख नहीं होता है, वैसे अपने देह के घात में भी दु:ख नहीं होना चाहिये; इसलिये व्यवहारनय से जीव का और देह का एकत्व है; परंतु निश्चय से एकत्व नहीं है । यदि निश्चय से एकपना हो, तो देह का विनाश होने से जीव का विनाश हो जावे, जीव तो अविनाशी है । जीव इस देह को छोड़कर परभव में जाता है, तब देह नहीं जाती है । इसलिये जीव और देह में भेद भी है ।

यद्यपि निश्चयनय से भेद है, तो भी व्यवहारनय से प्राणों के चले जाने पर जीव दु:खी होता है, सो जीव को दु:खी करना, यही हिंसा है, और हिंसा से पाप का बंध होता है । निश्चयनय से जीव का घात नहीं होता—यह तुमने कहा, वह सत्य है; परंतु व्यवहारनय से प्राणवियोगरूप हिंसा है ही, और व्यवहारनय से ही पाप है; और पाप का फल नरकादि के दु:ख हैं, वे भी व्यवहारनय से ही हैं । यदि तुम्हें नरक के दु:ख अच्छे लगते हैं, तो हिंसा करो. और नरक का भय है, तो हिंसा मत करो—ऐसे व्याख्यान से अज्ञानी जीवों का संशय मिटाया ।।१२७।।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा।।

—प्रवचनसार, गाथा १९१

मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं, मैं एक ज्ञान हूँ—इसप्रकार जो ध्यान करता है, वह ध्यान में आत्मा का ध्याता होता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ मोक्षमार्गे रतिं कुर्विति शिक्षां ददाति—

॥१२८-२५१॥

मूढा सयलु वि कारिमउ भुल्लउ मं तुस कंडि ।
सिव-पहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ॥

मूढ सकलमपि कृत्रिमं भ्रान्त मा तुषं कण्डय ।
शिवपथे निर्मले कुरु रतिं गृहं परिजनं लघु त्यज ॥१२८॥

मूढा इत्यादि—*मूढा सयलु वि कारिमउ* हे मूढजीव शुद्धात्मानं विहायान्यत् पञ्चेन्द्रियविषयरूपं समस्तमपि कृत्रिमं विनश्वरं *भुल्लउ मं तुस कंडि* भ्रान्तो भूत्वा तुषकण्डनं मा कुरु । एवं विनश्वरं ज्ञात्वा *सिवपहि णिम्मलि* शिवशब्दवाच्यविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो मुक्तात्मा तस्य प्राप्त्युपायः पन्था निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपः स च रागादिरहितत्वेन निर्मलः *करहि रइ* इत्थंभूते मोक्षे मोक्षमार्गे च रतिं प्रीतिं कुरु *घरु परियणु लहु छंडि* पूर्वोक्तमोक्षमार्गप्रतिपक्षभूतं गृहं परिजनादिकं शीघ्रं त्यजेति तात्पर्यम् ॥१२८॥

आगे श्रीगुरु यह शिक्षा देते हैं कि तुम मोक्ष-मार्ग में प्रीति करो—

हे मूढ ! तुष ना कूट सब नश्वर दशा में भ्रान्त हो ।
घरबार तज अतिशीघ्र निर्मल मोक्षपथ में रति करो ॥१२८॥

दोहार्थ— हे मूढ ! सम्पूर्ण नश्वर पदार्थों में भ्रान्त हो तुष मत कूटो/उन्हें अपना बनाने का निरर्थक प्रयास मत करो । घर-परिवार को शीघ्र छोड़, निर्मल मोक्षमार्ग में प्रीति करो ।

टीकार्थ— ***मूढा*** हे मूढ जीव ! ***सयलु वि*** शुद्धात्मा के सिवाय अन्य सब विषयादिक ***कारिमउ*** विनाशवाले हैं, तुम ***भुल्लउ*** भ्रम से ***तुस मं कंडि*** भूसे का खंडन मत करो । तुम ***णिम्मलि*** परमपवित्र ***सिवपहि*** मोक्ष-मार्ग में ***रइ*** प्रीति ***करहि*** करो, और मोक्ष-मार्ग के उद्यमी होकर ***घरु परियणु*** घर, परिवार आदि को ***लहु*** शीघ्र ही ***छंडि*** छोड़ दो ।

हे मूढ़ ! शुद्धात्मस्वरूप के सिवाय अन्य सब पंचेन्द्रिय विषयरूप पदार्थ नाशवान हैं, तुम भ्रम से भूले हुए असार भूसे को कूटने के समान कार्य न करो। इस सामग्री को विनाशीक जानकर शीघ्र ही मोक्ष-मार्ग के घातक घर, परिवार आदि को छोड़कर, मोक्षमार्ग के उद्यमी होकर, ज्ञान-दर्शनस्वभाव शुद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप मोक्ष का मार्ग, उसमें प्रीति करो। जो मोक्ष-मार्ग रागादि से रहित होने के कारण महा निर्मल है ॥१२८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ पुनरप्यध्रुवानुप्रेक्षां प्रतिपादयति—

॥१२९-२५२॥

जोइय सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ ।
जीविं जंतिं कुडि ण गय इहु पडिछन्दा जोइ ॥

योगिन् सकलमपि कृत्रिमं निःकृत्रिमं न किमपि ।
जीवेन यातेन देहो न गतः इमं दृष्टान्तं पश्य ॥१२९॥

जोइय इत्यादि— *जोइय* हे योगिन् *सयलु वि कारिमउ* टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावाद-कृत्रिमाद्वीतरागनित्यानन्दैकस्वरूपात् परमात्मनः सकाशाद् यदन्यन्मनोवाक्कायव्यापाररूपं तत्समस्तमपि कृत्रिमं विनश्वरं *णिक्कारिमउ ण कोइ* अकृत्रिमं नित्यं पूर्वोक्तपरमात्मसदृशं संसारे किमपि नास्ति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह— *जीविं जंतिं कुडि ण गय* शुद्धात्मतत्त्वभावनारहितेन मिथ्यात्वविषयकषायासक्तेन यान्युपार्जितानि कर्माणि तत्कर्मसहितेन जीवेन भवान्तरं प्रति गच्छतापि कुडिशब्दवाच्यो देहः सहैव न गत इति हे जीव *इहु पडिछन्दा जोइ* इमं दृष्टान्तं पश्येति ।

अत्रेदमध्रुवं ज्ञात्वा देहममत्वप्रभृतिविभावरहितनिजशुद्धात्मपदार्थभावना कर्तव्या इत्यभिप्रायः॥१२९॥

.....

आगे अनित्यानुप्रेक्षा का और भी व्याख्यान करते हैं—

हे योगि ! सब कुछ क्षणिक कुछ भी नित्य ना दिखता यहाँ ।
ना जीव सँग तन कभी जाता बात यह देखो यहाँ ॥१२९॥

दोहार्थ— हे योगी ! यहाँ सभी नश्वर हैं, अविनश्वर कुछ भी नहीं है। जाते समय जीव के साथ शरीर भी नहीं जाता, यहाँ यह दृष्टांत देखो ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी! ***सयलु वि*** सभी ***कारिमउ*** विनश्वर हैं, ***णिक्कारिमउ*** अकृत्रिम ***कोइ*** कोई भी वस्तु ***ण*** नहीं है, ***जीविं जंतिं*** जीव के जाने पर उसके साथ ***कुडि ण गय इहु*** यह शरीर नहीं जाता, ***पडिछन्दा जोइ*** इस दृष्टान्त को प्रत्यक्ष देखो ।

हे योगी ! टंकोत्कीर्ण (अघटित घाट/बिना टाँकी का गढ़ा) अमूर्तिक पुरुषाकार आत्मा केवल ज्ञायक स्वभाव अकृत्रिम वीतराग परमानंदस्वरूप, उससे पृथक् जो मन-वचन-काय के व्यापार, उनको आदि ले सभी कार्य पदार्थ विनश्वर हैं । इस संसार में देहादि समस्त सामग्री अविनाशी नहीं है; जैसा शुद्ध-बुद्ध परमात्मा अकृत्रिम है, वैसा देहादि में से कोई भी नहीं है, सब क्षणभंगुर हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुद्धात्मतत्त्व की भावना से रहित जो मिथ्यात्व-विषयकषाय हैं, उनमें आसक्त होकर जीव ने जो कर्म उपार्जित किये हैं, उन कर्मों से जब यह जीव परभव में गमन करता है, तब शरीर भी साथ नहीं जाता । इसलिये इस लोक में इन देहादिक सबको विनश्वर जानकर देहादि की ममता छोड़ना चाहिये, और सकल विभाव रहित निज शुद्धात्मपदार्थ की भावना करना चाहिये ॥१२९॥

अथ तपोधनं प्रत्यध्रुवानुप्रेक्षां प्रतिपादयति—

॥१३०-२५३॥

देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ वि कव्वु ।
वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥

देवकुलं देवोऽपि शास्त्रं गुरुः तीर्थमपि वेदोऽपि काव्यम् ।
वृक्षः यद् दृश्यते कुसुमितं इन्धनं भविष्यति सर्वम् ॥१३०॥

देउलु इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते— **देउलु** निर्दोषिपरमात्मस्थापना-प्रतिमाया रक्षणार्थं देवकुलं मिथ्यात्वदेवकुलं वा, **देउ** *वि* तस्यैव परमात्मनोऽनन्त-ज्ञानादिगुणस्मरणार्थं धर्मप्रभावनार्थं वा प्रतिमास्थापनारूपो देवो रागादिपरिणतदेवता-प्रतिमारूपो वा, **सत्थु** वीतरागनिर्विकल्पात्मतत्त्वप्रभृतिपदार्थप्रतिपादकं शास्त्रं मिथ्याशास्त्रं वा, **गुरु** लोकालोकप्रकाशकेवलज्ञानादिगुणसमृद्धस्य परमात्मनः प्रच्छादको मिथ्यात्वरागादि-परिणतिरूपो महाऽज्ञानान्धकारदर्पः तद्व्यापियद्वचनदिनकरकिरणविदारितः सन् क्षणमात्रेण च विलयं गतः स च जिनदीक्षादायकः श्रीगुरुः तद्विपरीतो मिथ्यागुरुर्वा, **तित्थु** *वि* संसारतरणोपायभूतनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनारूपनिश्चयतीर्थं तत्स्वरूपरतः परमतपोधनानां आवासभूतं तीर्थकदम्बकमपि मिथ्यातीर्थसमूहो वा, **वेउ** *वि* निर्दोषिपरमात्मोपदिष्टवेदशब्दवाच्यः सिद्धान्तोऽपि परकल्पितवेदो वा, **कव्वु** शुद्धजीवपदार्थादीनां गद्यपद्याकारेण वर्णकं काव्यं लोकप्रसिद्धविचित्रकथाकाव्यं वा, **वच्छु** परमात्मभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं वनस्पतिनामकर्म तदुदयजनितं वृक्षकदम्बकं *जो दीसइ कुसुमियउ* यद् दृश्यते कुसुमितं पुष्पितं **इंधणु होसइ सव्वु** तत्सर्वं कालाग्नेरिन्धनं भविष्यति विनाशं यास्यतीत्यर्थः ।

अत्र तथा तावत् पञ्चेन्द्रियविषये मोहो न कर्तव्यः प्राथमिकानां यानि धर्मतीर्थवर्तनादिनिमित्तानि देवकुलप्रतिमादीनि तत्रापि शुद्धात्मभावना काले न कर्तव्येति संबंधः ॥१३०॥

आगे मुनिराजों को देवालय आदि सभी सामग्री अनित्य दिखलाते हुए अध्रुवानुप्रेक्षा कहते हैं—

हैं देवमंदिर देव तीरथ शास्त्र गुरु व वेद भी ।
व काव्य कुसुमित वृक्ष भी हैं नियम से सब क्षणिक ही ॥१३०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— देवालय, देव, शास्त्र, गुरु, तीर्थ, वेद, काव्य, कुसुमित वृक्ष—जो भी दिखाई दे रहा है, वह सब ईंधन हो जायेगा/नष्ट हो जावेगा ।

टीकार्थ— ***देउलु*** अरहंतदेव की प्रतिमा का स्थान/जिनालय, ***देउ वि*** श्रीजिनेंद्रदेव, ***सत्थु*** जैनशास्त्र, ***गुरु*** दीक्षा देने वाले गुरु, ***तित्थु वि*** संसार-सागर से तरने के कारण परमतपस्वियों के स्थान सम्मेदशिखर आदि, ***वेउ वि*** द्वादशांगरूप सिद्धांत, ***कव्वु*** गद्य-पद्यरूप रचना इत्यादि ***जु वच्छु कुसुमियउ दीसइ*** जो वस्तु अच्छी या बुरी दिखाई देती हैं, ***सव्वु*** वे सब ***इंधणु*** कालरूपी अग्नि का ईंधन ***होसइ*** हो जावेंगीं ।

निर्दोषी परमात्मा श्रीअरहंतदेव, उनकी प्रतिमा विराजमान करने के लिये जो गृहस्थों ने देवालय/जैनमन्दिर बनाया है,वह विनाशीक है; अनंत ज्ञानादिगुणरूप श्रीजिनेन्द्रदेव की प्रतिमा धर्म की प्रभावना के लिए भव्यजीवों ने देवालय में स्थापन की है, उसे देव कहते हैं, वह भी विनश्वर है । यह तो जिनमंदिर और जिनप्रतिमा का निरूपण किया; इसके सिवाय अन्य देवों के मंदिर और अन्य देवों की प्रतिमायें, सब ही विनश्वर हैं ।

वीतराग निर्विकल्प जो आत्मतत्त्व उसे आदि ले जीव-अजीवादि सकल पदार्थ, उनका निरूपण करने वाला जो जैनशास्त्र, वह भी यद्यपि अनादि प्रवृत्ति की अपेक्षा नित्य है; तो भी वक्ता, श्रोता, पुस्तकादि की अपेक्षा विनश्वर ही है। जैन सिवाय जो सांख्य, पातंजल आदि परशास्त्र हैं, वे भी सब विनाशीक हैं।

जिनदीक्षा देने वाले लोकालोक के प्रकाशक केवलज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण परमात्मा को रोकनेवाला जो मिथ्यात्व रागादि परिणत महा अज्ञानरूप अंधकार उसे दूर करने के लिए सूर्य समान जिनकी वचनरूपी किरणों से मोहांधकार दूर हो गया है, ऐसे महामुनि गुरु हैं, वे भी विनश्वर हैं; और उनके आचरण से विपरीत जो अज्ञान, तापस, मिथ्यागुरु वे भी क्षणभंगुर हैं ।

संसार-समुद्र तरने का कारण जो निज शुद्धात्मतत्त्व, उसकी भावना रूप जो निश्चयतीर्थ, उसमें लीन परमतपोधन के निवास स्थान सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थ, वे भी विनश्वर हैं; और जिनतीर्थ के सिवाय जो पर यतियों के निवास, वे परतीर्थ, वे भी विनाशीक हैं ।

निर्दोष परमात्मा जो सर्वज्ञ-वीतरागदेव, उनसे उपदेशित जो द्वादशांग सिद्धांत, वह वेद है; वह यद्यपि सदा सनातन है, तो भी समय-क्षेत्र की अपेक्षा विनश्वर है, किसी समय है, किसी क्षेत्र में पाया जाता है, किसी समय नहीं पाया

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जाता; भरतक्षेत्र-ऐरावतक्षेत्र में कभी प्रकट हो जाता है, कभी विलय हो जाता है; और महाविदेहक्षेत्र में यद्यपि प्रवाह से सदा शाश्वत है, तो भी वक्ता-श्रोता-व्याख्यान की अपेक्षा विनश्वर है, वे ही वक्ता-श्रोता हमेशा नहीं पाये जाते, इसीलिए विनश्वर है; और परमतियों का कहा गया जो हिंसारूप वेद, वह भी विनश्वर है ।

शुद्ध जीवादि पदार्थों का वर्णन करने वाली संस्कृत-प्राकृत छटारूप गद्य व छंदबंधरूप पद्य, उस स्वरूप और जिसमें विचित्र कथायें हैं, ऐसे सुन्दर काव्य कहे जाते हैं, वे भी विनश्वर हैं; और खोटे कवियों से प्रकाशित खोटे काव्य भी विनश्वर हैं।— इत्यादि जो-जो वस्तु सुन्दर और असुन्दर दिखाई देती हैं, वे सब कालरूपी अग्नि का ईंधन हो जावेंगीं । तात्पर्य यह है कि सब भस्म हो जावेंगीं और परमात्मा की भावना से रहित जो जीव, उसने उपार्जित किया जो वनस्पतिनामकर्म, उसके उदय से वृक्ष हुआ, सो वृक्षों के समूह जो फूले-फले दिखाई देते हैं, वे सब ईंधन हो जावेंगे ।

संसार का सब ठाठ क्षणभंगुर है, ऐसा जानकर पंचेंद्रियों के विषयों में मोह नहीं करना, विषय का राग सर्वथा त्यागने योग्य है । प्रथम अवस्था में यद्यपि धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति का निमित्त जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, जिनधर्म तथा जैनधर्मी— इनमें प्रेम करना योग्य है, तो भी शुद्धात्मा की भावना के समय यह धर्मानुराग भी नीचे स्तर का गिना जाता है, वहाँ पर केवल वीतरागभाव ही है ।।१३०।।

अथ शुद्धात्मद्रव्यादन्यत्सर्वमध्रुवमिति प्रकटयति—

।।१३१-२५४।।

एक्कु जि मेल्लिवि बंभु परु भुवणु वि एहु असेसु ।
पुहविहिँ णिम्मिउ भंगुरउ एहउ बुज्झि विसेसु ।।

एवमेव मुक्त्वा ब्रह्म परं भुवनमपि एतद् अशेषम् ।
पृथिव्यां निर्मापितं भंगुरं एतद् बुध्यस्व विशेषम् ।।१३१।।

एक्कु जि इत्यादि— ***एक्कु जि*** एकमेव ***मेल्लिवि*** मुक्त्वा । किम् ? ***बंभु परु*** परमब्रह्मशब्दवाच्यं नानावृक्षभेदभिन्नवनमिव नानाजीवजातिभेदभिन्नं शुद्धसंग्रहनयेन शुद्धजीवद्रव्यं ***भुवणु वि*** भुवनमपि ***एहु*** इदं प्रत्यक्षीभूतम् । कतिसंख्योपेतम् ? ***असेसु*** अशेषं समस्तमपि । कथंभूतमिदं सर्वं ? ***पुहविहिँ णिम्मिउ*** पृथिव्यां लोके निर्मापितं ***भंगुरउ*** विनश्वरं ***एहउ बुज्झि विसेसु*** इमं विशेषं बुध्यस्व जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट!

अयमत्र भावार्थः — विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परब्रह्मशब्दवाच्यं शुद्धजीवतत्त्वं मुक्त्वान्यत्पञ्चेन्द्रियविषयभूतं विनश्वरमिति ।।१३१।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे शुद्धात्मस्वरूप से अन्य जो सामग्री है, वह सभी विनश्वर है, ऐसा व्याख्यान करते हैं—

निज एक आतम छोड़ जग में सकल ही अध्रुव सदा ।
तू जान यह स्पष्ट निर्मित सकल ही अध्रुव सदा ।।१३१।।

दोहार्थ— एक नित्य परमब्रह्म को छोड़कर पृथ्वी पर निर्मित यह सम्पूर्ण भुवन ही क्षणभंगुर है—यह विशेष जानो ।

टीकार्थ— ***एक्कु परु बंभु जि*** एक शुद्ध जीवद्रव्यरूप परब्रह्म को ***मेल्लिवि*** छोड़कर ***पुहविहिँ*** इस लोक में ***एहु असेसु भुवणु वि णिम्मिउ*** इस समस्त लोक के पदार्थों की जो भी रचना है, वह सब ***भंगुरउ*** विनाशीक है, ***एहउ विसेसु*** इस विशेष बात को तुम ***बुज्झि*** जानो ।

शुद्धसंग्रहनय से समस्त जीव-राशि एक है । जैसे नाना प्रकार के वृक्षों से भरा हुआ वन एक कहा जाता है, उसीप्रकार नाना प्रकार के जीव, जाति की अपेक्षा एक कहे जाते हैं । वे सब जीव अविनाशी हैं, और सब देहादि की रचना विनाशीक है । शुभ-अशुभ कर्म से जो देहादि इस जगत में रचे गए हैं, वे सब विनाशीक हैं, हे प्रभाकरभट्ट! ऐसा विशेष तुम जानो; देहादि को अनित्य जानो और जीवों को नित्य जानो ।

निर्मल ज्ञान-दर्शनस्वभाव परब्रह्म (शुद्धजीव तत्त्व), उससे भिन्न जो पाँच इंद्रियों का विषयवन, वह क्षणभंगुर जानो—यहाँ यह भावार्थ है ।।१३१।।

अथ पूर्वोक्तमध्रुवत्वं ज्ञात्वा धनयौवनयोस्तृष्णा न कर्तव्येति कथयति—

।।१३२-२५५।।

जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि ण दिट्ठ ।
तें कारणि वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ।।

ये दृष्टाः सूर्योद्गमने ते अस्तमने न दृष्टाः ।
तेन कारणेन वत्स धर्मं कुरु धने यौवने का तृष्णा ।।१३२।।

जे दिट्ठा इत्यादि— ***जे दिट्ठा*** ये केचन दृष्टाः । क्व ? ***सूरुग्गमणि*** सूर्योदये ***ते अत्थवणि ण दिट्ठ*** ते पुरुषा गृहधनधान्यादिपदार्था वा अस्तमने न दृष्टाः, एवमध्रुवत्वं ज्ञात्वा । ***तें कारणि वढ धम्मु करि*** तेन कारणेन वत्स पुत्र सागारानगारधर्मं कुरु । ***धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ*** धने यौवने वा का तृष्णा न कापीति ।

तद्यथा— गृहस्थेन धने तृष्णा न कर्तव्या तर्हि किं कर्तव्यम् ? भेदाभेदरत्नत्रयाराधकानां

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सर्वतात्पर्येणाहारादिचतुर्विधं दानं दातव्यम् । नो चेत् सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्प-परमसमाधौ स्थातव्यम् । यौवनेऽपि तृष्णा न कर्तव्या, यौवनावस्थायां यौवनोद्रेकजनितविषयरागं त्यक्त्वा विषयप्रतिपक्षभूते वीतरागचिदानन्दैकस्वभावे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥१३२॥

आगे पूर्वोक्त विषय-सामग्री को अनित्य जानकर धन,यौवन और विषयों में तृष्णा नहीं करना चाहिये, ऐसा कहते हैं—

जो प्रात में दिख रहा था वह शाम को दिखता नहीं ।
इसलिए धर्म करो युवा में धनादि तृष्णा नहीं ॥१३२॥

दोहार्थ— हे शिष्य ! जो सूर्योदय पर देखे थे, वे सूर्यास्त समय दिखाई नहीं देते—इस कारण धर्म करो; धन, यौवन आदि में तृष्णा क्यों कर रहे हो ?

टीकार्थ— ***वढ*** हे शिष्य ! ***जे*** जो कुछ पदार्थ ***सूरग्गमणि*** सूर्य के उदय होने पर ***दिट्ठ*** देखे थे, ***ते*** वे ***अत्थवणि*** सूर्य अस्त होने के समय ***ण दिट्ठ*** नहीं देखे जाते, नष्ट हो जाते हैं, ***तैं कारणि*** इस कारण तुम ***धम्मु*** धर्म का पालन ***करि*** करो ***धणि*** धन और ***जोव्वणि*** यौवन अवस्था में ***कउ तिट्ठ*** क्या तृष्णा कर रहे हो ?

धन, धान्य, मनुष्य, पशु आदि पदार्थ जो सुबह के समय देखे थे, वे शाम के समय में दिखाई नहीं देते, नष्ट हो जाते हैं, ऐसा जगत का ठाठ विनाशीक जानकर इन पदार्थों की तृष्णा छोड़ो, और श्रावक का तथा यती का धर्म स्वीकार करो। धन, यौवन में क्या तृष्णा कर रहे हो, ये तो जल के बबूले के समान क्षणभंगुर हैं।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि गृहस्थ धन की तृष्णा न करे, तो क्या करे ? उसका उत्तर— निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय के आराधक जो यति, उनकी सब प्रकार से गृहस्थ को सेवा करना चाहिये, चार प्रकार का दान देना, धर्म की इच्छा रखना, धन की इच्छा नहीं करना । यदि किसी दिन प्रत्याख्यान की चौकड़ी के उदय से श्रावक के व्रत भी रहें, तो देव पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, दान, शील, उपवासादि अणुव्रतरूप धर्म करे, और यदि अधिक शक्ति हो, तो सब परिग्रह त्यागकर यती के व्रत धारण करके निर्विकल्प परमसमाधि में रहे । यती को सर्वथा धन का त्याग और गृहस्थ को धन का प्रमाण करना योग्य है । विवेकी गृहस्थ धन की तृष्णा न करें । धन, यौवन असार हैं, यौवन अवस्था में विषय तृष्णा न करें, विषय का राग छोड़कर विषयों से पराङ्मुख जो वीतराग निजानंद एक अखंड स्वभावरूप शुद्धात्मा, उसमें लीन होकर हमेशा भावना करना चाहिये ॥१३२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ धर्मतपश्चरणरहितानां मनुष्यजन्म वृथेति प्रतिपादयति—

॥१३३-२५६॥

धम्मु ण संचिउ तउ ण किउ रुक्खें चम्ममएण ।
खज्जिवि जर-उद्देहियए णरइ पडिव्वउ तेण ॥

धर्मो न संचितः तपो न कृतं वृक्षेण चर्ममयेन ।
खादयित्वा जरोद्रेहिकया नरके पतितव्यं तेन ॥१३३॥

धम्मु इत्यादि— *धम्मु ण संचिउ* धर्मसंचयो न कृतः गृहस्थावस्थायां दानशीलपूजोपवासादिरूपसम्यक्त्वपूर्वको गृहिधर्मो न कृतः, दार्शनिकव्रतिकाद्येकादशविधश्रावकधर्मरूपो वा । *तउ ण किउ* तपश्चरणं न कृतं तपोधनेन तु समस्तबहिर्द्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा अनशनादिद्वादशविधतपश्चरणबलेन निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा निरन्तरं भावना न कृता। केन कृत्वा ? *रुक्खे चम्ममएण* वृक्षेण मनुष्यशरीरचर्मनिर्वृत्तेन । येनैवं न कृतं गृहस्थेन तपोधनेन वा *णरइ पडिव्वउ तेण* नरके पतितव्यं तेन । किं कृत्वा ? खज्जिवि भक्षयित्वा । कया कर्तृभूतया ? *जरउद्देहियए* जरोद्रेहिकया ।

इदमत्र तात्पर्यम्— गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयस्वरूपमुपादेयं कृत्वा भेदरत्नत्रयात्मकः श्रावकधर्मः कर्तव्यः, यतिना तु निश्चयरत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिकरत्नत्रयबलेन विशिष्टतपश्चरणं कर्तव्यं, नो चेत् दुर्लभपरंपरया प्राप्तं मनुष्यजन्म निष्फलमिति ॥१३३॥

आगे जो धर्म से रहित हैं, और तपश्चरण भी नहीं करते हैं, उनका मनुष्य जन्म वृथा है, ऐसा कहते हैं—

ना धर्म संचित किया तप ना किया नर तन वृक्ष से ।
तो जरा दीमक खा इसे डालेगा नरकों में इसे ॥१३३॥

दोहार्थ— यदि उस चर्ममय शरीर रूपी वृक्ष द्वारा धर्म नहीं किया, तप भी नहीं किया, तो जरा रूपी दीमक उसे खाकर नरक में गिरा देगा ।

टीकार्थ— जिसने ***चम्ममएण रुक्खें*** मनुष्य शरीररूपी चर्ममयी वृक्ष को पाकर, उससे ***धम्मु ण संचिउ*** धर्म नहीं किया, और ***तउ ण किउ*** तप भी नहीं किया, उसका शरीर ***जर उद्देहियए खज्जिवि*** वृद्धावस्थारूपी दीमक कीड़े द्वारा खाया जाकर, फिर ***तेण*** उसको मरकर ***णरइ पडिव्वउ*** नरक में पड़ना पड़ेगा।

गृहस्थ अवस्था में जिसने सम्यक्त्वपूर्वक दान, शील, पूजा, उपवासादिरूप गृहस्थ का धर्म नहीं किया; दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमा के भेदरूप श्रावक का धर्म धारण नहीं किया; तथा मुनि होकर सब पदार्थों की इच्छा का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निरोध कर, अनशन आदि बारह प्रकार का तप नहीं किया, तपश्चरण के बल से शुद्धात्मा के ध्यान में ठहरकर, निरंतर भावना नहीं की; मनुष्य के शरीररूप चर्ममयी वृक्ष को पाकर, यती का व श्रावक का धर्म नहीं किया; तो उनका शरीर वृद्धावस्थारूपी दीमक के कीड़े खावेंगे, फिर वह नरक में जावेगा ।

इसलिये गृहस्थ को तो यह योग्य है कि अभेदरत्नत्रय की श्रद्धाकर, निजस्वरूप उपादेय जान, भेद रत्नत्रयरूप श्रावक का धर्म पालना; और यती को यह योग्य है कि निश्चयरत्नत्रय में ठहरकर, व्यवहार रत्नत्रय के बल से महा तप करना । यदि यती का व श्रावक का धर्म नहीं बना, अणुव्रत भी नहीं पाले, तो महा दुर्लभ मनुष्य-देह का पाना निष्फल है, उससे कुछ लाभ नहीं ।।१३३।।

अथ हे जीव जिनेश्वरपदे परमभक्तिं कुर्विति शिक्षां ददाति—

।।१३४-२५७।।

अरि जिय जिण-पइ भत्ति करि सुहि सज्जणु अवहेरि ।
तिं बप्पेण वि कज्जु णवि जो पाडइ संसारि ।।

अरे जीव जिनपदे भक्तिं कुरु सुखं स्वजनं अपहर ।
तेन पित्रापि कार्यं नैव यः पातयति संसारे ।।१३४।।

अरि जिय इत्यादि— *अरि जिय* अहो भव्यजीव *जिणपइ भत्ति करि* जिनपदे भक्तिं कुरु गुणानुरागवचननिमित्तं जिनेश्वरेण प्रणीतश्रीधर्मे रतिं कुरु *सुहि सज्जणु अवहेरि* संसारसुखसहकारिकारणभूतं स्वजनं सुखं गोत्रमप्यपहर त्यज । कस्मात् ? *तिं बप्पेण वि* तेन स्नेहितपित्रापि *कज्जु णवि* कार्यं नैव । यः किं करोति ? *जो पाडइ* यः पातयति । क्व ? *संसारि* संसारसमुद्रे ।

तथा च— हे आत्मन्, अनादिकाले दुर्लभे वीतरागसर्वज्ञप्रणीते रागद्वेषमोहरहिते जीवपरिणामलक्षणे शुद्धोपयोगरूपे निश्चयधर्मे व्यवहारधर्मे च पुनः षडावश्यकादिलक्षणे गृहस्थापेक्षया दानपूजादिलक्षणे वा शुभोपयोगस्वरूपे रतिं कुरु । इत्थंभूते धर्मे प्रतिकूलो यः तं मनुष्यं स्वगोत्रजमपि त्यज, धर्मसन्मुखं तदनुकूलं परगोत्रजमपि स्वीकुर्विति । अत्रायं भावार्थः — विषयसुखनिमित्तं यथानुरागं करोति जीवस्तथा यदि जिनधर्मं करोति तर्हि संसारे न पततीति । तथा चोक्तम्—

''विसयहँ कारणि सव्वु जणु जिम अणुराउ करेइ ।
तिम जिणभासिए धम्मि जइ णउ संसारि पडेइ ।।''।।१३४।।

आगे श्रीगुरु शिष्य को यह शिक्षा देते हैं कि तुम जिनेश्वर के चरणारविंदों की परमभक्ति करो—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हे जीव ! जिनपद भक्ति कर सुखभूत स्वजन छोड़ दे ।
उस पिता से भी काम ना भव में गिराता जो तुझे ।।१३४।।

दोहार्थ— हे जीव ! सुखमय स्वजन छोड़कर जिनपद में भक्ति करो । अन्य की बात तो दूर; उस पिता से भी काम नहीं है, जो संसार में गिराता है ।

टीकार्थ— ***अरि जिय*** हे भव्य जीव ! तुम ***जिणपइ*** जिनपद में ***भत्ति करि*** भक्ति करो, और जिनेश्वर के कहे हुए जिनधर्म में प्रीति करो, ***सुहि*** संसार-सुख के निमित्तकारण जो ***सज्जणु*** अपने कुटुम्ब के जन, उनको ***अवहेरि*** त्याग दो; अन्य की तो बात ही क्या है ? ***तिं बप्पेण वि कज्जु णवि*** उस महास्नेह रूप पिता से भी कुछ काम नहीं है, ***जो संसारि पाडइ*** जो संसार-समुद्र में इस जीव को गिरा दे ।

हे आत्माराम ! अनादिकाल से दुर्लभ जो वीतराग-सर्वज्ञ का कहा हुआ, राग-द्वेष-मोहरहित शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म और शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म; उनमें भी छह आवश्यकरूप यती का धर्म, तथा दान-पूजादि श्रावक का धर्म—यह शुभाचाररूप दो प्रकार का धर्म, उसमें प्रीति करो । इस धर्म से विमुख यदि अपने कुल का मनुष्य है तो उसे छोड़ दो, और इस धर्म के सन्मुख यदि पर कुटुम्ब का भी मनुष्य हो, तो उससे प्रीति करो ।

तात्पर्य यह है कि यह जीव जैसी विषय-सुख से प्रीति करता है, वैसी यदि जिनधर्म से करे तो संसार में नहीं भटके । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि ''जैसा विषयों के कारणों में यह जीव बारम्बार प्रेम करता है, वैसा यदि जिनधर्म में करे, तो संसार में भ्रमण न करे'' ।।१३४।।

अथ येन चित्तशुद्धिं कृत्वा तपश्चरणं न कृतं तेनात्मा वञ्चितं इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

।।१३५-२५८।।

जेण ण चिण्णउ तवयरणु णिम्मलु चित्तु करेवि ।
अप्पा वंचिउ तेण पर माणुस-जम्मु लहेवि ।।

येन न चीर्णं तपश्चरणं निर्मलं चित्तं कृत्वा ।
आत्मा वञ्चितः तेन परं मनुष्यजन्म लब्ध्वा ।।१३५।।

जेण इत्यादि— *जेण* येन जीवेन *ण चिण्णउ* न चीर्णं न चरितं न कृतम् । किम्? *तवयरणु* बाह्याभ्यन्तरतपश्चरणम् । किं कृत्वा ? *णिम्मलु चित्तु करेवि* कामक्रोधादिरहितं वीतरागचिदानन्दैकसुखामृततृप्तं निर्मलं चित्तं कृत्वा । *अप्पा वंचिउ तेण पर* आत्मा वञ्चितः

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तेन परं नियमेन । किं कृत्वा ? *लहेवि* लब्ध्वा । किम् ? *माणुसजम्मु* मनुष्यजन्मेति ।

तथाहि— दुर्लभपरंपरारूपेण मनुष्यभवे लब्धे तपश्चरणेऽपि च निर्विकल्पसमाधिबलेन रागादिपरिहारेण चित्तशुद्धिः कर्तव्येति । येन चित्तशुद्धिर्न कृता स* आत्मवञ्चक इति भावार्थः । तथा चोक्तम्—

''चित्ते बद्धे बद्धो मुक्के मुक्को त्ति णत्थि संदेहो ।
अप्पा विमलसहावो मइलिज्जइ मइलिए चित्ते ।।''।।१३५।।

आगे जिसने चित्त की शुद्धता करके तपश्चरण नहीं किया, उसने अपना आत्मा ठग लिया, यह अभिप्राय मन में रखकर व्याख्यान करते हैं—

निज चित्त निर्मल बना जिसने तपश्चरण किया नहीं ।
नर जन्म को पाकर भी उसने आतमा को ठगा ही ।।१३५।।

दोहार्थ— मनुष्य जन्म को प्राप्त कर भी जिसने निर्मल चित्त कर तपश्चरण नहीं किया, उसने मात्र आत्मा ही ठगा है ।

टीकार्थ— ***जेण*** जिस जीव ने ***तवयरणु ण*** बाह्याभ्यन्तर तप नहीं ***चिण्णउ*** किया, ***णिम्मलु चित्तु*** महा निर्मल चित्त ***करेवि*** करके, उसने ***माणुस जम्मु*** मनुष्यजन को ***लहेवि*** पाकर, ***पर*** केवल ***अप्पा*** अपना आत्मा ***वंचिउ*** ठगा।

महान दुर्लभ इस मनुष्य-देह को पाकर जिसने विषय-कषाय का सेवन किया; परन्तु क्रोधादि रहित वीतराग चिदानंद सुखरूपी अमृत से तृप्त हो, अपना चित्त निर्मल करके, अनशनादि तप न किया; वह आत्मघाती है, अपने आत्मा को ठगने वाला है । एकेंद्रिय पर्याय से विकलत्रय होना दुर्लभ है, विकलत्रय से असैनी पंचेन्द्रिय होना, असैनी पंचेंद्रिय से सैनी होना, सैनी तिर्यंच से मनुष्य होना दुर्लभ है । मनुष्य में भी आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, दीर्घ आयु, सतसंग, धर्मश्रवण, धर्म का धारण और उसे जीवनपर्यन्त निभाना—ये सब बातें दुर्लभ हैं; सबसे दुर्लभ (कठिन) आत्मज्ञान है, जिससे कि चित्त शुद्ध होता है । ऐसी महादुर्लभ मनुष्यदेह पाकर तपश्चरण अंगीकार करके, निर्विकल्प समाधि के बल से रागादि का त्याग कर, परिणाम निर्मल करना चाहिये; जिन्होंने चित्त को निर्मल नहीं किया, वे आत्मा को ठगने वाले हैं ।

ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि ''चित्त के बँधने से यह जीव कर्मों से बँधता है । जिनका चित्त परिग्रह से धन-धान्यादि में आसक्त हुआ, वे ही कर्मबंधन से बँधते हैं; और जिनका चित्त परिग्रह से छूटा, आशा (तृष्णा) से अलग हुआ, वे ही मुक्त हुए—इसमें संदेह नहीं है । यह आत्मा निर्मल स्वभाव है, सो चित्त के मैले होने से मैला होता है।''।।१३५।।

* पाठान्तरः — स = स आत्मा ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत्र पञ्चेन्द्रियविजयं दर्शयति—

॥१३६-२५९॥

ए पंचिंदिय-करहडा जिय मोक्कला म चारि ।
चरिवि असेसु वि विसय-वणु पुणु पाडहिँ संसारि ॥

एते पञ्चेन्द्रियकरभकाः जीव मुक्तान् मा चारय ।
चरित्वा अशेषं अपि विषयवनं पुनः पातयन्ति संसारे ॥१३६॥

ए इत्यादि— *ए* एते प्रत्यक्षीभूताः *पंचिंदियकरहडा* अतीन्द्रियसुखास्वादरूपात्परमात्मनः सकाशात् प्रतिपक्षभूताः पञ्चेन्द्रियकरहटा उष्ट्राः *जिय* हे मूढजीव *मोक्कला म चारि* स्वशुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दैकरूपसुखपराङ्मुखो भूत्वा स्वेच्छया मा चारय व्याघुट्टय । यतः किं कुर्वन्ति ? *पाडहिँ* पातयन्ति । कम् ? जीवम् । क्व ? *संसारि* संसारे निःसंसारशुद्धात्मप्रतिपक्षभूते पञ्चप्रकारसंसारे *पुणु* पश्चात् । किं कृत्वा पूर्वम् ? *चरिवि* चरित्वा भक्षणं कृत्वा । किम् ? *विसयवणु* पञ्चेन्द्रियविषयवनमित्यभिप्रायः ॥१३६॥

.....

आगे पाँच इंद्रियों का जीतना दिखलाते हैं—

करभक समान हैं पाँच इन्द्रिय मुक्त ना छोड़ो इन्हें ।
ये विषय वन सम्पूर्ण चरकर गिरातीं संसार में ॥१३६॥

दोहार्थ— ये पंचेन्द्रिय रूपी करभक/ऊँट सम्पूर्ण विषयवन को चरकर फिर संसार में ही गिरा देते हैं, अतः हे जीव ! इन्हें स्वेच्छा से चरने मत दो ।

टीकार्थ— ***ए*** ये प्रत्यक्ष ***पंचिंदिय करहडा*** पाँच इंद्रियरूपी ऊँट हैं, उनको ***मोक्कला*** अपनी इच्छा से ***म चारि*** मत चरने दो, क्योंकि ***असेसु वि*** सम्पूर्ण ***विसयवणु*** विषय-वन को ***चरिवि*** चरकर ये ***पुणु*** फिर ***संसारि पाडहिँ*** संसार में ही गिरा देते हैं ।

ये पाँचों इन्द्रियाँ अतींद्रिय-सुख के आस्वादनरूप परमात्मा से पराङ्मुख हैं; उनको हे मूढ़जीव! तुम शुद्धात्मा की भावना से पराङ्मुख होकर स्वच्छंद मत करो; अपने वश में रखो; ये तुम्हें संसार में पटक देंगी, इसलिये इनको विषयों से पीछे लौटाओ । संसार से रहित शुद्ध आत्मा से विपरीत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार के संसार में ये पंचेन्द्रियरूपी ऊँट स्वच्छंद हुए विषय-वन को चरके, जगत के जीवों को जगत में ही पटक देंगे, यह तात्पर्य जानना ॥१३६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ ध्यानवैषम्यं कथयति—

॥१३७-२६०॥

जोइय विसमी जोय-गइ मणु संठवण ण जाइ ।
इंदिय-विसय जि सुक्खडा तित्थु जि वलि वलि जाइ ॥

योगिन् विषमा योगगतिः मनः संस्थापयितुं न याति ।
इन्द्रियविषयेषु एव सुखानि तत्र एव पुनः पुनः याति ॥१३७॥

जोइय इत्यादि— *जोइय* हे योगिन् *विसमी जोयगइ* विषमा योगगतिः । कस्मात् ? *मणु संठवण ण जाइ* निजशुद्धात्मन्यतिचपलं मर्कटप्रायं मनो धर्तुं न याति। तदपि कस्मात् ? *इंदियविसय जि सुक्खडा* इन्द्रियविषयेषु यानि सुखानि *वलि वलि तित्थु जि जाइ* वीतरागपरमाह्लादसमरसीभावपरमसुखरहितानां अनादिवासनावासितपञ्चेन्द्रिय-विषयसुखास्वादासक्तानां जीवानां पुनः पुनः तत्रैव गच्छतीति भावार्थः ॥१३७॥

.....

आगे ध्यान की कठिनता दिखलाते हैं—

हे योगि ! मन की विषमगति जो रोकते रुकती नहीं ।
है सौख्य पंचेन्द्रिय-विषय में मान जाता है वहीं ॥१३७॥

दोहार्थ— मन स्थिर न होने के कारण हे योगी ! योगगति विषम है; वह इन्द्रिय-विषयों में ही सुख मानकर बारम्बार वहाँ ही जाता है ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी! ***जोयगइ*** ध्यान की गति ***विसमी*** महाविषम है, क्योंकि ***मणु*** चित्तरूपी बन्दर चपल होने से, निज शुद्धात्मा में ***संठवण ण जाइ*** स्थिरता को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि ***इंदिय विसय जि*** इन्द्रियों के विषयों में ही ***सुक्खडा*** सुख मान रहा है, इसलिये ***तित्थु जि*** उन्हीं विषयों में ***वलि वलि*** फिर-फिर अर्थात् बार-बार ***जाइ*** जाता है ।

वीतराग परम आनंद समरसी भावरूप अतींद्रिय सुख से रहित जो यह संसारी जीव है, उसका मन अनादिकालीन अविद्या की वासना में वस रहा है, इसलिये पंचेन्द्रियों के विषय-सुखों में आसक्त है; जगत के इन जीवों का मन बारम्बार विषय-सुखों में जाता है, और निजस्वरूप में नहीं लगता, इसलिये ध्यान की गति विषम (कठिन) है ॥१३७॥

परिणामादो बंधो मुक्खो — परिणाम से ही बंध-मोक्ष होता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ स्थलसंख्याबाह्यं प्रक्षेपकं कथयति—

सो जोइउ जो जोगवइ दंसणु णाणु चरित्तु ।
होयवि पंचहँ बाहिरउ झायंतउ परमत्थु ॥५-८॥

स योगी यः पालयति (?) दर्शनं ज्ञानं चारित्रम् ।
भूत्वा पञ्चेभ्यः बाह्यः ध्यायन् परमार्थम् ॥५॥

सो इत्यादि— *सो जोइउ* स योगी ध्यानी भण्यते । यः किं करोति ? *जो जोगवइ* यः कर्ता प्रतिपालयति रक्षति । किम् ? *दंसणु णाणु चरित्तु* निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयम् । किं कृत्वा ? *होयवि* भूत्वा । कथंभूतः ? *बाहिरउ* बाह्यः । केभ्यः ? *पंचहँ* पञ्चपरमेष्ठिभावनाप्रतिपक्षभूतेभ्यः पञ्चमगतिसुखविनाशकेभ्यः पञ्चेन्द्रियेभ्यः । किंकुर्वाणः ? *झायंतउ* ध्यायन् सन् । कम् ? *परमत्थु* परमार्थशब्दवाच्यं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानमिति तात्पर्यम् ।

योगशब्दस्यार्थ कथ्यते— 'युज्' समाधौ इति धातुनिष्पन्नेन योगशब्देन वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरुच्यते । अथवानन्तज्ञानादिरूपे स्वशुद्धात्मनि योजनं परिणमनं योगः, स इत्थंभूतो योगो यस्यास्तीति स तु योगी ध्यानी तपोधन इत्यर्थः ॥५॥

आगे स्थल-संख्या के बाह्य जो प्रक्षेपक दोहे हैं, उन्हें कहते हैं —

है योगि दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा पालन करे ।
जो पँच से हो विमुख नित परमार्थ का सेवन करे ॥५-८॥

दोहार्थ— जो पाँच इन्द्रियों से विमुख हो परमार्थ का ध्यान करता हुआ दर्शन, ज्ञान, चारित्र का पालन करता है, वह योगी है ।

टीकार्थ— ***सो जोइय*** वही ध्यानी है, ***जो*** जो ***पंचहँ*** पंचेंद्रियों से ***बाहिरउ होयवि*** बाहर (अलग) होकर ***परमत्थु*** निज परमात्मा का ***झायंतउ*** ध्यान करता हुआ ***दंसणुणाणुचरित्तु*** दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नत्रय को ***जोगवइ*** पालता है, उसकी रक्षा करता है ।

जिसके परिणाम निज शुद्धात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय में ही लीन हैं जो पंचमगतिरूपी मोक्ष-सुख का विनाश करने वाली और पंचपरमेष्ठी की भावना से रहित—ऐसी पंचेंद्रियों से पृथक् हो गया है, वही योगी है ।

योग शब्द का अर्थ ऐसा है कि ('समाधि'अर्थ में प्रयुक्त 'युज्' धातु से निष्पन्न 'योग' से वीतराग-निर्विकल्प समाधि कही जाती है । अथवा अनन्तज्ञानादि रूप स्व शुद्धात्मा में योजन, परिणमन योग है ।) अपना मन चेतन में लगाना;वह योग जिसके हो, वही योगी है, वही ध्यानी है, वही तपोधन है; यह निःसंदेह जानना ॥५॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ पञ्चेन्द्रियसुखस्यानित्यत्वं दर्शयति—

॥१३८-२६१॥

विसय-सुहइँ बे दिवहडा पुणु दुक्खहँ परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पण खंधि कुहाडि ॥

विषयसुखानि द्वे दिवसके पुनः दुःखानां परिपाटी ।
भ्रान्त जीव मा वाहय त्वं आत्मनः स्कन्धे कुठारम् ॥१३८॥

विसय इत्यादि— *विसयसुहइँ* निर्विषयान्नित्याद्वीतरागपरमानन्दैकस्वभावात् परमात्मसुखात्प्रतिकूलानि विषयसुखानि *बे दिवहडा* दिनद्वयस्थायीनि भवन्ति । *पुणु* पुनः पश्चाद्दिनद्वयानन्तरं *दुक्खहँ परिवाडि* आत्मसुखबहिर्मुखेन, विषयासक्तेन जीवेन यान्युपार्जितानि पापानि तदुदयजनितानां नारकादिदुःखानां परिपाटी प्रस्तावः एवं ज्ञात्वा *भुल्लउ जीव* हे भ्रांत जीव *म वाहि तुहुँ* मा निक्षिप त्वम् । कम् ? *कुहाडि* कुठारम्। क्व ? *अप्पण खंधि* आत्मीयस्कन्धे ।

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा विषयसुखं त्यक्त्वा वीतरागपरमात्मसुखे च स्थित्वा निरन्तरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥१३८॥

.....

आगे पंचेन्द्रियों के सुख को विनाशीक बतलाते हैं—

हैं विषयसुख बस दो दिनों के पुनः दुःख परम्परा ।
यों जान भोले जीव ! कन्धे पर कुल्हाड़ी मत गिरा ॥१३८॥

दोहार्थ— दो दिन के क्षणिक विषयसुख, बाद में दुःखों की परम्परा देते हैं; अतः हे भ्रान्त जीव ! तुम अपने कन्धों पर कुल्हाड़ी मत चलाओ/इनमें उलझकर आत्मघात मत करो ।

टीकार्थ— ***विसयसुहइँ*** विषयों के सुख ***बे दिवहडा*** दो दिन के हैं, ***पुणु*** फिर बाद में ***दुक्खहँ परिवाडि*** ये विषय दुःख की परिपाटी हैं, ऐसा जानकर ***भुल्लउ जीव*** हे भोले जीव ! ***तुहुँ*** तुम ***अप्पण खंधि*** अपने कंधे पर ***कुहाडि*** आप ही कुल्हाड़ी को ***म वाहि*** मत चलाओ ।

ये विषय क्षणभंगुर हैं, बारम्बार दुर्गति के दुःख देने वाले हैं; इसलिये विषयों का सेवन, अपने कंधे पर कुल्हाड़ी का मारना है, अर्थात् अपने को नरक में डुबोना है; ऐसा व्याख्यान जानकर विषय-सुखों को छोड़, वीतराग परमात्म-सुख में ठहरकर, निरन्तर शुद्धोपयोग की भावना करना चाहिये ॥१३८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथात्मभावनार्थं योऽसौ विद्यमानविषयान् त्यजति तस्य प्रशंसां करोति—

॥१३९-२६२॥

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥

सतः विषयान् यः परिहरति बलिं करोमि अहं तस्य ।
स दैवेन एव मुण्डितः शीर्षं खल्वाटं यस्य ॥१३९॥

संता इत्यादि— *संता विसय* कटुकविषप्रख्यान् किंपाकफलोपमानलब्धपूर्वनिरुपरागशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भरूपनिश्चयधर्मचौरान् विद्यमानविषयान् *जु परिहरइ* यः परिहरति *बलि किज्जउँ हउँ तासु* बलिं पूजां करोमि तस्याहमिति— श्रीयोगीन्द्रदेवाः स्वकीयगुणानुरागं प्रकटयन्ति । विद्यमानविषयत्यागे दृष्टान्तमाह— *सो दइवेण जि मुंडियउ* स दैवेन मुण्डितः । स कः ? *सीसु खडिल्लउ जासु* शिरः खल्वाटं यस्येति ।

अत्र पूर्वकाले देवागमनं दृष्ट्वा सप्तर्द्धिरूपं धर्मातिशयं दृष्ट्वा अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानोत्पत्तिं दृष्ट्वा भरतसगररामपाण्डवादिकमनेकराजाधिराजमणिमुकुटकिरणकलापचुम्बितपादारविन्दजिनधर्मरतं दृष्ट्वा च परमात्मभावनार्थं केचन विद्यमानविषयत्यागं कुर्वन्ति तद्भावनारतानां दानपूजादिकं च कुर्वन्ति तत्राश्चर्यं नास्ति इदानीं पुनः —

''देवागमपरिहीणे कालेऽतिशयवर्जिते ।
केवलोत्पत्तिहीने तु हलचक्रधरोज्झिते ॥''

—इति श्लोककथितलक्षणे दुष्षमकाले यत्कुर्वन्ति तदाश्चर्यमिति भावार्थः ॥१३९॥

आगे आत्म-भावना के लिये जो विद्यमान विषयों को छोड़ता है, उसकी प्रशंसा करते हैं —

पाकर विषय जो छोड़ते मैं वन्दना उनकी करूँ ।
जो दैववश शिरकेश विरहित उन्हें तो मैं क्या कहूँ? ॥१३९॥

दोहार्थ— जो विद्यमान विषयों को छोड़ देता है, मैं उनकी पूजा करता हूँ । जिसका शिर गंजा है, वह तो वास्तव में दैव द्वारा ही मूँड़ा गया है ।

टीकार्थ— ***जु*** जो कोई ज्ञानी ***संता विसय*** विद्यमान विषयों को ***परिहरइ*** छोड़ देता है, ***तासु*** उसकी ***हउँ*** मैं ***बलि*** पूजा ***किज्जउँ*** करता हूँ; क्योंकि ***जासु सीसु*** जिसका शिर ***खडिल्लउ*** गंजा है, ***सो*** वह तो ***दइवेण जि*** दैव से ही ***मुंडियउ*** मूड़ा हुआ है, वह मुंडित नहीं कहा जा सकता ।

देखने में मनोज्ञ विष-फल समान इन्द्रियादि के जो विद्यमान विषय हैं, वे वीतराग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्तिरूप निश्चयधर्मस्वरूप रत्न के चोर हैं, उनको जो ज्ञानी छोड़ते हैं, उनकी बलिहारी श्रीयोगीन्दुदेव करते हैं, अर्थात् अपना गुणानुराग प्रगट करते हैं। जो वर्तमान विषयों के प्राप्त होने पर भी उन्हें छोड़ते हैं, वे महापुरुषों से प्रशंसा योग्य हैं, अर्थात् सम्पदा विद्यमान होते हुए भी जो उसे त्याग कर, वीतराग मार्ग की आराधना करते हैं, वे तो सत्पुरुषों से सदा ही प्रशंसा के योग्य हैं, और जिसके कुछ भी सामग्री नहीं है, परंतु तृष्णा से दु:खी हो रहा है; अर्थात् जिसके विषय तो विद्यमान नहीं हैं, तो भी उनका अभिलाषी है, वह महानिंद्य है ।

चतुर्थकाल में तो इस क्षेत्र में देवों का आगमन था, उनको देखकर धर्म की रुचि होती थी, और नाना प्रकार की ऋद्धियों के धारी महामुनियों का अतिशय देखकर ज्ञान की प्राप्ति होती थी, तथा अन्य जीवों को अवधि-मन:पर्यय-केवलज्ञान की उत्पत्ति देखकर सम्यक्त्व की सिद्धि होती थी । जिनके चरणारविन्दों को बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा नमस्कार करते थे, ऐसे बड़े-बड़े राजाओं से सेवनीक भरत, सगर, राम, पांडवादि अनेक चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण तथा मंडलीक राजाओं को जिनधर्म में लीन देखकर भव्यजीवों को जिनधर्म की रुचि उत्पन्न होती थी; तब परमात्म-भावना के लिए विद्यमान विषयों का त्याग करते थे । और जब तक गृहस्थपने में रहते थे, तब तक दान-पूजादि शुभ क्रियायें करते थे, चार प्रकार के संघ की सेवा करते थे । इसलिये पहले समय में तो ज्ञानोत्पत्ति के अनेक कारण थे, ज्ञान उत्पन्न होने का अचंभा नहीं था । लेकिन अब इस पंचमकाल में इतनी सामग्री नहीं हैं ।

ऐसा कहा भी है कि ''इस पंचमकाल में देवों का आगमन तो बंद हो गया है, और कोई अतिशय नहीं देखा जाता । यह काल धर्म के अतिशय से रहित है, और केवलज्ञान की उत्पत्ति से रहित है; तथा हलधर, चक्रवर्ती आदि शलाकापुरुषों से रहित है''—ऐसे दु:षमकाल में जो भव्यजीव धर्म को धारण करते हैं, यती-श्रावक के व्रत आचरते हैं, यह अचंभा है । वे पुरुष धन्य हैं, सदा प्रशंसा योग्य हैं ।।१३९।।

अथ मनोजये कृते सतीन्द्रियजय: कृतो भवतीति प्रकटयति—

।।१४०-२६३।।

पंचहँ णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ तरुवरहँ अवसइँ सुक्कहिं पण्ण ।।

पञ्चानां नायकं वशीकुरुत येन भवन्ति वशे अन्यानि ।
मूले विनष्टे तरुवरस्य अवश्यं शुष्यन्ति पर्णानि ।।१४०।।

***पंचहँ* इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते— *पंचहँ* पञ्चज्ञानप्रतिपक्षभूतानां**

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पञ्चेन्द्रियाणां *णायकु* रागादिविकल्परहितपरमात्मभावनाप्रतिकूलं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूप-प्रभृतिसमस्तापध्यानजनितविकल्पजालरूपं मनोनायकं हे भव्याः *वसिकरहु* विशिष्ट-भेदभावनाङ्कुशबलेन स्वाधीनं कुरुत । येन स्वाधीनेन किं भवति । *जेण होंति वसि अण्ण* येन वशीकृतेनान्यानीन्द्रियाणि वशीभवन्ति । दृष्टान्तमाह— *मूल विणट्ठइ तरुवरहँ* मूले विनष्टे तरुवरस्य *अवसइँ सुक्कहिं पण्ण* अवश्यं नियमेन शुष्यन्ति पर्णानि इति।

अयमत्र भावार्थः — निजशुद्धात्मतत्त्वभावनार्थं येन केनचित्प्रकारेण मनोजयः कर्तव्यः तस्मिन् कृते जितेन्द्रियो भवति । तथा चोक्तम्—

''येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः ।
*स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ।।''** ।।१४०।।

.....

आगे मन के जीतने से इन्द्रियों का जय होता है, जिसने मन को जीता, उसने सब इन्द्रियों को जीत लिया, ऐसा व्याख्यान करते हैं—

तुम वश करो मन सदा जिससे वश रहें पंचेन्द्रियाँ ।
ज्यों मूल क्षय से वृक्ष के पत्ते स्वयं सूखें सदा ।।१४०।।

दोहार्थ— जैसे वृक्ष की जड़ के विनाश से पत्ते अवश्य सूख जाते हैं; उसीप्रकार तुम पाँचों इन्द्रियों के नायक मन को वश करो, जिससे अन्य वश में हो जाते हैं ।

टीकार्थ— *पंचहँ णायकु* पाँच इन्द्रियों के स्वामी मन को तुम ***वसिकरहु*** वश में करो ***जेण*** जिस मन के वश होने से ***अण्ण वसि होंति*** अन्य पाँच इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं । जैसे कि ***तरुवरहँ*** वृक्ष की ***मूल विणट्ठइ*** जड़ के नष्ट हो जाने से ***पण्ण*** पत्ते ***अवसइँ*** अवश्य ही ***सुक्कहिं*** सूख जाते हैं ।

पाँच ज्ञान से पराङ्मुख स्पर्शन, रसना, घ्राण,चक्षु, श्रोत्र—इन पाँच इन्द्रियों का स्वामी मन है; वह मन रागादि विकल्प रहित परमात्मा की भावना से विमुख और देखे, सुने, भोगे हुए भोगों की वाँछारूप आर्त, रौद्र मय समस्त खोटे ध्यानों से उत्पन्न अनेक विकल्पजालमयी है । इस चंचलमनरूपी हस्ती को भेदविज्ञान की भावनारूप अंकुश के बल से वश में करो, अपने आधीन करो । जिसके वश करने से सब इन्द्रियाँ वश में हो सकती हैं, जैसे जड़ के टूट जाने से वृक्ष के पत्ते नियम से सूख जाते हैं ।

यहाँ भावार्थ यह है कि निज शुद्धात्मा की भावना के लिये जिस-तिस प्रकार से मन को जीतना चाहिये । ऐसा ही अन्य जगह भी कहा है कि ''जिस उपाय से चंचल मन को वश में करना शक्य हो, उस उपाय से उदास नहीं होना । जगत से उदास होकर मन जीतने का उपाय करना ।'' ।।१४०।।

---

* तत्त्वानुशासन, पद्य ७८ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ हे जीव विषयासक्तः सन् कियन्तं कालं गमिष्यसीति संबोधयति—

॥१४१-२६४॥

विसयासत्तउ जीव तुहुँ कित्तिउ कालु गमीसि ।
सिव-संगमु करि णिच्चलउ अवसइँ मुक्खु लहीसि ॥

विषयासक्तः जीव त्वं कियन्तं कालं गमिष्यसि ।
शिवसंगमं कुरु निश्चलं अवश्यं मोक्षं लभसे ॥१४१॥

विसय इत्यादि— *विसयासत्तउ* शुद्धात्मभावनोत्पन्नवीतरागपरमानन्दस्यन्दि-पारमार्थिकसुखानुभवरहितत्वेन विषयासक्तो भूत्वा *जीव* हे अज्ञानिजीव *तुहुँ* त्वं *कित्तिउ कालु गमीसि* कियन्तं कालं गमिष्यसि बर्हिमुखभावेन नयसि । तर्हि किं करोमीत्यस्य प्रत्युत्तरमाह—*सिवसंगमु करि* शिवशब्दवाच्यो योऽसौ केवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वकीयशुद्धात्मा तत्र संगमं संसर्गं कुरु । कथंभूतम् ? *णिच्चलउ* घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि मेरुवन्निश्चलं तेन निश्चलात्मध्यानेन *अवसइँ मुक्खु लहीसि* नियमेनानन्तज्ञानादिगुणास्पदं मोक्षं लभसे त्वमिति तात्पर्यम् ॥१४१॥

.....

आगे जीव को उपदेश देते हैं कि हे जीव ! तुम विषयों में लीन होकर अनंतकाल तक भटके हो, अब भी विषयासक्त हो; ऐसे विषयासक्त हुए कितने काल तक भटकोगे; अब तो मोक्ष का साधन करो; ऐसा संबोधन करते हैं—

हे जीव ! विषयासक्त कितने काल घूमेगा यहाँ ।
शिवमयी आतम से समागम कर तो शिवपद पायगा ॥१४१॥

दोहार्थ— हे जीव ! तुम विषयासक्त हो कितना काल बिताओगे ? तुम निश्चल शिवसंगम/शुद्धात्मा का अनुभव करो, तो अवश्य मोक्ष प्राप्त करोगे ।

टीकार्थ— ***जीव*** हे अज्ञानी जीव ! ***तुहुँ*** तुम ***विसयासत्तउ*** विषयों में आसक्त होकर ***कित्तउ कालु*** कितना काल ***गमीसि*** बिताओगे, ***सिवसंगमु*** अब तो शुद्धात्मा का अनुभव ***णिच्चलउ*** निश्चलरूप ***करि*** करो, जिससे कि ***अवसइँ*** अवश्य ***मुक्खु*** मोक्ष को ***लहीसि*** पाओगे ।

हे अज्ञानी ! तुम शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग परम आनंदरूप अविनाशी सुख के अनुभव से रहित हुए, विषयों में लीन होकर कितने काल तक भटकोगे, पहले तो अनंतकाल तक भ्रमे/घूमे, अब भी भ्रमण से नहीं थके; ऐसे बहिर्मुख परिणाम करके कब तक भटकोगे ? अब तो केवलज्ञान-दर्शनरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपने शुद्धात्मा का अनुभव करो । निज भावों का संबंध कर घोर उपसर्ग और बाईस परीषह के प्रसंग में भी सुमेरु के समान निश्चल जो आत्मध्यान, उसे धारण करो; उसके प्रभाव से नि:संशय मोक्ष पाओगे । वह मोक्ष-पदार्थ अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्यादि अनंतगुणों का स्थान है; इन विषयों के त्याग से अवश्य मोक्ष पाओगे ॥१४१॥

अथ शिवशब्दवाच्यस्वशुद्धात्मसंसर्गत्यागं मा कार्षीस्त्वमिति पुनरपि संबोधयति—

॥१४२-२६५॥

इहु सिव-संगमु परिहरिवि गुरुवड कहिँ वि म जाहि ।
जे सिव-संगमि लीण णवि दुक्खु सहंता वाहि ॥

इमं शिवसंगमं परिहृत्य गुरुवर क्वापि मा गच्छ ।
ये शिवसंगमे लीना नैव दु:खं सहमाना: पश्य ॥१४२॥

इहु इत्यादि— **इहु** इमं प्रत्यक्षीभूतं *सिवसंगमं* शिवसंसर्गं शिवशब्दवाच्योऽनन्तज्ञानादि-स्वभाव: स्वशुद्धात्मा तस्य रागादिरहितं सम्बन्धं *परिहरिवि* परिहृत्य त्यक्त्वा *गुरुवड* हे तपोधन *कहिँ वि म जाहि* शुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूते मिथ्यात्वरागादौ क्वापि गमनं मा कार्षी: । *जे सिवसंगमि लीण णवि* ये केचन विषयकषायाधीनतया शिवशब्दवाच्ये स्वशुद्धात्मनि लीनास्तन्मया न भवन्ति *दुक्खु सहंता वाहि* व्याकुलत्वलक्षणं दुक्खं सहमानास्सन्त: पश्येति ।

अत्र स्वकीयदेहे निश्चयनयेन तिष्ठति योऽसौ केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहित: परमात्मा स एव शिवशब्दत्वेन सर्वत्र ज्ञातव्यो नान्य: कोऽपि शिवनामा व्याप्येको जगत्कर्तेति भावार्थ: ॥१४२॥

आगे निजस्वरूप का संसर्ग तुम मत छोड़ो, निजस्वरूप ही उपादेय है; ऐसा ही बार-बार उपदेश करते हैं—

तुम शिवसमागम छोड़कर अन्यत्र ना जाओ कहीं ।
जो शिवसमागम लीन ना उनको दुखी देखो यहीं ॥१४२॥

दोहार्थ— हे गुरुवर/भाग्यवान ! तुम शिवसंगम/आत्मानुभव को छोड़कर कहीं भी मत जाओ । जो शिवसंगम में लीन नहीं हैं, उन्हें दु:ख सहते हुए यहीं देखो ।

टीकार्थ— ***गुरुवड*** हे तपोधन ! ***सिवसंगमु*** आत्म-कल्याण को ***परिहरिवि*** छोड़कर तुम ***कहिँ वि*** कहीं भी ***म जाहि*** मत जाओ; ***जे*** जो अज्ञानी जीव ***सिवसंगमि*** निज भाव में ***णवि लीण*** लीन नहीं होते हैं, वे सब ***दुक्खु*** दु:ख को ***सहंता*** सहते हैं, ऐसा तुम ***वाहि*** देखो ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह आत्म-कल्याण प्रत्यक्ष में संसार-सागर तिरने का उपाय है, उसको छोड़कर हे तपोधन ! तुम शुद्धात्मा की भावना के शत्रु जो मिथ्यात्व-रागादि हैं, उनमें कभी गमन मत करो, केवल आत्मस्वरूप में मग्न रहो । जो अज्ञानी विषय-कषाय के वश होकर शिवसंगम (निजभाव) में लीन नहीं रहते, उनको व्याकुलतारूप दु:ख भव-वन में सहता देखो । संसारी जीव सभी व्याकुल हैं, दु:खरूप हैं, कोई सुखी नहीं हैं, एक शिवपद ही परम आनंद का धाम है ।

जो अपने स्वभाव में निश्चयनय से ठहरने वाला, केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित परमात्मा, उसी का नाम शिव है; ऐसा सब जगह जानना । अथवा निर्वाण का नाम शिव है, अन्य कोई शिव नामक पदार्थ नहीं है; जैसा कि नैयायिक वैशेषकों ने जगत का कर्ता-हर्ता कोई शिव माना है, ऐसा तुम मत मानो । तुम अपने स्वरूप को अथवा केवलज्ञानियों को अथवा मोक्षपद को शिव समझो—यही श्रीवीतरागदेव की आज्ञा है ॥१४२॥

अथ सम्यक्त्वदुर्लभत्वं दर्शयति—

॥१४३-२६६॥

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव-सायरु वि अणंतु ।
जीविं बिण्णि ण पत्ताइँ जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥

कालः अनादिः अनादिः जीवः भवसागरोऽपि अनन्तः ।
जीवेन द्वे न प्राप्ते जिनः स्वामी सम्यक्त्वम् ॥१४३॥

कालु इत्यादि—***कालु अणाइ*** गतकालो अनादिः ***अणाइ जिउ*** जीवोऽप्यनादिः ***भवसायरु वि अणंतु*** भवः संसारस्य एव समुद्रः सोऽप्यनादिरनन्तश्च । ***जीविं बिण्णि ण पत्ताइँ*** एवमनादिकाले मिथ्यात्वरागाद्यधीनतया निजशुद्धात्मभावनाच्युतेन जीवेन द्वयं न लब्धम् । द्वयं किम् ? ***जिणु सामिउ सम्मत्तु*** अनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहितः क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितो जिनस्वामी परमाराध्यः, ***'सिवसंगमु सम्मत्तु'*** इति पाठान्तरे स एव शिवशब्दवाच्यो न चान्यः पुरुषविशेषः, सम्यक्त्वशब्देन तु निश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वम्, व्यवहारेण तु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसद्द्रव्यादिश्रद्धानरूपं सरागसम्यक्त्वं चेति भावार्थः ॥१४३॥

.....

आगे सम्यग्दर्शन को दुर्लभ दिखलाते हैं—

है अनादि काल जीव अनादि भवसागर सदा ।
है अन्त बिन पर जीव को जिनस्वामि समकित ना मिला ॥१४३॥

दोहार्थ— काल अनादि है, जीव अनादि है, भवसागर भी अनादि-अनन्त है; यहाँ जीव ने जिनस्वामी और सम्यक्त्व—ये दो प्राप्त नहीं किए हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***कालु*** काल भी ***अणाइ*** अनादि है, ***जिउ अणाइ*** जीव भी अनादि है, और ***भवसायरु वि*** संसार-समुद्र भी ***अणंतु*** अनादि-अनंत है । लेकिन ***जीविं*** इस जीव ने ***जिणुसामिउ*** जिनराजस्वामी और ***सम्मत्तु*** सम्यक्त्व ***बिण्णि ण पत्ताइँ*** ये दो नहीं पाये ।

काल, जीव और संसार ये तीनों अनादि हैं, उसमें अनादिकाल से भटकते हुए इस जीव ने, मिथ्यात्व-रागादि के वश होकर अपना शुद्धात्मस्वरूप न देखा, न जाना । यह संसारी जीव अनादिकाल से आत्म-ज्ञान की भावना से रहित है। इस जीव ने स्वर्ग, नरक, राज्यादि सब पाये; परंतु ये दो वस्तुयें न मिलीं, एक तो सम्यग्दर्शन न पाया, दूसरे श्रीजिनराजस्वामी न पाये । यह जीव अनादि से मिथ्यादृष्टि है, और क्षुद्र देवों का उपासक है । श्रीजिनराज भगवान की भक्ति इसके कभी नहीं हुई, अन्य देवों का उपासक हुआ, सम्यग्दर्शन नहीं हुआ ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि अनादि का मिथ्यादृष्टि होने से सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हुआ, यह तो ठीक है, परन्तु जिनराजस्वामी न पाये, ऐसा नहीं हो सकता? क्योंकि *''भवि भवि जिण पुज्जिउ वंदिउ''* ऐसा शास्त्र का वचन है, अर्थात् 'भव-भव में इस जीव ने जिनवर पूजे और गुरू वंदे ।' परंतु आप कहते हैं कि इस जीव ने भव-वन में घूमते जिनराजस्वामी नहीं पाये ? उसका समाधान यह है कि भाव-भक्ति इसके कभी न हुई, भाव-भक्ति तो सम्यग्दृष्टी के ही होती है; इसके बाह्यलौकिक भक्ति सांसारिक प्रयोजन के लिये हुई, वह गिनती में नहीं है । ऊपर की सब बातें नि:सार (थोथी) हैं, भाव ही कारण होते हैं, वह भाव-भक्ति मिथ्यादृष्टि के नहीं होती । ज्ञानी जीव ही जिनराज के भक्त हैं । सम्यक्त्व बिना भाव-भक्ति के अभाव से जिनस्वामी नहीं पाये, इसमें संदेह नहीं है । यदि जिनवरस्वामी को पाते, तो उन्हीं के समान होते, ऊपरी लोग-दिखावारूप भक्ति हुई, तो किस काम की?—ऐसा जानना ।

अब श्रीजिनदेव का और सम्यग्दर्शन का स्वरूप सुनो— जो अनंत ज्ञानादि चतुष्टय सहित और क्षुधादि अठारह दोष रहित हैं, वे जिनस्वामी हैं, वे ही परम आराधना-योग्य हैं; तथा निश्चय से शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग-सम्यक्त्व अथवा वीतराग-सर्वज्ञदेव के द्वारा उपदेश दिए गए षट् द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ और पाँच अस्तिकाय—उनके श्रद्धानरूप सराग-सम्यक्त्व; यह निश्चय-व्यवहार दो प्रकार का सम्यक्त्व है । निश्चय का नाम वीतराग है, व्यवहार का नाम सराग है ।

चौथे पद का एक अर्थ तो यह है; और दूसरा *''सिवसंगमु सम्मत्तु''* ऐसा पाठ है—इसका अर्थ ऐसा है कि शिव जो जिनेन्द्र देव, उनका संगम अर्थात् भाव-सेवन इस जीव को नहीं हुआ, और सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हुआ । सम्यक्त्व हो तो परमात्मा का भी परिचय हो ।।१४३।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ शुद्धात्मसंवित्तिसाधकतपश्चरणप्रतिपक्षभूतं गृहवासं दूषयति—

॥१४४-२६७॥

घर-वासउ मा जाणि जिय दुक्किय-वासउ एहु ।
पासु कयंतें मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु ॥

गृहवासं मा जानीहि जीव दुष्कृतवास एषः ।
पाशः कृतान्तेन मण्डितः अविचलः निस्सन्देहम् ॥१४४॥

घरवासउ इत्यादि—*घरवासउ* गृहवासम् अत्र गृहशब्देन वासमुख्यभूता स्त्री ग्राह्या। तथा चोक्तम्—"*न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।*" *मा जाणि जिय* हे जीव त्वमात्महितं मा जानीहि । कथंभूतो गृहवासः ? *दुक्किययवासउ एहु* समस्तदुष्कृतानां पापानां वासः स्थानमेषः, *पासु कयंतें मंडियउ* अज्ञानिजीवबन्धनार्थं पाशो मण्डितः । केन ? कृतान्तनाम्ना कर्मणा । कथंभूतः ? *अविचलु* शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिपक्षभूतेन मोहबन्धनेनाबद्धत्वादविचलः *णिस्संदेहु* संदेहो न कर्तव्य इति ।

अयमत्र भावार्थः — विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मपदार्थभावनाप्रतिपक्षभूतैः कषायेन्द्रियैः व्याकुलीक्रियते मनः, मनःशुद्ध्यभावे गृहस्थानां तपोधनवत् शुद्धात्मभावना कर्तुं नायातीति । तथा चोक्तम्—

"कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टैर्व्याकुलीक्रियते मनः ।
यतः कर्तुं न शक्येत भावना गृहमेधिभिः ॥" ॥१४४॥

आगे शुद्धात्मज्ञान के साधक तपश्चरण के शत्रुरूप गृहवास को दोष देते हैं—

गृह वास ना है वास दुष्कृत जीव ! ऐसा जानना ।
यमराजकृत बहुपाश मंडित अचलघर यह जानना ॥१४४॥

दोहार्थ— हे जीव ! गृहवास को गृहवास नहीं, दुष्कृतवास/पाप का निवास स्थान जानो । यमराज ने अनेक फाँसों से मंडित अविचल घर बनाया है—यह निस्सन्देह है ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव! तुम इसको ***घर वासउ*** घरवास ***मा जाणि*** मत जानो, ***एहु*** यह ***दुक्किययवासउ*** पाप का निवासस्थान है, ***कयंतें*** यमराज ने (कर्म ने) अज्ञानी जीवों को बाँधने के लिये यह अनेक ***पासु मंडियउ*** फाँसों से मंडित ***अविचलु*** बहुत मजबूत बंदीखाना बनाया है; इसमें ***णिस्संदेहु*** संदेह नहीं है ।

यहाँ घर शब्द से मुख्यरूप में स्त्री जानना, स्त्री ही घर का मूल है, स्त्री बिना गृहवास नहीं कहलाता । ऐसा ही दूसरे शास्त्रों में भी कहा है कि "घर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को, घर मत जानो, स्त्री ही घर है'' जिन पुरुषों ने स्त्री का त्याग किया, उन्होंने घर का त्याग किया । यह घर मोह के बंधन से अति दृढ़ बँधा हुआ है, इसमें संदेह नहीं है ।

यहाँ तात्पर्य ऐसा है कि विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावरूप परमात्मपदार्थ की भावना से विमुख जो विषय-कषाय हैं, उनसे यह मन व्याकुल होता है । मन की शुद्धि के बिना गृहस्थ को, यति के समान शुद्धात्मा का ध्यान नहीं होता । इस कारण घर का त्याग करना योग्य है, घर को त्यागे बिना मन शुद्ध नहीं होता । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि ''कषायों से और इन दुष्ट इन्द्रियों से मन व्याकुल होता है, इसलिये गृहस्थ लोग आत्मभावना करने में समर्थ नहीं हैं ।'' ॥१४४॥

अथ गृहममत्वत्यागानन्तरं देहममत्वत्यागं दर्शयति—

॥१४५-२६८॥

देहु वि जित्थु ण अप्पणउ तहिँ अप्पणउ किं अण्णु ।
पर-कारणि मण गुरुव तुहुँ सिव-संगमु अवगण्णु ॥

देहोऽपि यत्र नात्मीयः तत्रात्मीयं किमन्यत् ।
परकारणे मा मुह्य (?) त्वं शिवसंगमं अवगण्य ॥१४५॥

देहु वि इत्यादि— *देहु वि जित्थु ण अप्पणउ* देहोऽपि यत्र नात्मीयः *तहिँ अप्पणउ किं अण्णु* तत्रात्मीयाः किमन्ये पदार्था भवन्ति, किं तु नैव । एवं ज्ञात्वा *परकारणि* परस्य देहस्य बहिर्भूतस्य स्त्रीवस्त्राभरणोपकरणादिपरिग्रहनिमित्तेन *मण गुरुव तुहुँ सिवसंगमु अवगण्णु* हे तपोधन शिवशब्दवाच्यशुद्धात्मभावनात्यागं मा कार्षीरिति ।

तथाहि— अमूर्तेन वीतरागस्वभावेन निजशुद्धात्मना सह व्यवहारेण क्षीरनीरवदेकीभूत्वा तिष्ठति योऽसौ देहः सोऽपि जीवस्वरूपं न भवति इति ज्ञात्वा बहिःपदार्थे ममत्वं त्यक्त्वा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥१४५॥

.....

घर की ममता छुड़ाकर अब शरीर का ममत्व छुड़ाते हैं—

जब देह भी अपनी नहीं तब अन्य कैसे हो सकें ।
अपने? अतः पर-मोह तज शिव-समागम करणीय है ॥१४५॥

दोहार्थ— जहाँ शरीर भी अपना नहीं है, वहाँ अन्य अपना क्या हो सकता है ? अतः तुम शिवसंगम छोड़कर पर कारण/धन, कुटुम्बादि में मोह मत करो।

टीकार्थ— *जित्थु* जिस संसार में ***देहु वि*** शरीर भी ***अप्पणउ*** अपना नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, ***तहिँ*** वहाँ ***अण्णु*** अन्य ***किं*** क्या ***अप्पणउ*** अपना हो सकता है ? इस कारण ***तुहुँ*** तुम ***सिवसंगमु*** मोक्ष का संगम ***अवगण्णु*** छोड़कर ***परकारणि*** पुत्र, स्त्री, वस्त्र, आभूषण आदि उपकरणों में ***मण गुरुव*** ममत्व मत करो ।

अमूर्त वीतराग भावरूप निज शुद्धात्मा से व्यवहारनय की अपेक्षा दूध-पानी के समान यह देह एकमेक हो रही है; ऐसी देह ही जब जीव का स्वरूप नहीं है, तब पुत्र-कलत्रादि, धन-धान्यादि अपने किस प्रकार हो सकेंगे ? ऐसा जानकर बाह्य पदार्थों में ममता छोड़कर शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप वीतराग निर्विकल्प समाधि में ठहरकर सब प्रकार से शुद्धोपयोग की भावना करना चाहिये ॥१४५॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि प्रकारान्तरेण व्यक्तीकरोति—

॥१४६-२६९॥

करि सिव-संगमु एक्कु पर जहिँ पाविज्जइ सुक्खु ।
जोइय अण्णु म चिंति तुहुँ जेण ण लब्भइ मुक्खु ॥

कुरु शिवसंगमं एकं परं यत्र प्राप्यते सुखम् ।
योगिन् अन्यं मा चिन्तय त्वं येन न लभ्यते मोक्षः ॥१४६॥

करि इत्यादि— ***करि*** कुरु । कम् ? ***सिवसंगमु*** शिवशब्दवाच्यशुद्धबुद्धैकस्वभावनिज-शुद्धात्मभावनासंसर्गं ***एक्कु पर*** तमेवैकं ***जहिँ पाविज्जइ सुक्खु*** यत्र स्वशुद्धात्मसंसर्गे प्राप्यते । किम् ? अक्षयानन्तसुखम् । ***जोइय अण्णु म चिंति तुहुँ*** हे योगिन् स्वभाव-त्वादन्यचिन्तां मा कार्षीस्त्वं ***जेण ण लब्भइ*** येन कारणेन बहिश्चिन्तया न लभ्यते । कोऽसौ ? ***मुक्खु*** अव्याबाधसुखादिलक्षणो मोक्ष इति तात्पर्यम् ॥१४६॥

आगे इसी अर्थ को फिर से दूसरे रूप में प्रगट करते हैं—

कर एक ही तू शिव-समागम सुख सदा जिससे मिले ।
हे योगि ! चिंतन कर न ऐसा मोक्ष ना जिससे मिले ॥१४६॥

दोहार्थ— एकमात्र शिव समागम करो, जिससे सुख प्राप्त हो । हे योगी! तुम ऐसा अन्य चिंतन मत करो, जिससे मोक्ष न मिले ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी हंस! ***तुहुँ*** तुम ***पर*** केवल ***एक्कु सिवसंगमु*** एक निज शुद्धात्मा की ही भावना ***करि*** करो, ***जहिँ*** जिससे ***सुक्खु*** अतीन्द्रिय सुख ***पाविज्जइ*** प्राप्त हो, ***अण्णु म*** अन्य कुछ भी मत ***चिंति*** चिंतवन करो, ***जेण*** जिससे ***मुक्खु ण*** मोक्ष न ***लब्भइ*** मिले ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हे जीव! तुम शुद्ध, अखंड स्वभाव निज शुद्धात्मा का चिन्तवन करो; यदि तुम शिवसंग करोगे तो अतीन्द्रिय सुख पाओगे। जो अनंत सुख को प्राप्त हुए वे केवल आत्म-ज्ञान से ही प्राप्त हुए, दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिये हे योगी! तुम अन्य कुछ भी चिन्तवन मत करो, पर के चिंतवन से अव्याबाध अनंत सुखरूप मोक्ष को नहीं पाओगे। इसलिये निजस्वरूप का ही चिन्तन करो ॥१४६॥

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनारहितं मनुष्यजन्म निस्सारमिति निश्चिनोति—

॥१४७-२७०॥

बलि किउ माणुस-जम्मडा देक्खंतहँ पर सारु ।
जइ अट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥

बलिः क्रियते मनुष्यजन्म पश्यतां परं सारम् ।
यदि अवष्टभ्यते ततः क्वथति अथ दह्यते तर्हि क्षारः ॥१४७॥

***बलि किउ* इत्यादि— *बलि किउ* बलिः क्रियते मस्तकस्योपरितनभागेनावतारणं क्रियते । किम् ? *माणुसजम्मडा* मनुष्यजन्म । किंविशिष्टम् ? *देक्खंतहँ पर सारु* बहिर्भागे व्यवहारेण पश्यतामेव सारभूतम् । कस्मात् ? *जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ* यद्यवष्टभ्यते भूमौ निक्षिप्यते ततः कुत्सितरूपेण परिणमति । *अह डज्झइ तो छारु* अथवा दह्यते तर्हि भस्म भवति ।

तद्यथा— हस्तिशरीरे दन्ताश्चमरीशरीरे केशा इत्यादि सारत्वं तिर्यक्शरीरे दृश्यते, मनुष्यशरीरे किमपि सारत्वं नास्तीति ज्ञात्वा घुणभक्षितेक्षुदण्डवत्परलोकबीजं कृत्वा निस्सारमपि सारं क्रियते । कथमिति चेत् ? यथा घुणभक्षितेक्षुदण्डे बीजे कृते सति विशिष्टेक्षूणां लाभो भवति तथा निःसारशरीराधारेण वीतरागसहजानन्दैकस्वशुद्धात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयभावनाबलेन तत्साधकव्यवहाररत्नत्रयभावनाबलेन च स्वर्गापवर्गफलं गृह्यत इति तात्पर्यम् ॥१४७॥

आगे भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से रहित जीव का मनुष्य-जन्म निष्फल है, ऐसा कहते हैं—

धिक्कार इस नरदेह को जो दिखे सारमयी सदा ।
पर गाड़ने से सड़े होती राख जलने से सदा ॥१४७॥

दोहार्थ— इस मनुष्यजन्म को धिक्कार है; क्योंकि यह दिखने में सारभूत दिखता है, परन्तु यदि इसे गाड़ दिया जाय तो सड़ जाता है, और यदि जला दिया जाय तो राख हो जाता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***माणुसजम्मडा*** इस मनुष्य-जन्म को ***बलि किउ*** मस्तक के ऊपर वार डालो, जो कि ***देक्खंतहँ पर सारु*** देखने में केवल सार दीखता है, परन्तु ***जइ*** यदि ***उद्दुब्भइ*** इस मनुष्य-देह को भूमि में गाड़ दिया जाये, ***तो*** तो ***कुहइ*** सड़कर दुर्गन्धरूप परिणमे, ***अह*** और यदि ***डज्झइ तो*** जलाया जाये तो ***छारु*** राख हो जाता है ।

इस मनुष्य-देह को व्यवहारनय की अपेक्षा बाहर से देखो तो सार मालूम होता है, परन्तु यदि विचार करो तो कुछ भी सार नहीं है । तिर्यञ्चों के ३ रीर में तो कुछ सार भी दीखता है; जैसे हाथी के शरीर में दाँत सार है, सुरह गौ (नीलगाय) के शरीर में बाल सार हैं इत्यादि; परन्तु मनुष्य देह में सार नहीं है, घुन द्वारा खाये हुए गन्ने के समान मनुष्य-देह को असार जानकर परलोक का बीजभूत करके सार करना चाहिये । जैसे घुनों द्वारा खाया हुआ ईख (गन्ना) किसी काम का नहीं है, मात्र एक बीज के काम का है, अत: उसे बोकर असार से सार किया जाता है; उसीप्रकार मनुष्य-देह किसी काम का नहीं है परन्तु परलोक का बीजकर असार को सार करना चाहिये । इस देह से परलोक सुधारना ही श्रेष्ठ है । जैसे घुन से खाये गये ईख को बोने से अनेक ईखों का लाभ होता है, उसीप्रकार इस असार शरीर के आधार से वीतराग परमानंद शुद्धात्मस्वभाव के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय की भावना के बल से मोक्ष प्राप्त किया जाता है और निश्चयरत्नत्रय के साधक व्यवहाररत्नत्रय की भावना के बल से स्वर्ग मिलता है, तथा परम्परा से मोक्ष होता है । यह मनुष्य-शरीर परलोक सुधारने के लिये हो तभी सार है, नहीं तो सर्वथा असार है ।।१४७।।

अथ देहस्याशुचित्वानित्यत्वादिप्रतिपादनरूपेण व्याख्यानं करोति षट्कलेन; तथाहि—

।।१४८-२७१।।

उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहार ।
देहहँ सयल णिरत्थ गय जिमु दुज्जणि उवयार ।।

उद्वर्तय म्रक्षय चेष्टां कुरु देहि सुमृष्टाहारान् ।
देहस्य सकलं निरर्थं गतं यथा दुर्जने उपकारा: ।।१४८।।

उव्वलि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते— *उव्वलि* उद्वर्तनं कुरु *चोप्पडि* तैलादिम्रक्षणं कुरु, *चिट्ठ करि* मण्डनरूपां चेष्टां कुरु, *देहि सुमिट्ठाहार* देहि सुमृष्टाहारान् । *कस्य ? देहहँ* देहस्य । *सयल णिरत्थ गय* सकला अपि विशिष्टाहारादयो निरर्थका गता:। केन दृष्टान्तेन ? *जिमु दुज्जणि उवयार* दुर्जने यथोपकारा इति ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तद्यथा— यद्यप्ययं कायः खलस्तथापि किमपि ग्रासादिकं दत्वा अस्थिरेणापि स्थिरं मोक्षसौख्यं गृह्यते । सप्तधातुमयत्वेनाशुचिभूः तेनापि शुचिभूतं शुद्धात्मस्वरूपं गृह्यते; निर्गुणेनापि केवलज्ञानादिगुणसमूहः साध्यत इति भावार्थः । तथा चोक्तम्—

''अथिरेण थिरा मलिणेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारं ।
काएण जा विढप्पइ सा किरिया किं ण कायव्वा ।।''* ।।१४८।।

आगे देह को अशुचि, अनित्य आदि दिखाने रूप से छह दोहों में व्याख्यान करते हैं—

उबटो मलो या सजाओ आहार दो सुस्वादमय ।
पर निरर्थक सब देह को दुर्जन प्रति उपकार सम ।।१४८।।

दोहार्थ— जैसे दुर्जन के प्रति किया गया उपकार व्यर्थ जाता है; उसी प्रकार उबटन करना, मर्दन करना, सजाना, सुमिष्ट आहार देना—इत्यादि शरीर के लिए किए गये प्रयत्न व्यर्थ होते हैं ।

टीकार्थ— ***देहहँ*** इस देह का ***उव्वलि*** उबटन करो, तैलादिक का ***चोप्पडि*** मर्दन करो, ***चिट्ठ करि*** शृंगार आदि से अनेक प्रकार सजाओ, ***सुमिट्ठाहार*** अच्छे-अच्छे मिष्ट आहार ***देहि*** दो, लेकिन ये ***सयल*** सब ***णिरत्थ गय*** यत्न व्यर्थ हैं; ***जिमु*** जैसे ***दुज्जणि*** दुर्जनों का ***उवयार*** उपकार करना वृथा है ।

जैसे दुर्जन पर अनेक उपकार करो, वे सब वृथा जाते हैं, दुर्जन से कुछ लाभ नहीं होता है; उसीप्रकार शरीर के लिए अनेक यत्न करो, इसका अनेक प्रकार से पोषण करो; परंतु यह अपना नहीं हो सकता । इसलिये यही सार है कि इसको अधिक पुष्ट नहीं करना । कुछ थोड़ा सा ग्रासादि देकर इस अस्थिर शरीर से भी स्थिर मोक्ष सुख का साधन करना । सात धातुमयी यह शरीर अशुचि है, इससे पवित्र शुद्धात्मस्वरूप की आराधना करना । इस महा निर्गुण शरीर से केवलज्ञानादि गुणों का समूह साधना चाहिये । यह शरीर भोग के लिये नहीं है, इससे योग का साधन कर अविनाशी पद की सिद्धि करना चाहिए ।

ऐसा कहा भी है कि ''इस क्षणभंगुर शरीर से स्थिरपद मोक्ष की सिद्धि करना चाहिये; यह शरीर मलिन है, इससे निर्मल वीतराग की सिद्धि करना; और यह शरीर ज्ञानादि गुणों से रहित है, इसके निमित्त से सारभूत ज्ञानादि गुण सिद्ध करने योग्य हैं । इस शरीर से तप-संयमादि का साधन होता है, और तप-संयमादि क्रिया से सारभूत गुणों की सिद्धि होती है । जिस क्रिया से ऐसे गुणसिद्ध हों, वह क्रिया क्यों नहीं करना? अवश्य करना चाहिये ।'' ।।१४८।।

* दोहापाहुड़, गाथा १९ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥१४९-२७२॥

जेहउ जज्जरु णरय-घरु तेहउ जोइय काउ ।
णरइ णिरंतरु पूरियउ किम किज्जइ अणुराउ ॥

यथा जर्जरं नरकगृहं तथा योगिन् कायः ।
नरके निरन्तरं पूरितं किं क्रियते अनुरागः ॥१९८॥

जेहउ इत्यादि—जेहउ जज्जरु यथा जर्जरं शतजीर्णं णरयघरु नरकगृहं तेहउ जोइउ काउ तथा हे योगिन् कायः । यतः किम् ? णरइ णिरंतरु पूरियउ नरके निरन्तरं पूरितम्। एवं ज्ञात्वा किम किज्जइ अणुराउ कथं क्रियते अनुरागो न कथमपीति ।

तद्यथा—यथा नरकगृहं शतजीर्णं तथा कायगृहमपि नवद्वारछिद्रितत्वात् शतजीर्णं, परमात्मा तु जन्मजरामरणादिच्छिद्रदोषरहितः । कायस्तु गूथमूत्रादिनरकपूरितः, भगवान् शुद्धात्मा तु भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहित इति । अयमत्र भावार्थः — एवं देहात्मनो भेदं ज्ञात्वा देहममत्वं त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति ॥१४९॥

.....

आगे शरीर को अशुचि दिखलाकर ममत्व छुड़ाते हैं—

है नरकघर जर्जर यथा हे योगि ! जानो देह को ।
मलमूत्रपूरित है सदा क्यों देह से अनुराग हो? ॥१४९॥

दोहार्थ— हे योगी ! नरकगृह के समान यह शरीर जर्जर है, नरक के समान ही मल-मूत्रादि से परिपूर्ण है; तब इससे अनुराग कैसे किया जाय ? यह अनुराग-योग्य नहीं है ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी ! ***जेहउ*** जैसा ***जज्जरु*** सैकड़ों छेदोंवाला ***णरयघरु*** नरक-घर है, ***तेहउ*** वैसा यह ***काउ*** शरीर ***णरइ*** मल-मूत्रादि से ***णिरंतरु*** हमेशा ***पूरियउ*** भरा हुआ है । ऐसे शरीर से ***अणुराउ किम किज्जइ*** प्रीति कैसे की जावे ? किसी प्रकार भी यह प्रीति के योग्य नहीं है ।

जैसे नरक का घर अति जीर्ण सैकड़ों छिद्रमय है; वैसे ही यह कायरूपी घर साक्षात् नरक का मन्दिर है, नव द्वारों से अशुचि वस्तु झरती है । और आत्माराम जन्म-मरणादि छिद्र आदि दोष रहित है; भगवान शुद्धात्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्ममल से रहित है; यह शरीर मल-मूत्रादि नरक से भरा हुआ है। ऐसा शरीर का और जीव का भेद जानकर देह से ममता छोड़के वीतराग-निर्विकल्प समाधि में ठहरके निरन्तर भावना करना चाहिये ॥१४९॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ–

॥१५०-२७३॥

दुक्खइँ पावइँ असुचियइँ तिहुयणि सयलइँ लेवि ।
एयहिँ देहु विणिम्मियउ विहिणा वइरु मुणेवि ॥

दुःखानि पापानि अशुचीनि त्रिभुवने सकलानि लात्वा ।
एतैः देहः विनिर्मितः विधिना वैरं मत्वा ॥१५०॥

दुक्खइँ इत्यादि– *दुक्खइँ* दुःखानि *पावइँ* पापानि *असुचियइँ* अशुचिद्रव्याणि *तिहुयणि सयलइँ लेवि* भुवनत्रयमध्ये समस्तानि गृहीत्वा *एयहिँ देहु विणिम्मियउ* एतैर्देहो विनिर्मितः । केन कर्तृभूतेन ? *विहिणा* विधिशब्दवाच्येन कर्मणा । कस्मादेवंभूतो देहः कृतः? *वइरु मुणेवि* वैरं मत्वेति ।

तथाहि– त्रिभुवनस्थदुःखैर्निर्मितत्वात् दुःखरूपोऽयं देहः, परमात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन देहाद्भिन्नत्वादनाकुलत्वलक्षणसुखस्वभावः । त्रिभुवनस्थपापैर्निर्मितत्वात् पापरूपोऽयं देहः, शुद्धात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन पापरूपदेहाद्भिन्नत्वादत्यन्तपवित्रः । त्रिभुवनस्थाशुचिद्रव्यैर्निर्मितत्वादशुचिरूपोऽयं देहः, शुद्धात्मा तु व्यवहारेण देहस्थोऽपि निश्चयेन देहात्पृथग्भूतत्वादत्यन्तनिर्मल इति । अत्रैवं देहेन सह शुद्धात्मनो भेदं ज्ञात्वा निरन्तरं भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥१५०॥

.....

आगे और भी देह की मलिनता दिखलाते हैं—

त्रय-लोक में दुख पाप अशुचिमय पदार्थों को मिला ।
कर मान वैर विरोध विधि ने देह को निर्मित किया ॥१५०॥

दोहार्थ– मानो विधि ने वैर मानकर तीन लोक में से सम्पूर्ण दुःख, पाप, अशुचिमय पदार्थों को लाकर उनसे देह का निर्माण किया है ।

टीकार्थ– ***तिहुयणि*** तीन लोक में ***पावइँ असुचियइँ*** जितने दुःख हैं, पाप हैं और अशुचि वस्तुयें हैं; ***सयलइँ*** उन सबको ***लेवि*** लेकर ***एयहिँ*** उनके द्वारा ***विहिणा*** विधाता ने ***वइरु*** वैर ***मुणेवि*** मानकर ***देहु*** शरीर ***विणिम्मियउ*** बनाया है।

तीन लोक में जितने दुःख हैं, उनसे यह देह रचा गया है, इससे दुःखरूप है; और आत्मद्रव्य व्यवहारनय से देह में स्थित है, तो भी निश्चयनय की अपेक्षा देह से भिन्न निराकुलस्वरूप सुखरूप है । तीन लोक में जितने पाप हैं, उन पापों से यह शरीर बनाया गया है, इसलिये यह देह पापरूप ही है, इससे पाप ही उत्पन्न होता है; और चिदानंद चिद्रूप जीव पदार्थ व्यवहारनय से देह में स्थित है, तो भी देह से भिन्न अत्यंत

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पवित्र है । तीन जगत में जितने अशुचि पदार्थ हैं, उनको इकट्ठे कर इस शरीर का निर्माण हुआ है, इसलिये महा अशुचिरूप है; और आत्मा व्यवहारनय से देह में विराजमान है, तो भी देह से पृथक् परम पवित्र है— इसप्रकार देह का और जीव का अत्यंत भेद जानकर निरन्तर आत्मा की भावना करना चाहिये ।।१५०।।

अथ—

।।१५१-२७४।।

जोइय देहु घिणावणउ लज्जहि किं ण रमंतु ।
णाणिय धम्में रइ करहि अप्पा विमलु करंतु ।।

योगिन् देहः घृणास्पदः लज्जसे किं न रममाणः ।
ज्ञानिन् धर्मेण[1] रतिं कुरु आत्मानं विमलं कुर्वन् ।।१५१।।

जोइय इत्यादि— *जोइय* हे योगिन् *देहु घिणावणउ* देहो घृणया [2]दुगुञ्छया सहितः । *लज्जहि किं ण रमंतु* दुगुञ्छारहितं परमात्मानं मुक्त्वा देहं रममाणो लज्जां किं न करोषि ? तर्हि किं करोमीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति— *णाणिय* हे विशिष्टभेदज्ञानिन् *धम्मि* निश्चयधर्मशब्दवाच्येन वीतरागचारित्रेण कृत्वा *रइ करहि* रतिं प्रीतिं कुरु । किं कुर्वन् सन् ? *अप्पा* वीतरागसदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं *विमलु करंतु* आर्तरौद्रादिसमस्त-विकल्पत्यागेन विमलं निर्मलं कुर्वन्निति तात्पर्यम् ।।१५१।।

.....

आगे देह को और भी अपवित्र दिखलाते हैं—

हे योगि ! देह घृणास्पद रम यहाँ शरमाता नहीं ।
तू विमल आतम ज्ञानमय निजधर्म में ही कर रती ।।१५१।।

दोहार्थ— हे योगी ! घृणास्पद शरीर में रमते हुए तुम लज्जित क्यों नहीं होते हो ? हे ज्ञानी ! तुम आत्मा को विमल करते हुए धर्म में रति/प्रीति करो ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी ! ***देहु घिणावणउ*** यह शरीर घिनावना है, इस देह में ***रमंतु*** रमते हुए तुम ***किं ण लज्जहि*** क्यों नहीं शरमाते ? हे ***णाणिय*** ज्ञानी, तुम ***अप्पा*** आत्मा को ***विमलु करंतु*** निर्मल करते हुए ***धम्में*** धर्म से ***रइ*** प्रीति ***करहि*** करो ।

हे जीव ! तुम सब विकल्प छोड़कर वीतरागचारित्ररूप निश्चयधर्म में प्रीति करो । आर्त-रौद्र आदि समस्त विकल्पों को छोड़कर आत्मा को निर्मल करते हुए वीतराग भावों से प्रीति करो ।।१५१।।

---

१. पाठान्तर - धर्मेण - धर्म । २. पाठान्तर - दुगुञ्छया - जुगुप्सया ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ–

॥१५२-२७५॥

जोइय देहु परिच्चयहि देहु ण भल्लउ होइ ।
देह विभिण्णउ णाणमउ सो तुहुँ अप्पा जोइ ॥

योगिन् देहं परित्यज देहो न भद्रः भवति ।
देहविभिन्नं ज्ञानमयं तं त्वं आत्मानं पश्य ॥१५२॥

जोइय इत्यादि— *जोइय* हे योगिन् *देहु परिच्चयहि* शुचिदेहान्नित्यानन्दैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणं देहं परित्यज । कस्मात् ? *देहु ण भल्लउ होइ* देहो भद्रः समीचीनो न भवति । तर्हि किं करोमीति प्रश्ने कृते प्रत्युत्तरं ददाति—*देहविभिण्णउ* देहविभिन्नं *णाणमउ* ज्ञानेन निर्वृत्तं ज्ञानमयं केवलज्ञानाविनाभूतानन्तगुणमयं *सो तुहुँ अप्पा जोइ* तं पूर्वोक्तलक्षणमात्मानं त्वं कर्ता पश्येति । अयमत्र भावार्थः —

''चंडो ण मुयइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ ।
*दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥''**

इति गाथाकथितलक्षणा कृष्णलेश्या, धनधान्यादितीव्रमूर्च्छाविषयाकांक्षादिरूपा नीललेश्या, रणे मरणं प्रार्थयति स्तूयमानः संतोषं करोतीत्यादिलक्षणा कापोतलेश्या च, एवं लेश्यात्रयप्रभृतिसमस्तविभावत्यागेन देहादिभिन्नमात्मानं भावय इति ॥१५२॥

आगे देह के प्रति स्नेह को छुड़ाते हैं—

हे योगि ! तन से छोड़ ममता तन न भद्र कभी हुआ ।
तुम पृथक् तन से ज्ञानमय निज आतमा को देखना ॥१५२॥

दोहार्थ— हे योगी ! शरीर से मोह छोड़ो; शरीर भद्र नहीं है । तुम शरीर से भिन्न ज्ञानमय उस आत्मा को देखो ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी ! ***देहु*** इस शरीर से ***परिच्चयहि*** प्रीति छोड़ो, क्योंकि ***देहं*** यह देह ***भल्लउ ण होइ*** अच्छा नहीं है; इसलिये ***देह विभिण्णउ*** देह से भिन्न ***णाणमउ*** ज्ञानादि गुणमय ***सो*** ऐसे ***अप्पा*** आत्मा को ***तुहुँ*** तुम ***जोइ*** देखो।

नित्यानंद, एक, अखंड स्वभावमय शुद्धात्मा से पृथक् और दुःख का मूल तथा महान अशुद्ध जो शरीर, उससे भिन्न आत्मा को पहिचानो; और कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं को आदि लेकर सब विभावभावों का त्याग करो; निजस्वरूप का ध्यान करो ।

---

* गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५०८ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसा कथन सुनकर शिष्य ने पूछा कि हे प्रभो ! इन खोटी लेश्याओं का क्या स्वरूप है ? तब श्रीगुरु कहते हैं—"कृष्णलेश्या का धारक वह है, जो अधिक क्रोधी हो, कभी बैर न छोड़े, उसका बैर पत्थर की लकीर के समान हो, महा विषयी हो, परजीवों की हँसी उड़ाने में जिसे शंका न हो, अपनी हँसी होने का जिसे भय न हो, जिसका स्वभाव लज्जा रहित हो, दया-धर्म से रहित हो, और अपने से बलवान के वश में हो, गरीब को सताने वाला हो—ऐसा कृष्णलेश्या वाले का लक्षण कहा ।"

नीललेश्यावाले के लक्षण कहते हैं, सो सुनो—जिसके धन-धान्यादिक की अति ममता हो, महा विषयाभिलाषी हो, इन्द्रियों के विषय-सेवन करता हुआ तृप्त न हो । कापोतलेश्या का धारक रण में मरना चाहता है, स्तुति करने से अति प्रसन्न होता है—ये तीनों कुलेश्या के लक्षण कहे गये हैं; इनको छोड़कर पवित्र भावों से देह से पृथक् जीव को जानकर अपने स्वरूप का ध्यान कर—यही कल्याण का कारण है ॥१५२॥

अथ—

॥१५३-२७६॥

दुक्खइँ कारणु मुणिवि मणि देहु वि एहु चयंति ।
जित्थु ण पावहिँ परमसुहु तित्थु कि संत वसंति ॥

दुःखस्य कारणं मत्वा मनसि देहमपि इमं त्यजन्ति ।
यत्र न प्राप्नुवन्ति परमसुखं तत्र किं सन्तः वसन्ति ॥१५३॥

दुक्खहँ इत्यादि—***दुक्खहँ कारणु*** वीतरागतात्त्विकानन्दरूपात् शुद्धात्मसुखाद्विलक्षणस्य नारकादिदुःखस्य कारणं ***मुणिवि*** मत्वा । क्व ? ***मणि*** मनसि । कम् ? ***देहु वि*** देहमपि ***एहु*** इमं प्रत्यक्षीभूतं ***चयंति*** देहममत्वं शुद्धात्मनि स्थित्वा त्यजन्ति ***जित्थु ण पावहिँ*** यत्र देहे न प्राप्नुवन्ति । किम् ? ***परमसुहु*** पञ्चेन्द्रियविषयातीतं शुद्धात्मानुभूतिसंपन्नं परमसुखं ***तित्थु कि संत वसंति*** तत्र देहे सन्तः सत्पुरुषाः किं वसन्ति शुद्धात्मसुखसंतोषं मुक्त्वा तत्र किं रतिं कुर्वन्ति इति भावार्थः ॥१५३॥

आगे और भी देह को दुःख का कारण दिखलाते हैं—

जो मान मन में दुःख कारण देह भी वे छोड़ते ।
जिसमें परम सुख नहीं पाते वहाँ वे कैसे रहें?॥१५३॥

दोहार्थ— मन में इस शरीर को दुःख का कारण मानकर इसे ज्ञानी छोड़ देते हैं । जिसमें वे परम सुख नहीं पाते हैं, वहाँ संत पुरुष कैसे रह सकते हैं?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***दुक्खहँ कारणु*** नरकादि दु:ख के कारणभूत ***एहु देहु वि*** इस देह को ***मुणिवि मणि*** मन में जानकर ज्ञानी जीव इसका ममत्व ***चयंति*** छोड़ देते हैं, क्योंकि ***जित्थु*** जिस देह में ***परमसुहु ण*** उत्तम सुख नहीं ***पावहिँ*** पाते हैं, ***तित्थु संत*** उसमें सत्पुरुष ***किं वसंति*** कैसे रह सकते हैं ?

वीतराग, परमानंदरूप आत्म-सुख से विपरीत नरकादि के दु:खों का कारण यह शरीर है, उसको बुरा समझकर ज्ञानी जीव देह की ममता छोड़ देते हैं; और शुद्धात्मस्वरूप का सेवन करते हैं, निजस्वरूप में ठहरकर देहादि पदार्थों में प्रीति छोड़ देते हैं । इस देह में कभी सुख नहीं पाते, सदा आधि-व्याधि से पीड़ित ही रहते हैं । पंचेन्द्रियों के विषयों से रहित शुद्धात्मानुभूतिरूप परमसुख, देह के प्रति ममत्व रखने से कभी नहीं मिल सकता । महा दु:ख के कारणभूत इस शरीर में सत्पुरुष कभी नहीं रह सकते । देह से उदास हो, संसार की आशा छोड़, सुख के निवासभूत सिद्धपद को प्राप्त होते हैं । और जो आत्म-भावना को छोड़कर, संतोष से रहित हो, देहादिक में राग करते हैं; वे अनंत भव धारण करते हैं, संसार में भटकते फिरते हैं ॥१५३॥

अथात्मायत्तसुखे रतिं कुर्विति दर्शयति—

॥१५४-२७७॥

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु ।
पर सुहु वढ चिंतंताहँ हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥

आत्मायत्तं यदेव सुखं तेनैव कुरु संतोषम् ।
परं सुखं वत्स चिन्तयतां हृदये न नश्यति शोषः ॥१५४॥

अप्पायत्तउ इत्यादि— अप्पायत्तउ अन्यद्रव्यनिरपेक्षत्वेनात्माधीनं ***जं जि सुहु*** यदेव शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नं सुखं ***तेण जि करि संतोसु*** तेनैव तदनुभवेनैव संतोषं कुरु ***पर सुहु वढ चिंतंताहँ*** इन्द्रियाधीनं परसुखं चिन्तयतां वत्स मित्र ***हियइ ण फिट्टइ सोसु*** हृदये न नश्यति शोषोऽन्तर्दाह इति ।

अत्राध्यात्मरतिः स्वाधीना विच्छेदविघ्नौघरहिता च, भोगरतिस्तु पराधीना वह्नेरिन्धनैरिव समुद्रस्य नदीसहस्रैरिवातृप्तिकरा च । एवं ज्ञात्वा भोगसुखं त्यक्त्वा,

"एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होदि णिच्चमेदम्हि ।
*एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सुक्खं ॥"**

---

* समयसार, गाथा २०६ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

—इति गाथाकथितलक्षणे अध्यात्मसुखे स्थित्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यम्। तथा चोक्तम्—

''तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं ।।''

अध्यात्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते—मिथ्यात्वविषयकषायादिबहिर्द्रव्ये निरालम्बनत्वेनात्मन्यनुष्ठानमध्यात्मम् ।।१५४।।

आगे यह उपदेश करते हैं कि तुम आत्म-सुख में प्रीति करो —

जो सुख सदा स्वाधीन ही सन्तोष कर नित उसी में ।
तू कर न चिंतन अन्य सुख चित दाह वे ना मिटावें ।।१५४।।

दोहार्थ— हे शिष्य ! जो सुख स्वाधीन है, तुम उसी में संतोष करो । अन्य इन्द्रियाधीन सुख, चिंतन करने वालों के मन का दाह नष्ट नहीं कर पाता है ।

टीकार्थ— ***बढ*** हे शिष्य ! ***जं जि*** जो ***अप्पायत्तउ सुहु*** परद्रव्य से रहित आत्माधीन सुख है, ***तेण जि*** उसी में ***संतोसु करि*** संतोष करो, ***पर सुहु*** इन्द्रियाधीन सुख का ***चिंतंताहँ*** चिन्तवन करने वालों के ***हियइ*** चित्त का ***सोसु ण*** दाह नहीं ***फिट्टइ*** मिटता ।

आत्माधीन सुख आत्मा को जानने से उत्पन्न होता है, इसलिये तुम आत्मा के अनुभव में संतोष करो, भोगों की वांछा करने से चित्त शान्त नहीं होता । जो अध्यात्म की प्रीति है, यह स्वाधीनता है, इसमें कोई विघ्न नहीं है; और भोगों का अनुराग, वह पराधीनता है । भोगों को भोगते हुए कभी तृप्ति नहीं होती । जैसे अग्नि ईंधन से तृप्त नहीं होती, और सैकड़ों नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता है ।

ऐसा ही समयसार में कहा है कि ''हे हंस (जीव) तुम इस आत्मस्वरूप में ही सदा लीन हो और सदा इसी में संतुष्ट हो । इसी से तुम तृप्त हो और इसी से ही तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी ।''—इस कथन से अध्यात्म-सुख में ठहरकर निजस्वरूप की भावना करना चाहिये; कामभोगों से कभी तृप्ति नहीं हो सकती ।

ऐसा कहा भी है कि ''जैसे तृण, काठ आदि ईंधन से अग्नि तृप्त नहीं होती, और हजारों नदियों से लवणसमुद्र तृप्त नहीं होता; उसीप्रकार यह जीव काम-भोगों से तृप्त नहीं होता ।''—इसलिये विषय-सुखों को छोड़कर अध्यात्म-सुख का सेवन करना चाहिये । अध्यात्म का शब्दार्थ करते हैं—मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि बाह्य पदार्थों का अवलम्बन (सहारा) छोड़ना और आत्मा में तल्लीन होना, अध्यात्म है ।।१५४।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथात्मनो ज्ञानस्वभावं दर्शयति—

॥१५५-२७८॥

अप्पहँ णाणु परिच्चयवि अण्णु ण अत्थि सहाउ ।
इउ जाणेविणु जोइयहु परहँ म बंधउ राउ ॥

आत्मनः ज्ञानं परित्यज्य अन्यो न अस्ति स्वभावः ।
इदं ज्ञात्वा योगिन् परस्मिन् मा बंधान रागम् ॥१५५॥

अप्पहँ इत्यादि— *अप्पहँ* *शुद्धात्मनः *णाणु परिच्चयवि* वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं त्यक्त्वा *अण्णु ण अत्थि सहाउ* अन्यो ज्ञानाद्विभिन्नः स्वभावो नास्ति इउ *जाणेविणु* इदमात्मनः शुद्धात्मज्ञानस्वभावं ज्ञात्वा *जोइयहु* योगिन् *परहँ म बंधउ राउ* परस्मिन् शुद्धात्मनो विलक्षणे देहे रागादिकं मा कुरु तस्मात् ।

अत्रात्मनः शुद्धात्मज्ञानस्वरूपं ज्ञात्वा रागादिकं त्यक्त्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥१५५॥

.....

आगे आत्मा का ज्ञानस्वभाव दिखलाते हैं—

निज आतमा का ज्ञान बिन निज-भाव अन्य कभी नहीं ।
यह जान योगी राग को पर में कभी बाँधो नहीं ॥१५५॥

दोहार्थ— आत्मा के ज्ञान को छोड़कर अन्य अपना स्वभाव नहीं है— ऐसा जानकर हे योगी ! पर में प्रीति मत बाँधो ।

टीकार्थ— ***अप्पहँ*** आत्मा का ***णाणु*** निजस्वभाव वीतराग-स्वसंवेदनज्ञान के ***परिच्चयवि*** सिवाय ***अण्णु*** दूसरा ***सहाउ ण*** स्वभाव नहीं ***अत्थि*** है, आत्मा केवल ज्ञानस्वभाव है; ***इउ जाणेविणु*** ऐसा जानकर ***जोइयहु*** हे योगी ! ***परहँ*** परवस्तु से ***राउ म*** प्रीति मत बाँधो ।

शुद्धात्मा से भिन्न पर देहादिक में राग मत करो, आत्मा का ज्ञानस्वरूप जानकर रागादिक छोड़कर निरंतर आत्मा की भावना करना चाहिये ॥१५५॥

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥ —*प्रवचनसार, गाथा ६१*

ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है, दर्शन लोकालोक में विस्तृत है, सर्व अनिष्ट नष्ट हो गए हैं और सर्व इष्ट प्राप्त हो गए हैं, अतः सिद्ध दशा सुखस्वरूप है।

✡ पाठान्तर - शुद्धात्मनः - स्वशुद्धात्मनः ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ स्वात्मोपलम्भनिमित्तं चित्तस्थिरीकरणरूपेण परमोपदेशं पञ्चकलेन दर्शयति—

॥१५६-२७९॥

विसय-कसायहिँ मण-सलिलु णवि डहुलिज्जइ जासु ।
अप्पा णिम्मलु होइ लहु वढ पच्चक्खु वि तासु ॥

विषयकषायैः मनःसलिलं नैव क्षुभ्यति यस्य ।
आत्मा निर्मलो भवति लघु वत्स प्रत्यक्षोऽपि तस्य ॥१५६॥

विसय इत्यादि—***विसयकसायहिँ मणसलिलु*** ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मजलचराकीर्णसंसार-सागरे निर्विषयकषायरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात् प्रतिपक्षभूतैर्विषयकषायमहावातैर्मनः प्रचुरसलिलं ***णवि डहुलिज्जइ*** नैव क्षुभ्यति ***जासु*** यस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य ***अप्पा णिम्मलु होइ लहु*** आत्मा रत्नविशेषोऽनादिकालरूपमहापाताले पतितः सन् रागादिमलपरिहारेण लघु शीघ्रं निर्मलो भवति। ***वढ*** वत्स ! न केवलं निर्मलो भवति ***पच्चक्खु वि*** शुद्धात्मा परम इत्युच्यते तस्य परमस्य कला अनुभूतिः परमकला एव दृष्टिः परमकलादृष्टिः तया परमकलादृष्ट्या यावदवलोकनं सूक्ष्मनिरीक्षणं तेन प्रत्यक्षोऽपि स्वसंवेदनग्राह्योऽपि भवति। ***कस्य ?*** ***तासु*** यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण निर्मलं मनस्तस्येति भावार्थः ॥१५६॥

.....

आगे आत्मा की प्राप्ति के लिये चित्त को स्थिर करना, ऐसा परम उपदेश श्रीगुरु पाँच दोहों द्वारा दिखलाते हैं—

हो मन सलिल ना क्षुब्ध विषय-कषाय से जिसका कभी ।
हो आतमा निर्मल उसी का शीघ्र हो प्रत्यक्ष भी ॥१५६॥

दोहार्थ— जिसका मन रूपी जल विषय-कषायों से क्षुब्ध नहीं होता है; हे शिष्य ! उसी का आत्मा निर्मल और शीघ्र प्रत्यक्ष भी होता है ।

टीकार्थ— ***जासु*** जिसका ***मणसलिलु*** मनरूपी जल ***विसयकसायहिँ*** विषय-कषायरूप प्रचंड पवन से ***णवि डहुलिज्जइ*** चलायमान नहीं होता है, ***तासु*** उसी भव्य जीव का ***अप्पा*** आत्मा ***वढ*** हे वत्स! ***णिम्मलु होइ लहु*** निर्मल होता है, और शीघ्र ही उसे वह ***पच्चक्खु वि*** प्रत्यक्ष भी हो जाता है ।

ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूपी जलचर, मगर-मच्छादि जल के जीवों से भरे संसार-सागर में विषय-कषायरूप प्रचंड पवन, जो कि शुद्धात्मतत्त्व से सदा पराङ्मुख है; उसी प्रचंड पवन से जिसका चित्त चलायमान नहीं हुआ, उसी का आत्मा निर्मल होता है । आत्मा रत्न के समान है, अनादिकाल से अज्ञानरूपी पाताल में पड़ा है, वह रागादि मल को छोड़ने से शीघ्र ही निर्मल हो जाता है । हे वत्स ! आत्मा उन भव्य जीवों का निर्मल होता है, और उनको प्रत्यक्ष आत्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का दर्शन होता है । शुद्धात्मा परम कहलाता है, उस परम की कला अर्थात् अनुभूति परमकला है, परमकलारूप आत्मा की अनुभूति, वही हुई निश्चयदृष्टि, उससे आत्मस्वरूप का अवलोकन, सूक्ष्म निरीक्षण होता है; उससे प्रत्यक्ष भी होता है, आत्मा स्वसंवेदनज्ञान से ही ग्रहण करने योग्य है । जिसका मन विषय से चंचल न हो, उसी को आत्मा का दर्शन होता है ॥१५६॥

अथ—

॥१५७-२८०॥

अप्पा परहँ ण मेलविउ मणु मारिवि सहस त्ति ।
सो वढ जोएँ किं करइ जासु ण एही सत्ति ॥

आत्मा परस्य न मेलितः मनो मारयित्वा सहसेति ।
स वत्स योगेन किं करोति यस्य न ईदृशी शक्तिः ॥१५७॥

अप्पा **इत्यादि—*अप्पा* अयं प्रत्यक्षीभूतः सविकल्प आत्मा *परहँ* ख्यातिपूजालाभप्रभृतिसमस्तमनोरथरूपविकल्पजालरहितस्य विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनः *ण मेलविउ* न योजितः । किं कृत्वा ? *मणु मारिवि* मिथ्यात्वविषयकषायादिविकल्पसमूहपरिणतं मनो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिशस्त्रेण मारयित्वा *सहस त्ति* झटिति *सो वढ जोएँ किं करइ* स पुरुषः वत्स योगेन किं करोति ? स कः ? *जासु ण एही सत्ति* यस्येदृशी मनोमारणशक्तिर्नास्तीति तात्पर्यम् ॥१५७॥**

आगे यह कहते हैं कि जिसने शीघ्र ही मन को वशकर, आत्मा को परमात्मा में नहीं मिलाया; जिसमें ऐसी शक्ति नहीं है, वह योग से क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता—

अतिशीघ्र मन को मार आतम मिलाता परमात्म में ।
जिसके न ऐसी शक्ति उसको काम फिर क्या योग से? ॥१५७॥

दोहार्थ— हे शिष्य ! शीघ्र ही मन को मार, आत्मा को परमात्मा में मिलाने की शक्ति जिसके पास नहीं है; वह योग से क्या कर सकता है? कुछ नहीं।

टीकार्थ— ***सहस त्ति*** जिसने शीघ्र ही ***मणु मारिवि*** मन को वश में करके यह ***अप्पा*** आत्मा ***परहँ*** परमात्मा में ***ण*** नहीं ***मेलविउ*** मिलाया, ***वढ*** हे शिष्य ! ***एही*** जिसकी ऐसी ***सत्ती ण सो*** शक्ति नहीं है, वह **जोएँ** योग से ***किं करइ*** क्या कर सकता है ?

विकल्प सहित दशामय यह प्रत्यक्षरूप संसारी जीव, यदि समस्त विकल्प-जाल रहित निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वभाव परमात्मा से नहीं मिलता; मिथ्यात्व, विषय,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कषायादि विकल्पों के समूह से परिणत हुए मन को वीतराग-निर्विकल्प समाधिरूप शस्त्र से शीघ्र ही मारकर, आत्मा को परमात्मा से नहीं मिलाता; वह योगी योग से क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं कर सकता । जिसमें मन मारने की शक्ति नहीं है, वह योगी कैसा ? योगी तो उसे कहते हैं, जो बड़ाई, पूजा (अपनी महिमा) लाभ आदि सब मनोरथरूप विकल्प-जालों से रहित निर्मल ज्ञान-दर्शनमयी परमात्मा को देखे, जाने, अनुभव करे; परन्तु यह मन को मारे बिना नहीं हो सकता, यह निश्चय जानना ॥१५७॥

अथ—

॥१५८-२८१॥

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु जे झायहिँ झाणु ।
वढ अण्णाण-वियंभियहँ कउ तहँ केवलणाणु ॥

आत्मानं मुक्त्वा ज्ञानमयं अन्यद् ये ध्यायन्ति ध्यानम् ।
वत्स अज्ञानविजृम्भितानां कुतः तेषां केवलज्ञानम् ॥१५८॥

अप्पा इत्यादि—***अप्पा*** स्वशुद्धात्मानं ***मेल्लिवि*** मुक्त्वा । कथंभूतमात्मानम् ? ***णाणमउ*** सकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणनिर्वृत्तं ***अण्णु*** अन्यद्बहिर्द्रव्यालम्बनं ***जे*** ये केचन ***झायहिँ*** ध्यायन्ति । किम् ? ***झाणु*** ध्यानं ***वढ*** वत्स मित्र ***अण्णाणवियंभियहँ*** शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणाज्ञानविजृम्भितानां परिणतानां ***कउ तहँ केवलणाणु*** कथं तेषां केवलज्ञानं ? किंतु नैवेति ।

अत्र यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्तस्थितिकरणार्थं विषयकषायरूप-दुर्ध्यानवञ्चनार्थं च जिनप्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति तथापि निश्चयध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव ध्येय इति भावार्थः ॥१५८॥

.....

आगे ज्ञानमयी आत्मा को छोड़कर जो अन्य पदार्थ का ध्यान करते हैं, वे अज्ञानी हैं, उनको केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है ? ऐसा निरूपण करते हैं—

जो ध्यान करते अन्य का तज ज्ञानमय निज आत्म को ।
हो कहो केवलज्ञान कैसे? ज्ञान बिन उस जीव को ॥१५८॥

दोहार्थ— जो ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर अन्य का ध्यान करते हैं; अज्ञान रूप परिणत उन जीवों को हे शिष्य ! केवलज्ञान कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता ।

टीकार्थ— ***जे णाणमउ*** जो महा निर्मल केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप ***अप्पा***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मद्रव्य को ***मेल्लिवि*** छोड़कर ***अण्णु*** जड़ पदार्थरूप पर द्रव्य का ***झाणु झायहिँ*** ध्यान लगाते हैं, ***वढ*** हे वत्स ! वे अज्ञानी हैं, ***तहँ अण्णाण वियंभियहँ*** उन शुद्धात्मा के ज्ञान से विमुख कुमति, कुश्रुत, कुअवधिरूप अज्ञान से परिणत हुए जीवों को ***केवलणाणु*** केवलज्ञान की प्राप्ति ***कउ*** कैसे हो सकती ? कभी नहीं हो सकती ।

यद्यपि विकल्प सहित अवस्था में शुभोपयोगियों को चित्त की स्थिरता के लिये और विषय-कषायरूप खोटे ध्यान को रोकने के लिये जिनप्रतिमा तथा णमोकारमंत्र के अक्षर ध्यान योग्य हैं; तो भी निश्चय ध्यान के समय शुद्ध आत्मा ही ध्यान योग्य है, अन्य नहीं ।।१५८।।

अथ—

।।१५९-२८२।।

सुण्णुउँ पउँ झायंताहँ वलि वलि जोइयडाहँ ।
समरसि-भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहँ ।।

शून्यं पदं ध्यायतां पुनः पुनः (?) योगिनाम् ।
समरसीभावं परेण सह पुण्यमपि पापं न येषाम् ।।१५९।।

सुण्णउँ पउँ इत्यादि— ***सुण्णउँ*** शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैः शून्यं ***पउँ*** वीतरागपरमानन्दैकसुखामृतरसास्वादरूपा स्वसंवित्तिमयी या सा परमकला तया भरितावस्थपदं निजशुद्धात्मस्वरूपं ***झायंताहँ*** वीतरागत्रिगुप्तिसमाधिबलेन ध्यायतां ***वलि वलि जोइयडाहँ*** श्रीयोगीन्द्रदेवाः स्वकीयाभ्यन्तरगुणानुरागं प्रकटयन्ति, बलिं क्रियेऽहमिति परमयोगिनां प्रशंसां कुर्वन्ति । येषां किम् ? ***समरसिभाउ*** वीतरागपरमाह्लादसुखेन परमसमरसीभावम्। केन सह ? ***परेण सहु*** स्वसंवेद्यमानपरमात्मना सह । पुनरपि किं येषाम् ? ***पुण्णु वि पाउ ण जाहँ*** शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मनो विलक्षणं पुण्यपापद्वयमिति न येषामित्यभिप्रायः।।१५९।।

.....

आगे शुभाशुभ विकल्प से रहित निर्विकल्प (शून्य) ध्यान जो ध्याते हैं, उन योगियों की बलिहारी है, ऐसा कहते हैं—

जो निर्विकल्पक ध्यान धरते सदा समरस भाव ही ।
पर में रखें, पुण्य-पाप सम उनको हमारा नमन भी ।।१५९।।

दोहार्थ— जो योगी ! निर्विकल्पक ध्यान करते हुए पर के साथ साम्य भाव रखते हैं, पुण्य-पाप को समान मानते हैं, उन्हें हमारा बारम्बार नमस्कार हो ।

टीकार्थ— ***सुण्णउँ पउँ झायंताहँ*** विकल्प रहित ब्रह्मपद को ध्याने वाले

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जोइयडाहँ योगियों की मैं ***बलि बलि*** बार-बार मस्तक नमाकर पूजा करता हूँ, ***जाहँ*** जिन योगियों का ***परेण सहु*** अन्य पदार्थों के साथ ***समरसिभाउ*** समरसीभाव है, और जिन्हें ***पुण्णु पाउ वि*** पुण्य और पाप दोनों ही उपादेय ***ण*** नहीं हैं।

शुभ-अशुभ मन, वचन, काय के व्यापार रहित जो वीतराग परम-आनंदमयी सुखामृत-रस का आस्वाद वही उसका स्वरूप है, ऐसी आत्मज्ञानमयी परमकला से भरपूर जो ब्रह्मपद/शून्यपद/निज शुद्धात्मस्वरूप, उसको जो ध्यानी राग रहित, तीन गुप्तिरूप समाधि के बल से ध्याते हैं, उन ध्यानी योगियों की मैं बार-बार बलिहारी करता हूँ;—ऐसा श्रीयोगीन्दुदेव अपना अन्तरंग का धर्मानुराग प्रगट करते हैं । उन परम योगीश्वरों के परम स्वसंवेदनज्ञान सहित महा समरसीभाव है ।

समरसीभाव का लक्षण ऐसा है कि जिनके इन्द्र और कीट दोनों समान, चिंतामणिरत्न और कंकड़ दोनों समान हों । अथवा ज्ञानादि गुण और गुणी निज शुद्धात्मद्रव्य इन दोनों का एकीभावरूप परिणमन, वह समरसीभाव है, उससे सहित हैं; जिनके पुण्य-पाप दोनों ही नहीं हैं । ये दोनों, शुद्ध-बुद्ध चैतन्य स्वभाव परमात्मा से भिन्न हैं । जिन मुनियों ने इन दोनों को हेय समझ लिया है, परमध्यान में आरूढ़ हैं, उनकी मैं बार-बार बलिहारी जाता हूँ/करता हूँ ॥१५९॥

अथ—

॥१६०-२८३॥

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ।
बलि किज्जउँ तसु जोइयहिँ जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥

उद्वसान् वसितान् यः करोति वसितान् करोति यः शून्यान् ।
बलिं कुर्वेऽहं तस्य योगिनः यस्य न पापं न पुण्यम् ॥१६०॥

उव्वस इत्यादि—***उव्वस*** उद्वसान् शून्यान् । कान् ? वीतरागतात्त्विकचिदानन्दोच्छलननिर्भरानन्दशुद्धात्मानुभूतिपरिणामान् परमानन्दनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेनेदानीं विशिष्टज्ञानकाले ***वसिया करइ*** तेनैव स्वसंवेदनज्ञानेन वसितान् भरितावस्थान् करोति ***जो*** यः परमयोगी ***वसिया करइ जु सुण्णु*** निश्चयनयेन शुद्धचैतन्यनिश्चयप्राणस्य हिंसकत्वान्मिथ्यात्वविकल्पजालमेव निश्चयहिंसा तत्प्रभृतिसमस्तविभावपरिणामान् स्वसंवेदनज्ञानलाभात्पूर्वं वसितानिदानीं शून्यान् करोतीति ***बलि किज्जउँ तसु जोइयहिँ*** बलिर्मस्तकस्योपरितनभागेनावतारणं क्रियेऽहमिति तस्य योगिनः । एवं श्रीयोगीन्द्रदेवाः गुणप्रशंसां कुर्वन्ति । पुनरपि किं यस्य योगिनः ? ***जासु ण*** यस्य न । किम् ? ***पाउ ण पुण्णु*** वीतरागशुद्धात्मतत्त्वाद्विपरीतं न पुण्यपापद्वयमिति तात्पर्यम् ॥१६०॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे और भी योगीश्वरों की प्रशंसा करते हैं—

उजड़े हुए को बसाते जो करें ऊजड़ बसे को ।
हैं नहीं पुण्य रु पाप जिनके है नमन उन योगि को ।।१६०।।

दोहार्थ— जो उजड़े हुए शुद्ध परिणामों को बसाते हैं/स्थिर करते हैं; बसे हुए मिथ्यात्वादि परिणामों को नष्ट करते हैं; जिनके पुण्य-पाप नहीं हैं; उन योगी को मैं नमस्कार करता हूँ ।

टीकार्थ— ***जो उव्वस*** जो ऊजड़ हैं, अर्थात् पहले कभी नहीं हुए ऐसे शुद्धोपयोगरूप परिणामों को स्वसंवेदनज्ञान के बल से ***वसिया करइ*** बसाता है, अर्थात् अपने हृदय में स्थापन करता है, और ***जु*** जो ***वसिया*** पहले के बसे हुए मिथ्यात्वादि परिणाम हैं, उनको ***सुण्णु करइ*** ऊजड़ करता है, उनको निकाल देता है, ***तसु जोइयहिँ*** उस योगी की मैं ***बलि किज्जउँ*** पूजा करता हूँ; ***जासु ण पाउ ण पुण्णु*** जिसके न तो पाप है और न पुण्य है ।

जो प्रगटरूप में अनादिकाल से नहीं बसते हैं, ऐसे वीतराग तात्त्विक चिदानंदस्वरूप उछलते हुए/प्रगट निर्भर आनन्दमय शुद्धात्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोग परिणाम को, अब निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के बल से, इस विशिष्ट ज्ञान काल में बसाता है; निज-स्वादनरूप स्वाभाविक ज्ञान से, शुद्ध परिणामों की बस्ती, निज घटरूपी नगर में भरपूर करता है । और अनादिकाल के जो शुद्ध चैतन्यरूप निश्चयप्राणों के घातक मिथ्यात्व-रागादिरूप विकल्पजाल हैं, उनको निज स्वरूप नगर से निकाल देता है, उनको ऊजड़ कर देता है; ऐसे परमयोगी की मैं बलिहारी करता हूँ, अर्थात् उनके ऊपर मैं अपने को वारता हूँ/समर्पित करता हूँ । —इसप्रकार श्रीयोगीन्दुदेव परमयोगियों की प्रशंसा करते हैं । उन योगियों के वीतराग शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत पुण्य-पाप दोनों ही नहीं हैं ।।१६०।।

अथैकसूत्रेण प्रश्नं कृत्वा सूत्रचतुष्टयेनोत्तरं दत्त्वा च तमेवपूर्वसूत्रपञ्चकेनोक्तं निर्विकल्पसमाधिरूपं परमोपदेशं पुनरपि विवृणोति पञ्चकलेन—

।।१६१-२८४।।

तुट्टइ मोहु तडित्ति जहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ।
सो सामिइ उवएसु कहि अण्णें देविं काइँ ।।

त्रुट्यति मोहः झटिति यत्र मनः अस्तमनं याति ।
तं स्वामिन् उपदेशं कथय अन्येन देवेन किम् ।।१६१।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तुट्टइ इत्यादि—*तुट्टइ* नश्यति । **कोऽसौ ?** *मोहु* निर्मोहशुद्धात्मद्रव्यप्रतिपक्षभूतो मोहः *तडित्ति* झटिति *जहिँ* मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्परहिते यत्र परमात्मपदार्थे । **पुनरपि किं यत्र ?** *मणु अत्थवणहँ जाइ* निर्विकल्पात् शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतं नानाविकल्पजालरूपं मनोवास्तं गच्छति *सो सामिय उवएसु कहि* हे स्वामिन् तदुपदेशं कथयेति प्रभाकरभट्टः श्रीयोगीन्द्रदेवान् पृच्छति । *अण्णें देविं काइँ* निर्दोषिपरमात्मनः परमाराध्यात्सकाशादन्येन देवेन किं प्रयोजनमित्यर्थः । इति प्रभाकरभट्टप्रश्नसूत्रमेकं गतम् ॥१६१॥

आगे एक दोहे में शिष्य का प्रश्न और चार दोहों में प्रश्न का उत्तर देकर निर्विकल्प समाधिरूप परम उपदेश को और भी विस्तार से कहते हैं—

अब शीघ्र टूटे मोह जिससे अस्त हो मन शीघ्र ही ।
हे स्वामि ! वह उपदेश दें अन्य देव से क्या काम ही? ॥१६१॥

दोहार्थ— हे स्वामी ! जिससे मोह शीघ्र छूट जाए/नष्ट हो जाए, मन अस्त/स्थिर हो जाए—ऐसा उपदेश दीजिये । मुझे अन्य देव से क्या प्रयोजन ? कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

टीकार्थ— ***सामइ*** हे स्वामी ! मुझे ***सो उवएसु*** उस उपदेश को ***कहि*** कहिए ***जहिँ*** जिससे ***मोहु*** मोह ***तडित्ति तुट्टइ*** शीघ्र छूट जाये, और ***मणु अत्थवणहँ*** चंचल मन स्थिरता को ***जाइ*** प्राप्त हो जावे; ***अण्णें देविं काइँ*** दूसरे देवताओं से क्या प्रयोजन है ?

प्रभाकरभट्ट श्रीयोगीन्दुदेव से निवेदन करते हैं कि हे स्वामी ! वह उपदेश कहिए कि जिससे निर्मोह शुद्धात्मद्रव्य से पराङ्मुख मोह शीघ्र पृथक् हो जावे, अर्थात् मोह के उदय से उत्पन्न समस्त विकल्प-जालों से रहित परमात्मपदार्थ में मोह-जाल का लेश भी न रहे, और निर्विकल्प शुद्धात्म-भावना से विपरीत नाना विकल्पजालरूपी चंचल मन अस्त हो जावे । हे स्वामी ! निर्दोष परमाराध्य परमात्मा से अन्य मिथ्यात्वी देव से मेरा क्या प्रयोजन है ? ऐसा शिष्य ने श्रीगुरु से निवेदन किया; उसका एक दोहा-सूत्र कहा ॥१६१॥

अथोत्तरम्—

॥१६२-२८५॥

णास-विणिग्गउ सासडा अंबरि जेत्थु विलाइ ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहिँ मणु अत्थवणहँ जाइ ॥

नासाविनिर्गतः श्वासः अम्बरे यत्र विलीयते ।
त्रुट्यति मोहः झटिति तत्र मनः अस्तं याति ॥१६२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

णासविणिग्गउ इत्यादि—*णासविणिग्गउ* नासिकाविनिर्गतः *सासडा* उच्छ्वासः *अंबरि* मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहिते शून्ये अम्बरशब्दवाच्ये *जित्थु* यत्र तात्त्विक-परमानन्दभरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ *विलाइ* पूर्वोक्तः श्वासो विलयं गच्छति नासिकाद्वारं विहाय तालुरन्ध्रेण गच्छतीत्यर्थः । *तुट्टइ* त्रुट्यति नश्यति । कोऽसौ ? *मोहु* मोहोदये-नोत्पन्नरागादिविकल्पजालः *तडत्ति* झटिति *तहिँ* तत्र बहिर्बोधशून्ये निर्विकल्पसमाधौ *मणु* मनः पूर्वोक्तरागादिविकल्पाधारभूतं तन्मयं वा *अत्थवणहँ जाइ* अस्तं विनाशं गच्छति स्वस्वभावेन तिष्ठति इति ।

अत्र यदायं जीवो रागादिपरभावशून्यनिर्विकल्पसमाधौ तिष्ठति तदायमुच्छ्वासरूपो वायुर्नासिकाछिद्रद्वयं वर्जयित्वा स्वयमेवानीहितवृत्त्या तालुप्रदेशे यत् केशात् शेषाष्टमभागप्रमाणं छिद्रं तिष्ठति तेन क्षणमात्रं दशमद्वारेण तदनन्तरं क्षणमात्रं नासिकया तदनन्तरं रन्ध्रेण कृत्वा निर्गच्छतीति । न च परकल्पितवायुधारणारूपेण श्वासनाशो ग्राह्यः । कस्मादिति चेत् ? वायुधारणा तावदीहापूर्विका, ईहा च मोहकार्यरूपो विकल्पः । स च मोहकारणं न भवतीति न च परकल्पितवायुः । किं च ? कुम्भकपूरकरेचकादिसंज्ञा वायुधारणा क्षणमात्रं भवत्येवात्र किंतु अभ्यासवशेन घटिकाप्रहरदिवसादिष्वपि भवति तस्य वायुधारणस्य च कार्यं देहारोगत्वलघुत्वादिकं न च मुक्तिरिति । यदि मुक्तिरपि भवति तर्हि वायुधारणा-कारकाणामिदानीन्तनपुरुषाणां मोक्षो किं न भवतीति भावार्थः ॥१६२॥

आगे श्रीगुरु उत्तर देते हैं—

यह श्वास निर्गत नाक से आकाश में जब लीन हो ।
तब मोह टूटे शीघ्र मन भी अस्तता को प्राप्त हो ॥१६२॥

दोहार्थ— जहाँ नाक से निकली श्वास आकाश में समा जाती है, वहाँ शीघ्र ही मोह टूट जाता है और मन अस्त हो जाता है ।

टीकार्थ— ***णास विणिग्गउ सासडा*** नाक से निकला जो श्वास वह ***जेत्थु*** जहाँ ***अंबरि*** निर्विकल्प समाधि में ***विलाइ*** मिल जावे, ***तहिँ*** वहाँ ***मोहु*** मोह ***तडत्ति तुट्टइ*** शीघ्र नष्ट हो जाता है, और ***मणु अत्थवणहँ जाइ*** मन स्थिर हो जाता है।

नासिका से निकले श्वासोच्छ्वास जब अम्बर अर्थात् आकाश के समान निर्मल, मिथ्यात्व विकल्प-जाल रहित, शुद्ध भावों में विलीन हो जाते हैं; अर्थात् तत्त्वस्वरूप परमानंद से पूर्ण निर्विकल्प समाधि में चित्त स्थिर हो जाता है, तब श्वासोच्छ्वासरूप पवन रुक जाती है; नासिका के द्वार को छोड़कर, तालुवा रंध्ररूपी दशवें द्वार में होकर निकले, तब मोह टूटता है, उसी समय मोह के उदय से उत्पन्न हुए रागादि विकल्प-जाल नष्ट हो जाते हैं; बाह्य ज्ञान से शून्य निर्विकल्प समाधि में विकल्पों का आधारभूत मन अस्त हो जाता है, अर्थात् निजस्वभाव में मन की चंचलता नहीं रहती ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जब यह जीव रागादि परभावों से शून्य निर्विकल्प समाधि में होता है, तब यह श्वासोच्छ्वासरूप पवन नासिका के दोनों छिद्रों को छोड़कर स्वयमेव अवांछीक वृत्ति से तालुवा के बाल की अनी के आठवें भाग प्रमाण अति सूक्ष्म छिद्र में (दशवें द्वार में) होकर बारीक निकलती है, नासा के छेद को छोड़कर तालुरंध्र में (छेद में) होकर निकलती है ।

पातंजलिमतवाले वायुधारणारूप श्वासोच्छ्वास मानते हैं; वह ठीक नहीं है, क्योंकि वायुधारणा वांछापूर्वक होती है, और वांछा मोह से उत्पन्न विकल्परूप है, वांछा का कारण मोह है । संयमी के वायु का निरोध वांछापूर्वक नहीं होता है, स्वाभाविक ही होता है । जिनशासन में ऐसा कहा है कि कुभंक (पवन को खेंचना), पूरक (पवन को थाँभना), रेचक (पवन को निकालना)—ये तीन भेद प्राणायाम के हैं, इसी को वायुधारणा कहते हैं । यह क्षणमात्र होती है, परंतु अभ्यास के वश से घड़ी, पहर, दिवस आदि तक भी होती है । उस वायुधारणा का फल ऐसा कहा है कि देह आरोग्य होती है, देह के सब रोग मिट जाते हैं, शरीर हल्का हो जाता है; परन्तु मुक्ति इस वायुधारणा से नहीं होती; क्योंकि वायुधारणा शरीर का धर्म है, आत्मा का स्वभाव नहीं है ।

शुद्धोपयोगियों के सहज ही बिना यत्न के मन भी रुक जाता है, और श्वास भी स्थिर हो जाते हैं । शुभोपयोगियों को मन रोकने के लिये प्राणायाम का अभ्यास है, मन के अचल होने पर कुछ प्रयोजन नहीं है । आत्मस्वरूप केवल चेतनामयी ज्ञान-दर्शनस्वरूप है, शुद्धोपयोगी तो उस स्वरूप में अतिलीन हैं, और शुभोपयोगी जब तक मन की चपलता से आनंदघन में अडोल अवस्था को नहीं पाते, तब तक मन को वश में करने के लिए श्रीपंचपरमेष्ठी का ध्यान, स्मरण करते हैं, ओंकारादि मंत्रों का ध्यान करते हैं और प्राणायाम का अभ्यास कर मन को रोककर चिद्रूप में लगाते हैं; जब वह लग गया, तब मन और पवन सब स्थिर हो जाते हैं । शुभोपयोगियों की दृष्टि एक शुद्धोपयोग पर है; पातंजलिमत के समान थोथी वायुधारणा पर नहीं है । यदि वायुधारणा से ही मुक्ति हो तो वायुधारणा करने वालों को इस दु:षमकाल में मोक्ष क्यों न हो ? परन्तु नहीं होता। मोक्ष तो केवल ज्ञानस्वभावमयी है ॥१६२॥

रयणमिह दन्दणीत्तं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए ।
अभिभूय तं णि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्ठेसु ॥—*प्रवचनसार, गाथा ३१*

जैसे इस लोक में दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी कांति से दूध को अभिभूत कर प्रवर्तित होता है, उसी प्रकार ज्ञान पदार्थों में प्रवर्तित होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥१६३-२८६॥

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु-णिसासु ।
केवल-णाणु वि परिणमइ अंबरि जाहँ णिवासु ॥

मोहो विलीयते मनो म्रियते त्रुट्यति श्वासोच्छ्वासः ।
केवलज्ञानमपि परिणमति अम्बरे येषां निवासः ॥१६३॥

मोहु विलिज्जइ इत्यादि— *मोहु* मोहो ममत्वादिविकल्पजालं *विलिज्जइ* विलयं गच्छति *मणु मरइ* इहलोकपरलोकाशाप्रभृतिविकल्पजालरूपं मनो म्रियते । *तुट्टइ* नश्यति। कोऽसौ ? *सासुणिसासु* अनीहितवृत्त्या नासिकाद्वारं विहाय क्षणमात्रं तालुरन्ध्रेण गच्छति पुनरप्यन्तरं नासिकया कृत्वा निर्गच्छति पुनरपि रन्ध्रेणेत्युच्छ्वासनिःश्वासलक्षणो वायुः । पुनरपि किं भवति ? *केवलणाणु वि परिणमइ* केवलज्ञानमपि परिणमति समुत्पद्यते । येषां किम् ? *अंबरि जाहँ णिवासु* रागद्वेषमोहरूपविकल्पजालशून्यं अम्बरे अम्बरशब्दवाच्ये शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपे निर्विकल्पत्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधौ येषां निवास इति ।

अयमत्र भावार्थः — अम्बरशब्देन शुद्धाकाशं न ग्राह्यं किंतु विषयकषायविकल्पशून्य-परमसमाधिग्राह्यः, वायुशब्देन च कुम्भकरेचकपूरकादिरूपो वायुनिरोधो न ग्राह्यः किंतु स्वयमनीहितवृत्त्या निर्विकल्पसमाधिबलेन दशमद्वारसंज्ञेन ब्रह्मरन्ध्रसंज्ञेन सूक्ष्माभिधानरूपेण च तालुरन्ध्रेण योऽसौ गच्छति स एव ग्राह्यः तत्र । यदुक्तं केनापि–

''मणु मरइ पवणु जहिँ खयहँ जाइ,सव्वंगइ तिहुवणु तहिँ जि ठाइ ।
मूढा अंतरालु परियाणहि, तुट्टइ मोहजालु जइ जाणहि ॥''

अत्र पूर्वोक्तलक्षणमेव मनोमरणं ग्राह्यं पवनक्षयोऽपि पूर्वोक्तलक्षण एव त्रिभुवन-प्रकाशक आत्मा तत्रैव निर्विकल्पसमाधौ तिष्ठतीत्यर्थः । अन्तरालशब्देन तु रागादि-परभावशून्यत्वं ग्राह्यं न चाकाशे ज्ञाते सति मोहजालं नश्यति न चान्यादृशं परकल्पितं ग्राह्यमित्यभिप्रायः ॥१६३॥

.....

आगे परमसमाधि का फिर से कथन करते हैं—

नित विलय होता मोह मन मरता व टूटे श्वास भी ।
हो वास अंबर में सदा तो प्रगट केवलज्ञान भी ॥१६३॥

दोहार्थ— जिनका निवास आकाश/परमसमाधि में है, उनका मोह नष्ट हो जाता है, मन मर जाता है, श्वासोच्छ्वास रुक जाता है और केवलज्ञान रूप से परिणमन हो जाता है ।

टीकार्थ— ***जाहँ*** जिन मुनिश्वरों का ***अंबरि*** परम समाधि में ***णिवासु*** निवास

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, उनका ***मोहु विलिज्जइ*** मोह नाश को प्राप्त हो जाता है, ***मणु मरइ*** मन मर जाता है, ***सासुणिसासु तुट्टइ*** श्वासोच्छ्वास रुक जाता है, ***वि*** और ***केवलणाणु परिणमइ*** केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

दर्शनमोह और चारित्रमोह आदि सब कल्पना-जाल—सब विलय हो जाते हैं, इसलोक-परलोक आदि की वांछा आदि विकल्प जालरूप मन स्थिर हो जाता है, और श्वासोच्छ्वासरूप वायु रुक जाती है, श्वासोच्छ्वास अवांछीकपने से नासिका के द्वार को छोड़कर तालुछिद्र में होकर निकलते हैं, तथा कुछ देर के बाद नासिका से निकलते हैं । इसप्रकार श्वासोच्छ्वासरूप पवन वश हो जाता है; चाहे जिस द्वार से निकालो । केवलज्ञान भी शीघ्र ही उन ध्यानी मुनियों को उत्पन्न होता है कि जिन मुनियों का राग, द्वेष, मोहरूप विकल्प-जाल से रहित शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप निर्विकल्प त्रिगुप्तिमयी परमसमाधि में निवास है ।

यहाँ अम्बर का अर्थ आकाश नहीं समझना, किन्तु समस्त विषय-कषायरूप विकल्प-जालों से शून्य परमसमाधि लेना । और यहाँ वायु शब्द से कुभंक, पूरक रेचकादिरूप वांछापूर्वक वायुनिरोध न लेना, किन्तु स्वयमेव अवांछीक वृत्ति पूर्वक निर्विकल्प समाधि के बल से ब्रह्मद्वार नामा सूक्ष्म छिद्र, जिसको तालुवे का रंध्र कहते हैं, उसके द्वारा अवांछीक वृत्ति से पवन निकलता है, वह लेना । ध्यानी मुनियों के पवन रोकने का यत्न नहीं होता है, बिना ही यत्न के सहज ही पवन रुक जाता है, और मन भी अचल हो जाता है, ऐसा समाधि का प्रभाव है ।

ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि ''मूढ़ तो अम्बर का अर्थ आकाश जानते हैं और ज्ञानीजन अम्बर का अर्थ परमसमाधिरूप निर्विकल्प ध्यान जानते हैं । सो निर्विकल्प ध्यान में मन मर जाता है, पवन का सहज ही निरोध होता है, और सब अंग तीन भुवन के समान हो जाते हैं । यदि परमसमाधि को जाने, तो मोह टूट जावे'' ।

मन के विकल्पों का मिटना, वही मन का मरना है, और वही श्वास का रुकना है, जो कि सब द्वारों से रुककर दशवें द्वार में से होकर निकलती है । तीन लोक के प्रकाशक आत्मा को निर्विकल्प समाधि में स्थापित करता है । अंतराल शब्द का अर्थ रागादि भावों से शून्यदशा लेना, आकाश अर्थ न लेना । आकाश को जानने से मोह-जाल नहीं मिटता, आत्मस्वरूप को जानने से मोह-जाल मिटता है । पातञ्जलि आदि परसमय में जो शून्यरूप समाधि कही है, वह अभिप्राय नहीं लेना; क्योंकि विभावों (विशिष्ट भावों) की शून्यता हो जाने पर वस्तु का ही अभाव हो जायेगा ॥१६३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥१६४-२८७॥

जो आयासइ मणु धरइ लोयालोय-पमाणु ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु पावइ परहँ पवाणु ॥

यः आकाशे मनो धरति लोकालोकप्रमाणम् ।
त्रुट्यति मोहो झटिति तस्य प्राप्नोति परस्य प्रमाणम् ॥१६४॥

जो इत्यादि— *जो* यो ध्याता पुरुषः *आयासइ मणु धरइ* यथा परद्रव्यसंबन्धरहितत्वेनाकाशमम्बरशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते तथा वीतरागचिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थोऽपि मिथ्यात्वरागादिपरभावरहितत्वान्निर्विकल्पसमाधिराकाशमम्बरशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते । तत्राकाशसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ मनो धरति स्थिरं करोति । कथंभूतं मनः ? *लोयालोयपमाणु* लोकालोकप्रमाणं लोकालोकव्याप्तिरूपं अथवा प्रसिद्धलोकालोकाकाशे व्यवहारेण ज्ञानापेक्षया न च प्रदेशापेक्षया लोकालोकप्रमाणं मनो मानसं धरति *तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु* त्रुट्यति नश्यति । कोऽसौ ? *मोहु* मोहः । कथम् ? झटिति तस्य ध्यानात् । न केवलं मोहो नश्यति । *पावइ* प्राप्नोति । किम् ? *परहँ पवाणु* परस्य परमात्मस्वरूपस्य प्रमाणम्।

कीदृशं तत्प्रमाणमिति चेत् ? व्यवहारेण रूपग्रहणविषये चक्षुरिव सर्वगतः । यदि पुनर्निश्चयेन सर्वगतो भवति तर्हि चक्षुषो अग्निस्पर्शात् दाहं प्राप्नोति न च तथा। तथात्मनोऽपि परकीयसुखदुःखविषये तन्मयपरिणामत्वेन परकीयसुखदुःखानुभवं प्राप्नोति न च तथा । निश्चयेन पुनर्लोकमात्रासंख्येयप्रदेशोऽपि सन् व्यवहारेण पुनः शरीरकृतोपसंहारविस्तारवशाद्विवक्षितभाजनस्थप्रदीपवत् देहमात्र इति भावार्थः ॥१६४॥

आगे निर्विकल्प समाधि का और भी कथन करते हैं—

समान लोकालोक मन आकाश में नित धरे जो ।
हो शीघ्र मोह विनाश केवलज्ञान उसको प्राप्त हो ॥१६४॥

दोहार्थ— जो लोकालोक विस्तृत मन को आकाश/परमसमाधि में स्थिर करता है, उसका मोह शीघ्र टूट जाता है और उसे लोकालोक ज्ञायक केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है ।

टीकार्थ— *जो* जो ध्यानी पुरुष ***आयासइ लोयालोयपमाणु*** निर्विकल्प समाधि में लोकालोक विस्तृत ***मणु धरइ*** मन स्थिर करता है, ***तसु*** उसी का ***मोहु*** मोह ***तडत्ति तुट्टइ*** शीघ्र टूट जाता है, और ज्ञान द्वारा ***परहँ पवाणु पावइ*** लोकालोकप्रमाण आत्मा को प्राप्त हो जाता है ।

आकाश शब्द का वाच्य वीतराग चिदानंद एक स्वभाव अनंत गुणरूप और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मिथ्यात्व-रागादि परभाव रहित स्वरूप निर्विकल्प समाधि यहाँ समझना । जैसे आकाशद्रव्य सब द्रव्यों से भरा हुआ है, परंतु सबसे शून्य अपने स्वरूप में है; उसीप्रकार चिद्रूप आत्मा रागादि सब उपाधियों से रहित है, शून्यरूप है, इसलिये आकाश शब्द का अर्थ यहाँ शुद्धात्मस्वरूप लेना । व्यवहारनय से ज्ञान लोकालोक का प्रकाशक है, और निश्चयनय से अपने स्वरूप का प्रकाशक है । आत्मा का केवलज्ञान लोकालोक को जानता है, इस कारण ज्ञान की अपेक्षा लोकालोकप्रमाण कहा जाता है, प्रदेशों की अपेक्षा लोकालोकप्रमाण नहीं है । ज्ञानगुण लोकालोक में व्याप्त है; परन्तु परद्रव्यों से भिन्न है । परवस्तु से यदि तन्मय हो जावे, तो वस्तु का अभाव हो जावे । इसलिये यह निश्चय हुआ कि ज्ञान गुण से लोकालोकप्रमाण आत्मा को आकाश भी कहते हैं, उसमें यदि मन लगावे, तब जगत से मोह दूर हो और परमात्मा को पावे ।

व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा ज्ञान से सबको जानता है, इसलिये सब जगत में है । जैसे व्यवहारनय से नेत्र रूपी पदार्थ को जानता है; परन्तु उन पदार्थों से भिन्न है । यदि निश्चय से सर्वगत हो, तो परपदार्थों से तन्मय हो जावे, तन्मयी होने पर नेत्रों को अग्नि का दाह होना चाहिये, परन्तु नहीं होता, इस कारण तन्मय नहीं है । उसीप्रकार यदि आत्मा पदार्थों को तन्मय होकर जाने, तो पर के सुख-दुःख से तन्मय होने के कारण इसे भी दूसरे का सुख-दुःख अनुभूत होना चाहिये, पर ऐसा होता नहीं है । इसलिये निश्चय से आत्मा असर्वगत है, और व्यवहारनय से सर्वगत है, प्रदेशों की अपेक्षा निश्चय से लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है, और व्यवहारनय से पात्र में रखे हुए दीपक के समान देहप्रमाण है; जैसा शरीर-धारण करे, वैसा प्रदेशों का संकोच-विस्तार हो जाता है ॥१६४॥

अथ—

॥१६५-२८८॥

देहि वसंतु वि णवि मुणिउ अप्पा देउ अणंतु ।
अंबरि समरसि मणु धरिवि सामिय णट्ठु णिभंतु ॥

देहे वसन्नपि नैव मतः आत्मा देवः अनन्तः ।
अम्बरे समरसे मनः धृत्वा स्वामिन् नष्टः निर्भ्रान्तः ॥१६५॥

देहि वसंतु वि इत्यादि—***देहि वसंतु वि*** व्यवहारेण देहे वसन्नपि ***णवि मुणिउ*** नैव ज्ञातः । कोऽसौ ? ***अप्पा*** निजशुद्धात्मा । किंविशिष्टः ? देउ आराधनायोग्यः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारत्वेन देवः परमाराध्यः । पुनरपि किंविशिष्टः ? ***अणंतु*** अनन्तपदार्थपरिच्छित्तिकारणत्वादविनश्वरत्वादनन्तः । किं कृत्वा ? ***मणु धरिवि*** मनो धृत्वा।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्व ? अंबरि अम्बरशब्दवाच्ये पूर्वोक्तलक्षणे रागादिशून्ये निर्विकल्पसमाधौ । कथंभूते ? *समरसि* वीतरागतात्त्विकमनोहरानन्दस्यन्दिनि समरसीभावे साध्ये । *सामिय* हे स्वामिन् । प्रभाकरभट्टः पश्चात्तापमनुशयं कुर्वन्नाह । किं ब्रूते ? *णट्ठु णिभंतु* इयन्तं कालमित्थंभूतं परमात्मोपदेशमलभमानः सन् निर्भ्रान्तो नष्टोऽहमित्यभिप्रायः ॥१६५॥

एवं परमोपदेशकथनमुख्यत्वेन सूत्रदशकं गतम् ।

आगे शिष्य और भी प्रश्न करता है—

अनन्त गुण देहस्थ आतम देव को जाना नहीं ।
समरसी नभ में मन लगा यों हुआ भ्रमयुत नष्ट ही ॥१६५॥

दोहार्थ— हे स्वामी ! जो देह में रहते हुए भी अनन्तगुणात्मक आत्मदेव को स्वीकार नहीं करता है, वह समरस रूप अम्बर में मन लगाकर भी निःसन्देह नष्ट होता है ।

टीकार्थ— ***सामिय*** हे स्वामी ! व्यवहारनय से ***देहि वसंतु वि*** देह में रहता हुआ भी ***अप्पा देउ*** आराधन-योग्य आत्मा ***अणंतु णवि मुणिउ*** अनंत गुणों का आधार मैंने अज्ञानता से नहीं जाना । क्या करके ? ***समरसि अंबरि*** समान भावरूप निर्विकल्प समाधि में ***मणु धरिवि*** मन लगा कर । इसलिये अब तक ***विणट्ठु णिभंतु*** निस्संदेह नष्ट हुआ ।

प्रभाकरभट्ट पश्चाताप करता हुआ श्रीयोगीन्दुदेव से विनती करता है कि हे स्वामिन्! मैंने अब तक रागादि विभाव रहित निर्विकल्प समाधि में मन लगाकर आत्म-देव नहीं जाना, इसलिये इतने काल तक संसार में भटका, निजस्वरूप की प्राप्ति के बिना मैं नष्ट हुआ। अब ऐसा उपदेश करें कि जिससे भ्रम मिट जाये ॥१६५॥

इसप्रकार परमोपदेश के कथन की मुख्यता से दस दोहे पूर्ण हुए ।

अथ परमोपशमभावसहितेन सर्वसंगपरित्यागेन संसारविच्छेदं भवतीति युग्मेन निश्चिनोति—

॥१६६-२८९—१६७-२९०॥

सयल वि संग ण मिल्लिया णवि किउ उवसम-भाउ ।
सिव-पय-मग्गु वि मुणिउ णवि जहिँ जोइहिँ अणुराउ ॥

घोरु ण चिण्णउ तवचरणु जं णिय-बोहहँ सारु ।
पुण्णु वि पाउ वि दड्ढु णवि किमु छिज्जइ संसारु ॥

सकला अपि संगा न मुक्ताः नैव कृत उपशमभावः ।
शिवपदमार्गोऽपि मतो नैव यत्र योगिनां अनुरागः ॥१६६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

घोरं न चीर्णं तपश्चरणं यत् निजबोधस्य सारम् ।
पुण्यमपि पापमपि दग्धं नैव किं छिद्यते संसारः ॥१६७॥

सयल वि इत्यादि—*सयल वि* समस्ता अपि *संग* मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्ना आभ्यन्तराः क्षेत्रवास्त्वादिबहुभेदभिन्ना बाह्या अपि संगाः परिग्रहाः *ण मिल्लिया* न मुक्ताः । पुनरपि किं न कृतम् ? *णवि किउ उवसमभाउ* जीवितमरणलाभालाभ-सुखदुःखादिसमताभावलक्षणो नैव कृतः उपशमभावः । पुनश्च किं न कृतम् ? *सिवपयमग्गु वि मुणिउ णवि* —

''शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयम् ।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥''

—इति वचनात् शिवशब्दवाच्यो योऽसौ मोक्षस्तस्य मार्गोऽपि न ज्ञातः । कथंभूतो मार्गः ? स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपः । यत्र मार्गे किम् ? *जहिँ जोहहिँ अणुराउ* यत्र निश्चयमोक्षमार्गे परमयोगिनामनुरागस्तात्पर्यम् । न केवलं मोक्षमार्गोऽपि न ज्ञातः । *घोरु ण चिण्णउ तवचरणु* घोरं दुर्धरं परीषहोपसर्गजयरूपं नैव चीर्णं न कृतम् । किं तत् ? अनशनादिद्वादशविधं तपश्चरणम् । यत्कथंभूतम् ? *जं णियबोहहँ सारु* यत्तपश्चरणं वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनलक्षणेन निजबोधेन सारभूतम् । पुनश्च किं न कृतम् ? *पुण्णु वि पाउ वि* निश्चयनयेन शुभाशुभनिगलद्वयरहितस्य संसारिजीवस्य व्यवहारेण सुवर्णलोहनिगलद्वयसदृशं पुण्यपापद्वयमपि *दड्ढु णवि* शुद्धात्मद्रव्यानुभवरूपेण ध्यानाग्निना दग्धं नैव । *किमु छिज्जइ संसारु* कथं छिद्यते संसार इति ?

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा निरन्तरं शुद्धात्मद्रव्यभावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥१६६-१६७॥

.....

आगे परमोपशम भाव सहित सब परिग्रह का त्याग करने से संसार का विच्छेद होता है, ऐसा दो दोहों में निश्चय करते हैं—

ना कभी छोड़ा सब परिग्रह किया उपशम भाव ना ।
माना न शिवपदमार्ग भी अनुराग जिसमें योगि का ॥१६६॥

ना किया घोर तपश्चरण निज बोध का जो सार है ।
ना जलाए पुण्य-पाप तब कैसे कटे संसार है? ॥१६७॥

दोहार्थ— सम्पूर्ण परिग्रह भी नहीं छोड़ा; समभाव नहीं किया; जिसमें योगियों का अनुराग है, ऐसा मोक्षमार्ग भी नहीं माना; निज बोध/आत्मज्ञान का सारभूत घोर तपश्चरण भी नहीं किया, पुण्य-पाप भी नहीं जलाए; तब संसार का छेद कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता ।

टीकार्थ— ***सयल वि संग*** सब परिग्रह भी ***ण मिल्लिया*** नहीं छोड़े,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उवसमभाउ ण वि किउ समभाव भी नहीं किया । और ***जहिँ*** जहाँ ***जोइहिँ*** योगीश्वरों का ***अणुराउ*** प्रेम है, ऐसा ***सिवपय मग्गु वि णवि*** मोक्ष-पद भी नहीं ***मुणिउ*** जाना, ***घोरु तवचरणु*** महा दुर्धर तप ***ण चिण्णउ*** नहीं किया, ***जं*** जो कि ***णियबोहहँ सारु*** आत्मज्ञान से शोभायमान है, और ***पुण्णु वि पाउ वि*** पुण्य तथा पाप ये दोनों ***णवि दड्ढु*** भस्म नहीं किये, तो ***संसारु किमु छिज्जइ*** संसार कैसे छूट सकता है ?

मिथ्यात्व (अतत्त्व-श्रद्धान), राग (प्रीतिभावरूप दोष), दोष/द्वेष (वैरभाव), वेद (स्त्री, पुरुष, नपुंसक), क्रोध, मान, माया, लोभरूप चार कषाय, और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि—ये चौदह अंतरंग परिग्रह; क्षेत्र (ग्रामादिक), वास्तु (गृहादिक), हिरण्य (रुपया, पैसा, मुहर आदि), सुवर्ण(गहने आदि), धन(हाथी, घोड़ा आदि),धान्य (अन्नादि),दासी, दास, कुप्य (वस्त्र तथा सुगंधादिक), भांड (बर्तन आदि)—ये मुख्य दस प्रकार के अनेकविध बाहर के परिग्रह हैं; —इसप्रकार बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह के चौबीस भेद हुए, इन्हें नहीं छोड़ा । जीवित, मरण, सुख,दु:ख, लाभ, अलाभादि में समान भाव कभी नहीं किया; कल्याणरूप मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नहीं जाना ।

निजस्वरूप का श्रद्धान, निजस्वरूप का ज्ञान, और निजस्वरूप का आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय तथा नव पदार्थों का श्रद्धान, नव पदार्थों का ज्ञान, और अशुभ क्रिया के त्यागरूप व्यवहाररत्नत्रय—ये दोनों ही मोक्ष के मार्ग हैं; इन दोनों में से निश्चयरत्नत्रय तो साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, और व्यवहाररत्नत्रय परम्परा से मोक्ष का मार्ग है । ये दोनों मैंने कभी नहीं जाने, संसार का ही मार्ग जाना ।

अनशनादि बारह प्रकार का तप नहीं किया, बाईस परीषह सहन नहीं किये। तथा पुण्य सुवर्ण की बेड़ी, पाप लोहे की बेड़ी, ये दोनों बंधन, निर्मल आत्मध्यानरूपी अग्नि से भस्म नहीं किये । इन बातों के बिना किये संसार का विच्छेद नहीं होता, संसार से मुक्त होने के ये ही कारण हैं ।

ऐसा व्याख्यान जानकर सदैव शुद्धात्मस्वरूप की भावना करना चाहिये ।।१६६-१६७।।

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण ।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ।।

—नियमसार, गाथा १२३

जो संयम, नियम, तप द्वारा तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान द्वारा आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ दानपूजापञ्चपरमेष्ठिवन्दनादिरूपं परंपरया मुक्तिकारणं श्रावकधर्मं कथयति—

॥१६८-२९१॥

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु ।
पंच ण वंदिय परम-गुरू किमु होसइ सिव-लाहु ॥

दानं न दत्तं मुनिवरेभ्यः नापि पूजितः जिननाथः ।
पञ्च न वन्दिताः परमगुरवः किं भविष्यति शिवलाभः ॥१६८॥

दाणु इत्यादि— *दाणु ण* दिण्णउ आहाराभयभैषज्यशास्त्रभेदेन चतुर्विधदानं भक्तिपूर्वकं न दत्तम् । केषाम् ? *मुणिवरहँ* निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकानां मुनिवरादिचतुर्विधसंघस्थितानां पात्राणां । *ण वि पुज्जिउ* जलधारया सह गन्धाक्षतपुष्पाद्यष्टविधपूजया न पूजितः । कोऽसौ ? *जिणणाहु* देवेन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रपूजितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिपूर्णः पूज्यपदस्थितो जिननाथः । *पंच ण वंदिय* पञ्च न वन्दिताः । के ते ? *परमगुरू* त्रिभुवनाधीशवन्द्यपदस्थिता अर्हत्सिद्धाः त्रिभुवनेशवन्द्यमोक्षपदाराधकाः आचार्योपाध्यायसाधवश्चेति पञ्च गुरवः । *किमु होसइ सिवलाहु* शिवशब्दवाच्यमोक्षपदस्थितानां तदाराधकानामाचार्यादीनां च यथायोग्यं दानपूजावन्दनादिकं न कृतम्; कथं शिवशब्दवाच्यमोक्षसुखस्य लाभो भविष्यति ? न कथमपीति ।

अत्रेदं उपासकव्याख्यानं ज्ञात्वा उपासकाध्ययनशास्त्रकथितमार्गेण विधिद्रव्यदातृपात्रलक्षणविधानेन दानं दातव्यं पूजावन्दनादिकं च कर्तव्यमिति भावार्थः ॥१६८॥

आगे दान, पूजा और पंचपरमेष्ठी की वंदना आदि परम्परा मुक्ति के कारणभूत श्रावकधर्म को कहते हैं—

ना दिया मुनिवर दान ना जिननाथ का पूजन किया ।
ना वंदना की पंचगुरु हो लाभ कैसे मोक्ष का? ॥१६८॥

दोहार्थ— मुनिवरों को दान नहीं दिया, जिननाथ की पूजा नहीं की, पंचपरमगुरुओं की वंदना नहीं की । तब शिव लाभ कैसे हो सकता है ?

टीकार्थ— ***दाणु*** आहारादि दान ***मुणिवरहँ ण दिण्णउ*** मुनीश्वर आदि पात्रों को नहीं दिया, ***जिणणाहु णवि*** जिनेन्द्रभगवान को भी नहीं ***पुज्जिउ*** पूजा, ***पंचपरमगुरू ण*** अरहंत आदि पाँचपरमेष्ठी भी नहीं ***वंदिय*** पूजे, तब ***सिवलाहु किमु होसइ*** मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान—ये चार प्रकार के दान भक्तिपूर्वक पात्रों को नहीं दिये, अर्थात् निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय के आराधक यती आदि चार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रकार के संघ को चार प्रकार का दान भक्ति पूर्वक नहीं दिया, और भूखे जीवों को करुणाभाव से दान नहीं दिया । इंद्र, नागेंद्र, नरेन्द्र आदि से पूज्य केवलज्ञानादि अनंतगुणों से पूर्ण जिननाथ की पूजा नहीं की; जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल से पूजा नहीं की । तीन लोक में वंदन योग्य अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु—इन पाँचपरमेष्ठियों की आराधना नहीं की । तब हे जीव! इन कार्यों के बिना तुम्हें मुक्ति का लाभ कैसे होगा ? क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति के ये ही उपाय हैं । जिनपूजा, पंचपरमेष्ठी की वंदना, और चार संघ को चार प्रकार का दान—इन बिना मुक्ति नहीं हो सकती ।

ऐसा व्याख्यान जानकर सातवें उपासकाध्ययन अंग में कही गई दान, पूजा, वंदनादि की विधि करने योग्य है । शुभ विधि से न्यायपूर्वक उपार्जन किया अच्छा द्रव्य, दाता के अच्छे गुणों को धारण कर, विधि से,पात्र को देना; जिनराज की पूजा करना, और पंचपरमेष्ठी की वंदना करना—ये ही व्यवहारनय से कल्याण के उपाय हैं ।।१६८।।

अथ निश्चयेन चिन्तारहितध्यानमेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति चतुष्कलेन—

।।१६९-२९२।।

अद्धुम्मीलिय-लोयणिहिँ जोउ कि झंपियएहिँ ।
एमुइ लब्भइ परम-गइ णिच्चिंतिं ठियएहिँ ।।

अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां योगः किं झंपिताभ्याम् ।
एवमेव लभ्यते परमगतिः निश्चिन्तं स्थितैः ।।१६९।।

अद्धुम्मीलियलोयणिहिँ **अर्धोन्मीलितलोचनपुटाभ्यां** ***जोउ कि*** **योगो ध्यानं किं भवति ? अपि तु नैव । न केवलमर्धोन्मीलिताभ्याम् ।** ***झंपियएहिँ*** **झंपिताभ्यामपि लोचनाभ्यां नैवेति । तर्हि कथं लभ्यते ?** ***एमुइ लब्भइ*** **एवमेव लभ्यते लोचनपुटनिमील-नोन्मीलननिरपेक्षैः । का लभ्यते ?** ***परमगइ*** **केवलज्ञानादिपरमगुणयोगात्परमगतिर्मोक्ष-गतिः । कैः लभ्यते ?** ***णिच्चिंतिं ठियएहिँ*** **ख्यातिपूजालाभप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालरहितैः पुरुषैश्चिन्तारहितैः स्वशुद्धात्मरूपस्थितैश्चेत्यभिप्रायः ।।१६९।।**

आगे निश्चय से चिन्ता रहित ध्यान ही मुक्ति का कारण है, ऐसा कहते हैं—

अर्धोन्मीलित नेत्र से या बन्द से क्या योग हो? ।
निश्चिंत निज में लीनता से परमगति स्वयमेव हो ।।१६९।।

दोहार्थ— अर्धोन्मीलित नेत्रों से या बंद नेत्रों से क्या योग होता है ? नहीं । एकमात्र निश्चिंत स्थिरता से ही परमगति प्राप्त होती है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***अद्धुम्मीलियलोयणिहिँ*** आधे उघड़े हुए नेत्रों से अथवा ***झंपियएहिँ*** बंद हुए नेत्रों से ***कि*** क्या ***जोउ*** ध्यान की ***णिच्चिंतिं*** सिद्धि होती है ? कभी नहीं । ***ठियएहिँ*** जो चिन्ता रहित एकाग्र में स्थित हैं, उनको ***एमुइ*** इसी प्रकार ***परमगइ लब्भइ*** स्वयमेव परमगति (मुक्ति) मिलती है ।

ख्याति (बड़ाई), पूजा (अपनी प्रतिष्ठा) और लाभ आदि समस्त चिन्ताओं से रहित जो निश्चिंत पुरुष हैं, वे ही शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरता पाते हैं, उन्हीं को ध्यान की सिद्धि है, और वे ही परमगति के पात्र हैं ।।१६९।।

अथ—

।।१७०-२९३।।

जोइय मिल्लहि चिन्त जइ तो तुट्टइ संसारु ।
चिंतासत्तउ जिणवरु वि लहइ ण हंसाचारु ।।

योगिन् मुञ्चसि चिन्तां यदि ततः त्रुट्यति संसारः ।
चिन्तासक्तो जिनवरोऽपि लभते न हंसाचारम् ।।१७०।।

जोइय इत्यादि—***जोइय*** हे योगिन् ***मिल्लहि*** मुञ्चसि । काम् ? ***चिन्त*** चिन्तारहिताद्विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विलक्षणां चिन्तां ***जइ*** यदि चेत् ***तो*** ततश्चिन्ताभावात् । किं भवति ? ***तुट्टइ*** नश्यति । स कः ? ***संसारु*** निःसंसारात् शुद्धात्मद्रव्याद् विलक्षणो द्रव्यक्षेत्रकालादिभेदभिन्नः पञ्चप्रकारः संसारः । यतः कारणात्? ***चिंतासत्तउ जिणवरु वि*** छद्मस्थावस्थायां शुभाशुभचिन्तासक्तो जिनवरोऽपि ***लहइ ण*** लभते न । कम् ? ***हंसाचारु*** संशयविभ्रमविमोहरहितानन्तज्ञानादिनिर्मलगुणयोगेन हंस इव हंसः परमात्मा तस्य आचारं रागादिरहितं शुद्धात्मपरिणाममिति ।

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षाप्रभृतिसमस्तचिन्ताजालं त्यक्त्वापि चिन्तारहिते शुद्धात्मतत्त्वे सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ।।१७०।।

.....

आगे और भी चिन्ता का ही त्याग बतलाते हैं—

हे योगि ! चिंतामुक्त हो संसार तब ही नष्ट हो ।
जिनवर भी चिंतायुत कभी पाते न हंसाचार को ।।१७०।।

दोहार्थ— हे योगी ! यदि चिंतामुक्त होगे, तो ही संसार नष्ट होगा । चिंतासक्त छद्मस्थ दशा वाले जिनवर भी हंसाचार/परमात्मदशा को प्राप्त नहीं कर पाते ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी ! ***जइ*** यदि तुम ***चिंत मिल्लहि*** चिन्ताओं को छोड़ोगे ***तो संसारु*** तो संसार का भ्रमण ***तुट्टइ*** छूट जायगा, क्योंकि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चिंतासत्तउ चिन्ता में लगे हुए ***जिणवरुवि*** छद्मस्थ अवस्थावाले तीर्थंकरदेव भी ***हंसाचारु ण लहेइ*** परमात्मा के आचरणरूप शुद्ध भावों को नहीं पाते ।

हे योगी ! निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वभाव परमात्मपदार्थ से पराङ्मुख चिंता-जाल को यदि छोड़ोगे, तभी चिंता के अभाव से संसार भ्रमण टूटेगा; शुद्धात्मद्रव्य से विमुख द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार के संसार से तुम मुक्त होगे। जब तक चिंतावान हो, तब तक निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती । दूसरों की तो क्या बात है; तीर्थंकरदेव भी केवलज्ञान अवस्था के पहले जब तक कुछ शुभाशुभ चिन्ता से सहित हैं, तब तक वे भी रागादि रहित पूर्ण शुद्धोपयोग परिणामों को नहीं पा सकते । संशय, विमोह, विभ्रम रहित अनंत ज्ञानादि निर्मलगुण सहित हंस के समान उज्ज्वल परमात्मा के जो शुद्ध भाव हैं, वे चिंता को छोड़े बिना प्रगट नहीं होते । तीर्थंकरदेव भी मुनि होकर निश्चिंत व्रत धारण करते हैं, तभी परमहंस दशा पाते हैं ।

ऐसा व्याख्यान जानकर देखे, सुने, भोगे हुए भोगों की वांछा आदि समस्त चिन्ता-जाल को छोड़कर परम निश्चिंत हो, शुद्धात्मतत्त्व की भावना करना योग्य है ।।१७०।।

अथ—

।।१७१-२९४।।

जोइय दुम्मइ कवुण तुहँ भवकारणि ववहारि ।
बंभु पवंचहिँ जो रहिउ सो जाणिवि मणु मारि ।।

योगिन् दुर्मतिः का तव भवकारणे व्यवहारे ।
ब्रह्म प्रपंचैर्यद् रहितं तत् ज्ञात्वा मनो मारय ।।१७१।।

जोइय इत्यादि—***जोइय*** हे योगिन् ***दुम्मइ कवुण तुहँ*** दुर्मतिः का तवेयं ***भवकारणि ववहारि*** भवरहितात् शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपव्यवहारविलक्षणाच्च स्वशुद्धात्मद्रव्यात्प्रतिपक्षभूते पञ्चप्रकारसंसारकारणे व्यवहारे । तर्हि किं करोमीति चेत् ? ***बंभु*** ब्रह्मशब्दवाच्यं स्वशुद्धात्मानं ज्ञात्वा । कथंभूतं यत् ? ***पवंचहिँ जो रहिउ*** प्रपंचैर्मायापाखण्डैः यद्रहितम् । ***सो जाणिवि*** तं निजशुद्धात्मानं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा । पश्चात्किं कुरु ? ***मणु मारि*** अनेकमानसविकल्पजालरहिते परमात्मनि स्थित्वा शुभाशुभविकल्पजालरूपं मनो मारय विनाशयेति भावार्थः ।।१७१।।

.....

आगे श्रीगुरु मुनियों को उपदेश देते हैं कि मन को मारकर परब्रह्म का ध्यान करो—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भव हेतु इस व्यवहार में हे योगि ! दुर्मति क्यों करे ? ।
जो सब प्रपंचों से रहित मन मार आतम जान ले ॥१७१॥

दोहार्थ— हे योगी ! संसार के कारणभूत व्यवहार में तुम्हारी दुर्मति क्यों होती है ? तुम सम्पूर्ण प्रपंचों से रहित परम ब्रह्म को जानकर मन को नष्ट करो

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी ! ***तुहँ कवुण दुम्मइ*** तुम्हारी क्या खोटी बुद्धि है, जो तुम ***भवकारणि*** संसार के कारण उद्यमरूप ***ववहारि*** व्यवहार करते हो। अब तुम ***पवंचहिँ रहिउ*** मायाजालरूप पाखंडों से रहित ***जो बंभु*** जो शुद्धात्मा है, ***सो जाणि वि*** उसे जानकर ***मणु मारि*** विकल्प-जालरूपी मन को मारो ।

वीतराग स्वसंवेदनज्ञान से शुद्धात्मा को जानकर शुभाशुभ विकल्प-जालरूप मन को मारो । मन को वश किये बिना निर्विकल्पध्यान की सिद्धि नहीं होती। मन के अनेक विकल्प-जालों से रहित शुद्ध आत्मा में निश्चलता तभी होती है, जब कि मन को मारकर निर्विकल्प दशा को प्राप्त हो । इसलिये सकल शुभाशुभ व्यवहार को छोड़कर शुद्धात्मा को जानो ॥१७१॥

अथ—

॥१७२-२९५॥

सव्वहिँ रायहिँ छहिँ रसहिँ पंचहिँ रूवहिँ जंतु ।
चित्तु णिवारिवि झाहि तुहुँ अप्पा देउ अणंतु ॥

सर्वैः रागैः षड्भिः रसैः पञ्चभिः रूपैः गच्छत् ।
चित्तं निवार्य ध्याय त्वं आत्मानं देवमनन्तम् ॥१७२॥

सव्वहिँ इत्यादि—***झाहि*** ध्याय चिन्तय ***तुहुँ*** त्वं हे प्रभाकरभट्ट । ***कम् ?*** ***अप्पा*** स्वशुद्धात्मानम् । कथंभूतम् ? देउ वीतरागपरमानन्दसुखेन दीव्यति क्रीडति इति देवस्तं देवम्। पुनरपि कथंभूतम् ? ***अणंतु*** केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारत्वादनन्तसुखास्पदत्वादविनश्वरत्वाच्चानन्तस्तमनन्तम् । किं कृत्वा पूर्वम् ? ***चित्तु णिवारिवि*** चित्तं निवार्य व्यावृत्य । किं कुर्वन् सन् ? ***जंतु*** गच्छत्परिणममानं सत् । कैः करणभूतैः ? ***सव्वहिँ रायहिँ*** वीतरागात्स्वशुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणैः सर्वशुभाशुभरागैः । न केवलं रागैः । ***छहिँ रसहिँ*** रसरहिताद्वीतरागसदानन्दैकरसपरिणतादात्मनो विपरीतैः गुडलवणदधिदुग्धतैलघृतषड्रसैः। पुनरपि कैः ? ***पंचहिँ रूवहिँ*** अरूपात् शुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूतैः कृष्णनीलरक्तश्वेतपीतपञ्चरूपैरिति तात्पर्यम् ॥१७२॥

.....

आगे यही कहते हैं कि सब विषयों को छोड़कर आत्मदेव को ध्याओ—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सब राग छह रस पाँच रूपों में लगे इस चित्त को ।
उनसे हटा ध्याऽनन्तगुण देवत्वमय निज आत्म को ।।१७२।।

दोहार्थ— सभी रागों, छहों रसों, पाँचों रूपों में जाते हुए मन को हटाकर तुम अनन्त देवमय आत्मा का ध्यान करो ।

टीकार्थ— ***तुहुँ*** हे प्रभाकर भट्ट ! ***सव्वहिँ रायहिँ*** सब शुभाशुभ रागों से, ***छहिँ रसहिँ*** छहों रसों से, ***पंचहिँ रूवहिँ*** पाँच रूपों से ***जंतु चित्तु*** चलायमान चित्त को ***णिवारिवि*** रोककर ***अणंतु*** अनंतगुणवाले ***अप्पादेउ*** आत्म-देव का ***झाहि*** चिंतवन करो।

वीतराग, परम आनंद सुख में क्रीड़ा करने वाले, केवलज्ञानादि अनंतगुणवाले अविनाशी आत्मा का एकाग्र चित्त होकर ध्यान करो । क्या करके ? वीतराग शुद्धात्मद्रव्य से विमुख जो समस्त शुभाशुभ राग; निजरस से विपरीत जो दधि, दुग्ध, तेल, घी, नमक, मीठा—ये छह रस; और जो अरूप शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न काले, सफेद, हरे, पीले, लाल—पाँच प्रकार के रूप;—इनमें निरन्तर चित्त जाता है, उसको रोककर आत्म-देव की आराधना करो ।।१७२।।

अथ येन स्वरूपेण चिन्त्यते परमात्मा तेनैव परिणमतीति निश्चिनोति—

।।१७३-२९६।।

जेण सरूविँ झाइयइ अप्पा एहु अणंतु ।
तेण सरूविँ परिणवइ जह फलिहउ मणि मंतु ।।

येन स्वरूपेण ध्यायते आत्मा एषः अनन्तः ।
तेन स्वरूपेण परिणमति यथा स्फटिकमणिः मन्त्रः ।।१७३।।

जेण इत्यादि—*तेण सरूविँ परिणवइ* तेन स्वरूपेण परिणमति । कोऽसौ कर्ता? *अप्पा* आत्मा *एहु* एष प्रत्यक्षीभूतः । पुनरपि किंविशिष्टः ? *अणंतु* वीतरागानाकुलत्व-लक्षणानन्तसुखाद्यनन्तशक्तिपरिणतत्वादनन्तः । तेन केन ? *जेण सरूविँ झाइयइ* येन शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण ध्यायते चिन्त्यते । दृष्टान्तमाह—*जह फलिहउमणि मंतु* यथा स्फटिकमणिः जपापुष्पाद्युपाधिपरिणतः गारुडादिमन्त्रो वेति । अत्र विशेषव्याख्यानं तु—

''येन येन स्वरूपेण युज्यते यन्त्रवाहकः ।
*तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा।।''**

इति श्लोकार्थकथितदृष्टान्तेन ध्यातव्यः । इदमत्र तात्पर्यम्—अयमात्मा येन येन स्वरूपेण चिन्त्यते तेन तेन परिणमतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मपदप्राप्त्यर्थिभिः समस्तरागादि-विकल्पसमूहं त्यक्त्वा शुद्धरूपेणैव ध्यातव्य इति ।।१७३।।

---

* योगसार प्राभृत, अध्याय ९, पद्य ५१ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे आत्मा को जिसरूप से ध्यावो, उसी रूप परिणमित होता है; जैसे स्फटिकमणि के नीचे जैसा डंक (डाँक) दिया जाये, वैसा ही रंग भासित होता है; ऐसा कहते हैं—

जिस रूप से तू ध्यान करता अन्त बिन निज आतमा ।
उस रूप होता यथा मणि-स्फटिक मंत्र कहा गया ।।१७३।।

दोहार्थ— स्फटिक मणि और मंत्र के समान यह अनन्त आत्मा, जिस स्वरूप से ध्याया जाता है, उसी रूप परिणमित होता है ।

टीकार्थ— ***एहु*** यह प्रत्यक्षरूप ***अणंतु*** अविनाशी ***अप्पा*** आत्मा ***जेण सरूविँ*** जिस स्वरूप से ***झाइयइ*** ध्याया जाता है, ***तेण सरूविँ*** उसी स्वरूप ***परिणवइ*** परिणमता है, ***जह फलिहउ मणि मंतु*** जैसे स्फटिकमणि और गारुड़ी आदि मंत्र हैं ।

यह आत्मा शुभ, अशुभ, शुद्ध— इन तीन उपयोगरूप परिणमता है । यदि अशुभोपयोग का ध्यान करे, तो पापरूप परिणवे; शुभोपयोग का ध्यान करे, तो पुण्यरूप परिणवे; और यदि शुद्धोपयोग को ध्यावे, तो परमशुद्धरूप परिणमन करता है । जैसे स्फटिकमणि के नीचे जैसा डंक लगाओ, अर्थात् श्याम, हरा, लाल में से जैसा लगाओ, उसी रूप स्फटिकमणि परिणमता है, हरे डंक से हरा और लाल से लाल भासित होता है । उसीप्रकार जीवद्रव्य जिस उपयोग रूप परिणमता है, उसी रूप भासित होता है । और गारुड़ी आदि मंत्रों में से गारुड़ीमंत्र गरुड़रूप भासित होता है, जिससे कि सर्प डर जाता है ।

ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थों में भी किया है कि "जिस-जिस रूप से आत्मा परिणमता है, उस-उस रूप से आत्मा तन्मयी हो जाता है; जैसे स्फटिकमणि उज्ज्वल है, उसके नीचे जैसा डंक लगाओ, वैसा ही भासित होता है ।"

—ऐसा जानकर आत्मा का स्वरूप जानना चाहिये । जो शुद्धात्मपद की प्राप्ति को चाहने वाले हैं, उनको यही योग्य है कि समस्त रागादिक विकल्पों के समूह को छोड़कर, आत्मा के शुद्ध रूप को ध्यावें और विकारों पर दृष्टि न रक्खें ।।१७३।।

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं ।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ।।

—प्रवचनसार, गाथा १७४

मैं पुद्गलमय नहीं हूँ, वे पुद्गल मेरे द्वारा पिण्डरूप नहीं किए गए हैं, इसलिए वास्तव में मैं शरीर नहीं हूँ तथा उस शरीर का कर्ता नहीं हूँ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ चतुष्पादिकां कथयति—

।।१७४-२९७।।

एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसैं जायउ जप्पा ।
जामइँ जाणइ अप्पैं अप्पा तामइँ सो जि देउ परमप्पा ।।

एष यः आत्मा स परमात्मा कर्मविशेषेण जातः जाप्यः ।
यदा जानाति आत्मना आत्मानं तदा स एव देवः परमात्मा ।।१७४।।

एहु इत्यादि—*एहु जु* एष यः प्रत्यक्षीभूतः *अप्पा* स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्मा । स कथंभूतः ? *सो परमप्पा* शुद्धनिश्चयेनानन्तचतुष्टयस्वरूपः क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः स निर्दोषिपरमात्मा *कम्मविसेसैं जायउ जप्पा* व्यवहारनयेनानादिकर्मबन्धनविशेषेण स्वकीयबुद्धि-दोषेण जात उत्पन्नः, कथंभूतो जातः ? जाप्यः पराधीनः, *जामइँ जाणइ* यदा काले जानाति । केन कम् ? *अप्पैं अप्पा* वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतेनात्मना निजशुद्धात्मानं *तामइँ* तस्मिन् स्वशुद्धात्मानुभूतिकाले *सो जि* स एवात्मा देउ निजशुद्धात्म-भावनोत्थवीतरागसुखानुभवेन दीव्यति क्रीडति देवः परमाराध्यः । किंविशिष्टो देवः ? *परमप्पा* शुद्धनिश्चयेन मुक्तिगतपरमात्मसमानः ।

अयमत्र भावार्थः — यद्येवंभूतः परमात्मा शक्तिरूपेण देहमध्ये नास्ति तर्हि केवलज्ञानोत्पत्तिकाले कथं व्यक्तीभविष्यतीति ।।१७४।।

आगे चतुष्पदछंद में आत्मा के शुद्ध स्वरूप को कहते हैं—

यह आतमा परमातमा परतन्त्र कर्म-विशेष से ।
पर जपे जाने स्वयं से स्व को तभी वह देव है ।।१७४।।

दोहार्थ— यह जो आत्मा है, वह परमात्मा है; परन्तु कर्म विशेष से पराधीन हुआ दूसरों का जाप कर रहा है/पर में लीन है । जब आत्मा से आत्मा को जानता है, तब वही परमात्मा देव है ।

टीकार्थ— ***एहु जु अप्पा*** यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदनज्ञान से प्रत्यक्ष जो आत्मा, ***सो परमप्पा*** वही शुद्धनिश्चयनय से अनंत चतुष्टयस्वरूप, क्षुधादि अठारह दोष रहित, निर्दोष परमात्मा है; वह व्यवहारनय की अपेक्षा ***कम्मविसेसैं*** अनादि कर्मबंध के विशेष से ***जप्पा जायउ*** पराधीन हुआ, दूसरे का जाप करता है; परंतु ***जामइँ*** जिस समय ***अप्पैं*** वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान से ***अप्पा जाणइ*** अपने को जानता है, ***तामइँ*** उस समय ***सो जि*** यह आत्मा ही ***परमप्पा देउ*** परमात्मा देव है ।

निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुए परम आनंद के अनुभव में क्रीडा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करने से देव कहा जाता है, यही आराधन-योग्य है । वह आत्मदेव शुद्ध निश्चयनय से भगवान केवली के समान है । ऐसा परमात्मदेव शक्तिरूप से देह में है; देह में न हो, तो केवलज्ञान के समय प्रगट कैसे हो ? ॥१७४॥

अथ तमेवार्थं व्यक्तीकरोति—

॥१७५-२९८॥

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु ।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥

यः परमात्मा ज्ञानमयः स अहं देवः अनन्तः ।
यः अहं स परमात्मा परः इत्थं भावय निर्भ्रान्तः ॥१७५॥

जो *परमप्पा* इत्यादि—*जो परमप्पा* यः कश्चित् प्रसिद्धः परमात्मा सर्वोत्कृष्टानन्तज्ञानादिरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः, परमश्चासावात्मा च परमात्मा *णाणमउ* ज्ञानेन निर्वृत्तः ज्ञानमयः *सो हउँ* यद्यपि व्यवहारेण कर्मावृतस्तिष्ठामि तथापि निश्चयेन स एवाहं पूर्वोक्तः परमात्मा । कथंभूतः ? देउ परमाराध्यः । पुनरपि कथंभूतः? *अणंतु* अनन्तसुखादिगुणास्पदत्वादनन्तः । *जो हउँ सो परमप्पु* योऽहं स्वदेहस्थो निश्चयेन परमात्मा स एव तत्सदृश एव मुक्तिगतपरमात्मा । कथंभूतः ? *परु* परमगुणयोगात् पर उत्कृष्टः *एहउ भावि* इत्थंभूतं परमात्मानं भावय । हे प्रभाकरभट्ट ! कथंभूतः सन् ? *णिभंतु* भ्रान्तिरहितः संशयरहितः सन्निति ।

अत्र स्वदेहेऽपि शुद्धात्मास्तीति निश्चयं कृत्वा मिथ्यात्वाद्युपशमवशेन केवलज्ञानाद्युत्पत्तिबीजभूतां कारणसमयसाराख्यामागमभाषया वीतरागसम्यक्त्वादिरूपां शुद्धात्मैकदेशव्यक्तिं लब्ध्वा सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥१७५॥

आगे इसी अर्थ को प्रगटपने दृढ़ करते हैं—

जो ज्ञानमय परमातमा हूँ वही देव अनन्त मैं ।
जो मैं वही परमातमा ध्या मुक्त हो सन्देह से ॥१७५॥

दोहार्थ— जो ज्ञानमय परमात्मा है, वह मैं अनन्त देव हूँ । जो मैं हूँ, वही परमात्मा हैं—इसप्रकार निस्संदेह भावना करो ।

टीकार्थ— ***जो*** जो ***परमप्पा*** परमात्मा ***णाणमउ*** ज्ञानस्वरूप है, ***सो हउँ*** वह मैं ही हूँ, ***अणंतु देउ*** अविनाशी देवस्वरूप हूँ; ***जो हउँ*** जो मैं हूँ ***सो परु परमप्पु*** वही उत्कृष्ट परमात्मा है । ***एहउ*** इसप्रकार ***णिभंतु*** निस्संदेह तुम ***भावि*** भावना करो ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो कोई एक परमात्मा परम प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट अनंतज्ञानादिरूप लक्ष्मी का निवास है, ज्ञानमयी है, वैसा ही मैं हूँ । यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा मैं कर्मों से बँधा हुआ हूँ, तो भी निश्चयनय से मेरे बंध-मोक्ष नहीं हैं; जैसा भगवान का स्वरूप है, वैसा ही मेरा स्वरूप है । जो आत्मदेव महामुनियों द्वारा परम आराधन-योग्य है, और अनंत सुख आदि गुणों का निवास है । इससे यह निश्चय हुआ कि जैसा परमात्मा, वैसा यह आत्मा और जैसा यह आत्मा है, वैसा ही परमात्मा है । जो परमात्मा है, वह मैं हूँ, और जो मैं हूँ, वही परमात्मा है । 'अहं' यह शब्द देह में स्थित आत्मा को कहता है । और 'सः' यह शब्द मुक्ति प्राप्त परमात्मा में लगाना । जो परमात्मा वह मैं हूँ, और मैं हूँ सो परमात्मा है—यही ध्यान हमेशा करना । वह परमात्मा परमगुण के संबंध से उत्कृष्ट है ।

श्रीयोगीन्दुदेव प्रभाकरभट्ट से कहते हैं कि हे प्रभाकरभट्ट ! तुम सब विकल्पों को छोड़कर केवल परमात्मा का ध्यान करो । निस्संदेह होकर इस देह में शुद्धात्मा है, ऐसा निश्चय करो । मिथ्यात्वादि सब विभावों की उपशमता के वश से केवलज्ञानादि की उत्पत्ति के बीजभूत कारण समयसार नामक, आगम भाषा की अपेक्षा वीतराग सम्यक्त्वादिरूप शुद्ध आत्मा की एकदेश प्रगटता को पाकर सब प्रकार से ज्ञान की भावना योग्य है यही कर्तव्य है—ऐसा अभिप्राय है ।।१७५।।

अथामुमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

।।१७६-२९९।।

णिम्मल-फलिहहँ जेम जिय भिण्णउ परकिय-भाउ ।
अप्प-सहावहँ तेम मुणि सयलु वि कम्म-सहाउ ।।

निर्मलस्फटिकाद् यथा जीव भिन्नः परकृतभावः ।
आत्मस्वभावात् तथा मन्यस्व सकलमपि कर्मस्वभावम् ।।१७६।।

भिण्णउ **भिन्नो भवति** ***जिय*** **हे जीव** ***जेम*** **यथा । कोऽसौ कर्ता ?** ***परकियभाउ*** **जपापुष्पाद्युपाधिरूपः परकृतभावः । कस्मात्सकाशात् ?** ***णिम्मलफलिहहँ*** **निर्मलस्फटिकात्** ***तेम*** **तथा भिन्नं** ***मुणि*** **मन्यस्व जानीहि । कम् ?** ***सयलु वि कम्मसहाउ*** **समस्तमपि भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मस्वभावम् । कस्मात् सकाशात् ?** ***अप्पसहावहँ*** **अनन्तज्ञानादिगुण-स्वभावात् परमात्मन इति भावार्थः ।।१७६।।**

आगे इसी अर्थ को दृष्टान्त-दार्ष्टान्त से पुष्ट करते हैं—

है स्वच्छ निर्मल स्फटिक सम आतमा, परभाव से ।
है भिन्न, कर्म स्वभाव सब ही भिन्न आत्मस्वभाव से ।।१७६।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— हे जीव ! जैसे परकृतभाव निर्मल स्फटिक से भिन्न हैं; उसीप्रकार सम्पूर्ण ही कर्मस्वभाव आत्मस्वभाव से भिन्न मानो ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव ***जेम*** जैसे ***परकियभाउ*** नीचे के सब डंक ***णिम्मलफलिहहँ*** महा निर्मल स्फटिकमणि से ***भिण्णउ*** पृथक् हैं, ***तेम*** उसी प्रकार ***अप्पसहावहँ*** आत्मस्वभाव से ***सयलुवि*** सब ***कम्मसहाउ*** शुभाशुभ कर्म भिन्न ***मुणि*** जानो ।

आत्मस्वभाव महानिर्मल है; भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म—ये सब जड़ हैं; आत्मा चिद्रूप है । अनन्त ज्ञानादि गुणरूप चिदानन्द से तुम सकल प्रपंच भिन्न मानो ।।१७६।।

अथ तामेव देहात्मनोर्भेदभावनां द्रढयति—

।।१७७-३००।।

जेम सहावँ णिम्मलउ फलिहउ तेम सहाउ ।
भंतिए मइलु म मण्णि जिय मइलउ देक्खवि काउ ।।

यथा स्वभावेन निर्मलः स्फटिकः तथा स्वभावः ।
भ्रान्त्या मलिनं मा मन्यस्व जीव मलिनं दृष्ट्वा कायम् ।।१७७।।

जेम इत्यादि—*जेम सहावँ णिम्मलउ* यथा स्वभावेन निर्मलो भवति । कोऽसौ? *फलिहउ* स्फटिकमणिः *तेम* तथा निर्मलो भवति । कोऽसौ कर्ता ? *सहाउ* विशुद्धज्ञानरूपस्य परमात्मनः स्वभावः *भंतिए मइलु म मण्णि* पूर्वोक्तमात्मस्वभावं कर्मतापन्नं भ्रान्त्या मलिनं मा मन्यस्व जिय हे जीव । किं कृत्वा ? *मइलउ देक्खवि* मलिनं दृष्ट्वा। कम् ? *काउ* निर्मलशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मपदार्थाद्विलक्षणं कायमित्यभिप्रायः ।।१७७।।

आगे देह और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं, यह भेद-भावना दृढ़ करते हैं—

स्व भाव से स्फटिक निर्मल आतमा निर्मल सदा ।
पर मलिन तन पा भ्रान्ति से आतम मलिन ना मानना ।।१७७।।

दोहार्थ— जैसे स्फटिक स्वभाव से स्वभाव से निर्मल है, उसीप्रकार आत्मा भी स्वभाव से निर्मल है । हे जीव ! मलिन शरीर देखकर आत्मा को मलिन मत मानो ।

टीकार्थ— ***जेम*** जैसे ***फलिहउ*** स्फटिकमणि ***सहावँ*** स्वभाव से ***णिम्मलउ*** निर्मल है, ***तेम*** उसीप्रकार ***सहाउ*** आत्मा ज्ञान-दर्शनरूप स्वभाव से निर्मल है । ऐसे आत्मस्वभाव को ***जिय*** हे जीव, ***काउ*** शरीर की ***मइलउ*** मलिनता ***देक्खवि*** देखकर ***भंतिए*** भ्रम से ***मइलु म मण्णि*** मैला मत मानो ।

यह काय शुद्ध-बुद्ध परमात्मपदार्थ से भिन्न है, काय मैली है, आत्मा निर्मल है ।।१७७।।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ पूर्वोक्तभेदभावनां रक्तादिवस्त्रदृष्टान्तेन व्यक्तिकरोति चतुष्कलेन—

॥१७८-३०१—१८१-३०४॥

रत्तें वत्थें जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।
देहिं रत्तिं णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥

जिण्णें वत्थिं जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहिं जिण्णें णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥

वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥

भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय देहहँ मण्णइ णाणि ।
देहु वि भिण्णउँ णाणि तहँ अप्पहँ मण्णइ जाणि ॥

रक्तेन वस्त्रेन यथा बुधः देहं न मन्यते रक्तम् ।
देहेन रक्तेन ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते रक्तम् ॥१७८॥

जीर्णेन वस्त्रेण तथा बुधः देहं न मन्यते जीर्णम् ।
देहेन जीर्णेन ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते जीर्णम् ॥१७९॥

वस्त्रे प्रणष्टे यथा बुधः देहं न मन्यते नष्टम् ।
नष्टे देहे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते नष्टम् ॥१८०॥

भिन्नं वस्त्रमेव यथा जीव देहात् मन्यते ज्ञानी ।
देहमपि भिन्नं ज्ञानी तथा आत्मनः मन्यते जानीहि ॥१८१॥

यथा कोऽपि व्यवहारज्ञानी रक्ते वस्त्रे जीर्णे वस्त्रे नष्टेऽपि स्वकीयवस्त्रे स्वकीयं देहं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते तथा वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानी देहे रक्ते जीर्णे नष्टेऽपि सति व्यवहारेण देहस्थमपि वीतरागचिदानन्दैकपरमात्मानं शुद्धनिश्चयनयेन देहाद्भिन्नं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते इति भावार्थः ।

अथ *मण्णइ* मन्यते । कोऽसौ ? *णाणि* देहवस्त्रविषये भेदज्ञानी । किं मन्यते? *भिण्णउ* भिन्नम् । किम् ? *वत्थु जि* वस्त्रमेव *जेम* यथा *जिय* हे जीव । कस्माद्भिन्नं मन्यते ? देहहँ स्वकीयदेहात्। दृष्टान्तमाह—*मण्णइ* मन्यते । कोऽसौ ? *णाणि* देहात्मनोर्भेदज्ञानी *तहँ* तथा भिन्नं मन्यते । कमपि ? देहु वि देहमपि । कस्मात्? *अप्पहँ* निश्चयेन देहविलक्षणाद् व्यवहारेण देहस्थात्सहजशुद्धपरमानन्दैकस्वभावान्निज-परमात्मनः *जाणि* जानीहीति भावार्थः ॥१७८-१८१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे पूर्वकथित भेदविज्ञान की भावना रक्त, पीतादि वस्त्र के दृष्टांत से चार दोहों में प्रगट करते हैं—

ज्यों रक्त पट से कोइ ज्ञानी रक्त तन ना मानता ।
त्यों रक्त तन से कोइ ज्ञानी जीव रक्त ना मानता ।।१७८।।

ज्यों जीर्ण पट से कोइ ज्ञानी जीर्ण तन ना मानता ।
त्यों जीर्ण तन से कोइ ज्ञानी जीव जीर्ण ना मानता ।।१७९।।

ज्यों वस्त्र क्षय से कोइ ज्ञानी देह क्षय ना मानता ।
त्यों देह क्षय से कोइ ज्ञानी जीव क्षय ना मानता ।।१८०।।

ज्यों भिन्न तन से वस्त्र ज्ञानी मानते त्यों देह को ।
भी भिन्न आतम से सभी से भिन्न माने आत्म को ।।१८१।।

दोहार्थ— जैसे बुद्धिमान लाल वस्त्र से शरीर को लाल नहीं मानता, उसीप्रकार ज्ञानी लाल शरीर से आत्मा को लाल नहीं मानता ।

जैसे बुद्धिमान जीर्ण वस्त्र से शरीर को जीर्ण नहीं मानता, उसीप्रकार ज्ञानी जीर्ण शरीर से आत्मा को जीर्ण नहीं मानते ।

जैसे बुद्धिमान वस्त्र के नाश से शरीर का नाश नहीं मानते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं मानते हैं ।

हे जीव ! जैसे ज्ञानी वस्त्र को शरीर से भिन्न ही मानता है, उसीप्रकार ज्ञानी शरीर को भी आत्मा से भिन्न ही मानता है—ऐसा जानो ।

टीकार्थ— ***जेम*** जैसे ***बुहु*** कोई बुद्धिमान पुरुष ***रत्तें बत्थें*** लाल वस्त्र से ***देहु रत्तु ण*** शरीर को लाल नहीं ***मण्णइ*** मानता, ***तहँ*** उसी प्रकार ***णाणि*** वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानी ***देहिं रत्तिं*** शरीर के लाल होने से ***अप्पु*** आत्मा को ***रत्तु*** लाल ***ण मण्णइ*** नहीं मानता । ***जेम बुहु*** जैसे कोई बुद्धिमान ***वत्थिं जिण्णिं*** कपड़े के जीर्ण (पुराने) होने पर ***देहु जिण्णु*** शरीर को जीर्ण ***ण मण्णइ*** नहीं मानता, ***तहँ*** उसी प्रकार ***णाणि*** ज्ञानी ***देहिं जिण्णि*** शरीर के जीर्ण होने से ***अप्पु*** आत्मा को ***जिण्णु ण मण्णइ*** जीर्ण नहीं मानता । ***जेम बुहु*** जैसे कोई बुद्धिमान ***वत्थु पणट्ठइ*** वस्त्र के नाश होने से ***देहु णट्ठु ण*** देह का नाश नहीं ***मण्णइ*** मानता, ***तहँ णाणि*** उसीप्रकार ज्ञानी ***देहे णट्ठे*** देह का नाश होने से ***अप्पु णट्ठु ण*** आत्मा का नाश नहीं ***मण्णइ*** मानता । ***जिय*** हे जीव ! ***जेम णाणि*** जैसे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानी ***देहहँ*** देह से ***भिण्णउँ जि*** भिन्न ही ***वत्थु मण्णइ*** कपड़े को मानता है, ***तहँ णाणि*** उसीप्रकार ज्ञानी ***देहु वि*** शरीर को भी ***अप्पहँ*** आत्मा से ***भिण्णउँ*** पृथक् ***मण्णइ जाणि*** मानता है, ऐसा तुम जानो ।

जैसे वस्त्र और शरीर मिले हुए भासित होते हैं, परन्तु शरीर से वस्त्र पृथक् है; उसीप्रकार आत्मा और शरीर मिले हुए दिखते हैं, परन्तु वे पृथक् हैं । शरीर की रक्तता से, जीर्णता से और विनाश से आत्मा की रक्तता, जीर्णता और विनाश नहीं होता; यह निस्सन्देह जानो । यह आत्मा व्यवहारनय से देह में स्थित है, तो भी सहज शुद्ध परमानन्दरूप निजस्वभाव से पृथक् ही है, देह के सुख-दुःख जीव में नहीं हैं ।।१७८-१८१।।

अथ दुःखजनकदेहघातकं शत्रुमपि मित्रं जानीहीति दर्शयति—

।।१८२-३०५।।

इहु तणु जीवड तुज्झ रिउ दुक्खइँ जेण जणेइ ।
सो परु जाणहि मित्तु तुहुँ जो तणु एहु हणेइ ।।

इयं तनुः जीव तव रिपुः दुःखानि येन जनयति ।
तं परं जानीहि मित्रं त्वं यः तनुमेतां हन्ति ।।१८२।।

रिउ रिपुर्भवति । का ? ***इहु तणु*** इयं तनुः कर्त्री ***जीवड*** हे जीव ***तुज्झ*** तव। कस्मात् ? ***दुक्खइँ जेण जणेइ*** येन कारणेन दुःखानि जनयति ***सो परु*** तं परजनं ***जाणहि*** जानीहि । किम् ? ***मित्तु*** परममित्रं ***तुहुँ*** त्वं कर्ता । यः परः किं करोति? ***जो तणु एहु हणेइ*** यः कर्ता तनुमिमां प्रत्यक्षीभूतां हन्तीति ।

अत्र यदा वैरी देहविनाशं करोति तदा वीतरागचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृतसमरसीभावे स्थित्वा शरीरघातकस्योपरि यथा पाण्डवैः कौरवकुमारस्योपरि द्वेषो न कृतस्तथान्यतपोधनैरपि न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ।।१८२।।

आगे दुःख उत्पन्न करने वाले देह के घातक शत्रु को भी तुम मित्र समझो, ऐसा कहते हैं—

हे जीव ! यह तन शत्रु तेरा करे पैदा दुःख ही ।
जो विनाशक इस देह का वह मित्र तेरा मान ही ।।१८२।।

दोहार्थ— हे जीव ! यह शरीर तेरा शत्रु है, क्योंकि दुःख उत्पन्न करता है । जो इस शरीर का घात करता है, उसे तुम परम मित्र जानो ।

टीकार्थ— ***जीवड*** हे जीव ! ***इहु तणु*** यह शरीर ***तुज्झ रिउ*** तुम्हारा शत्रु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है, ***जेण*** क्योंकि ***दुक्खइँ जणेइ*** दु:खों को उत्पन्न करता है, ***जो एहु तणु*** जो इस शरीर का ***हणेइ*** घात करे, ***सो तुहुँ*** उसको तुम ***परु मित्तु*** परममित्र ***जाणहि*** जानो।

यह शरीर तुम्हारा शत्रु होने से दु:ख उत्पन्न करता है, इससे तुम अनुराग मत करो और जो तुम्हारे शरीर की सेवा करता है, उससे भी राग मत करो, तथा जो तुम्हारे शरीर का घात कर देवे, उसको शत्रु मत जानो । जब कोई तुम्हारे शरीर का विनाश करे, तब वीतराग चिदानंद एक ज्ञानस्वभाव परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न परम समरसीभाव में लीन होकर, शरीर के घातक पर द्वेष मत करो । जैसे महा धर्मस्वरूप युधिष्ठिर पांडव आदि पाँचों भाइयों ने कौरवकुमार पर द्वेष नहीं किया । उसीप्रकार सभी साधुओं का यही स्वभाव है कि अपने शरीर का जो घात करे, उससे द्वेष नहीं करते; सबको मित्र ही समझते हैं ॥१८२॥

अथ उदयागते पापकर्मणि स्वस्वभावो न त्याज्य इति मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं कथयति—

॥१८३-३०६॥

उदयहँ आणिवि कम्मु मइँ जं भुंजेवउ होइ ।
तं सह आविउ खविउ मइँ सो पर लाहु जि कोइ ॥

उदयमानीय कर्म मया यद् भोक्तव्यं भवति ।
तत् स्वयमागतं क्षपितं मया स परं लाभ एव कश्चित् ॥१८३॥

जं यत् ***भुंजेवउ होइ*** भोक्तव्यं भवति । किं कृत्वा ? ***उदयहँ आणिवि*** विशिष्टात्मभावनाबलेनोदयमानीय । किम् ? ***कम्मु*** चिरसंचितं कर्म । केन ? ***मइँ*** मया ***तं*** तत् पूर्वोक्तं कर्म ***सह आविउ*** दुर्धरपरीषहोपसर्गवशेन स्वयमुदयमागतं सत् ***खविउ मइँ*** निजपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागसहजानन्दैकसुखरसास्वादद्रवीभूतेन परिणतेन मनसा क्षपितं मया ***सो*** स ***पर*** नियमेन ***लाहु जि*** लाभ एव ***कोइ*** कश्चिदपूर्व इति ।

अत्र केचन महापुरुषा दुर्धरानुष्ठानं कृत्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा च कर्मोदयमानीय तमनुभवन्ति, अस्माकं पुन: स्वयमेवोदयागतमिति मत्वा संतोष: कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥१८३॥

आगे पूर्वोपार्जित पाप के उदय से दु:ख अवस्था आ जाने पर भी अपना शांत, ज्ञान स्वभाव नहीं छोड़ना; ऐसा अभिप्राय मन में रखकर व्याख्यान करते हैं—

जो उदय लाकर कर्म मुझको भोगने पड़ते सदा ।
पर ये स्वयं आए अत: क्षय करूँ लाभ हुआ महा ॥१८३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— जो कर्म मेरे द्वारा उदय में लाकर भोगने-योग्य होता, वह स्वयं ही आ गया है, अत: मैं क्षय करूँ; वह कोई महा लाभ है ।

टीकार्थ— ***जं*** जो ***मइँ कम्मु*** मैं कर्म को ***उदयहँ*** उदय में ***आणिवि*** लाकर ***भुंजेवउ होउ*** भोगना चाहता था, ***तं*** वह कर्म ***सह आविउ*** स्वयं ही आ गया, इसे ***मइँ खविउ*** मैं शान्त चित्त से फल सहनकर क्षय करूँ, ***सो कोइ*** यह कोई ***पर लाहु जि*** महान ही लाभ हुआ ।

जो महामुनि मुक्ति के अधिकारी हैं, वे उदय में नहीं आये कर्मों को परम आत्मज्ञान की भावना के बल से उदय में लाकर, उसका फल भोगकर शीघ्र निर्जरित कर देते हैं । परन्तु यदि वे पूर्व-कर्म बिना उपाय के सहज ही बाईस परीषह तथा उपसर्ग के वश से उदय में आये हों, तो विषाद न करना, बहुत लाभ समझना । मन में यह मानना कि हम तो उदीरणा से इन कर्मों को उदय में लाकर क्षय करते, परंतु ये सहज ही उदय में आये, यह तो बड़ा ही लाभ है । जैसे कोई बड़ा व्यापारी अपने ऊपर का कर्ज लोगों को बुला-बुला कर देता है, यदि कोई बिना बुलाये सहज ही लेने आया हो, तो बड़ा ही लाभ है । उसीप्रकार कोई महापुरुष महान दुर्धर तप करके कर्मों को उदय में लाकर क्षय करते हैं, लेकिन वे कर्म अपने आप स्वयमेव उदय में आये हैं, तो इनके समान दूसरा क्या है; ऐसा संतोष धारणकर ज्ञानीजन उदय आये कर्मों को भोगते हैं, उनमें राग-द्वेष नहीं करते हैं ॥१८३॥

अथ इदानीं परुषवचनं सोढुं न याति तदा निर्विकल्पात्मतत्त्वभावना कर्तव्येति प्रतिपादयति—

॥१८४-३०७॥

णिट्ठुर वयणु सुणेवि जिय जइ मणि सहण ण जाइ ।
तो लहु भावहि बंभु परु जिँ मणु झत्ति विलाइ ॥

निष्ठुरवचनं श्रुत्वा जीव यदि मनसि सोढुं न याति ।
ततो लघु भावय ब्रह्म परं येन मनो झटिति विलीयते ॥१८४॥

जइ यदि चेत् ***सहण ण जाइ*** सोढुं न याति । ***क्व ?*** ***मणि*** मनसि ***जिय*** हे मूढ जीव। ***किं कृत्वा ?*** ***सुणेवि*** श्रुत्वा । ***किम् ?*** ***णिट्ठुरवयणु*** निष्ठुरं हृदयकर्णशूलवचनं ***तो*** तद्वचनश्रवणानन्तरं ***लहु*** शीघ्रं ***भावहि*** वीतरागपरमानन्दैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय । ***कम् ?*** ***बंभु*** ब्रह्मशब्दवाच्यनिजदेहस्थपरमात्मानम् । ***कथंभूतम् ?*** ***परु*** परमानन्त-ज्ञानादिगुणाधारत्वात् परमुत्कृष्टं ***जिँ*** येन परमात्मध्यानेन । ***किं भवति ?*** ***मणु झत्ति विलाइ***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दैकरूपसुखामृतास्वादेन मनो झटिति शीघ्रं विलयं याति द्रवीभूतं भवतीति भावार्थः ॥१८४॥

आगे यह कहते हैं कि यदि कोई कर्कश (कठोर) वचन कहता है और यह सह नहीं सकता हो तो अपने कषायभाव रोकने के लिये निर्विकल्प आत्मतत्त्व की भावना करना चाहिए—

निष्ठुर वचन सुन जीव! यदि मन सहन ना कर सके तो ।
तुम शीघ्र भावो परम आतम शीघ्र यों मन विलय हो ॥१८४॥

दोहार्थ— हे जीव ! यदि निष्ठुर वचन सुनकर मन में सहने में समर्थ न हो, तो तुम शीघ्र परम ब्रह्म की भावना करो, जिससे मन शीघ्र विलीन हो जाता है ।

टीकार्थ— ***जिय*** हे जीव! किसी अविवेकी के ***णिट्ठुरवयणु*** कठोर वचन ***सुणेवि*** सुनकर ***जइ ण सहण जाइ*** यदि तुम सह न सको, ***तो*** तो कषाय दूर करने के लिए इस देह में विराजमान परमानंदस्वरूप ***परु बंभु*** परमब्रह्म का ***मणि*** मन में, वीतरागपरमानन्द एक लक्षण निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर, ***लहु भावसि*** शीघ्र ध्यान करो । वह ब्रह्म अनन्त ज्ञानादि गुणों का आधार है, सर्वोत्कृष्ट है, ***जिँ*** जिसके ध्यान करने से वीतराग निर्विकल्प समाधि से समुत्पन्न परमानन्द एक रूप सुखामृत के आस्वाद द्वारा ***मणु*** मन का विकार ***झत्ति विलाइ*** शीघ्र ही विलीन हो जाता है ॥१८४॥

अथ जीवः कर्मवशेन जातिभेदभिन्नो भवतीति निश्चिनोति—

॥१८५-३०८॥

लोउ विलक्खणु कम्मवसु इत्थु भवंतरि एइ ।
चुज्जु कि जइ इहु अप्पि ठिउ इत्थु जि भवि ण पडेइ ॥

लोकः विलक्षणः कर्मवशः अत्र भवान्तरे आयाति ।
आश्चर्यं किं यदि अयं आत्मनि स्थितः अत्रैव भवे न पतति ॥१८५॥

लोउ इत्यादि—*विलक्खणु* षोडशवर्णिकासुवर्णवत्केवलज्ञानादिगुणसदृशो न सर्वजीवराशिसदृशात् परमात्मतत्त्वाद्विलक्षणो विसदृशो भवति । केन ? ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिजातिभेदेन । कोऽसौ ? *लोउ* लोको जनः । कथंभूतः सन् ? *कम्मवसु* कर्मरहितशुद्धात्मानुभूतिभावनारहितेन यदुपार्जितं कर्म तस्य कर्मण अधीनः कर्मवशः । इत्थंभूतः सन् किं करोति ? *इत्थु भवंतरि एइ* पञ्चप्रकारभवरहिताद्वीतरागपरमानन्दैकस्वभावात् शुद्धात्मद्रव्याद्विसदृशे अस्मिन् भवान्तरे संसारे समायाति *चुज्जु* किं इदं किमाश्चर्यं किंतु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नैव, *जइ इहु अप्पि ठिउ* यदि चेदयं जीवः स्वशुद्धात्मनि स्थितो भवति तर्हि *इत्थु जि भवि ण पडेइ* अत्रैव भवे न पततीति इदमप्याश्चर्यं न भवतीति ।

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा संसारभयभीतेन भव्येन भवकारणमिथ्यात्वादिपञ्चास्रवान् मुक्त्वा द्रव्यभावास्रवरहिते परमात्मभावे स्थित्वा च निरन्तरं भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ।।१८५।।

आगे जीव के कर्म वश से भिन्न-भिन्न स्वरूप, जाति-भेद होते हैं, ऐसा निश्चय करते हैं—

इस विलक्षण कर्मवश से लोक भव-भव में भ्रमे ।
आश्चर्य क्या यदि आत्मा में लीन भव में न गिरे ।।१८५।।

दोहार्थ— यह लोक विलक्षण कर्म के वश भवान्तर में घूमता फिरता है। यदि यह आत्मा में स्थित/लीन हो जाए तो इस भव में नहीं गिरे—इसमें क्या आश्चर्य ? कुछ भी नहीं ।

टीकार्थ— ***विलक्खणु*** सोलहवान सुवर्ण के समान केवलज्ञानादि गुणों से समान परमात्मतत्त्व से भिन्न ***लोउ*** ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जाति भेदरूप जीव-राशि ***कम्मवसु*** कर्म से उत्पन्न है, अर्थात् जाति-भेद कर्म के निमित्त से हुए हैं, और वे कर्म आत्म-ज्ञान की भावना से रहित अज्ञानी जीव ने उपार्जित किये हैं; उन कर्मों के आधीन जाति भेद हैं । जब तक कर्मों का उपार्जन है, तब तक ***इत्थु भवंतरि एइ*** इस संसार में अनेक जाति धारण करता है, ***इहु जइ*** यदि यह जीव ***अप्पि ठिउ*** आत्मस्वरूप में लीन हो जाए, तो ***इत्थु जि भवि*** इस भव में ***ण पडेइ*** नहीं पड़े, भ्रमण नहीं करे, ***चुज्जु कि*** इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी नहीं ।

जब तक आत्मा में चित्त नहीं लगता, तब तक संसार में भ्रमण करता है, अनेक भव धारण करता है, लेकिन जब यह आत्मदर्शी होता है, तब कर्मों का उपार्जन नहीं करता और भव में भी नहीं भटकता; इसमें आश्चर्य नहीं है ? संसार, शरीर, भोगों से उदास हो जिसे भव-भ्रमण का भय उत्पन्न हो गया है, ऐसे भव्य जीव को मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग—इन पाँचों आस्रवों को छोड़कर परमात्मतत्त्व में सदैव भावना करना चाहिये । यदि इसके आत्म-भावना हो तो भव-भ्रमण नहीं हो सकता ।।१८५।।

अप्पा सपरपयासो होदि — आत्मा स्व-पर प्रकाशक होता है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ परेण दोषग्रहणे कृते कोपो न कर्तव्य इत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

॥१८६-३०९॥

अवगुण-गहणइँ महुतणइँ जइ जीवहँ संतोसु ।
तो तहँ सोक्खहँ हेउ हउँ इउ मण्णिवि चइ रोसु ॥

अवगुणग्रहणेन मदीयेन यदि जीवानां संतोषः ।
ततः तेषां सुखस्य हेतुरहं इति मत्वा त्यज रोषम् ॥१८६॥

जह जीवहँ संतोसु यदि चेदज्ञानिजीवानां संतोषो भवति । केन ? *अवगुणगहणइँ* निर्दोषिपरमात्मनो विलक्षणा ये दोषा अवगुणास्तेषां ग्रहणेन । कथंभूतेन ? *महुतणइँ* मदीयेन *तो तहँ सोक्खहँ हेउ हउँ* यतः कारणान्मदीयदोषग्रहणेन तेषां सुखं जातं ततस्तेषामहं सुखस्य हेतुर्जातः *इउ मण्णिवि चइ रोसु* केचन परोपकारनिरताः परेषां द्रव्यादिकं दत्त्वा सुखं कुर्वन्ति मया पुनर्द्रव्यादिकं मुक्त्वापि तेषां सुखं कृतमिति मत्वा रोषं त्यज।

अथवा मदीया अनन्तज्ञानादिगुणा न गृहीतास्तैः किंतु दोषा एव गृहीता इति मत्वा च कोपं त्यज; अथवा ममैते दोषाः सन्ति सत्यमिदमस्य वचनं तथापि रोषं त्यज; अथवा ममैते दोषा न सन्ति तस्य वचनेन किमहं दोषी जातस्तथापि, क्षमितव्यम्; अथवा परोक्षे दोषग्रहणं करोति न च प्रत्यक्षे समीचीनोऽसौ तथापि क्षमितव्यम्; अथवा वचनमात्रेणैव दोषग्रहणं करोति न च शरीरबाधां करोति तथापि क्षमितव्यम्; अथवा शरीरबाधामेव करोति न च प्राणविनाशं तथापि क्षमितव्यम्; अथवा प्राणविनाशमेव करोति न च भेदाभेदरत्नत्रयभावनाविनाशं चेति मत्वा सर्वतात्पर्येण क्षमा कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥१८६॥

आगे दूसरों के द्वारा अपने दोष ग्रहण किए जाने पर, उस पर क्रोध नहीं करना; क्षमा करना, यह अभिप्राय मन में रखकर व्याख्यान करते हैं—

यदि दोष मेरे बताकर संतुष्ट होते जीव तो ।
मैं हेतु उनके सौख्य का यह मान मतकर क्रोध को ॥१८६॥

दोहार्थ— यदि जीवों को मेरे दोष ग्रहण करने से सन्तोष होता है, तो मैं ऐसे ही उनके सुख का कारण हुआ—यह मानकर रोष छोड़ो ।

टीकार्थ— ***महुतणइँ*** अज्ञानी जीवों को मेरे ***अवगुणगहणइँ*** दोष ग्रहण करने से हर्ष होता है, मेरे दोष ग्रहण करके ***जइ*** यदि ***जीवहँ संतोसु*** जीवों को सन्तोष होता है, ***तो*** तो मुझे यही लाभ है कि ***हउँ*** मैं ***तहँ सोक्खहँ हेउ*** उनको सुख का कारण हुआ, ***इउ मण्णिवि*** ऐसा मन में विचार कर ***रोसु चइ*** क्रोध छोड़ो ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानी क्रोध नहीं करते । वे ऐसा विचार करते हैं कि कोई पर का उपकार करने वाले, परजीवों को द्रव्यादि देकर सुखी करते हैं, मैंने कुछ द्रव्य नहीं दिया, उपकार नहीं किया, मेरे अवगुण ही से सुखी हो गये, तो इसके समान दूसरी क्या बात है ? ऐसा जानकर हे भव्य ! तुम रोष छोड़ो ।

अथवा ऐसा विचार करो कि मेरे अनंत ज्ञानादि गुण तो उसने नहीं लिये, दोष लिये हैं, वे निश्शंक होकर लो । जैसे घर में कोई चोर आया और उसने रत्न-सुवर्णादि नहीं लिये, माटी-पत्थर लिये, तो लो, तुच्छ वस्तु लेने वाले पर क्या क्रोध करना?; ऐसा जान रोष छोड़ना ।

अथवा ऐसा विचार करना कि यह जो दोष कहता है, यदि वे मुझमें हैं, तो यह सच कहता है, सत्यवादी से क्या द्वेष करना ? अथवा यदि ये दोष मुझमें नहीं हैं तो वह वृथा कहता है, उसके वृथा कहने से क्या मैं दोषी हो गया? बिल्कुल नहीं हुआ । ऐसा जानकर क्रोध छोड़, क्षमाभाव धारण करना चाहिये ।

अथवा यह विचार करो कि वह मेरे मुँह के आगे नहीं कहता, पीठ पीछे कहता है, सो पीठ पीछे तो राजाओं को भी बुरा कहते हैं, ऐसा जानकर उसे क्षमा करना कि प्रत्यक्ष तो मेरा मानभंग नहीं करता है, परोक्ष की बात क्या है ?

अथवा कदाचित् कोई प्रत्यक्ष मुँह आगे दोष कहे, तो तुम यह विचार करना कि वचनमात्र से मेरे दोष ग्रहण करता है, शरीर को तो बाधा नहीं देता, यह गुण है, ऐसा जान क्षमा ही करो ।

अथवा यदि कोई शरीर को भी बाधा दे, तो तुम ऐसा विचार करो कि मेरे प्राण तो नहीं हरता, यह गुण है; ऐसा मान क्षमा धारण करो ।

यदि कभी कोई पापी प्राण ही हरले, तो यह विचार करो कि ये प्राण तो विनाशीक हैं, विनाशीक वस्तु के चले जाने की क्या बात है ? मेरा ज्ञानभाव अविनश्वर है, उसे तो कोई नहीं हर सकता, इसने तो मेरे बाह्य प्राण हरे हैं; परंतु भेदाभेदरत्नत्रय की भावना का विनाश नहीं किया । —ऐसा जानकर सर्वथा क्षमा ही करना चाहिये, ऐसा अभिप्राय है ॥१८६॥

दूसरों के द्वारा नमस्कार करने योग्य (इन्द्रादिदेव) भी जिसे नमस्कार करते हैं, दूसरों के द्वारा ध्यान करने योग्य (सिद्ध भगवान आदि) भी जिसका सदा ध्यान करते हैं, दूसरों के द्वारा स्तुति करने योग्य (तीर्थंकरादि) भी जिसकी स्तुति करते हैं, शरीर में स्थित उस किसी (अनिर्वचनीय निज भगवान आत्मतत्त्व) को तुम जानो ।

— मोक्षपाहुड़, गाथा १०३ का हिन्दी अर्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ सर्वचिन्तां निषेधयति युग्मेन—

॥१८७-३१०॥

जोइय चिंति म किं पि तुहुँ जइ बीहउ दुक्खस्स ।
तिल-तुस-मित्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥

योगिन् चिन्तय मा किमपि त्वं यदि भीतः दुःखस्य ।
तिलतुषमात्रमपि शल्यं वेदनां करोत्यवश्यम् ॥१८७॥

चिंति म चिन्तां मा कार्षीः *किं पि तुहुँ* कामपि त्वं *जोइय* हे योगिन् । यदि किम् ? *जइ बीहउ* यदि बिभेषि । कस्य ? *दुक्खस्स* वीतरागतात्त्विकानन्दैकरूपात् पारमार्थिकसुखात्प्रतिपक्षभूतस्य नारकादिदुःखस्य । यतः कारणात् *तिलतुसमित्तु वि सल्लडा* तिलतुषमात्रमपि शल्यं *वेयण करइ अवस्स* वेदनां बाधां करोत्यवश्यं नियमेन।

अत्र चिन्तारहितात्परमात्मनः सकाशाद्विलक्षणा या विषयकषायादिचिन्ता सा न कर्तव्या, काण्डादिशल्यमिव दुःखकारणत्वादिति भावार्थः ॥१८७॥

.....

आगे सब चिन्ताओं का निषेध करते हैं—

यदि दुःख से भयभीत तो तुम कुछ भी चिंता ना करो ।
वह कष्ट ही दे नियम से ज्यों शल्य तिलतुष मात्र हो ॥१८७॥

दोहार्थ— हे योगी ! यदि तुम दुःख से भयभीत हो तो कुछ भी चिंता मत करो । तिल-तुष मात्र भी शल्य नियम से कष्ट ही देती है ।

टीकार्थ— ***जोइय*** हे योगी! ***तुहुँ*** तुम ***जइ*** यदि ***दुक्खस्स*** वीतराग परम आनन्द के शत्रु नरकादि चारों गतियों के दुःखों से ***बीहउ*** डर गये हो तो निश्चिंत होकर परलोक का साधन करो, इस लोक की ***किं पि म चिंति*** कुछ भी चिंता मत करो । क्योंकि ***तिलतुसमित्तु वि सल्लडा*** तिल के तुष (छिलके) मात्र भी शल्य ***वेयण*** मन को वेदना ***अवस्स करइ*** निश्चय से करती है ।

चिन्ता रहित परमात्मा से विपरीत जो विषय-कषाय आदि विकल्पजालों की चिन्ता है, वह कुछ भी नहीं करना । यह चिन्ता दुःख का ही कारण है। जैसे वाण आदि की तृणप्रमाण भी सलाई (नोंक) महा दुःख की कारण है, जब वह शल्य निकले, तभी सुख होता है ॥१८७॥

ज्यों वृक्ष अपने से रगड़कर अग्निमय होता स्वयं ।
त्यों आतमा आतम को ध्या परमातमा होता स्वयं ॥ —*समाधितंत्र, पद्य ९८*

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किंच—

॥१८८-३११॥

मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होइ ।
जेण णिबद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ ॥

मोक्षं मा चिन्तय योगिन् मोक्षो न चिन्तितो भवति ।
येन निबद्धो जीवः मोक्षं करिष्यति तदेव ॥१८८॥

मोक्खु इत्यादि—*मोक्खु म चिंतहि* मोक्षचिन्तां मा कार्षीस्त्वं *जोइया* हे योगिन्! यतः कारणात् *मोक्खु ण चिंतिउ होइ* रागादिचिन्ताजालरहितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुण-व्यक्तिसहितो मोक्षः चिन्तितो न भवति । तर्हि कथं भवति ? *जेण णिबद्धउ जीवडउ* येन मिथ्यात्वरागादिचिन्ताजालोपार्जितेन कर्मणा बद्धो जीवः *सोइ* तदेव कर्म शुभाशुभविकल्प-समूहरहिते शुद्धात्मतत्त्वस्वरूपे स्थितानां परमयोगिनां *मोक्खु करेसइ* अनन्तज्ञानादिगुणो-पलम्भरूपं मोक्षं करिष्यतीति ।

अत्र यद्यपि सविकल्पावस्थायां विषयकषायाद्यपध्यानवञ्चनार्थं मोक्षमार्गे भावना-दृढीकरणार्थं च *''दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिण-गुणसंपत्ती होउ मज्झं''** इत्यादि भावनां कर्तव्या तथापि वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधिकाले न कर्तव्येति भावार्थः ॥१८८॥

.....

आगे मोक्ष की भी चिन्ता नहीं करना, ऐसा कहते हैं—

हे योगि ! मत कर मोक्ष चिंता मोक्ष चिंता से नहीं ।
होता कभी, जिससे बँधा नित मोक्ष करता है वही ॥१८८॥

दोहार्थ— हे योगी ! अन्य चिंता तो दूर; मोक्ष की भी चिंता मत करो, क्योंकि मोक्ष चिंता से नहीं होता है । जीव जिससे बँधा है, वही मोक्ष करेगा।

टीकार्थ— ***जोइया*** हे योगी! अन्य चिन्ता की तो बात क्या रही? ***मोक्खु म चिंतहि*** मोक्ष की भी चिन्ता मत करो, क्योंकि ***मोक्खु*** मोक्ष ***चिंतिउ ण होइ*** चिन्ता करने से नहीं होता, वांछा के त्याग से ही होता है । रागादि चिन्ताजाल से रहित केवलज्ञानादि अनंतगुणों की प्रगटता सहित जो मोक्ष है, वह चिन्ता के त्याग से होता है । यही कहते हैं—***जेण*** जिन मिथ्यात्व-रागादि चिन्ता-जालों से उपार्जित किये कर्मों से ***जीवडउ*** यह जीव ***णिबद्धउ*** बँधा हुआ है, ***सोइ*** वे कर्म ही ***मोक्खु*** शुभाशुभ विकल्प समूह से रहित शुद्धात्मतत्त्व के स्वरूप में लीन हुए परमयोगियों का मोक्ष ***करेसइ*** करेंगे।

---

* प्राकृत भक्ति, अंचलिका का अंश ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वह चिन्ता का त्याग ही निस्संदेह तुम्हारा मोक्ष करेगा । अनंत ज्ञानादि गुणों की प्रगटता, मोक्ष है । यद्यपि विकल्प सहित प्रथम अवस्था में विषय-कषायादि खोटे ध्यान का निवारण करने के लिये और मोक्ष-मार्ग में परिणाम दृढ़ करने के लिये ज्ञानीजन ऐसी भावना करते हैं कि "चतुर्गति के दु:खों का क्षय हो, अष्ट कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय का लाभ हो, पंचमगति में गमन हो, समाधि मरण हो, और जिनराज के गुणों की सम्पत्ति मुझे हो ।" यह भावना चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थान में करने योग्य है, तो भी ऊपर के गुणस्थानों में वीतराग निर्विकल्प समाधि के समय नहीं होती ॥१८८॥

अथ चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमसमाधिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कमन्तरस्थलं कथ्यते । तद्यथा—

॥१८९-३१२॥

परम-समाहि-महा-सरहिँ जे बुड्डहिँ पइसेवि ।
अप्पा थक्कइ विमलु तहँ भव-मल जंति वहेवि ॥

परमसमाधिमहासरसि ये मज्जन्ति प्रविश्य ।
आत्मा तिष्ठति विमल: तेषां भवमलानि यान्ति ऊढ्वा ॥१८९॥

जे बुड्डहिँ **ये केचना पुरुषा मग्ना भवन्ति । क्व ?** ***परमसमाहिमहासरहिँ*** **परमसमाधिमहासरोवरे । किं कृत्वा मग्ना भवन्ति ?** ***पइसेवि*** **प्रविश्य सर्वात्मप्रदेशैरवगाह्य** ***अप्पा थक्कइ*** **चिदानन्दैकस्वभाव: परमात्मा तिष्ठति । कथंभूत: ?** ***विमलु*** **द्रव्यकर्मनोकर्ममतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायमलरहित:** ***तहँ*** **तेषां परमसमाधिरतपुरुषाणां** ***भवमल जंति*** **भवरहितात् शुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणानि यानि कर्माणि भवमलकारणभूतानि गच्छन्ति । किं कृत्वा ?** ***वहेवि*** **शुद्धपरिणामनीरप्रवाहेण ऊढ्वेति भावार्थ: ॥१८९॥**

आगे चौबीस दोहों के स्थल में परमसमाधि के व्याख्यान की मुख्यता से छह दोहा-सूत्र कहते हैं—

जो जीव परम समाधिमय सरवर प्रविष्ट हो डूबते ।
अति विमल आतम लीन वे भवमल निरंतर बहाते ॥१८९॥

दोहार्थ— जो परमसमाधि रूपी महासर में प्रवेश कर डूब जाते हैं, वे विमल आत्मा में लीन हो जाते हैं; उनके भवमल बहकर नष्ट हो जाते हैं ।

टीकार्थ— ***जे*** जो कोई महान पुरुष ***परमसमाहिमहासरहिँ*** परमसमाधिरूप सरोवर में ***पइसेवि*** प्रवेश कर ***बुड्डहिँ*** मग्न होते हैं, उनके सब प्रदेश समाधिरस

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से भीग जाते हैं, उन्हीं के ***अप्पा थक्कइ*** चिदानंद अखण्ड स्वभाव आत्मा का ध्यान स्थिर होता है । वह आत्मा ***विमलु*** द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित महा निर्मल है; ***तहँ*** जो योगी परमसमाधि में रत हैं, उन्हीं पुरुषों के ***भवमल*** शुद्धात्मद्रव्य से विपरीत अशुद्ध भाव के कारणभूत सभी कर्म ***वहेवि जंति*** शुद्धात्म-परिणामरूप जल के प्रवाह में बह जाते हैं ।

जहाँ जल का प्रवाह आवे, वहाँ मल कैसे रह सकता है ? कभी नहीं रह सकता ॥१८९॥

अथ—

॥१९०-३१३॥

सयल-वियप्पहँ जो विलउ परम-समाहि भणंति ।
तेण सुहासुह-भावडा मुणि सयलवि मेल्लंति ॥

सकलविकल्पानां यः विलयः (तं) परमसमाधिं भणन्ति ।
तेन शुभाशुभभावान् मुनयः सकलानपि मुञ्चन्ति ॥१९०॥

भणंति कथयन्ति । के ते ? वीतरागसर्वज्ञाः । कं भणन्ति ? ***परमसमाहि*** वीतरागपरमसामायिकरूपं परमसमाधिकं ***जो विलउ*** यं विलयं विनाशम् । केषाम् ? ***सयलवियप्पहँ*** निर्विकल्पात्परमात्मस्वरूपात्प्रतिकूलानां समस्तविकल्पानां ***तेण*** तेन कारणेन ***मेल्लंति*** मुञ्चन्ति । के कर्तारः ? ***मुणि*** परमाराध्यध्यानरतास्तपोधनाः । कान् मुञ्चन्ति? ***सुहासुहभावडा*** शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितान् शुद्धात्मद्रव्याद्विपरीतान् शुभाशुभभावान् परिणामान् । कतिसंख्योपेतान् ? ***सयल वि*** समस्तानपि ।

अयं भावार्थः — समस्तपरद्रव्याशारहितात् स्वशुद्धात्मस्वभावाद्विपरीता या आशा-पीहलोकपरलोकाशा यावत्तिष्ठति मनसि तावद् दुःखी जीव इति ज्ञात्वा सर्व-परद्रव्याशारहितशुद्धात्मद्रव्यभावना कर्तव्येति । तथा चोक्तम्—

''आसापिसायगहिओ जीवो पावेइ दारुणं दुक्खं ।
आसा जाहं णियत्ता ताहं णियत्ताइं सयलदुक्खाइं ॥''॥१९०॥

आगे परमसमाधि का लक्षण कहते हैं—

सम्पूर्ण सकल विकल्प होवें नष्ट परम समाधि है ।
तब मुनि उससे सब शुभाशुभ भाव को ही छोड़ते ॥१९०॥

दोहार्थ— जो सम्पूर्ण विकल्पों का विलय/विनाश है, उसे परम समाधि कहते हैं । उससे मुनि सम्पूर्ण शुभाशुभ विकल्पों को छोड़ देते हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जो सयलवियप्पहँ*** जो निर्विकल्पपरमात्मस्वरूप से विपरीत रागादि समस्त विकल्पों का ***विलउ*** नाश होना है, वह ***परमसमाहि भणंति*** परमसमाधि है; ***तेण*** इस परमसमाधि से ***मुणि*** मुनिराज ***सयलवि*** सभी ***सुहासुह-भावडा*** शुभ-अशुभ भावों को ***मेल्लंति*** छोड़ देते हैं ।

परम आराध्य आत्मस्वरूप के ध्यान में लीन तपोधन शुभ-अशुभ मन, वचन, काय के व्यापार से रहित, शुद्धात्मद्रव्य से विपरीत अच्छे-बुरे सभी भावों को छोड़ देते हैं । समस्त परद्रव्य की आशा से रहित निज शुद्धात्म-स्वभाव से विपरीत इसलोक-परलोक की आशा, जब तक मन में स्थित है, तब तक यह जीव दु:खी है ।

ऐसा जानकर सब परद्रव्य की आशा से रहित शुद्धात्मद्रव्य की भावना करना चाहिये । ऐसा ही कथन अन्य जगह भी है—"आशारूप पिशाच से घिरा हुआ यह जीव महान भयंकर दु:ख पाता है; जिनमुनियों ने आशा छोड़ी, उन्होंने सब दु:ख दूर किये, क्योंकि दु:ख का मूल आशा ही है ।" ॥१९०॥

अथ—

॥१९१-३१४॥

घोरु करंतु वि तवचरणु सयल वि सत्थ मुणंतु ।
परम-समाहि-विवज्जियउ णवि देक्खइ सिउ संतु ॥

घोरं कुर्वन् अपि तपश्चरणं सकलान्यपि शास्त्राणि जानन् ।
परमसमाधिविवर्जित: नैव पश्यति शिवं शान्तम् ॥१९१॥

करंतु वि कुर्वाणोऽपि । किम् ? ***तवचरणु*** समस्तपरद्रव्येच्छावर्जितं शुद्धात्मानुभूति-रहितं तपश्चरणम् । कथंभूतम् ? ***घोरु*** घोरं दुर्धरं वृक्षमूलातापनादिरूपम् । न केवलं तपश्चरणं कुर्वन् । ***सयल वि सत्थ मुणंतु*** शास्त्रजनितविकल्पतात्पर्यरहितात् परमात्मस्वरूपात् प्रतिपक्षभूतानि सर्वशास्त्राण्यपि जानन् । इत्थंभूतोऽपि सन् ***परमसमाहिविवज्जियउ*** यदि चेद्रागादिविकल्परहितपरमसमाधिविवर्जितो भवति तर्हि ***णवि देक्खइ*** न पश्यति । कम् ? ***सिउ*** शिवं शिवशब्दवाच्यं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं स्वदेहस्थमपि च परमात्मानम् । कथंभूतम् ? ***संतु*** रागद्वेषमोहरहितत्वेन शान्तं परमोपशमरूपमिति ।

इदमत्र तात्पर्यम्— यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति तत्परिज्ञानसाधकं च पठति सदा परंपरया मोक्षसाधकं भवति, नो चेत् पुण्यबन्धकारणं तमेवेति । निर्विकल्पसमाधिरहिता: सन्त: आत्मरूपं न पश्यन्ति। तथा चोक्तम्—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

''आनन्दं ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितम् ।
*ध्यानहीना न पश्यन्ति जात्यन्धा इव भास्करम् ।।''** ।।१९१।।

आगे ऐसा कहते हैं कि परमसमाधि के बिना शुद्ध आत्मा को नहीं देख सकता—

जो करे घोर तपश्चरण व जानता सब शास्त्र को ।
पर रहित परम समाधि से न देखता शिव-शान्त को ।।१९१।।

दोहार्थ— घोर तपश्चरण करते हुए भी, सम्पूर्ण शास्त्रों को जानते हुए भी, जो परम समाधि से रहित है; वह शांत-शिव शुद्धात्मा नहीं देखता है ।

टीकार्थ— ***घोरु तवचरणु करंतु वि*** जो मुनि महा दुर्धर तपश्चरण करता हुआ भी, ***सयल सत्थ*** सब शास्त्रों को ***मुणंतु वि*** जानता हुआ भी ***परमसमाहि-विवज्जिय*** परमसमाधि से रहित है, वह ***सिउ संतु*** शांतरूप शुद्धात्मा को ***णवि देक्खइ*** नहीं देख सकता ।

तप उसे कहते हैं कि जिसमें किसी वस्तु की इच्छा न हो । जहाँ इच्छा का अभाव तो हुआ नहीं परंतु कायक्लेश करता है, शीतकाल में नदी के किनारे, ग्रीष्मकाल में पर्वत के शिखर पर, वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे महान दुर्धर तप करता है । केवल तप ही नहीं करता, शास्त्र भी पढ़ता है, सकल शास्त्रों के प्रबंध से रहित निर्विकल्प परमात्मस्वरूप से रहित हुआ सीखता है, शास्त्रों का रहस्य जानता है; परंतु परम समाधि से रहित है, अर्थात् रागादि विकल्प से रहित समाधि जिसके प्रगट नहीं हुई, वह परम समाधि के बिना तप करता हुआ और श्रुत पढ़ता हुआ भी, निर्मल ज्ञान-दर्शनरूप तथा इस देह में विराजमान निज परमात्मा को नहीं देख सकता । जो आत्मस्वरूप राग, द्वेष, मोह रहित परमशांत है । परमसमाधि के बिना तप और श्रुत से भी उस शुद्धात्मा को नहीं देख सकता।

जो निज शुद्धात्मा को उपादेय जानकर ज्ञान का साधक तप करता है, और ज्ञान की प्राप्ति के उपायभूत जैनशास्त्रों को पढ़ता है, तो परम्परा मोक्ष का साधक है । और यदि आत्मा के श्रद्धान बिना कायक्लेशरूप तप ही करे, तथा शब्दरूप ही श्रुत पढ़े, तो मोक्ष का कारण नहीं है, पुण्यबंध के कारण होते हैं ।

ऐसा ही 'परमानंदस्तोत्र' में कहा है कि ''जो निर्विकल्प समाधि रहित जीव हैं, वे आत्मस्वरूप को नहीं देख सकते । ब्रह्म का रूप आनंद है, वह ब्रह्म निज देह में विद्यमान है; परन्तु ध्यान से रहित जीव ब्रह्म को नहीं देख सकते, जैसे जन्म का अन्धा सूर्य को नहीं देख सकता है।'' ।।१९१।।

* परमानंद स्तोत्र, पद्य ९ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥१९२-३१५॥

विसय-कसाय वि णिद्दलिवि जे ण समाहि करंति ।
ते परमप्पहँ जोइया णवि आराहय होंति ॥

विषयकषायानपि निर्दल्य ये न समाधिं कुर्वन्ति ।
ते परमात्मनः योगिन् नैव आराधका भवन्ति ॥१९२॥

जे ये केचन *ण करंति* न कुर्वन्ति । कम् ? *समाहि* त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिम्। किं कृत्वा पूर्वम् ? *णिद्दलिवि* निर्मूल्य । कानपि ? *विसयकसाय वि* निर्विषयकषायात् शुद्धात्मतत्त्वात् प्रतिपक्षभूतान् विषयकषायानपि *ते णवि आराहय होंति* ते नैवाराधका भवन्ति *जोइया* हे योगिन् । कस्याराधका न भवन्ति ? *परमप्पहँ* निर्दोषिपरमात्मन इति।

तथाहि—विषयकषायनिवृत्तिरूपं शुद्धात्मानुभूतिस्वभावं वैराग्यं, शुद्धात्मोपलब्धिरूपं तत्त्वविज्ञानं, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागरूपं नैर्ग्रन्थ्यं, निश्चिन्तात्मानुभूतिरूपा वशचित्तता, वीतरागनिर्विकल्पसमाधिबहिरङ्गसहकारिभूतं जितपरीषहत्वं चेति पञ्चैतान् ध्यानहेतून् ज्ञात्वा भावयित्वा च ध्यानं कर्तव्यमिति भावार्थः । तथा चोक्तम्—

''वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं वशचित्तता ।
जितपरीषहत्वं च पञ्चैते ध्यानहेतवः ॥'' ॥१९२॥

.....

आगे विषय-कषायों का निषेध करते हैं—

जो छोड़ विषय-कषाय भी पर समाधि करते नहीं ।
हे योगि ! वे परमात्मा के कभी आराधक नहीं ॥१९२॥

दोहार्थ— विषय-कषायों को नष्ट कर भी जो समाधि नहीं करते हैं, हे योगी! वे परमात्मा के आराधक नहीं हैं ।

टीकार्थ— ***जे*** जो समाधि को धारणकर ***विसयकसायवि*** विषय-कषायों को ***णिद्दलिवि*** मूल से उखाड़कर तीन गुप्तिरूप ***समाहि ण करंति*** परमसमाधि को धारण नहीं करते, ***जोइया*** हे योगी ! ***ते*** वे ***परमप्पहँ*** परमात्मा के ***आराहय*** आराधक ***णवि होंति*** नहीं हैं।

ये विषय-कषाय शुद्धात्मतत्त्व के शत्रु हैं, जो इनका नाश न करे, वह स्वरूप का आराधक कैसा ? स्वरूप की आराधना वही करता है, जिसके विषय-कषाय का प्रसंग न हो। सब दोषों से रहित निज परमात्मा की आराधना के घातक विषय-कषाय के सिवाय दूसरा कोई भी नहीं है । विषय-कषाय की निवृत्तिरूप शुद्धात्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की अनुभूति वैराग्य से ही देखी जाती है । इसलिये ध्यान का मुख्य कारण वैराग्य है । जब वैराग्य हो तब तत्त्वज्ञान निर्मल हो, इसप्रकार वैराग्य और तत्त्वज्ञान ये दोनों परस्पर में मित्र हैं । ये ही ध्यान के कारण हैं, और बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्यागरूप निर्ग्रन्थपना ध्यान का कारण है । निश्चित आत्मानुभूति ही है स्वरूप जिसका ऐसा जो मन का वश होना, वह वीतराग निर्विकल्प समाधि का सहकारी है, और बाईस परीषहों का जीतना, वह भी ध्यान का कारण है—ये पाँच ध्यान के कारण जानकर ध्यान करना चाहिये ।

ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि "संसार-शरीर-भोगों से विरक्तता, तत्त्वविज्ञान, सकल परिग्रह का त्याग, मन को वश करना, और बाईस परीषहों को जीतना—ये पाँच आत्म-ध्यान के कारण हैं।" ॥१९२॥

अथ—

॥१९३-३१६॥

परम-समाहि धरेवि मुणि जे परबंभु ण जंति ।
ते भव-दुक्खइँ बहुविहइँ कालु अणंतु सहंति ॥

परमसमाधिं धृत्वापि मुनयः ये परब्रह्म न यान्ति ।
ते भवदुःखानि बहुविधानि कालं अनन्तं सहन्ते ॥१९३॥

जे ये केचन *मुणि* मुनयः *ण जंति* न गच्छन्ति। कं कर्मतापन्नम् ? *परबंभु* परमब्रह्म परब्रह्मशब्दवाच्यं निजदेहस्थं केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावं परमात्मस्वरूपम् । किं कृत्वा पूर्वम् ? *परमसमाहि धरेवि* वीतरागतात्त्विकचिदानन्दैकानुभूतिरूपं परमसमाधिं धृत्वा ते पूर्वोक्तशुद्धात्मभावनारहिताः पुरुषाः *सहंति* सहन्ते । कानि कर्मतापन्नानि ? *भवदुक्खइँ* वीतरागपरमाह्लादरूपात् पारमार्थिकसुखात् प्रतिपक्षभूतानि नरनारकादिभवदुःखानि। कतिसंख्योपेतानि ? *बहुविहइँ* शारीरमानसादिभेदेन बहुविधानि । कियन्तं कालम् ? *कालु अणंतु* अनन्तकालपर्यन्तमिति ।

अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा निजशुद्धात्मनि स्थित्वा रागद्वेषादिसमस्तविभावत्यागेन भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ॥१९३॥

आगे परमसमाधि की महिमा कहते हैं—

जो मुनि परम समाधि धर भी परमब्रह्म न जानते ।
वे विविध भव दुख को सदा चिरकाल तक हैं भोगते ॥१९३॥

दोहार्थ— जो मुनि परमसमाधि धारण कर भी परब्रह्म को नहीं जानते हैं, वे अनेक प्रकार के संसार दुःखों को ही अनन्त काल पर्यन्त सहते रहते हैं ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

टीकार्थ— ***जे मुणि*** जो मुनि ***परमसमाहि*** परमसमाधि ***धरेवि*** धारण करके ***परबंभु*** निजदेह में स्थित केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप निज आत्मा को ***ण जंति*** नहीं जानते हैं, ***ते बहुविहइँ भवदुक्खइँ*** वे शुद्धात्मभावना से रहित पुरुष अनेक प्रकार के आधि-व्याधिरूप नारकादि भवदु:ख ***अणंतु कालु*** अनंतकाल तक ***सहंति*** भोगते हैं ।

मन के दु:ख को आधि कहते हैं, और तन संबंधी दु:खों को व्याधि कहते हैं; इन नाना प्रकार के दु:खों को अज्ञानी जीव भोगता है । ये दु:ख वीतराग परम आह्लादरूप पारमार्थिक-सुख से विपरीत हैं । यह जीव अनन्तकाल तक निजस्वरूप के ज्ञान बिना चारों गतियों से नाना प्रकार के दु:ख भोग रहा है ।

ऐसा व्याख्यान जानकर निज शुद्धात्मा में स्थिर होकर राग-द्वेषादि समस्त विभावों का त्यागकर निज स्वरूप की ही भावना करना चाहिये ॥१९३॥

अथ—

॥१९४-३१७॥

जामु सुहासुह-भावडा णवि सयल वि तुट्टंति ।
परमसमाहि ण तामु मणि केवुलि एमु भणंति ॥

यावत् शुभाशुभभावा: नैव सकला अपि त्रुट्यन्ति ।
परमसमाधिर्न तावत् मनसि केवलिन एवं भणन्ति ॥१९४॥

जामु इत्यादि—***जामु*** यावत्कालं ***णवि तुट्टंति*** नैव नश्यन्ति । **के कर्तार: ?** ***सुहासुहभावडा*** शुभाशुभविकल्पजालरहितात् परमात्मद्रव्याद्विपरीता: शुभाशुभभावा: परिणामा। **कतिसंख्योपेता अपि ?** ***सयल वि*** समस्ता अपि ***तामु ण*** तावत्कालं न । **कोऽसौ?** ***परमसमाहि*** शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूप: शुद्धोपयोगलक्षण: परमसमाधि: । **क्व ?** ***मणि*** रागादिविकल्परहितत्वेन शुद्धचेतसि ***केवुलि एमु भणंति*** केवलिनो वीतरागसर्वज्ञा एवं कथयन्तीति भावार्थ: ॥१९४॥

इति चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमसमाधिप्रतिपादकसूत्रषट्केन प्रथममन्तरस्थलं गतम् ।

आगे यह कहते हैं कि जब तक इस जीव के सब शुभाशुभ भाव दूर न हों, तब तक परमसमाधि नहीं हो सकती—

जब तक शुभाशुभभाव सब ही नष्ट होते हैं नहीं ।
तब तक न परम समाधि मन में कहें ऐसा केवली ॥१९४॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— जब तक सम्पूर्ण ही शुभाशुभ भाव नष्ट नहीं होते हैं, तब तक मन में परम समाधि नहीं होती है—ऐसा केवली भगवान कहते हैं ।

टीकार्थ— ***जामु*** जब तक ***सयलु वि*** समस्त ***सुहासुहभावडा*** संकल्प-विकल्पजाल से रहित परमात्मा से विपरीत शुभाशुभ परिणाम ***णवि तुट्टंति*** दूर न हों/मिटें नहीं, ***तामु*** तब तक ***मणि*** रागादि विकल्प रहित शुद्ध चित्त में ***परमसमाहि ण*** सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धोपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी परमसमाधि इस जीव के नहीं हो सकती—***एमु*** ऐसा ***केवुलि*** केवली भगवान ***भणंति*** कहते हैं ।

शुभाशुभ विकल्प जब मिटें, तभी परमसमाधि हो—ऐसी जिनेश्वर देव की आज्ञा है ॥१९४॥

इसप्रकार चौबीस दोहों के महास्थल में परमसमाधि के कथनरूप छह दोहों का प्रथम अन्तरस्थल पूर्ण हुआ ।

तदनन्तरमर्हत्पदमिति भावमोक्ष इति जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरित्येकोऽर्थः तस्य चतुर्विधनामाभिधेयस्यार्हत्पदस्य प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तद्यथा—

॥१९५-३१८॥

सयलवियप्पहँ तुट्टाहँ सिव-पय मग्गि वसंतु ।
कम्मचउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ॥

सकलविकल्पानां त्रुट्यतां शिवपदमार्गे वसन् ।
कर्मचतुष्के विलयं गते आत्मा भवति अर्हन् ॥१९५॥

हुइ भवति । कोऽसौ ? *अप्पा* आत्मा । कथंभूतो भवति ? *अरहंतु* अरिर्मोहनीयं कर्म तस्य हननाद् रजसी ज्ञानदृगावरणे तयोरपि हननाद् रहस्यशब्देनान्तरायस्तदभावाच्च देवेन्द्रादिविनिर्मितामतिशयवतीं पूजामर्हतीत्यर्हन् । कस्मिन् सति ? *कम्मचउक्कइ विलउ गइ* घातिकर्मचतुष्के विलयं गते सति । किं कुर्वन् सन् पूर्वम् ? *सिवपयमग्गि वसंतु* शिवशब्दवाच्यं यन्मोक्षपदं तस्य योऽसौ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयैकलक्षणो मार्गस्तस्मिन् वसन् सन् । केषां सताम् ? *सयलवियप्पहँ तुट्टाहँ* समस्तविकल्पानां नष्टानां समस्तरागादिविकल्पविनाशादनन्तरं भवतीति भावार्थः ॥१९५॥

आगे तीन दोहों में अरहंतपद का व्याख्यान करते हैं, अरहंतपद कहो या भावमोक्ष कहो, अथवा जीवन्मोक्ष कहो, या केवलज्ञान की उत्पत्ति कहो—ये चारों अर्थ एक को ही सूचित करते हैं, अर्थात् चारों शब्दों का अर्थ एक ही है—

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रहता हुआ शिवमार्ग में कर नष्ट सर्व विकल्प को ।
तब चार कर्म विलीन हों व आतमा अरहन्त हो ॥१९५॥

दोहार्थ— मोक्षमार्ग में रहते हुए, सम्पूर्ण विकल्पों के टूटने से चार घाति कर्मों के नष्ट हो जाने पर आत्मा अरहन्त होता है ।

टीकार्थ—*कम्मचउक्कइ विलउगइ* ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घातियाकर्मों का नाश होने से ***अप्पा*** यह जीव अर्हंत होता है, अर्थात् जब घातियाकर्म विलय हो जाते हैं, तब ***अरहंतु हुइ*** अरहंतपद पाता है; देवेंद्रादि द्वारा पूजा योग्य हों वे अरहंत हैं, क्योंकि पूजायोग्य को ही अर्हंत कहते हैं । ***सिवपयमग्गि वसंतु*** महामुनि होकर मोक्षपद के मार्गरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ठहरता हुआ जब ***सयलविप्पहँ*** समस्त रागादि विकल्पों का ***तुट्टाहँ*** नाश करता है, अर्थात् जब समस्त रागादि विकल्पों का नाश हो जावे, तब निर्विकल्प ध्यान के प्रसाद से केवलज्ञान होता है, केवलज्ञानी का नाम अर्हंत है, चाहे उसे जीवन्मुक्त कहो । जब अरहंत हुआ, तब भावमोक्ष हुआ; बाद में चार अघातियाकर्मों का नाशकर सिद्ध हो जाता है । सिद्ध को विदेहमोक्ष कहते हैं । —यही मोक्ष होने का उपाय है ॥१९५॥

अथ—

॥१९६-३१९॥

केवल-णाणिँ अणवरउ लोयालोउ मुणंतु ।
णियमेँ परमाणंदमउ अप्पा हुइ अरहंतु ॥

केवलज्ञानेनानवरतं लोकालोकं जानन् ।
नियमेन परमानन्दमयः आत्मा भवति अर्हन् ॥१९६॥

हुइ भवति । कोऽसौ ? *अप्पा* आत्मा । कथंभूतो भवति ? *अरहंतु* पूर्वोक्तलक्षणो अर्हन् । किं कुर्वन् ? *लोयालोउ मुणंतु* क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन कालत्रयविषयं लोकालोकं वस्तु वस्तुस्वरूपेण युगपत् जानन् सन् । केन ? *केवलणाणिं* लोकालोकप्रकाशकसकलविमलकेवलज्ञानेन । कथम् ? *अणवरउ* निरन्तरम् । किंविशिष्टो भवति भगवान् ? *परमाणंदमउ* वीतरागपरमसमरसीभावलक्षणतात्त्विकपरमानन्दमयः । केन ? *णियमेँ* निश्चयेन अत्र संदेहो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥१९६॥

अब केवलज्ञान की ही महिमा कहते हैं—

नित सतत केवलज्ञान से जानें वे लोकालोक को ।
वे जीव परमानन्दमय सुख भोगते अरहन्त हो ॥१९६॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— निरंतर केवलज्ञान से लोकालोक को जानता हुआ नियम से परमानन्दमय आत्मा अरहन्त होता है ।

टीकार्थ— ***केवलणाणिँ*** केवलज्ञान से ***लोयालोउ*** लोक-अलोक को ***अणवरउ*** निरन्तर ***मुणंतु*** जानता हुआ ***णियमेँ*** निश्चय से ***परमाणंदमउ*** परम आनंदमयी ***अप्पा अरहंतु हुइ*** यह आत्मा ही रत्नत्रय के प्रसाद से अरहंत होता है ।

समस्त लोकालोक को एक ही समय में केवलज्ञान से जानता हुआ अरहंत कहलाता है । जिसका ज्ञान जानने में क्रम से रहित है; एक ही समय में लोकालोक को प्रत्यक्ष जानता है, आगे-पीछे नहीं जानता । सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल, सब भाव को निरंतर प्रत्यक्ष जानता है । जो केवलीभगवान परम आनंदमयी हैं; वीतराग परमसमरसीभावरूप परम आनंद, अतीन्द्रिय, अविनाशी सुख—वही जिनका लक्षण है; निश्चय से ज्ञानानंदस्वरूप हैं, इसमें संदेह नहीं है ।।१९६।।

अथ—

।।१९७-३२०।।

जो जिणु केवल-णाणमउ परमाणंदसहाउ ।
सो परमप्पउ परम परु सो जिय अप्पसहाउ ।।

य: जिन: केवल-ज्ञानमय: परमानन्दस्वभाव: ।
स: परमात्मा परमपर: स जीव आत्मस्वभाव: ।।१९७।।

जो इत्यादि—जो य: *जिणु* अनेकभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति **जिन: । *कथंभूत: ? केवलणाणमउ*** केवलज्ञानाविनाभूतानन्तगुणमय: । पुनरपि ***कथंभूत: ? परमाणंदसहाउ*** इन्द्रियविषयातीत: स्वात्मोत्थ: रागादिविकल्परहित: परमानन्दस्वभाव: ***सो परमप्पउ*** स पूर्वोक्तोऽर्हन्नेव परमात्मा ***परमपरु*** प्रकृष्टानन्तज्ञानादिगुणरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परम: संसारिभ्य: पर उत्कृष्ट: इत्युच्यते परमश्चासौ परश्च परमपर: ***सो*** स पूर्वोक्तो वीतराग: सर्वज्ञ: ***जिय*** हे जीव ***अप्पसहाउ*** आत्मस्वभाव इति ।

अत्र योऽसौ पूर्वोक्तभणितो भगवान् स एव संसारावस्थायां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण जिन इत्युच्यते । केवलज्ञानावस्थायां व्यक्तिरूपेण च । तथैव च परमब्रह्मादिशब्दवाच्य: स एव तदग्रे स्वयमेव कथयति । निश्चयनयेन सर्वे जीवा जिनस्वरूपा: जिनोऽपि सर्वजीवस्वरूप इति भावार्थ: । तथा चोक्तम्—

''जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ ।
सो समभावि परिट्ठियउ लहु णिव्वाणु लहेइ ।।'' ।।१९७।।

एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये अर्हदवस्थाकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण द्वितीय-मन्तरस्थलं गतम् ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञान ही आत्मा का निजस्वभाव है, और केवली को ही परमात्मा कहते हैं—

जो जीव केवल ज्ञानमय निज भाव परमानन्द जिन ।
वे परमपर परमातमा वह जीव आत्मस्वभाव इन ।।१९७।।

दोहार्थ— जो केवलज्ञानमय परमानन्दस्वभावरूप जिन हैं,वे ही परमोत्कृष्ट परमात्मा हैं; और वह जीव का आत्म/अपना स्वभाव है ।

टीकार्थ— ***जो जिणु*** अनंत संसाररूपी वन में भ्रमण के कारणभूत ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूपी बैरी को जीतने वाले होने से जो जिन हैं । ***केवलणाणमउ*** केवलज्ञानादि अनंत गुणमयी हैं और इंद्रिय विषय से रहित आत्मीक रागादि विकल्पों से रहित ***परमाणंदसहाउ*** परमानंद ही जिनका स्वभाव है, ऐसे जिनेश्वर केवलज्ञानमयी अरहंतदेव हैं । ***सो*** वे ही ***परमप्पउ*** उत्कृष्ट अनंत ज्ञानादि गुणरूप लक्ष्मीवाले आत्मा परमात्मा हैं । उन्हीं को वीतराग-सर्वज्ञ कहते हैं, ***जिय*** हे जीव! वे ही ***परमपरु*** संसारियों से उत्कृष्ट हैं; ऐसे जो भगवान हैं वे व्यक्तिरूप हैं, और ***सो अप्पसहाउ*** वह आत्मा का ही स्वभाव है ।

संसार अवस्था में निश्चयनय से शक्ति रूप विराजमान है, इसलिये संसारी को शक्तिरूप जिन कहते हैं; और केवली को व्यक्तिरूप जिन कहते हैं । द्रव्यार्थिकनय से जैसे भगवान हैं, वैसे ही सब जीव हैं, इसप्रकार निश्चयनय से जीव को परब्रह्म कहो, परमशिव कहो; जितने भगवान के नाम हैं, उतने ही निश्चयनय से विचार करो तो सब जीवों के हैं, सभी जीव जिन समान हैं, और जिनराज भी जीवों के समान हैं, ऐसा जानना ।

ऐसा दूसरी जगह भी कहा है—"जो सम्यग्दृष्टि जीवों को जिनवर जाने, और जिनवर को जीव जाने, जो जीवों की जाति है, वही जिनवर की जाति है, और जो जिनवर की जाति है, वही जीवों की जाति है, ऐसे महामुनि द्रव्यार्थिकनय से जीव और जिनवर में जातिभेद नहीं मानते, वे मोक्ष पाते हैं ।" ।।१९७।।

इसप्रकार चौबीस दोहों के महास्थल में अरहंतदेव के कथन की मुख्यता से तीन दोहों में दूसरा अंतरस्थल कहा ।

यदि है तिमिरहर दृष्टि जन की दीप से फिर काम क्या ? ।
है स्वयं सुखमय आत्मा तो विषय से फिर काम क्या ? ।।

—प्रवचनसार गाथा ६७ का हिन्दी पद्यानुवाद

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशशब्दस्यार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तद्यथा—

॥१९८-३२१॥

सयलहँ कम्महँ दोसहँ वि जो जिणु देउ विभिण्णु ।
सो परमप्पपयासु तुहुँ जोइय णियमें मण्णु ॥

सकलेभ्यः कर्मभ्यः दोषेभ्यः अपि यो जिनः देवः विभिन्नः ।
तं परमात्मप्रकाशं त्वं योगिन् नियमेन मन्यस्व ॥१९८॥

सो तं *परमप्पपयासु* परमात्मप्रकाशसंज्ञं *तुहुँ* त्वं कर्ता *मण्णु* मन्यस्व जानीहि *जोइय* हे योगिन् *णियमें* निश्चयेन । स कः ? *जो जिणु* देउ यो जिनदेवः । [illegible]: ? *विभिण्णु* विशेषेण भिन्नः । केभ्यः ? *सयलहँ कम्महँ* रागादिरहित-चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो यानि भिन्नानि सर्वकर्माणि तेभ्यः । न केवलं कर्मभ्यो भिन्नः । *दोसहँ वि* टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य परमात्मनो येऽनन्तज्ञानसुखादिगुणा-स्तत्प्रच्छादका ये दोषास्तेभ्योऽपि भिन्न इत्यभिप्रायः ॥१९८॥

.....

आगे परमात्मप्रकाश शब्द के अर्थ-कथन की मुख्यता से तीन दोहा कहते हैं—

सम्पूर्ण कर्म रु दोष से परिपूर्ण पृथक् जो देव जिन ।
वे ही परमात्मप्रकाश हैं ऐसा नियम से मान तुम ॥१९८॥

दोहार्थ— जो सम्पूर्ण कर्मों से और दोषों से रहित जिनदेव हैं; उन्हें ही हे योगी ! तुम नियम से परमात्मप्रकाश मानो ।

टीकार्थ— ***सयलहँ कम्महँ*** ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से और ***दोसहँ वि*** सब क्षुधादि अठारह दोषों से ***विभिण्णु*** रहित ***जो जिणुदेउ*** जो जिनेश्वरदेव हैं, ***सो*** उनको ***जोइय*** हे योगी! ***तुहुँ*** तुम ***परमप्पपयासु*** परमात्मप्रकाश ***णियमें*** निश्चय से ***मण्णु*** मानो । अर्थात् जो निर्दोष जिनेन्द्रदेव हैं, वे ही परमात्मप्रकाश हैं ।

रागादि रहित चिदानंदस्वभाव परमात्मा से भिन्न जो सब कर्म, वे ही संसार के मूल हैं । जगत के जीव तो कर्मों से सहित हैं, और भगवान जिनराज इनसे मुक्त हैं, और सब दोषों से रहित हैं । वे दोष संसारी जीवों को लग रहे हैं, ज्ञायकस्वभाव आत्मा के अनंतज्ञान-सुखादि गुणों के आच्छादक हैं । उन दोषों से रहित जो सर्वज्ञ, वे ही परमात्मप्रकाश हैं, योगीश्वरों के मन में ऐसा ही निश्चय है । श्रीगुरु शिष्य से कहते हैं कि हे योगी ! तुम निश्चय से ऐसा ही मानो, यही सत्पुरुषों का अभिप्राय है ॥१९८॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥१९९-३२२॥

केवल-दंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि अणंतु ।
सो जिण-देउ वि परम-मुणि परम-पयासु मुणंतु ॥

केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं य एव अनन्तम् ।
स जिनदेवोऽपि परममुनिः परमप्रकाशं जानन् ॥१९९॥

सो जिणदेउ वि स जिनदेवोऽपि एवं भवति । न केवलं जिनदेवो भवति । ***परममुणि*** परम उत्कृष्टो मुनिः प्रत्यक्षज्ञानी । किं कुर्वन् सन् ? ***मुणंतु*** मन्यमानो जानन् सन् । कम् ? ***परमपयासु*** परममुत्कृष्टं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं यस्य स भवति परमप्रकाशस्तं परमप्रकाशम् । स कः ? ***केवलदंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि*** केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपं य एव । कथंभूतं तत् केवलज्ञानादिचतुष्टम् ? ***अणंतु*** युगपदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावपरिच्छेदकत्वादविनश्वरत्वाच्चानन्तमिति भावार्थः ॥१९९॥

.....

इसी कथन को और भी दृढ़ करते हैं—

अनन्तकेवलज्ञान-दर्शन-वीर्य सुख भी अनन्त ही ।
सब जान परम प्रकाशमय जिनदेव परममुनि वही ॥१९९॥

दोहार्थ— परम प्रकाश को जानते हुए केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य से जो सम्पन्न हैं; वे ही जिनदेव परममुनि हैं ।

टीकार्थ— ***केवलदंसणुणाणसुहुवीरिउ*** केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य ***जो जि अणंतु*** ये अनंतचतुष्टय जिनमें हैं ***सो जिणदेउ वि*** वे ही जिनदेव हैं, वे ही ***परममुणि*** परममुनि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं । क्या करते हुए वे जिनदेव हैं ? ***परमपयासु मुणंतु*** उत्कृष्ट लोकालोक का प्रकाशक जो केवलज्ञान वही जिनके परमप्रकाश है; उससे सकल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानते हुए परमप्रकाशक हैं । ये केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय एक ही समय में अनंतद्रव्य, अनंतक्षेत्र, अनंतकाल और अनंतभावों को जानते हैं; इसलिये अनंत हैं, अविनश्वर हैं, इनका अन्त नहीं है, ऐसा जानना ॥१९९॥

जो ज्ञान ''केवल'' वही सुख है परिणमन भी है वही ।
वह घाति रहित कहा इसी से खेद उसमें है नहीं ॥

—प्रवचनसार गाथा ६० का हिन्दी पद्यानुवाद

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥२००-३२३॥

जो परमप्पउ परम-पउ हरि हरु बंभु वि बुद्ध ।
परमपयासु भणंति मुणि सो जिण-देउ विसुद्ध ॥

य: परमात्मा परमपद: हरि: हर: ब्रह्मापि बुद्ध: ।
परमप्रकाश: भणन्ति मुनय: स जिनदेवा विशुद्ध: ॥२००॥

भणंति कथयन्ति । के ते ? *मुणि* मुनय: प्रत्यक्षज्ञानिन: । कथंभूतं भणन्ति? *परमपयासु* परमप्रकाश: । य: कथंभूत: ? *जो परमप्पउ* य: परमात्मा । पुनरपि कथंभूत: ? *परमपउ* परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वेन परमपदस्वभाव: । किंविशिष्ट: ? *हरि* हरिसंज्ञ: *हरु* महेश्वराभिधान: *बम्भु वि* परमब्रह्माभिधानोऽपि *बुद्ध* बुद्ध: सुगतसंज्ञ: *सो जिणदेउ* स एव पूर्वोक्त: परमात्मा जिनदेव: । किंविशिष्ट: ? *विसुद्ध* समस्तरागादिदोषपरिहारेण शुद्ध इति ।

अत्र य एव परमात्मप्रकाशसंज्ञो निर्दोषिपरमात्मा व्याख्यात: स एव परमात्मा, स एव परमपद:, स एव विष्णुसंज्ञ:, स एवेश्वराभिधान:, स एव ब्रह्मशब्दवाच्य:, स एव सुगतशब्दाभिधेय:, स एव जिनेश्वर:, स एव विशुद्ध इत्याद्यष्टाधिकसहस्रनामाभिधेयो भवति । नानारुचीनां जनानां तु कस्यापि केनापि विवक्षितेन नाम्नाराध्य: स्यादिति भावार्थ: । तथा चोक्तम्– *''नामाष्टकसहस्रेण युक्तं मोक्षपुरेश्वरम्''* इत्यादि ॥२००॥

एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशशब्दार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण तृतीयमन्तरस्थलं गतम् ।

आगे जिनदेव के ही अनेक नाम हैं, ऐसा निश्चय करते हैं—

जो परमपद परमातमा हर हरि ब्रह्मा बुद्ध भी ।
हैं कहें परमप्रकाश मुनिगण जिनेश्वर सुविशुद्ध भी ॥२००॥

दोहार्थ— जो परमात्मा, मुनि, परमपद, हरि, महादेव, ब्रह्मा, बुद्ध, परमप्रकाश कहलाते हैं; वे ही विशुद्ध जिनदेव हैं ।

टीकार्थ— ***जो परमप्पउ*** जिस परमात्मा को ***मुणि*** मुनि ***परमपउ*** परमपद, ***हरि हरु बंभु वि*** हरि, महादेव, ब्रह्मा, ***बुद्धु*** बुद्ध और ***परमपयासु*** परमप्रकाश नाम से ***भणंति*** कहते हैं, ***सो*** वह ***विसुद्ध*** रागादि रहित शुद्ध ***जिणदेउ*** जिनदेव ही है, उसी के ये सब नाम हैं ।

प्रत्यक्षज्ञानी उसे परमानंद ज्ञानादि गुणों का आधार होने से परमपद कहते

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हैं । वही विष्णु है, वही महादेव है, उसी का नाम परब्रह्म है, सबका ज्ञायक होने से बुद्ध है; सबमें व्यापक ऐसा जिनदेव देवाधिदेव परमात्मा अनेक नामों से गाया जाता है । समस्त रागादि दोषों के न होने से निर्मल है, ऐसा जो अरहंतदेव वही परमात्म, परमपद, वही विष्णु, वही ईश्वर, वही ब्रह्म, वही शिव, वही सुगत, वही जिनेश्वर और वही विशुद्ध—इत्यादि एक हजार आठ नामों से गाया जाता है । नाना रुचि के धारक ये संसारी जीव नाना प्रकार के नामों से जिनराज की आराधना करते हैं । ये नाम जिनराज के सिवाय दूसरों के नहीं हैं । ऐसा ही दूसरे ग्रंथों में भी कहा है— ''एक हजार आठ नामों सहित वह मोक्षपुर का स्वामी है''।— उसकी आराधना सब करते हैं । उसके अनंत नाम और अनंतरूप हैं। वास्तव में नाम से रहित, रूप से रहित ऐसे भगवान देव को हे प्राणियो ! तुम आराधो ॥२००॥

इसप्रकार चौबीस दोहों के महास्थल में परमात्मप्रकाश शब्द के अर्थ की मुख्यता से तीन दोहों में तीसरा अन्तरस्थल कहा ।

तदनन्तरं सिद्धस्वरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

॥२०१-३२४॥

झाणें कम्मक्खउ करिवि मुक्कउ होइ अणंतु ।
जिणवरदेवइँ सो जि जिय पभणिउ सिद्ध महंतु ॥

ध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तो भवति अनन्तः ।
जिनवरदेवेन स एव जीव प्रभणितः सिद्धो महान् ॥२०१॥

पभणिउ **प्रभणितः कथितः । केन कर्तृभूतेन ?** ***जिणवरदेवइँ*** **जिनवरदेवेन। कोऽसौ भणितः ?** ***सिद्ध*** **सिद्धः। कथंभूतः ?** ***महंतु*** **महापुरुषाराधितत्वात् केवल-ज्ञानादिमहागुणाधारत्वाच्च महान् । क एव ?** ***सो जि*** **स एव । स कः ? योऽसौ** ***मुक्कउ होइ*** **ज्ञानावरणादिभिः कर्मभिर्मुक्तो रहितः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणसहितश्च** ***जिय*** **हे जीव । कथंभूतः ?** ***अणंतु*** **न विद्यतेऽन्तो विनाशो यस्य स भवत्यनन्तः । किं कृत्वा पूर्वं मुक्तो भवति ?** ***कम्मक्खउ करिवि*** **विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावादात्मद्रव्याद्विलक्षणं यदार्तरौद्रध्यानद्वयं तेनोपार्जितं यत्कर्म तस्य क्षयः कर्मक्षयस्तं कृत्वा । केन ?** ***झाणें*** **रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानलक्षणेन ध्यानेनेति तात्पर्यम् ॥२०१॥**

आगे सिद्धस्वरूप के कथन की मुख्यता से तीन दोहों में व्याख्यान करते हैं —

जो ध्यान से सब कर्म क्षयकर मुक्त अविनाशी हुए ।
वे जीव ही हैं सिद्ध सकल महान जिनवर ने कहे ॥२०१॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहार्थ— जो ध्यान से कर्मों का क्षयकर मुक्त अनन्त होते हैं, हे जीव! वे ही सिद्ध महान हैं;—ऐसा जिनवर देव ने कहा है ।

टीकार्थ— ***झाणें*** शुक्लध्यान से ***कम्मक्खउ*** कर्मों का क्षय ***करिवि*** करके जो ***मुक्कउ होइ*** मुक्त होता है, और ***अणंतु*** अविनाशी है, ***जिय*** हे जीव ! ***सो जि*** उसे ही ***जिणवरदेवइँ*** जिनवरदेव ने सबसे ***महतु सिद्ध*** महान सिद्ध भगवान ***पभणिउ*** कहा है ।

अरहंतपरमेष्ठी सकल सिद्धान्तों के प्रकाशक हैं, वे सिद्ध परमात्मा को सिद्धपरमेष्ठी कहते हैं, जिनकी सब संत पुरुष आराधना करते हैं । केवलज्ञानादि महान अनंतगुणों को धारण करने से वे महान अर्थात् सबसे बड़े हैं । सिद्धभगवान ज्ञानावरणादि आठों ही कर्मों से रहित हैं, और सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित हैं; क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु, अव्याबाध—इन आठ गुणों से मंडित हैं; और जिसका अन्त नहीं ऐसे निरंजनदेव विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाव आत्मद्रव्य से विपरीत आर्त-रौद्र खोटे ध्यानों से उत्पन्न हुए शुभ-अशुभ कर्मों का, स्वसंवेदनज्ञानरूप शुक्लध्यान से क्षय करके अक्षय पद पा लिया है । कैसा है शुक्लध्यान ? रागादि समस्त विकल्पों से रहित परम निराकुलतारूप है । यही ध्यान मोक्ष का मूल है, इसी से अनन्त सिद्ध हुए हैं और होंगे ॥२०१॥

अथ—

॥२०२-३२५॥

अण्णु वि बंधु वि तिहुयणहँ सासय-सुक्ख-सहाउ ।
तित्थु जि सयलु वि कालु जिय णिवसइ लद्ध-सहाउ ॥

अन्यदपि बन्धुरपि त्रिभुवनस्य शाश्वतसौख्यस्वभावः ।
तत्रैव सकलमपि कालं जीव निवसति लब्धस्वभावः ॥२०२॥

अण्णु वि इत्यादि—*अण्णु वि* अन्यदपि पुनरपि स पूर्वोक्तः सिद्धः । कथंभूतः? *बन्धु वि* बन्धुरेव । कस्य ? *तिहुयणहँ* त्रिभुवनस्थभव्यजनस्य । पुनरपि किं विशिष्टः ? *सासयसुक्खसहाउ* रागादिरहिताव्याबाधशाश्वतसुखस्वभावः । एवंगुण-विशिष्टः सन् किं करोति स भगवान् ? *तित्थु जि* तत्रैव मोक्षपदे *णिवसइ* निवसति। कथंभूतः सन् ? *लद्धसहाउ* लब्धशुद्धात्मस्वभावः। कियत्कालं निवसति? *सयलु वि कालु* समस्तमप्यनन्तानन्तकालपर्यन्तं *जिय* हे जीव इति ।

अत्रानेन समस्तकालग्रहणेन किमुक्तं भवति । ये केचन वदन्ति मुक्तानां पुनरपि संसारे पतनं भवति तन्मतं निरस्तमिति भावार्थः ॥२०२॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आगे सिद्धों की और भी महिमा कहते हैं—

त्रयलोक के हैं बंधु वे हैं नित्य सौख्य स्वभावमय ।
शाश्वत रहेंगे वहाँ ही वे जीव लब्ध स्वभावमय ॥२०२॥

दोहार्थ— हे जीव ! वे सिद्ध भगवान तीन लोक के बंधु हैं, शाश्वत सुखस्वभावमय हैं; लब्धस्वभावमयी वे सदैव वहाँ ही रहते हैं ।

टीकार्थ— ***अण्णुवि*** फिर वे सिद्धभगवान ***तिहुयणहँ*** तीन लोक के प्राणियों का ***बंधु वि*** हित करने वाले हैं, और ***सासयसुक्खसहाउ*** जिनका स्वभाव अविनाशी सुख है, और ***तित्थु जि*** उसी शुद्ध क्षेत्र में ***लद्ध सहाउ*** निजस्वभाव को पाकर ***जिय*** हे जीव ! ***सयलु वि कालु*** सदा काल ***णिवसइ*** निवास करते हैं, फिर चतुर्गति में नहीं आवेंगे ।

सिद्धपरमेष्ठी तीनलोक के नाथ हैं; और जिनका भव्यजीव ध्यान करके भवसागर से पार होते हैं इसलिये भव्यों के बंधु हैं, हितकारी हैं । जिनका रागादि रहित, अव्याबाध, अविनाशी सुख स्वभाव है । —ऐसे अनन्त गुणरूप वे भगवान उस मोक्ष पद में सदा काल विराजते हैं । जिन्होंने शुद्ध आत्मस्वभाव पा लिया है । अनन्तकाल बीत गये, और अनन्तकाल आवेंगे, परंतु वे प्रभु सदाकाल सिद्धक्षेत्र में बस रहे हैं । समस्त काल रहते हैं; —ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि जो ऐसा कहते हैं कि मुक्त-जीवों का भी संसार में पतन होता है, सो उनका कहना खंडित किया गया ॥२०२॥

अथ—

॥२०३-३२६॥

जम्मण-मरण-विवज्जियउ चउ-गइ-दुक्ख-विमुक्कु ।
केवल-दंसण-णाणमउ णंदइ तित्थु जि मुक्कु ॥

जन्ममरणविवर्जितः चतुर्गतिदुःखविमुक्तः ।
केवलदर्शनज्ञानमयः नन्दति तत्रैव मुक्तः ॥२०३॥

पुनरपि कथंभूतः स भगवान् ? *जम्मणमरणविवज्जियउ* जन्ममरणविवर्जितः । पुनरपि किंविशिष्टः ? *चउगइदुक्खविमुक्कु* सहजशुद्धपरमानन्दैकस्वभावं यदात्मसुखं तस्माद्विपरीतं यच्चतुर्गतिदुःखं तेन विमुक्तो रहितः । पुनरपि किंस्वरूपः ? *केवलदंसणणाणमउ* क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थानां प्रकाशकेवलदर्शनज्ञानाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः । एवंगुणविशिष्टः सन् किं करोति ? *णंदइ* स्वकीयस्वाभाविकानन्तज्ञानादिगुणैः सह नन्दति वृद्धिं गच्छति । क्व ? *तित्थु जि* तत्रैव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्षपदे । पुनरपि किंविशिष्टः सन् ? मुक्कु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मनिर्मुक्तो रहितः अव्याबाधाद्यनन्तगुणैः सहितश्चेति भावार्थः ।।२०३।।

एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण चतुर्थमन्तरस्थलं गतम् ।

आगे सिद्धों का ही और भी वर्णन करते हैं—

हैं जन्ममरण रहित चतुर्गति दुःख से परिमुक्त हैं ।
नित वहीं केवलज्ञान-दर्शन पूर्ण स्थित मुक्त हैं ।।२०३।।

दोहार्थ— जन्म-मरण से रहित, चतुर्गतिदुःख से विमुक्त, केवलज्ञान-दर्शनमय मुक्त जीव वहाँ ही आनन्दमय विराजमान रहते हैं ।

टीकार्थ— ***जम्मणमरणविवज्जियउ*** वे भगवान सिद्धपरमेष्ठी जन्म और मरण रहित हैं, ***चउगइदुक्खुविमुक्कु*** चारों गतियों के दुःखों से रहित हैं, और ***केवलदंसणणाणमउ*** केवलदर्शन-केवलज्ञानमयी हैं, ऐसे ***मुक्कु*** कर्म रहित हुए ***तित्थु जि*** अनंतकाल तक उसी सिद्धक्षेत्र में, ***णदंइ*** अपने स्वभाव में आनंदरूप विराजते हैं ।

सहज शुद्ध परमानंद एक अखण्ड स्वभावरूप आत्मसुख से विपरीत चतुर्गति के दुःख से रहित हैं, जन्म-मरणरूपरोगों से रहित हैं, अविनश्वरपुर में सदा काल रहते हैं । जिनका ज्ञान संसारी जीवों के समान विचाररूप नहीं है कि जिससे किसी को पहले जानें, किसी को पीछे जानें; उनका केवलज्ञान और केवलदर्शन एक ही समय में सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल, और सब भावों को जानता है । लोकालोक प्रकाशी आत्मा निजभाव अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, और अनंतवीर्यमयी है । —ऐसे अनंत गुणों के सागर भगवान सिद्धपरमेष्ठी स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावरूप चतुष्टय में निवास करते हुए सदा आनंदरूप लोक के शिखर पर विराज रहे हैं, जिसका कभी अंत नहीं, उसी सिद्धपद में सदा काल विराजते हैं, केवलज्ञान-दर्शन द्वारा घट-घट में व्यापक हैं । सकल कर्मोपाधि रहित महा निरुपाधि, निराबाधपना आदि अनंतगुणों सहित मोक्ष में आनंद, विलास करते हैं ।।२०३।।

इसप्रकार चौबीस दोहों वाले महास्थल में सिद्धपरमेष्ठी के व्याख्यान की मुख्यता से तीन दोहों में चौथा अंतरस्थल कहा ।

आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा — आगम में प्रवृत्ति ही श्रेष्ठ है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथानन्तरं परमात्मप्रकाशभावनारतपुरुषाणां फलं दर्शयन् सूत्रत्रयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तथाहि—

॥२०४-३२७॥

जे परमप्प-पयासु मुणि भावँ भावहिँ सत्थु ।
मोहु जिणेविणु सयलु जिय ते बुज्झहिँ परमत्थु ॥

ये परमात्मप्रकाशं मुनयः भावेन भावयन्ति शास्त्रम् ।
मोहं जित्वा सकलं जीव ते बुध्यन्ति परमार्थम् ॥२०४॥

भावहिँ **भावयन्ति ध्यायन्ति । के? *मुणि* मुनयः *जे* ये केचन । किं भावयन्ति? *सत्थु* शास्त्रम् । *परमप्पपयासु* परमात्मस्वभावप्रकाशत्वात्परमात्मप्रकाशसंज्ञम् । केन भावयन्ति ? *भावँ* समस्तरागाद्यपध्यानरहितशुद्धभावेन । किं कृत्वा पूर्वम् ? *जिणेविणु* जित्वा । कम् ? निर्मोहपरमात्मतत्त्वाद्विलक्षणं मोहम् । कतिसंख्योपेतम् ? *सयलु* समस्तं निरवशेषं *जिय* हे जीवेति *ते* त एवंगुणविशिष्टास्तपोधनाः *बुज्झहिँ* बुध्यन्ति । कम्? *परमत्थु* परमार्थशब्दवाच्यं चिदानन्दैकस्वभावं परमात्मानमिति भावार्थः ॥२०४॥**

.....

आगे तीन दोहों में परमात्मप्रकाश की भावना में लीन पुरुषों के फल को दिखाते हुए व्याख्यान करते हैं—

'परम-आत्म-प्रकाश' नामक शास्त्र भाते भाव से ।
वे जीव जय पा मोह पर परमार्थ को हैं जानते ॥२०४॥

दोहार्थ— जो मुनि 'परमात्मप्रकाश' नामक शास्त्र की भावपूर्वक भावना करते हैं; हे जीव ! वे सम्पूर्ण मोह को जीतकर परमार्थ को जानते हैं ।

टीकार्थ— ***जे मुनि*** जो मुनि ***भावँ*** भावपूर्वक इस ***परमप्पपयासु सत्थु*** परमात्मप्रकाश नामक शास्त्र का ***भावहिँ*** चिंतवन करते हैं, सदैव इसी का अभ्यास करते हैं; ***जिय*** हे जीव ! ***ते सयलु मोहु*** वे समस्त मोह को ***जिणेविणु*** जीतकर ***परमत्थु*** परमतत्त्व को ***बुज्झहिँ*** जानते हैं ।

जो कोई सब परिग्रह के त्यागी साधु परमात्मस्वभाव के प्रकाशक इस परमात्मप्रकाश नामक ग्रन्थ का, समस्त रागादि खोटे ध्यानरहित शुद्धभाव से निरन्तर विचार करते हैं, वे निर्मोह परमात्मतत्त्व से विपरीत मोहनामक कर्म की समस्त प्रकृतियों को मूल से उखाड़ देते हैं, मिथ्यात्व-रागादिकों को जीतकर निर्मोह निराकुल चिदानंद स्वभावमय परमात्मा को अच्छी तरह जानते हैं ॥२०४॥

सत्थं समधिदव्वं — शास्त्रों को अच्छी तरह समझना चाहिए ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥२०५-३२८॥

अण्णु वि भत्तिए जे मुणहिँ इहु परमप्प-पयासु ।
लोयालोय-पयासयरु पावहिँ ते वि पयासु ॥

अन्यदपि भक्त्या ये जानन्ति इमं परमात्मप्रकाशम् ।
लोकालोकप्रकाशकरं प्राप्नुवन्ति तेऽपि प्रकाशम् ॥२०५॥

***अण्णु वि* इत्यादि—*अण्णु वि* अन्यदपि विशेषफलं कथ्यते । *भत्तिए जे मुणहिँ* भक्त्या ये मन्यन्ते जानन्ति । कम् ? *परमप्पपयासु* इमं प्रत्यक्षीभूतं परमात्मप्रकाशग्रन्थमर्थतस्तुपरमात्मप्रकाशशब्दवाच्यं परमात्मतत्त्वं *पावहिँ* प्राप्नुवन्ति *ते वि* तेऽपि । कम्? *पयासु* प्रकाशशब्दवाच्यं केवलज्ञानं तदाधारपरमात्मानं वा । कथंभूतं परमात्मप्रकाशम्? *लोयालोयपयासयरु* अनन्तगुणपर्यायसहितत्रिकालविषयलोकालोकप्रकाशकमिति तात्पर्यम् ॥२०५॥**

.....

आगे परमात्मप्रकाश के अभ्यास का और भी फल कहते हैं —

जो जानते नित भक्ति से इस परम-आत्म-प्रकाश को ।
वे प्राप्त करते लोकालोक प्रकाशकर प्रकाश को ॥२०५॥

दोहार्थ— जो भक्ति पूर्वक इस 'परमात्मप्रकाश' को जानते हैं वे भी लोकालोक-प्रकाशकर प्रकाश प्राप्त करते हैं ।

टीकार्थ— ***अण्णु वि*** और भी कहते हैं, ***जे*** जो कोई भव्यजीव ***भत्तिए*** भक्ति से ***इहु परमप्पपयासु*** इस परमात्मप्रकाश शास्त्र को ***मुणहिँ*** पढ़ें, सुनें, इसका अर्थ जानें; ***ते वि*** वे भी ***लोयालोयपयासयरु*** लोकालोक को प्रकाशित करने वाले ***पयासु*** केवलज्ञान तथा उसके आधारभूत परमात्मतत्त्व को शीघ्र ही ***पावहिँ*** पा सकेंगे ।

अर्थात् परमात्मप्रकाश नाम परमात्मतत्त्व का भी है, और इस ग्रन्थ का भी है; इस परमात्मप्रकाश ग्रन्थ को पढ़ने वाले दोनों को ही पावेंगे । प्रकाश केवलज्ञान का भी नाम है, उसका आधार जो शुद्ध परमात्मा, अनंत गुण-पर्याय सहित तीनकाल को जानने वाला लोकालोक का प्रकाशक ऐसा आत्मद्रव्य, उसे तुरंत ही पावेंगे॥२०५॥

जं केवलं तिणाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥ —*प्रवचनसार, गाथा ६०*

जो केवलज्ञान है, वही सुख है, वही परिणाम है; क्योंकि उनके घातिकर्म क्षय को प्राप्त हुए हैं, अतः उन्हें खेद नहीं कहा गया है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥२०६-३२९॥

जे परमप्पपयासयहँ अणुदिणु णाउ लयंति ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तहँ तिहुयणणाह हवंति ॥

ये परमात्मप्रकाशस्य अनुदिनं नाम गृह्णन्ति ।
त्रुट्यति मोहः झटिति तेषां त्रिभुवननाथा भवन्ति ॥२०५॥

लयंति गृह्णन्ति *जे* ये विवेकिनः *णाउ* नाम । कस्य ? *परमप्पपयासयहँ* व्यवहारेण परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपस्य परमात्मपदार्थस्य । कथम् ? *अणुदिणु* अनवरतम् । तेषां किं फलं भवति ? *तुट्टइ* नश्यति । कोऽसौ ? *मोहु* निर्मोहात्मद्रव्याद्विलक्षणो मोहः *तडत्ति* झटिति *तहँ* तेषाम् । न केवलं मोहो नश्यति *तिहुयणणाह हवंति* तेन पूर्वोक्तेन निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वभावनाफलेन पूर्वं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषं लब्ध्वा पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा च केवलज्ञानमुत्पाद्य त्रिभुवननाथा भवन्तीति भावार्थः ॥२०५॥

एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशभावनाफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण पञ्चमं स्थलं गतम् ।

आगे परमात्मप्रकाश को पढ़ने का और भी फल कहते हैं—

इस परम-आत्म-प्रकाश का ही नित्य लेते नाम जो ।
तो मोह टूटे शीघ्र उनका वे त्रिलोकीनाथ हों ॥२०६॥

दोहार्थ— जो इस 'परमात्मप्रकाश' का नित्य नाम लेते हैं, उनका मोह शीघ्र नष्ट हो जाता है; और वे त्रिभुवननाथ हो जाते हैं ।

टीकार्थ— ***जे*** जो कोई भव्यजीव व्यवहारनय से ***परमप्पपयासयहँ*** परमात्मा का प्रकाश करने वाले इस ग्रन्थ का तथा निश्चयनय से केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित परमात्मपदार्थ का ***अणुदिणु*** सदैव ***णाउ लयंति*** नाम लेते हैं, सदा उसी का स्मरण करते हैं; ***तहँ*** उनका ***मोहु*** निर्मोह आत्मद्रव्य से विलक्षण मोह नामक कर्म ***तडत्ति तुट्टइ*** शीघ्र ही टूट जाता है, और वे ***तिहुयणणाह हंवति*** शुद्धात्मतत्त्व की भावना के फल से पहले देवेंद्र, चक्रवर्त्यादि की महान विभूति पाकर, बाद में चक्रवर्तीपद को छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करके केवलज्ञान को उत्पन्न कर तीन भुवन के नाथ होते हैं; यह सारांश है ॥२०६॥

इसप्रकार चौबीस दोहों के महास्थल में परमात्मप्रकाश की भावना के फल-कथन की मुख्यता से तीन दोहों में पाँचवाँ अन्तरस्थल कहा ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यो योऽसौ परमात्मा तदाराधकपुरुषलक्षणज्ञापनार्थं सूत्रत्रयेण व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

॥२०७-३३०॥

जे भवदुक्खहँ बीहिया पउ इच्छहिँ णिव्वाणु ।
इह परमप्पपयासयहँ ते पर जोग्ग वियाणु ॥

ये भवदुःखेभ्यः भीताः पदं इच्छन्ति निर्वाणम् ।
इह परमात्मप्रकाशकस्य ते परं योग्या विजानीहि ॥२०७॥

ते पर त एव *जोग्ग वियाणु* योग्या भवन्तीति विजानीहि । कस्य ? इह *परमप्पपयासयहँ* व्यवहारेणास्य परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थस्य, परमार्थेन तु परमात्मप्रकाश-शब्दवाच्यस्य निर्दोषिपरमात्मनः । ते के ? *जे बीहिया* ये भीताः । केषाम् ? *भवदुक्खहँ* रागादिविकल्परहितपरमाह्लादरूपशुद्धात्मभावनोत्थपारमार्थिकसुखविलक्षणानां नारकादिभव-दुःखानाम् । पुनरपि किं कुर्वन्ति ? *जे इच्छहिँ* ये इच्छन्ति । किम्? *पउ* पदं स्थानम्। *णिव्वाणु* निर्वृतिगतपरमात्माधारभूतं निर्वाणशब्दवाच्यं मुक्तिस्थानमित्यभिप्रायः ॥२०७॥

आगे परमात्मप्रकाश शब्द से कहे गये प्रकाशरूप शुद्ध परमात्मा की आराधना करने वाले महापुरुषों के लक्षण जानने के लिये तीन दोहों में व्याख्यान करते हैं—

भयभीत जो भवदुःख से नित चाहते निर्वाण को ।
इस परम-आत्म-प्रकाश के भी योग्य जानो उन्हीं को ॥२०७॥

दोहार्थ— भवदुःखों से भयभीत जो मोक्ष पद चाहते हैं, वे ही इस 'परमात्मप्रकाश' के योग्य जानो ।

टीकार्थ— ***ते पर*** वे ही महापुरुष ***इह परमप्पपयासयहँ*** इस परमात्मप्रकाश ग्रंथ का अभ्यास करने के ***जोग्ग वियाणु*** योग्य जानो, ***जे*** जो ***भवदुक्खहँ*** चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों से ***बीहिया*** डर गये हैं, और ***णिव्वाणु पउ*** मोक्षपद को ***इच्छहिँ*** चाहते हैं ।

व्यवहारनय से परमात्मप्रकाश नामक ग्रंथ की और निश्चयनय से निर्दोष परमात्मतत्त्व की भावना के योग्य वे ही हैं, जो रागादि विकल्प रहित परम आनंदरूप शुद्धात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय अविनश्वर सुख से विपरीत, नरकादि संसार के दुःखों से डर गये हैं; जिनको चतुर्गति के भ्रमण का डर है, और जो सिद्धपरमेष्ठी के निवास मोक्षपद को चाहते हैं ॥२०७॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥२०८-३३१॥

जे परमप्पहँ भत्तियर विसय ण जेवि रमंति ।
ते परमप्पपयासयहँ मुणिवर जोग्ग हवंति ॥

ये परमात्मनो भक्तिपराः विषयान् न येऽपि रमन्ते ।
ते परमात्मप्रकाशकस्य मुनिवरा योग्या भवन्ति ॥२०८॥

हवंति भवन्ति ***जोग्ग*** योग्याः । के ते ? ***मुणिवर*** मुनिप्रधानाः । के ? ते ते पूर्वोक्ताः । कस्य योग्या भवन्ति ? ***परमप्पपयासयहँ*** व्यवहारेण परमात्मप्रकाशसंज्ञग्रन्थस्य परमार्थेन तु परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वभावस्य । कथंभूता ये ? ***जे परमप्पहँ भत्तियर*** ये परमात्मनो भक्तिपराः । पुनरपि किं कुर्वन्ति ये ? ***विसय ण जे वि रमंति*** निर्विषयपरमात्मतत्त्वानुभूतिसमुत्पन्नातीन्द्रियपरमानन्दसुखरसास्वादतृप्ताः सन्तः सुलभान्मनोहरानपि विषयान्न रमन्त इत्यभिप्रायः ॥२०८॥

.....

आगे उन्हीं पुरुषों की और भी महिमा कहते हैं—

जो नहीं रमते विषय में हैं भक्तिरत परमात्म की ।
वे परम-आतम-प्रकाशक के योग्य मुनिवर नित्य ही ॥२०८॥

दोहार्थ— परमात्मा की भक्ति में लीन रहने वाले, जो विषयों में नहीं रमते हैं; वे मुनिवर परमात्मप्रकाशक के योग्य होते हैं ।

टीकार्थ— ***जे परमप्पहँ*** जो परमात्मा की ***भक्तियर*** भक्ति करने वाले ***जे विसय वि ण रमंति*** जो मुनि विषय-कषायों में नहीं रमते हैं, ***ते मुणिवर*** वे ही मुनीश्वर ***परमप्पपयासयहँ जोग्ग*** परमात्मप्रकाश का अभ्यास करने योग्य ***हवंति*** हैं ।

व्यवहारनय से परमात्मप्रकाश नामक ग्रन्थ और निश्चयनय से निजशुद्धात्मस्वरूप परमात्मा की भक्ति में जो तत्पर हैं, वे विषय-कषाय रहित परमात्मतत्त्व की अनुभूति से उपार्जित किये अतीन्द्रिय परमानन्दसुख के रस-आस्वाद से तृप्त हुए विषयों में नहीं रमते हैं । जिनको मनोहर विषय आकर प्राप्त हुए हैं, तो भी वे उनमें नहीं रमते ॥२०८॥

णाणं णरस्स सारो — मनुष्य के लिए ज्ञान ही सार है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ—

॥२०९-३३२॥

णाणवियक्खणु सुद्धमणु जो जणु एहउ कोइ ।
सो परमप्पपयासयहँ जोग्गु भणंति जि जोइ ॥

ज्ञानविचक्षणः शुद्धमना यो जन ईदृशः कश्चिदपि ।
तं परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं भणन्ति ये योगिनः ॥२०९॥

भणंति **कथयन्ति** ***जि जोइ*** **ये परमयोगिनः । कं भणन्ति ?** ***जोग्गु*** **योग्यम्। कस्य ?** ***परमप्पपयासयहँ*** **व्यवहारनयेन परमात्मप्रकाशाभिधानशास्त्रस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रकाशकशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य । कं पुरुषं योग्यं भणन्ति ?** ***सो*** **तम्। तं कम् ?** ***जो जणु एहउ कोइ*** **यो जनः इत्थंभूतः कश्चित् । कथंभूतः ?** ***णाणवियक्खणु*** **स्वसंवेदनज्ञानविचक्षणः । पुनरपि कथंभूतः ?** ***सुद्धमणु*** **परमात्मानुभूतिविलक्षणरागद्वेषमोहस्वरूपसमस्तविकल्पजालपरिहारेण शुद्धात्मा इत्यभिप्रायः ॥२०९॥**

एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये परमाराधकपुरुषलक्षणकथनरूपेण सूत्रत्रयेण षष्ठमन्तरस्थलं गतम् ।

आगे यह कथन और भी करते हैं—

हैं विचक्षण जो ज्ञान से है शुद्धमन जिनका सदा ।
वे परम-आतम-प्रकाशक के योग्य योगीगण कहा ॥२०९॥

दोहार्थ— जो ज्ञानविचक्षण/बुद्धिमान, पवित्र मन युक्त है—ऐसा कोई भी प्राणी परमात्मप्रकाशक के योग्य है;—ऐसा योगी कहते हैं ।

टीकार्थ— ***जो जणु*** जो प्राणी ***णाणवियक्खणु*** स्वसंवेदनज्ञान से विचक्षण (बुद्धिमान) है, और ***सुद्धमणु*** जिनका मन परमात्मा की अनुभूति से विपरीत राग-द्वेष-मोहरूप समस्त विकल्प-जाल के त्याग से शुद्ध है, ***कोइ एहउ सो जि*** ऐसा कोई भी सत्पुरुष हो उसे, ***जोइ*** जो योगीश्वर हैं वे, ***परमप्पपयासयहँ*** परमात्मप्रकाश के ***जोग्गु भणंति*** आराधन-योग्य कहते हैं ।

व्यवहारनय से यह परमात्मप्रकाश नामक द्रव्यसूत्र और निश्चयनय से शुद्धात्मस्वरूप नामक भावसूत्र के आराधन को वे ही पुरुष योग्य हैं, जो आत्मज्ञान के प्रभाव से महा प्रवीण हैं, और जिनके मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि मल से रहित शुद्ध भाव हैं, ऐसे पुरुषों के सिवाय दूसरा कोई भी परमात्मप्रकाश के आराधन-योग्य नहीं है ॥२०९॥

इसप्रकार चौबीस दोहों के महास्थल में आराधक पुरुष के लक्षण तीन दोहों में कहकर छठवाँ अंतरस्थल समाप्त हुआ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ शास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं तदनन्तरमौद्धत्यपरिहारेण च सूत्रद्वयपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तद्यथा—

॥२१०-३३३॥

लक्खण छंदविवज्जियउ एहु परमप्पपयासु ।
कुणइ सुहावइँ भावियउ चउगइदुक्खविणासु ॥

लक्षणछन्दोविवर्जितः एष परमात्मप्रकाशः ।
करोति सुभावेन भावितः चतुर्गतिदुःखविनाशम् ॥२१०॥

लक्खण इत्यादि—*लक्खणछंदविवज्जियउ* लक्षणछन्दोविवर्जितोऽयम् । अयं कः ? *परमप्पपयासु* एष परमात्मप्रकाशः । एवंगुणविशिष्टोऽयं किं करोति ? *कुणइ* करोति । कम् ? *चउगइदुक्खविणासु* चतुर्गतिदुःखविनाशम् । कथंभूतः सन् ? *भावियउ* भावितः । केन ? *सुहावइँ* शुद्धभावेनेति ।

तथाहि—यद्यप्ययं परमात्मप्रकाशग्रन्थः शास्त्रक्रमव्यवहारेण दोहकछन्दसा प्राकृतलक्षणेन च युक्तः, तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यशुद्धात्मस्वरूपापेक्षया लक्षणछन्दोविवर्जितः । एवंभूतः सन्नयं किं करोति ? शुद्धभावनया भावितः सन् शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्परहितपरमानन्दैकलक्षणसुखविपरीतानां चतुर्गतिदुःखानां विनाशं करोतीति भावार्थः ॥२१०॥

.....

आगे शास्त्र के फल-कथन की मुख्यता से एक दोहा और उद्धतपने के त्याग की मुख्यता से दो दोहे—इसप्रकार तीन दोहों में व्याख्यान करते हैं—

यह परम-आत्म-प्रकाश लक्षण छंद रहित सुभाव से ।
यदि भायगा तो नष्ट होंगे चार गति दुख उसी के ॥२१०॥

दोहार्थ— सुभावपूर्वक भाया गया, लक्षण-छंद से रहित यह 'परमात्मप्रकाश' चार गति के दुःखों का विनाश करता है ।

टीकार्थ— ***एहु परमप्पपयासु*** यह परमात्मप्रकाश ***सुहावइँ भावियउ*** शुद्ध भावों से भाया हुआ ***चउगइदुक्खविणासु*** चारों गति के दुखों का विनाश ***कुणइ*** करता है । जो परमात्मप्रकाश ***लक्खणछंदविवज्जियउ*** यद्यपि व्यवहारनय से प्राकृतरूप दोहा छंदों से सहित है, और अनेक लक्षणों से सहित है, तो भी निश्चयनय से परमात्मप्रकाशमय जो शुद्धात्मस्वरूप, वह लक्षण और छंदों से रहित है ।

शुभ लक्षण और प्रबन्ध—ये दोनों परमात्मा में नहीं हैं । परमात्मा शुभाशुभ लक्षणों से रहित है, और जिसके कोई प्रबंध नहीं, अनंतरूप है, उपयोगलक्षणमय परमानंद लक्षणस्वरूप है; तुम भावपूर्वक उसका आराधन करो, वही चतुर्गति के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दु:खों का नाश करने वाला है । शुद्ध परमात्मा तो व्यवहार लक्षण और श्रुतरूप छंदों से रहित है, इनसे भिन्न निज लक्षणमयी है; और यह परमात्मप्रकाश नामक अध्यात्मग्रन्थ यद्यपि दोहे के छंदरूप है, और प्राकृत लक्षणरूप है, परन्तु इसमें स्वसंवेदनज्ञान की मुख्यता है, छंद-अलंकारादि की मुख्यता नहीं है ॥२१०॥

अथ श्रीयोगीन्द्रदेव औद्धत्यं परिहरति—

॥२११-३३४॥

इत्थु ण लेवउ पंडियहिँ गुण-दोसु वि पुणरुत्तु ।
भट्ट-पभायर-कारणइँ मइँ पुणु पुणु वि पउत्तु ॥

अत्र न ग्राह्याः पण्डितैः गुणो दोषोऽपि पुनरुक्तः ।
भट्टप्रभाकरकारणेन मया पुनः पुनरपि प्रोक्तम् ॥२११॥

इत्थु **इत्यादि—*इत्थु* अत्र ग्रन्थे *ण लेवउ* न ग्राह्याः । कैः ? *पंडियहिँ* पण्डितैर्विवेकिभिः । कोऽसौ ? *गुणदोसु वि* गुणो दोषोऽपि । कथंभूतः ? *पुणरुत्तु* पुनरुक्तः । कस्मान्न ग्राह्याः ? यतः *मइँ पुणु पुणु वि पउत्तु* मया पुनः पुनः प्रोक्तम्। किं तत् ? वीतरागपरमात्मतत्त्वम् ? किमर्थम् ? *भट्टपभायरकारणइँ* प्रभाकरभट्टनिमित्तेनेति।**

अत्र भावनाग्रन्थे समाधिशतकादिवत् पुनरुक्तदूषणं नास्ति इति । तदपि कस्मादिति चेत् ? अर्थं पुनःपुनश्चिन्तनलक्षणमिति वचनादिति मत्वा प्रभाकरभट्टव्याजेन समस्तजनानां सुखबोधार्थं बहिरन्तःपरमात्मभेदेन तु त्रिविधात्मतत्त्वं बहुधाप्युक्तमिति भावार्थः ॥२११॥

आगे श्रीयोगीन्दुदेव उद्धतपने का त्याग दिखलाते हैं—

विद्वान ना लें यहाँ से गुण दोष पुनरुक्ति सभी ।
मैंने प्रभाकर भट्ट हेतु बारबार कहा वही ॥२११॥

दोहार्थ— मैंने प्रभाकरभट्ट के लिए बारंबार वही विषय कहा है, अत: यहाँ पंडितजन पुनरुक्ति गुण-दोष ग्रहण नहीं करें ।

टीकार्थ— ***इत्थु*** श्रीयोगीन्दुदेव कहते हैं, अहो भव्यजीवो! इस ग्रन्थ में ***पुणरुत्तु*** पुनरुक्ति का ***गुणदोसु*** दोष भी ***पंडियहिँ*** पंडितजन ***लेवउ*** ग्रहण नहीं करें, और कवि-कला का गुण भी न लें; क्योंकि ***मइँ*** मैंने ***भट्टपभायरकारणइँ*** प्रभाकरभट्ट के संबोधन के लिये ***पुणुपुणुवि पउत्तु*** वीतराग परमानंदरूप परमात्मतत्त्व का कथन बार-बार किया है ।

इस शुद्धात्म-भावना के ग्रन्थ में पुनरुक्त का दोष नहीं लगता । समाधितन्त्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आदि ग्रंथ के समान इस ग्रन्थ में भी बार-बार शुद्ध स्वरूप का ही कथन किया है, बारम्बार उसी अर्थ का चिंतवन है, ऐसा जानकर इसके रहस्य (अभिप्राय) का बार-बार चिंतवन करना । प्रभाकरभट्ट की मुख्यता से समस्त जीवों को सुख से प्रतिबोध होने के लिये इस ग्रन्थ में बार-बार बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा का कथन किया है, ऐसा जानना ॥२११॥

अथ—

॥२१२-३३५॥

जं मइँ किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु ।
तं वरणाणि खमंतु महु जे बुज्झहिँ परमत्थु ॥

यन्मया किमपि विजल्पितं युक्तायुक्तमपि अत्र ।
तद् वरज्ञानिनः क्षाम्यन्तु मम ये बुध्यन्ते परमार्थम् ॥२१२॥

जं इत्यादि— जँ मइँ किं पि विजंपियउ **यन्मया किमपि जल्पितम् । किं जल्पितं?** ***जुत्ताजुत्तु वि*** **शब्दविषये अर्थविषये वा युक्तायुक्तमपि** ***इत्थु*** **अत्र परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थे** ***खमंतु*** **क्षमां कुर्वन्तु । किं तत् ? पूर्वोक्तदूषणम् । के ?** ***वरणाणि*** **वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानयुक्ता विशिष्टज्ञानिनः । कस्य ?** ***महु*** **मम** ***योगीन्द्रदेवाभिधानस्य।*** **कथंभूता ये ज्ञानिनः ? जे** ***बुज्झहिँ*** **ये केन बुध्यन्ते जानन्ति । कम् ?** ***परमत्थु*** **रागादिदोषरहितमनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यसहितं च परमार्थशब्दवाच्यं शुद्धात्मानमिति भावार्थः॥२१२॥**

इति सूत्रत्रयेण सप्तममन्तरस्थलं गतम् ।
एवं सप्तभिरन्तरस्थलैश्चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितं महास्थलं समाप्तम् ।

.....

आगे श्रीयोगीन्दुदेव ज्ञानीजनों से प्रार्थना करते हैं कि मैंने यदि किसी जगह छंद-अलंकारादि में युक्त-अयुक्त कहा हो, तो उसके लिए परमार्थ को जानने वाले पंडितजन मुझ पर क्षमा करें—

यहाँ युक्तायुक्त जो कुछ भी कहा मैं बुद्धि से ।
उसके लिए परमार्थ ज्ञाता सुधी मुझे क्षमा करें ॥२१२॥

दोहार्थ— यहाँ यदि मैंने कुछ भी युक्तायुक्त कहा हो, तो श्रेष्ठ ज्ञान के धारक परमार्थज्ञाता जो उसे जानते हैं, वे मुझे क्षमा करें ।

टीकार्थ— ***इत्थु*** इस ग्रन्थ में ***जं*** यदि ***मइँ किं पि*** मैंने कुछ भी ***जुत्तौ-जुत्तु विजंपियउ*** युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा हो, ***तं*** तो उसे ***जे वरणाणि***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो महान ज्ञान के धारक ***परमत्थु*** परम अर्थ को ***बुज्झहिँ*** जानते हैं, वे पंडितजन ***महु खमंतु*** मेरे ऊपर क्षमा करें ।

मेरी छद्मस्थ की बुद्धि है; कदाचित् मैंने शब्द में, अर्थ में तथा छंद-अलंकार में अयुक्त कहा हो, तो वह मेरा दोष क्षमा करें, सुधार लें ; जो विवेकी परम अर्थ को अच्छी तरह जानते हैं, वे मुझ पर कृपा करें, मेरा दोष न लें । यह प्रार्थना योगीन्दुदेव ने महामुनियों से की । जो महामुनि अपने शुद्ध स्वरूप को अच्छी तरह अपने में जानते हैं । जो निजस्वरूप रागादि दोष रहित अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य से सहित है—ऐसे अपने स्वरूप को अपने में ही देखते हैं, जानते हैं, और अनुभवते हैं; वे ही ग्रंथ को सुनने-योग्य हैं, और सुधारने के योग्य हैं ॥२१२॥

इसप्रकार तीन दोहों से सातवाँ अंतरस्थल कहा ।

इसप्रकार चौबीस दोहों का महास्थल पूर्ण हुआ ।

अथैकवृत्तेन प्रोत्साहनार्थं पुनरपि फलं दर्शयति—

॥२१३-३३६॥

जं तत्तं णाण-रूवं परम-मुणि-गणा णिच्च झायंति चित्ते ।
जं तत्तं देह-चत्तं णिवसइ भुवणे सव्वदेहीण देहे ॥
जं तत्तं दिव्व-देहं तिहुवण-गुरुगं सिज्झए संतजीवे ।
तं तत्तं जस्स सुद्धं फुरइ णियमणे पावए सो हि सिद्धिं ॥

यत् तत्त्वं ज्ञानरूपं परममुनिगणा नित्यं ध्यायन्ति चित्ते ।
यत् तत्त्वं देहत्यक्तं निवसति भुवने सर्वदेहिनां देहे ॥
यत् तत्त्वं दिव्यदेहं त्रिभुवनगुरुकं सिध्यति शान्तजीवे ।
तत् तत्त्वं यस्य शुद्धं स्फुरति निजमनसि प्राप्नोति स हि सिद्धिम् ॥२१३॥

पावए सो प्राप्नोति स ***हि*** स्फुटम् । काम् ? ***सिद्धिं*** मुक्तिम् । यस्य किम्? ***जस्स णियमणे फुरइ*** यस्य निजमनसि स्फुरति प्रतिभाति । किं कर्मतापन्नम् ? ***तं तत्तं*** तत्तत्त्वम्। कथंभूतम् ? ***सुद्धं*** रागादिरहितम् । पुनरपि कथंभूतं यत् ? ***जं तत्तं णाणरूवं*** यदात्मतत्त्वं ज्ञानरूपम् । पुनरपि किंविशिष्टं यत् ? ***णिच्च झायंति*** नित्यं ध्यायन्ति । क्व ? ***चित्ते*** मनसि । के ध्यायन्ति ? ***परममुणिगणा*** परममुनिसमूहाः। पुनरपि किंविशिष्टं यत् ? ***जं तत्तं देहचत्तं*** यत्परमात्मतत्त्वं देहत्यक्तं देहाद्भिन्नम् । पुनरपि कथंभूतं यत् ? ***णिवसइ*** निवसति । क्व ? ***भुवणे सव्वदेहीण*** देहे त्रिभुवने सर्वदेहिनां संसारिणां देहे । पुनरपि कीदृशं यत् ? ***जं तत्तं दिव्वदेहं*** यत् शुद्धात्मतत्त्वं दिव्यदेहं दिव्यं केवलज्ञानादिशरीरम्। शरीरमिति कोऽर्थः ? स्वरूपम् । पुनश्च कीदृशं यत् ? ***तिहुवणगुरुगं*** अव्याबाधा-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नन्तसुखादिगुणेन त्रिभुवनादपि गुरुं पूज्यमिति त्रिभुवनगुरुकम्। पुनरपि किंरूपं यत् ? *सिज्झए* सिद्ध्यति निष्पत्तिं याति । क्व ? *संतजीवे* ख्यातिपूजालाभादिसमस्त-मनोरथविकल्पजालरहितत्वेन परमोपशान्तजीवस्वरूपे इत्यभिप्रायः ॥२१३॥

आगे एक स्त्रग्धरा नामक छंद (हिन्दी पद्य वीर छंद) द्वारा इस ग्रन्थ के पढ़ने का और भी फल कहते हैं—

ज्ञानरूप जिस आत्मतत्त्व का परम मुनिगण ध्यान करें ।
सतत चित्त तन विरहित है पर सब तनधारी के तन में ॥
विद्यमान केवलज्ञानादि दिव्य देहमय गुरु त्रिभुवन ।
संत जीव इसके आराधन से पाते हैं मुक्ति सदन ॥
जिसके शुद्ध मनो मंदिर में वह शुद्धातम नित रहता ।
वह सब दुःखों से विमुक्त हो सिद्ध स्व पद को नित पाता ॥२१३॥

छंदार्थ— जिस ज्ञानरूप तत्त्व का परममुनिगण नित्य मन में ध्यान करते हैं; जो तत्त्व देह से रहित होने पर भी लोक में सम्पूर्ण देहधारियों के देह में रहता है; जो तत्त्व दिव्य ज्ञानानन्द रूप देहमय, त्रिभुवन गुरु और शान्त जीव में सिद्ध होता है; वह शुद्ध तत्त्व जिसके निजमन में स्फुरायमान है, वही सिद्धि को प्राप्त करता है ।

टीकार्थ— ***तं*** वह ***तत्तं*** निज आत्मतत्त्व ***जस्स णियमणे*** जिसके मन में ***फुरइ*** प्रकाशमान हो जाता है, ***सो हि*** वह ही साधु ***सिद्धिं पावइ*** सिद्धि को पाता है । कैसा है, वह तत्त्व ? ***सुद्धं*** रागादि मल रहित है, और ***णाणरूवं*** ज्ञानरूप है, जिसे ***परममुणिगणा*** परममुनीश्वर ***णिच्च*** सदा ***चित्ते झायंति*** अपने चित्त में ध्याते हैं, ***जं तत्तं*** जो तत्त्व ***भुवणे*** इस लोक में ***सव्वदेहीण*** सब प्राणियों के ***देहे*** शरीर में ***णिवसइ*** विद्यमान है, और ***देहचत्तं*** स्वयं देह से रहित है, ***जं तत्तं*** जो तत्त्व ***दिव्वदेहं*** केवलज्ञान और आनंदरूप अनुपम देह को धारण करता है, ***तिहुवणगुरुगं*** तीन भुवन में श्रेष्ठ है, ***संत जेवि सिज्झइ*** जिसकी आराधनाकर शांतपरिणामी संतपुरुष सिद्धपद पाते हैं ।

ऐसा वह चैतन्यतत्त्व जिसके चित्त में प्रगट हुआ है, वही साधु सिद्धि को पाता है । अव्याबाध-अनंतसुख आदि गुणों से वह तत्त्व तीन लोक का गुरु है, संतपुरुषों के ही हृदय में वह तत्त्व सिद्ध होता है । कैसे हैं संत ? जो अपनी बड़ाई, अपनी प्रतिष्ठा और लाभादि समस्त मनोरथों और विकल्पजालों से रहित हैं, जिन्होंने अपना स्वरूप परमशांतभावरूप पा लिया है ॥२१३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अथ ग्रन्थस्यावसाने मङ्गलार्थमाशीर्वादरूपेण नमस्कारं करोति--

॥२१४-३३७॥

परमपयगयाणं भासओ दिव्व-काओ ।
मणसि मुणिवराणं मुक्खदो दिव्व-जोओ ॥
विसयसुहरयाणं दुल्लहो जो हु लोए ।
जयउ सिवसरूवो केवलो को वि बोहो ॥२१४॥

परमपदगतानां भासको दिव्यकायः ।
मनसि मुनिवराणां मोक्षदो दिव्ययोगः ॥
विषयसुखरतानां दुर्लभो यो हि लोके ।
जयतु शिवस्वरूपः केवलः कोऽपि बोधः ॥२१४॥

जयउ सर्वोत्कर्षेण वृद्धिं गच्छतु । **कोऽसौ ?** *दिव्वकाओ* परमौदारिकशरीराभिधान-दिव्यकायस्तदाधारो भगवान् । **कथंभूतः ?** *भासओ* दिवाकरसहस्रादप्यधिकतेजस्त्वाद्-भासकः प्रकाशकः । केषां कायः ? *परमपयगयाणं* परमानन्तज्ञानादिगुणास्पदं यदर्हत्पदं तत्र गतानाम्। न केवलं दिव्यकायो जयतु । *दिव्वजोओ* द्वितीयशुक्लध्यानाभिधानो वीतरागनि-र्विकल्पसमाधिरूपो दिव्ययोगः । कथंभूतः ? *मोक्खदो* मोक्षप्रदायकः । क्व जयतु ? *मणसि* मनसि। केषाम्? *मुणिवराणं* मुनिपुङ्गवानाम् । न केवलं योगो जयतु । *केवलो को वि बोहो* केवलज्ञानाभिधानः कोऽप्यपूर्वो बोधः । कथंभूतः ? सिवसरूवो शिवशब्दवाच्यं यदनन्तसुखं तत्स्वरूपः । पुनरपि कथंभूतः ? *दुल्लहो जो हु लोए* दुर्लभो दुष्प्राप्यः यः स्फुटम्। क्व? लोके । केषां दुर्लभः? *विसयसुहरयाणं* विषयसुखातीतपरमात्मभावनोत्पन्नपरमानन्दैकरूप-सुखास्वादरहितत्वेन पञ्चेन्द्रियविषयासक्तानामिति भावार्थः ॥२१४॥

आगे ग्रंथ के अन्तमंगल के लिये आशीर्वादरूप नमस्कार करते हैं—

जो परमपदगत प्रभु का नित दिव्य तन है दीप्तमय ।
जो मुनिवरों के मनों में है मोक्षदा दिव्ययोग वह ॥
जो विषय सुख रत जीव को दुर्लभ सदा है सुखमयी ।
वह दिव्य केवलज्ञान नित जयवन्त वर्तो शिवमयी ॥२१४॥

छंदार्थ— जो परमपद को प्राप्त जीवों का भासक दिव्यकाय मुनिवरों के मन में मोक्ष देने वाला दिव्य योगरूप है, लोक में विषयसुख में लीन जीवों के लिए जो दुर्लभ है, वह कोई शिवस्वरूप केवलबोध जयवन्त वर्तो ।

टीकार्थ— ***दिव्वकाओ*** जिसका ज्ञान-आनंदरूप शरीर है, अथवा ***परमपयगयाणं***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भासओ अरहंतपद को प्राप्त हुए जीवों का प्रकाशमान परमौदारिकशरीर है, ऐसा परमात्मतत्त्व ***जयतु*** सर्वोत्कर्षपने से वृद्धि को प्राप्त हो । जो परमौदारिक शरीर ऐसा है कि जिसका तेज हजारों सूर्यों से अधिक है, अर्थात् सकल प्रकाशी है। जो परमपद को प्राप्त हुए केवली हैं, उनको तो साक्षात् दिव्यकाय पुरुषाकार भासता है, ***मुणिवराणं*** और जो महामुनि हैं, उनके ***मणसि*** मन में ***दिव्वजोओ*** द्वितीय शुक्लध्यानरूप वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप भास रहा है, और ***मुक्खदो*** मोक्ष का देनेवाला है । ***केवलो को वि बोहो*** जिसका केवलज्ञान स्वभाव है, ऐसी अपूर्व ज्ञानज्योति ***सिवसरूवो*** सदा कल्याणरूप है । ***लोए*** लोक में ***विसयसुहरयाणं*** शिवस्वरूप अनन्त परमात्मा की भावना से उत्पन्न परमानन्द अतीन्द्रियसुख से विपरीत पाँच इंद्रियों के विषयों में जो आसक्त हैं, उनको ***जो हु*** जो परमात्मतत्त्व ***दुल्लहो*** महा दुर्लभ है ।

इस लोक में विषयी जीव जिसको नहीं पा सकते, ऐसा वह परमात्मतत्त्व जयवंत हो ।।२१४।।

इति *'परु जाणंतु वि परममुणि परसंसग्गु चयंति'* इत्याद्येकाशीतिसूत्रपर्यन्तं सामान्यभेदभावना, तदनन्तरं *'परमसमाहि'* इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यन्तं महास्थलं, तदनन्तरं वृत्तद्वयं चेति सर्वसमुदायेन सप्ताधिकसूत्रशतेन द्वितीयमहाधिकारे चूलिका गतेति ।

एवमत्र परमात्मप्रकाशाभिधानग्रन्थेन प्रथमतस्तावत् *'जे जाया झाणग्गियए'* इत्यादि त्रयोविंशत्यधिकसूत्रशतेन प्रक्षेपकत्रयसहितेन प्रथममहाधिकारो गतः । तदनन्तरं चतुर्दशाधिकशतद्वयेन प्रक्षेपकपञ्चकसहितेन द्वितीयोऽपि महाधिकारो गतः । एवं पञ्चाधिकचत्वारिंशत्सहितशत-त्रयप्रमितश्रीयोगीन्द्रदेवविरचितदोहकसूत्राणां विवरणभूता परमात्मप्रकाशवृत्तिः समाप्ता ।

(इसप्रकार *'परु जाणंतु वि परममुणि परसंसग्गु चयंति'* इत्यादि इक्यासी दोहा पर्यन्त सामान्य भेदभावना, उसके बाद *'परमसमाहि'* इत्यादि चौबीस दोहापर्यन्त महास्थल, तत्पश्चात् दो वृत्त—इसप्रकार सर्वसमुदाय रूप से एक सौ सात दोहा सूत्रों द्वारा द्वितीय महाधिकार में चूलिका पूर्ण हुई ।)

इसप्रकार परमात्मप्रकाश ग्रन्थ में पहले *'जे जाया झाणग्गियए'* इत्यादि एक सौ तेबीस दोहे, तीन प्रक्षेपकों सहित ऐसे एक सौ छब्बीस दोहों में पहला अधिकार समाप्त हुआ । एक सौ चौदह दोहे तथा पाँच प्रक्षेपक सहित एक सौ उन्नीस दोहों में दूसरा महाधिकार कहा । और *'परु जाणंतु वि'* इत्यादि एक सौ सात दोहों में तीसरा महाधिकार कहा । प्रक्षेपक और अन्त के दो छन्द सहित तीन सौ पैंतालीस दोहों में परमात्मप्रकाश का व्याख्यान ब्रह्मदेवकृत टीका सहित पूर्ण हुआ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(टीकाकारस्यान्तिमकथनम्)

अत्र ग्रन्थे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृतः वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थम् । किं च परिभाषासूत्रं पदयोः संधिर्विवक्षितो न समासान्तरं तयोः तेन कारणेन लिङ्गवचनक्रियाकारकसंधिसमासविशेष्यविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणमत्र न ग्राह्यां विद्वद्भिरिति ।

इदं परमात्मप्रकाशवृत्तेर्व्याख्यानं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं भव्यजनैः ? सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं, निजनिरञ्जनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहं, रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभपञ्चेन्द्रियविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितशून्योऽहं, जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन; तथा सर्वेऽपि जीवाः; इति निरन्तरं भावना कर्तव्येति ॥ ग्रन्थसंख्या ॥४०००॥

पंडवरामहिँ णरवरहिँ पुज्जिउ भत्तिभरेण ।
सिरिसासणु जिणभासियउ णंदउ सुक्खसएहिँ ॥
पाण्डवरामैः नरवरैः पूजितं भक्तिभरेण ।
श्रीशासनं जिनभाषितं नन्दतु सुखशतैः ॥

॥ इति श्रीब्रह्मदेवविरचिता परमात्मप्रकाशवृत्तिः समाप्ता ॥

टीकाकार का अन्तिम कथन

इस ग्रंथ में बहुधा पदों की संधि नहीं की, और सुख (सरलता) से समझने के लिये वाक्य भी पृथक्-पृथक् रक्खे गये हैं, समझने के लिये कठिन संस्कृत नहीं रक्खी; इसलिये यहाँ लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संधि, समास, विशेष्य, विशेषण के दोष न लेना । जो पंडितजन विशेषज्ञ हैं, वे ऐसा समझें कि यह ग्रन्थ बालबुद्धियों को समझाने के लिये सुगम किया है ।

इस परमात्मप्रकाश की टीका का व्याख्यान जानकर भव्यजीवों को ऐसा विचार करना चाहिये कि मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंद एक स्वभाव हूँ, निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ; निजानंद निरंजन शुद्धात्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयमयी निर्विकल्पसमाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप आनंदानुभूतिमात्र स्वसंवेदनज्ञान से गम्य हूँ, अन्य उपायों से गम्य नहीं हूँ । निर्विकल्प निजानंद ज्ञान से ही मेरी प्राप्ति है, भरितावस्थ हूँ, परिपूर्ण हूँ । राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँचों इन्द्रियों के विषय-व्यापार, मन-वचन-काय के व्यापार,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म, ख्याति-पूजा-लाभ, देखे-सुने और अनुभवे भोगों की वांछारूप निदानबंध, माया, मिथ्या ये तीन शल्यें—इत्यादि सभी विभाव परिणामों से रहित, सब प्रपंचों से रहित मैं हूँ । तीन लोक, तीन काल में, मन-वचन-काय से, कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध निश्चय से मैं आत्माराम ऐसा हूँ । तथा सभी जीव ऐसे हैं । —ऐसी सदैव भावना करना चाहिये ।

अब टीकाकार के अंत के श्लोक का अर्थ कहते हैं—''युधिष्ठिर राजा को आदि लेकर पाँच भाई पांडव और श्रीरामचन्द्र तथा अन्य भी विवेकी राजा हैं, उनसे अत्यन्त भक्तिपूर्वक यह जिनशासन पूजनीक है, जिसको सुर-नाग भी पूजते हैं, ऐसा श्रीजिनभाषित शासन सैकड़ों सुखों सहित वृद्धि को प्राप्त हो ।''

इस परमात्मप्रकाश ग्रंथ का व्याख्यान प्रभाकरभट्ट को सम्बोधन देने के लिये श्रीयोगीन्दुदेव ने किया, उस पर श्रीब्रह्मदेव ने संस्कृतटीका की । श्रीयोगीन्दुदेव ने प्रभाकरभट्ट को समझाने के लिये तीन सौ पैंतालीस दोहे रचे, उस पर श्रीब्रह्मदेव ने संस्कृत टीका पाँच हजार चार श्लोक प्रमाण की । और उस पर पण्डित श्रीदौलतरामजी ने भाषावचनिका के श्लोक अड़सठिसौ नब्बै संख्या प्रमाण बनाये।

इसप्रकार श्री योगीन्दुदेवविरचित परमात्मप्रकाश की पण्डित श्रीदौलतरामकृत भाषाटीका समाप्त हुई ।

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ॥
णत्थि मम धम्मआदि बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ॥

—समयसार, गाथा ३६-३७

मोह मेरा कोई भी नहीं हैं, मैं तो एक उपयोगमय ही हूँ—ऐसा जो जानता है, वह मोह के प्रति निर्मम है;—ऐसा समय के जानकार कहते हैं ।

ये धर्मादि द्रव्य मेरे कोई भी नहीं हैं, मैं तो एक उपयोगमय ही हूँ । — ऐसा जो जानता है, वह धर्मादि के प्रति निर्मम है; —ऐसा समय के जानकार कहते हैं ।

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥

—समयसार, गाथा २७७

वास्तव में मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है तथा मेरा आत्मा ही संवर और योग है ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

परमात्मप्रकाश-दोहों की वर्णानुक्रमणिका

दोहा	अ०/दोहा	पृष्ठ
अ		
अच्छइ जित्तिउ	२/३८	२३७
अट्ठ वि कम्मइं	१/५५	७७
अट्ठहं कम्महं	१/७५	१०८
अणु जइ जगहं	२/६	१७६
अण्णु जि तित्थु म	१/९५	१३१
अण्णु जि दंसणु	१/९४	१३०
अण्णु वि दोसु सत्तु	२/४५	२४७
अण्णु वि दोसु वियलु	२/४६	२४८
अण्णु वि बंधु वि	२/२०२	४५३
अण्णु वि भत्तिए	२/२०५	४५७
अत्थि ण उब्भउ	१/६९	१०२
अत्थि ण पुण्णु	१/२१	३५
अद्धुम्मीलियलोयणिहिँ	२/१६९	४१७
अप्पउ मण्णइ जो	२/९३	३१५
अप्पसहावि	९/१००	१४०
अप्पहँ जे वि	१/१०६	१४६
अप्पहँ णाणु	२/१५५	३९९
अप्पा अप्पु जि	१/६७	९८
अप्पा कम्मविवज्जियउ	१/५२	७२
अप्पा गुणमउ	२/३३	२२७
अप्पा गुरु णवि	१/८९	१२४
अप्पा गोरउ किण्हु	१/८६	१२१
अप्पा जणियउ केण	१/५६	७९
अप्पा जोइय	१/५१	७२
अप्पा झायहि	१/९७	१३५
अप्पा णाणहं गम्मु	१/१०७	१४७
अप्पा णाणु मुणेहि	१/१०५	१४५
अप्पा णियमणि	१/९८	१३७
अप्पा तिविहु	१/१२	२६
अप्पादंसणि	१/११८	१६१
अप्पा दंसणु केवलु	१/९६	१३३
अप्पा परहँ ण	२/१५७	४०१
अप्पा पंगुह	१/६६	९७
अप्पा पंडिउ मुक्खु	१/९१	१२६
अप्पा बंभणु वइसु	१/८७	१२२
अप्पा बुज्झहि	१/५८	८४
अप्पा माणुसु देउ	१/९०	१२५
अप्पा मिल्लिवि	२/७७	२९४
अप्पा मिल्लिवि णाणमउ	२/७८	२९५
अप्पा मेल्लिवि	१/७४	४०२
अप्पा मेल्लिवि णाणमउ	२/१५८	१०७
अप्पायत्तउ जं जि	२/१५४	३९७
अप्पा लद्धउ	१/१५	३१
अप्पा वंदउ	१/८८	१२३
अप्पा संजमु सीलु	१/९३	१२८
अप्पिं अप्पु मुणंतु	१/७६	१०९
अप्पु पयासइ	१/१०१	१४१
अप्पु वि परु वि	१/१०३	१४३
अमणु अणिंदिउ	१/३१	४९
अरि जिय जिणपइ	२/१३४	३७२
अवगुणगहणइँ	२/१८६	४३४
अंगइँ सुहुमइँ	२/१०३	३२८
इ		
इत्थु ण लेवउ पंडियहिँ	२/२११	४६३
इहु तणु जीवउ	२/१८२	४२९
इहु सिवसंगमु	२/१४२	३८३

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहा	अ०/दोहा	पृष्ठ
उ		
उत्तमु सुक्खु ण इच्छहिँ	२/५	१७५
उत्तमु सुक्खु ण सयलु	२/७	१७९
उदयहँ आणिवि कम्मु	२/१८३	४३०
उव्वलि चोप्पडि	२/१४८	३९०
उव्वस वसिया जो	२/१६०	४०४
ए		
एक्कु करे मण बिण्णि	२/१०७	३३३
एक्कु जि मेल्लिवि	२/१३१	३६८
ए पंचिंदियकरहडा	१/१३६	३७५
एयइं दव्वइं	२/२६	२१४
एयहिं जुत्तउ	१/२५	४२
एहु जु अप्पा	२/१७४	४२३
एहु ववहारें	१/६०	८८
व		
कम्मइं दिढघण	१/७८	११२
कम्मणिबद्धु विजोइया	१/३६	५४
कम्मणिबद्धु वि होइ	१/४९	६९
कम्महं केरा भावडा	१/७३	१०६
कम्महिं जासु	१/४८	६८
कम्मु पुरक्किउ सो	२/३९	२३८
करि सिवसंगमु	२/१४६	३८८
काऊण णग्गरूवं	२/२❋	३४०
कारणविरहिउ	१/५४	७५
कालु अणाइ अणाइ	२/१४३	३८४
कालु मुणिज्जहि	२/२१	२०३
कालु लहेविणु	१/८५	११९
कि वि भणंति	१/५०	७१
केण वि अप्पउ	२/९०	३११
केवलणाणिँ अणवरउ	२/१९६	४४६
केवलदंसणणाणमउ	१/२४	४१
केवलदंसणणाणमय	१/६	१६
केवलदंसणु णाणु	२/१९९	४५०
ग		
गउ संसारि	१/९	२१
गयणि अणंति	१/३८	५६
गंथहँ उप्परि	२/४९	२५२
घ		
घरवासउ मा जाणि	२/१४४	३८६
घोरु करंतु वि	२/१९१	४४०
घोरु ण चिण्णउ	२/१६७	४१३
च		
चउगइदुक्खहं	१/१०	२३
चट्टहिँ पट्टहिँ	२/८९	३०९
चेल्लाचेल्लीपुत्थियहिँ	२/८८	३०८
छ		
छिज्जउ भिज्जउ	१/७२	१०५
ज		
जइ इच्छसि भो	२/३❋	३४२
जइ जिय उत्तमु	२/४	१७४
जइ णिविसद्धु	१/११४	१५६
जणणी जणणु वि	१/८३	११७
जम्मणमरणविवज्जिउ	२/२०३	४५४
जलसिंचणु पयणिद्द लणु	२/११६	३४९
जसु अब्भंतरि	१/४१	५९
जसु परमत्थें	१/४६	६५
जसु हरिणच्छी	१/१२१	१६४
जहिं भावइ तहिं	२/७०	२८५
जहिं मइ तहिं	१/११२	१५४
जं जह थक्कउ	२/२९	२२१
जं णियदव्वहँ	१/११३	१५५
जं णियबोहहँ	२/७५	२९१
जं तत्तं णाणरूवं	२/२१३	४६५
जं बोल्लइ ववहारु	२/१४	१९१
जं मइँ किं पि विजंपियउ	२/२१२	४६४

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहा	अ०/दोहा	पृष्ठ	दोहा	अ०/दोहा	पृष्ठ
जं मुणि लहइ	१/११७	१६०	जे णियदंसण	२/५९	२६९
जं सिवदंसणि	१/११६	१५८	जे णियबोह-	१/५३	७४
जाणवि मण्णवि	२/३०	२२२	जे दिट्ठा सूरुग्गमणि	२/१३२	३६९
जा णिसि सयलहँ	२/१❋	२४९	जें दिट्ठें तुट्टंति	१/२७	४४
जामु सुहासुहभावडा	२/१९४	४४४	जे परमप्पपयासहँ	२/२०६	४५८
जावइँ णाणिउ	२/४१	२४०	जे परमप्पपयासु	२/२०४	४५६
जासु ण कोहु ण	१/२०	३५	जे परमप्पहँ भत्तियर	२/२०८	४६०
जासु ण धारणु	१/२२	३८	जे परमप्पु णियंति	१/७	१७
जासु ण वण्णु ण	१/१९	३५	जे भवदुक्खहँ बीहिया	२/२०७	४५९
जिउ मिच्छत्तें	१/७९	११३	जेम सहविँ णिम्मलउ	२/१७७	४२६
जिण्णि वत्थिँ जेम	२/१७९	४२७	जे रयणत्तउ	२/३२	२२६
जित्थु ण इंदिय	१/२८	४५	जे सरसिं संतुट्ठ-	२/४❋	३४३
जिय अणुमित्तु वि	२/१२०	३५३	जेहउ जज्जरु णरय-	२/१४९	३९२
जीउ वि पुग्गलु	२/२२	२०५	जेहउ णिम्मलु	१/२६	४३
जीउ सचेयणु	२/१७	१९७	जो अणुमेत्तु	२/८१	२९८
जीव म जाणहि	२/१२३	३५६	जो आयासइ मणु	२/१६४	४१०
जीव वहंतहँ णरय	२/१२७	३६१	जोइज्जइ तिं	१/१०९	१५०
जीवहँ कम्मु अणाइ	१/५९	८६	जोइय अप्पें	१/९९	१३८
जीवहँ तिहुयण	२/९६	३१९	जोइय चिंति म	२/१८७	४३६
जीवहँ दंसणु णाणु	२/१०१	३२६	जोइय णियमणि	१/११९	१६२
जीवहँ भेउ जि	२/१०६	३३२	जोइय णेहु परिच्चयहि	२/११५	३४८
जीवहँ मोक्खहं हेउ	२/१२	१८७	जोइय दुम्मइ कवुण	२/१७१	४१९
जीवहँ लक्खणु	२/९८	३२१	जोइय देहु धिणा	२/१५१	३९४
जीवहँ सो पर	२/१०	१८५	जोइय देहु वरिच्च	२/१५२	३९५
जीवाजीव म	१/३०	४७	जोइय मिल्लहि	२/१७०	४१८
जीवा सयल वि	२/९७	३२०	जोइय मोक्खु वि	२/२	१७२
जे जाया झाणग्गियएं	१/१	५	जोइय मोहु परिच्चयहि	२/१११	३३९
जे जिणलिंगु धरेवि	२/९१	३१२	जोइय लोहु परिच्चयहि	२/११३	३४६
जेण कसाय हवंति	२/४२	२४२	जोइय विसमी जोय-	२/१३७	३७६
जेण ण चिण्णउ	२/१३५	३७३	जोइय विंदहिं	१/३९	५७
जेंण णिरंजणि	१/३❋	१६९	जोइय सयलु वि	२/१२९	३६५
जेण सरूविँ झाइयइ	२/१७३	४२१	जो जिउ हेउ	१/४०	५८

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहा	अ०/दोहा	पृष्ठ
जो जिणु केवलणाण-	२/१९७	४४७
जो णवि मण्णइ	२/५५	२६२
जो णवि मण्णइ तासु	२/१०५	३३१
जो णियकरणहिं	१/४५	६४
जो णियभाउ ण	१/१८	३४
जोणिलक्खइँ	२/१२२	३५५
जो परमत्थें	१/३७	५५
जो परमप्पउ परम-	२/२००	४५१
जो परमप्पा णाणमउ	२/१७५	४२४
जो भत्तउ रयणत्तयहँ तसु	२/३१	२२४
जो भत्तउ रयणत्तयहँ	२/९५	३१७
जो समभावपरिट्ठियहँ	१/३५	५३
जो समभावहँ	२/१०९	३३७
झ		
झाणें कम्मक्खउ	२/२०१	४५२
ण		
ण वि उप्पज्जइ	१/६८	१००
णाणवियक्खणु सुद्धमणु	२/२०९	४६१
णाणविहीणहँ	२/७४	२९०
णाणिय णाणिउ	१/१०८	१४९
णाणि मुएप्पिणु भाउ	२/४७	२५०
णाणिहिँ मूढहँ	२/८६	३०५
णाणु पयासहि	१/१०४	१४४
णासविणिग्गउ सासडा	२/१६२	४०६
णिच्चु णिरंजणु	१/१७	३३
णिट्ठुरवयणु सुणेवि	२/१८४	४३१
णिम्मलफलिहहँ	२/१७६	४२५
णियमणि णिम्मलि	१/१२२	१६५
णियमें कहियउ	२/२८	२१६
णेयाभावे विल्लि	१/४७	६६
त		
तत्तातत्तु मुणेवि	२/४३	२४३
तरुणउ बूढउ	१/८२	११६
तलि अहिरणि वरि	२/११४	३४७
तं णियणाणु जि	२/७६	२९३
तं परियाणहि दव्वु	१/५७	८१
तारायणु जलि	१/१०२	१४२
तित्थइँ तित्थु	२/८५	३०४
तिहुयणवंदिउ	१/१६	३२
तिहुयणि जीवहं	२/९	१८२
तुट्टइ मोहु तडित्ति	२/१६१	४०५
ते चिय धण्णा ते	२/११७	३५०
ते पुणु जीवहं	१/६१	८९
ते पुणु वंदउं सिद्धगण	१/४	१३
ते पुणु वंदउं सिद्धगण	१/५	१५
ते वंदउं सिरिसिद्ध	१/२	१०
ते हउं वंदउं	१/३	११
द		
दव्वइं जाणइ	२/१५	१९४
दव्वइं जाणहि	२/१६	१९६
दव्वइं सयलहँ	२/२०	२०२
दव्व चयारि वि	२/२३	२०६
दंसणणाणचरित्त	२/५४	२६१
दंसणु णाणु अणंत	२/११	१८६
दंसणु णाणु चरित्तु	२/४०	२३९
दंसणपुव्वु	२/३५	२३१
दाणिं लब्भइ भोउ	२/७२	२८८
दाणु ण दिण्णउ	२/१६८	४१६
दुक्खइँ पावइँ	२/१५०	३९३
दुक्खहँ कारणि	१/८४	११८
दुक्खहँ कारणु	२/२७	३९६
दुक्खहं कारणु मुणिवि	२/१५३	२१५
दुक्खु वि सुक्खु वि बहु	१/६४	९४
दुक्खु वि सुक्खु	२/३६	२३३
देउ ण देउले	१/१२३	१६६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहा	अ०/दोहा	पृष्ठ
देउ णिरंजणु	२/७३	२८९
देउलु देउ वि सत्थु	२/१३०	३६६
देवहँ सत्थहँ	२/६१	२७१
देवहँ सत्थहँ जो	२/६२	२७३
देहविभिण्णउ	१/१४	३०
देहविभेयइँ जो	२/१०२	३२७
देहहँ उप्परि	२/५१	२५५
देहहँ उब्भउ	१/७०	१०३
देहहँ पेक्खिवि	१/७१	१०४
देहादेवलि	१/३३	५१
देहादेहहिं जो	१/२९	४६
देहि वसंत वि हरि	१/४२	६०
देहि वसंतु वि णवि	२/१६५	४११
देहि वसंतें	१/४४	६३
देहु वि जित्थु	२/१४५	३८७
देहे वसंतु वि	१/३४	५२
ध		
धम्महं अत्थहं	२/३	१७३
धम्माधम्मु वि एक्कु	२/२४	२०९
धम्मु ण संचिउ	२/१३३	३७१
धंधइ पडियउ	२/१२१	३५४
प		
पज्जयरत्तउ जीवडउ	१/७७	११०
परमपयगयाणं	२/२१४	४६७
परमसमाहि धरेवि	२/१९३	४४३
परमसमाहिमहासरहिँ	२/१८९	४३८
परु जाणंतु वि	२/१०८	३३६
पंच वि इंदिय	१/६३	९२
पंचहँ णायकु	२/१४०	३८०
पावहि दुक्खु महंतु	२/११९	३५२
पावें णारउ	२/६३	२७४
पेच्छइ जाणइ	२/१३	१८८
पुग्गलु छव्विहु	२/१९	२००
पुणु पुणु पणविवि	१/११	२४
पुण्णु वि पाउ वि	१/९२	१२७
पुण्णेण होइ विहवो	२/६०	२७०
ब		
बलि किउ माणुस-	२/१४७	३८९
बंधहं मोक्खहँ	२/५३	२६०
बंधु वि मोक्खु	१/६५	९५
बंभहँ भुवणि	२/९९	३२३
बिण्णि वि जेण	२/३७	२३६
बिण्णि वि दोस	२/४४	२४५
बुज्झइ सत्थइँ	२/८२	२९९
बुज्झंतहँ परमत्थु	२/९४	३१६
बोहणिमित्तें	२/८४	३०२
भ		
भणइ भणावह	२/४८	२५१
भल्लाहँ वि णासंति	२/११०	३३८
भवतणुभोय	१/३२	५०
भाउ विसुद्धउ	२/६८	२८२
भावाभावाहिं संजुवउ	१/४३	६२
भावि पणविवि	१/८	२०
भिण्णउ वत्थु जि	२/१८१	४२७
भुंजंतु वि....जो	२/८०	२९७
भुंजंतु वि णिय-	२/७९	२९६
म		
मणु मिलियउ	१/२*	१६८
मं पुणु पुण्णइँ	२/५७	२६६
मारिवि चूरिवि	२/१२६	३६०
मारिवि जीवहँ लक्खडा	२/१२५	३५८
मुक्खु ण पावहि	१/१२४	३५७
मुणिवरविंदहं	१/११०	१५२
मुत्तिविहूणउ	२/१८	१९९

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दोहा	अ०/दोहा	पृष्ठ
मूढा सयलु वि	२/१२८	३६४
मूढु वियक्खणु	१/१३	२८
मेल्लिवि सयल	१/११५	१५७
मोक्खु जि साहिउ	२/११८	३५१
मोक्खु म चिंतहि	२/१८८	४३७
मोहु विलिज्जइ मणु	२/१६३	४०९
र		
राएं रंगिए	१/१२०	१६३
रत्तें वत्थें जेंम	२/१७८	४२७
रायदोस बे	२/१००	३२४
रूवि पयंगा	२/११२	३४४
ल		
लक्खणछंदविवज्जियउ	२/२१०	४६२
लाहहँ कित्तिहि	२/९२	३१४
लेणहँ इच्छइ	२/८७	३०७
लोउ विलक्खणु	२/१८५	४३२
लोयागासु धरेवि	२/२५	२११
व		
वर जिय पावइँ	२/५६	२६४
वर णियदंसण-	२/५८	२६७
वत्थु पणट्ठइ जेम	२/१८०	४२७
वंदउ णिंदउ	२/६६	२७८
वंदणु णिंदणुवि णाणिहिँ	२/६४	२७७
वंदणु णिंदणु पुण्णहँ	२/६५	२७५
वित्तिणिवित्तिहिं	२/५२	२५७
विसयकसाय वि	२/१९२	४४२
विसयकसायहिँ मण	२/१५६	४००
विसयकसायहिं रंगियहँ	१/६२	९१
विसयसुहइँ बे	२/१३८	३७८
विसयहँ उप्परि	२/५०	२५४
विसयासत्तउ जीव	२/१४१	३८२
वेयहिं सत्थहिं	१/२३	३९
स		
सत्तु वि मित्तु वि	२/१०४	३३०
सत्थु पढंतु वि	२/८३	३०१
सयलपयत्थहँ	२/३४	२३०
सयलवियप्पहँ	२/१९५	४४५
सयलवियप्पहँ जो	२/१९०	४३९
सयल वि संग ण	२/१६६	४१३
सयलहँ कम्महँ	२/१९८	४४९
सव्वहिं रायहिं	२/१७२	४२०
संता विसय जु	२/१३९	३७९
सिद्धिहिं केरा	२/६९	२८४
सिरिगुरु अक्खहि	२/१	१७१
सुण्णउँ पउँ	२/१५९	४०३
सुद्धहँ संजमु	२/६७	२७९
सुहपरिणामें	२/७१	२८६
सो जोइउ जो जोगवइ	२/५*	३७७
सो णत्थि त्ति पएसो	१/१*	९६
सो पर वुच्चइ	१/१११	१५३
ह		
हरिहरबंभु वि	२/८	१८०
हउं वरु बंभणु	१/८१	११५
हउं गोरउ हउं	१/८०	११४

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।। — *आत्मख्याति, श्लोक १५*

स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुष साध्यभाव और साधकभाव से इस ज्ञान के घनपिण्ड भगवान आत्मा की ही उपासना करें ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

टीकागत उद्धरणों की वर्णानुक्रमणिका

उद्धरण	कहाँ का है ?	पृष्ठ
अइसयमादसमुत्थं	कुन्दकुन्द, प्रवचनसार-१३	१८२
अकसायं तु चरित्तं		२४१
अक्खरडा जोयंतु ठिउ	रामसिंह, दोहापाहुड ८४	३०२
अक्खाण रसणीं[१]		३८
अज्ज वि तिरयण	कुन्दकुन्द, मोक्षप्राभृत ७७	२३३
अण्णोण्णं पविसंता	कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय ७	२२०
अत्रेदानीं निषेधन्ति	रामसेन, तत्त्वानुशासन ८३	१३५
अथिरेण थिरा	रामसिंह, दोहापाहुड १९	३९१
अनादितो हि मुक्त		
अन्यथा वेदपाडित्य[२]		३९
अन्वयिनोगुणा		८१
अपरिग्गहो अणिच्छो	कुन्दकुन्द, समयसार २०६	१४८
अप्पा झाणइ णिम्मलउ	योगीन्दुदेव, परमात्मप्रकाश, ९७	२२७
अभूदपुव्वो हवदि	कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय २०	६
अरसमरूवमगंधं	कुन्दकुन्द, भावपाहुड़ ६४, पञ्चास्तिकाय १२७,	४७
	समयसार ४९, नियमसार ४६, ध०पु० ३ में १,	४७
	लघुद्रव्यसंग्रह ५ इत्यादि।	४७
अस्त्यात्मानादिबद्धः	पूज्यपाद, सिद्धभक्ति २	
आत्मानमात्मा	पूज्यपाद, सिद्धभक्ति ४	२२८
आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य	पूज्यपाद, इष्टोपदेश ४७	५३
आत्मोपादानसिद्धं	पूज्यपाद, सिद्धभक्ति ७	६४ और १७९
आनन्दं ब्रह्मणो	परमानंद स्तोत्र ९	४४१
आभिणिसुदोहि	कुन्दकुन्द, समयसार २०४	१४५
आर्ता नरा धर्मपरा		२६४
आसापिसाय		४३९
इत्यतिदुर्लभरूपां		२१
ऊर्ध्वगा बलदेवाश्च		२६६
उपादनकारणसदृशं		२०३
एगणिगोदसरीरे	नेमिचन्द्र, गो० जीवकाण्ड १९५	२१२
एदम्हि रदो णिच्चं	कुन्दकुन्द, समयसार २०६	३९७
ओगाढगाढणिचिदो	कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय ६४	२१२
कषायैरिन्द्रियैः		३८६
कंखिदकलुसिदभूदो		२८५
कः पण्डितो	अमोघवर्ष प्रश्नोत्तररत्नमाला ५	३०

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उद्धरण	कहाँ का है ?	पृष्ठ
गुणपर्ययवद्	उमास्वामी, तत्त्वार्थ सूत्र ५-३८	८१
चरितारो न सन्त्यद्य	रामसेन, तत्त्वानुशासन ८६	२३३
चंडो ण मुयइ	नेमिचन्द्र, गो. जीवकाण्ड ५०८	
चित्ते बद्धे बद्धो[३]		३७४
जं पुण सगयं	देवसेन, तत्त्वसार १३	१९१
जीवा जिणवर[४]		४४७
जीवा पुग्गलकाया	कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय ९८	२०७
जे पज्जएसु णिरदा	कुन्दकुन्द, प्रवचनसार ९४	१११
जेसिं जीवसहावो	कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय ३५	७८
जो पस्सइ अप्पाणं	कुन्दकुन्द, समयसार १५	१३८
जो पुणु परदव्व	कुन्दकुन्द, मोक्षप्राभृत १५	११०
णमिएहिं जं	कुन्दकुन्द, मोक्षप्राभृत १०३	४३
णाणगुणेहि विहीणा	कुन्दकुन्द, समयसार २०५	१४७
तं वत्थुं मुत्तव्वं	शिवार्य, भ. आराधना २६४	२४२
तावदेव सुखी		३४८
तिणकट्ठेण व		३९८
त्यक्त्वा स्वकीय		३१२
दर्शनमात्मविनिश्चिति	अमृतचन्द्र, पु. सिद्ध्युपाय २१६	१३४
दह्यमाने जगति		१६०
दुक्खक्खओ	कुन्दकुन्द, प्राकृत सिद्धभक्ति	४३७
देवागमपरिहीणे		३७९
द्रव्य परमाणु	पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि, अ०९सूत्र ४४	२२७
धम्मो वत्थुसहावो	कुमार कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७६	२८२
न गृहं गृहमित्याहुः[५]		
नाभावो	पूज्यपाद, सिद्ध भक्ति, २	२४४
नामाष्टकसहस्रेण	आप्तस्वरूप ५५	४५१
पंडवरामहिं		
पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं		६
परमार्थनयाय		३४
परिणाम जीव		२१७
पावेण णरयतिरियं		
पुढवीजलं च छाया	कुन्दकुन्द, पञ्चास्तिकाय ७६ में उद्धृत	२७४
पुव्वमभाविदजोगो	शिवार्य भगवती आराधना २६	२५८
बन्धवधच्छेदादे:	समन्तभद्र, रत्नकरण्ड ७८	
मणु मरइ पवणु		४०९
मुक्तश्चेत्प्राग्		८६
मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ[७]	सोमदेव, यशस्तिलक पृ. ३२४	१९४

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उद्धरण	कहाँ का है ?	पृष्ठ
यत्पुनर्वज्रकायस्य	रामसेन, तत्त्वानुशासन ८४	२३३
यावत्क्रिया: प्रवर्तन्ते[४]	जटासिंहनन्दि	२०७
येन येन स्वरूपेण[९]	अमितगति, योगसार ९-५१	४२१
येनोपायेन शक्येत	रामसेन, तत्त्वानुशासन ७८	३८१
रम्येषु वस्तुवनितादिषु	गुणभद्र, आत्मानुशासन २२८	३०९
रयणत्तयं ण	नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह ४०	१८९
रागद्वेषौ प्रवृत्ति:	गुणभद्र, आत्मानुशासन २३७	२५७
रागादीणमणुप्पो[१०]		३५९
लोकव्यवहारे		
वरं नरकवासोऽपि		२६८
विसयहँ कारणि		३७२
वीरा वेरग्गपरा		३०२
वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं		४४२
शिवं परमकल्याणं	आप्तस्वरूप २४	३४ और ४१४
षोडशतीर्थकराणां	शिवार्य, भगवती आराधना २०३७	१३५
सग्गो तवेण	कुन्दकुन्द, मोक्षप्राभृत २३	३१४
सत्यं वाचि	गुणभद्र आत्मानुशासन, २१८	२७०
सद्दव्वरओ	कुन्दकुन्द, मोक्षप्राभृत १४	१०९
सद्दृष्टिज्ञान	समन्तभद्र, रत्नकरण्ड ३, रामसेन, तत्त्वानुशासन ५१	२८२
सपरं बाधासहियं	कुन्दकुन्द, प्रवचनसार ७६	२५५
समओ उप्पण्णपद्धंसी	कुन्दकुन्द, पंचास्तिकार १०१	२०३
समसत्तुबंधुवग्गो	कुन्दकुन्द, प्रवचनसार २४१	१६७
सम्मत्तणाणदंसण	कुन्दकुन्द, प्राकृत सिद्धभक्ति २०	८९
सम्मद्दंसण	नेमिचन्द्र द्रव्यसंग्रह ३९	१८७
सव्वे सुद्धा	नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह १३	६
सहभुवो	देवसेन आलापपद्धति, ९२	८१
साम्यमेवादराद्भाव्यं	पद्मनन्दि, पञ्चविंशति	२३८
सिद्धि: स्वात्मोपलब्धि:	पूज्यपाद, सिद्धभक्ति १	३५२
सुद्धस्स य सामण्णं	कुन्दकुन्द, प्रवचनसार २७४	२८०
स्वयमेवात्मना[११]		३६०
हस्ते चिन्तामणि:		१९४
हावो मुखविकार:		१६४
हिंसानृत	उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र ७-१	२५७

१. देखो अनगारधर्मामृत टीका पृ. २६२। २. देखो यशस्तिलक ५-२५१। ३. देखो अनगार ध. टीका पृ.४०३। ४. देखो षट्प्राभृतटीका पृ. ३४२। ५. देखो नीतिवाक्यामृत ३१-३१। ६. देखो षट्प्राभृत टीका पृ. २३६। ७. देखो ज्ञानार्णव पृ. ९३। ८. देखो अमृताशीति ६७। ९. देखो ज्ञानार्णव पृ. ४१५। १०. देखो जयधवला पृ. १३ आरा की प्रति। ११. देखो सर्वार्थसिद्धि ७-१३ ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com